॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

४७



कविवरमुरारिविरचितम्

अनर्घराघवम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार —

व्याकरण-न्याय-वेदान्ताचार्य

आचार्यः श्रीरामचन्द्रमिश्रः

मुजफ्फरपुरस्थधर्मसमाजसंस्कृतकालेजाध्यापक



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

प्रथम संस्करण, संवत् २०१७

मूल्य ८—००

The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Varanasi-1 (India)
1960

समर्पणम्

दरभङ्गा-राजपण्डितानाम् अनर्घराघव-
नाटकस्य विषये परा प्रीति दधता
श्रीवलदेवमिश्रमहोदयानाम्
आदरणीयकरकमलयोः
सबहुमानमुपायनीकरोति
स्वा कृतिमिमाम्

प्रकाशप्रणेता
रामचन्द्रमिश्र

अवतारणा

अथायमुपक्रम्यते प्रकाशयितुं प्रकाशसमन्वितो मुरारिकृतोऽनर्घराघव-नामा नाटकग्रन्थः। अस्य रचयितुः परिचयादिकं साहित्यिकं गौरवं चाग्रे राष्ट्रभाषायां लिखितमस्तीति तत एवावगन्तव्यम्।

अस्य पुस्तकस्य बह्वयष्टीकाः प्रथन्ते, यथा—१. पूर्णसरस्वतीकृता, २. हरिहरकृता, ३. मानविक्रमकृता, ४. रुचिपतिदत्तकृता, ५. धर्मानन्दकृता, ६. वरदपुत्रकृष्णकृता, ७. लक्ष्मीधरकृता, ८. विष्णुपण्डितकृता, ९. जीवानन्दकृता च। एतदन्या अपि टीकाः श्रूयन्ते।

तत्र यथोपलब्धास्त्रिचतुराष्टीका विलोक्य मया व्याख्यानमिदं प्रस्तुतीकृतम्। अत्र व्याख्याने मया ग्रन्थस्य सारल्यमानीतम्, गद्यभागोऽपि सर्वत्र व्याख्यातः। आवश्यकतया प्रतीयमानश्छन्दोऽलङ्कारादिनिवेशोऽपि नोज्झितः। परिशिष्टे च ज्ञातव्याः सर्वेऽपि विषयाः समावेशिताः। आशासेऽनया टीकया छात्रा अध्यापकाश्च यथायोग्यमुपकृता भविष्यन्ति।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य विकसतां सतां नित्यक्षमामयतया दोषैकदृशामसतां तु पुरः क्षमाप्रार्थनाव्यापारस्यापि स्वप्रवञ्चनामात्रसारतया क्षमाप्रार्थनामन्तरैव समापयामि स्वामिमामवतारणाम्।

मुजफ्फरपुरम् |
सं० २०१७ |

विदुषां विधेयः
रामचन्द्रमिश्रः

समालोचना

नाटकसाहित्यकी प्राचीनता

भारतीय नाटकसाहित्य विचारधारा तथा विकासक्रममे मूलत स्वतन्त्र है इस बातको अब सभी आलोचक मानने लग गये है।

वैदिक साहित्यकी समीक्षासे पता चलता है कि वैदिककालमे नाटकके सभी अङ्गो—सवाद, सङ्गीत, नृत्य एव अभिनय का किसी न किसी रूपमे अस्तित्व था। ऋग्वेदके यम-यमी, उर्वशी-पुरूरवा, सरमापणिके सवादात्मक सूक्तोंमे नाटकीय सवादका तत्त्व विद्यमान है। सामवेद तो सङ्गीत प्राण ही ह। आलोचकोंका अनुमान है कि ऐसे सवाद ही कालान्तर में परिमार्जित होकर नाटकोंके रूपमे परिणत हुए होगे। रामायण-महाभारतकालमे नाटकका कुछ और स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। विराट पर्वमे रङ्गशालाका नाम आया है। नट शब्दका भी वहाँ प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ श्रीधर स्वामीके अनुसार 'नवरसाभिनय-चतुर' है। हरिवशमे रामायणकी कथापर आश्रित एक नाटकके खेले जानेका वर्णन आया है। रामायणमे भी 'नट' 'नर्त्तक' 'नाटक' 'रङ्गमञ्च' आदिका वर्णन स्थान स्थानपर मिलता है तथा 'कुशीलव' शब्दका प्रयोग भी 'नट' वा 'अभिनेता' के अर्थमे हुआ है। महामुनि पाणिनिने 'पाराशर्यशिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयो' इस सूत्रमे नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्रका स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समयमे या उनसे पूर्व भी अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधारपर इन नटसूत्रोंकी रचना हुई होगी। लक्ष्यग्रन्थोंको देखकर ही तो लक्षण-ग्रन्थोंका निर्माण किया जाता है।

इधर द्वितीय ईस्वी सदी पूर्वकी एक प्राचीन नाट्यशाला भी छोटा नागपुर की पहाड़ियोंमे पाई गई है जो नाट्यशास्त्रमे वर्णित प्रेक्षागृहोंमे मिलती जुलती है। इस तरह सस्कृत नाटकोंकी अपनी परम्परा सिद्ध होती है।

सस्कृत नाटकोंमे रङ्गमञ्चके लिए कहीं कहीं 'यवनिका' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसीसे कुछ पाश्चात्य विद्वान् अनुमान लगाते है कि सस्कृत नाटकोंकी उत्पत्ति 'यवन' अर्थात् 'ग्रीक' नाटकोंके प्रभावसे हुई है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है, 'यवनिका' शब्दका रहस्य तो इतना ही भर है कि यह पर्दे यवनदेशसे आये हुए वस्त्रोसे बनाये जाते थे।

प्राचीन पद्धति क्रमसे विचार करनेपर भी नाटक साहित्यकी प्राचीनता होती है—भरतने अपने नाटयशास्त्रमे लिखा है—

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्त किल पितामह ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यद् भवेत् ॥
न वेदव्यवहारोऽय सश्राव्य शूद्रजातिषु ।
तस्मात्सृजापर वेद पञ्चम सार्ववर्णिकम् ॥
एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराज विसृज्य च ।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्य च सोपदेश ससग्रहम् ।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शनम् ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न सर्वशिल्पप्रदर्शकम् ।
नाटयसज्ञमिम वेद सेतिहास करोम्यहम् ॥
एव सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाटयवेद ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसभवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतकानि च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदै सम्बद्धो नाटयवेदो महात्मना ।
एव भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम् ॥
आज्ञापितो विदित्वाऽह नाटयवेद पितामहात् ।
पुत्रानध्यापय योग्यान्प्रयोग चास्य तत्त्वत ॥
एव प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानविनाशने ।
अभवन् क्षुभिता सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गता ॥
देवनानामृषीणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
कृतानुकरण लोके नाटयमित्यभिधीयते ॥

शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमे लिखा है—

'कल्पस्यान्ते कदाचित्तु दग्ध्वा लोकान् महेश्वर ।
स्वे महिम्नि स्थित स्वैर नृत्यन्नानन्दनिर्भरम् ॥
मनसैवासृजद्विष्णु ब्रह्माण च महेश्वर ।
नियोगाद् देवदेवस्य ब्रह्मा लोकानथासृजत् ॥
सृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत् ।
दिव्य चरित्रमैश मे कथमध्यक्षतामियात् ॥
इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वर ।

स नाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोग चतुर्मुखम् ॥
उवाच वाक्य भगवान्नन्दी तच्चिन्तितार्थवित् ।
नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु ॥
विधाय तेषामेक तु रूपक लक्षणान्वितम् ।
भरतेषु प्रयोज्य तत्त्वया सम्यग्विजानता ॥
तस्मिन् प्रयुक्ते भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ।
प्राक्तनानि च कर्माणि प्रत्यक्षाणि भवन्ति ते ॥
एव ब्रुवन्नन्तरधान्नन्दी स भगवान् प्रभु ।
श्रुत्वैतद्वचन प्रीतो ब्रह्मा देवै समन्वित ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्य रूपक सम्यगभ्यधात् ।
अध्याप्य भरतानेतत् प्रयुङ्ध्वमिति चाब्रवीत् ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्ये कदाचिद् ब्रह्मससदि ।
प्रयुज्यमाने भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ॥
तदेतत् प्रेक्षमाणस्य मुखेभ्यो ब्रह्मण क्रमात् ।
वृत्तिभि सह चत्वार शृङ्गाराद्या विनिर्गता ॥'

उपर्युक्त समीक्षा तथा उद्धरणोके आधारपर यह कहा जा सकता है कि सस्कृत नाटक साहित्यने अपने क्रमबद्ध विकासमे वैदिकवाङ्मय, इतिहास तथा पुराणसे प्रचुर प्रेरणा पाई है। इस प्रकार भारतीय नाटकोंके विकासमे बहुत समय लगा होगा। उन्ही नाटकोमेसे एक नाटक है —

अनर्घराघवनाटक

अनर्घराघव रामायणकी कथापर आधारित एक सात अङ्कोका नाटक है, इसी नाटककी योग्यता तथा रोचकताके कारण इसके प्रणेता 'बालवाल्मीकि' नामसे प्रख्यात हो गये है। इस नाटककी भाषा, भावसमृद्धि और कथावस्तु सर्वत्र सरल नही होनेपर भी विद्वत्ता तथा कवित्वसे पूर्ण मानी जाती है। अधिकाश कल्पनायें मौलिक तथा निजी ढङ्गके रूपमे प्राकृतिक है, जिनमे यह नाटक नितान्त गौरवपूर्ण बन गया है। यद्यपि विदेशी आलोचकोने कहा है कि भारतीय विद्वान् मुरारिको अनुचित तथा अनपेक्षित प्राधान्य देते है, परन्तु उनका ऐसा कथन इसलिये असङ्गत है कि वे अनर्घराघवको बिना समझे ऐसा कहते है। अनर्घराघव नाटक साहित्यका मेरुदण्ड, व्याकरण-नैपुण्यका परीक्षा-निकष माना जाता है। भट्टोजिदीक्षितके ऐसे वैयाकरणने भी अपनी सिद्धान्त-कौमुदीमे इसके अनेक उद्धरण दिये है जिससे इसकी विद्वत्तापूर्णता असन्दिग्ध रूपमे प्रकाशित होती है।

कविवर मुरारि

अधिकांश भारतीय कवियोंकी तरह मुरारिका परिचय भी अन्धकारपूर्ण है क्योंकि इन्होंने जो अपने विषयमें लिखा है वह बहुत स्वल्प है। उनके लेखसे इतनाही ज्ञात होता है कि यह मौद्गल्यगोत्रोत्पन्न 'वर्धमान'के पुत्र 'तन्तुमती' गर्भज थे।

इनके समयका निरूपण इन्हीं आधारपर किया जाता है कि इनके नाटकमें भवभूतिके नाटकका स्पृहणीय अनुकरण पाया जाता है, अत इनका समय भवभूतिके बाद होना चाहिये। ८५५-८८४ ए. डी मे वर्त्तमान 'अनन्तवर्मा'के दरबारमें रहनेवाले तथा 'हरविजय' महाकाव्यके प्रणेता 'रत्नाकर'ने लिखा है 'अङ्कोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य नाश कविर्व्यथित यस्य मुरारिरित्थम्'। इससे इनका तत्पूर्ववर्त्तित्व प्रमाणित होता है। मुरारिने लङ्कासे अयोध्या आते हुए रामके मुखसे अन्यान्य स्थानोंके साथ 'माहिष्मती' नगरीका वर्णन करवाया है —

'इय च करचुलिनरेन्द्रसाधारणाग्रमहिषी माहिष्मती नाम चेदिमण्डलमुण्डमाला नगरी'।

माहिष्मतीके करचुलि राजगज नवम शतकके मध्यमें 'माहिष्मती' छोडकर त्रिपुरी' तथा 'रत्नपुरा' नामक राजधानिया बसा ली थी।

बहुत सम्भव है कि मुरारि 'उदात्तराघव' नामक रूपकके प्रणेता 'अनङ्गहर्ष' नामक 'करचुलि' नरेशके समकालिक रहे हों। अनङ्गहर्षका स्मरण 'कुट्टिनीमत' नामक ग्रन्थमें किया गया है।

इन सभी बातोंपर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि मुरारि अष्टमशतकके चरम तथा नवमशतकके प्रथमभागमें विद्यमान थे।

मुरारिका ग्रन्थ

मुरारिकृत ग्रन्थ एकमात्र 'अनर्घराघव'ही प्राप्त होता है। परम आदरणीय होनेसे वह एक ही ग्रन्थ माघकी तरह अक्षयकीर्त्तिका कारण बन गया।

शार्ङ्गधरपद्धतिमें लिखा है —

'भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मन ॥'

अन्य सूक्तिया भी है—

'मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माघे मति कुरु।
मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माऽघे मति कुरु ॥'
'मुरारिपदचिन्ताया भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूति परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु ॥'

'मुरारेस्तृतीय पन्था'।

मीमांसाके भाट्टरहस्यादि सिद्धान्त ग्रन्थोंमे जिनका नाम तथा मत आया है वह मुरारि मैथिल ब्राह्मण तथा प्रकृत नाटक-प्रणेता मुरारिसे भिन्न थे। प्राय 'मुरारेस्तु तृतीय पन्था' यह आभाणक उन्हीके विषयमे चला था क्योंकि उनका मत भट्टमत तथा गुरुमतसे भिन्न था।

मे समझता हूँ मुरारि भी दाक्षिणात्य ब्राह्मणोंमेसे किसी ब्राह्मणवशमे उत्पन्न हुए थे क्योंकि उनकी कवितापर भवभूतिका बडा प्रभाव पडा है उनके समयमे और भवभूतिके समयमे जितना अन्तर है उतने समयमे दूरवर्त्ती कविपर इतना प्रभाव होना सम्भव नही है ॥

मुरारिका शास्त्रीय पाण्डित्य

अनर्घराघवका प्रत्येक पृष्ठ ही मुरारिके शास्त्रीय पाण्डित्यका प्रमाण है, खासकर मुरारि व्याकरण, धर्मशास्त्र, वेद, राजनीति और वैशेषिकके मर्मज्ञ प्रतीत होते है क्योंकि इन शास्त्रोंके तत्त्व उनके मुखसे अनायास निकल जाया करते थे। उदाहरणार्थ देखिये—

राजनीति —१–'अहिभयोपजायजर्जर सुहृद्गृहमुपश्रुत्य आत्मबलैकदेश बालिप्रतिग्रहाय प्राहिणोत्' (अक २)

२–'आरण्योऽग्निरिव सुखदु खामर्षज तेजो विक्रमयति मण्डलस्य चानुग्राह्यो भवति'। (अङ्क ४)

३–'राजपुत्रोऽङ्गदो सौ बालो नवबुद्धिरामपात्रमिव यद्यदाधीयते तत्तत् आचूषति'। (अङ्क ६)

४–'अरिषड्वर्ग एवायमस्यास्तातपदानि षट् तेषामेकमपि च्छिन्दन् व्रजय भ्रमरी श्रियम्'। (अङ्क ६)

व्याकरण— १–'प्रकृष्टकर्त्रभिप्रायक्रियाफलवतो विधीन्'। (अङ्क २)

२–'तपोभिरस्य ब्राह्मणातिदेशोऽपि क्षत्रकार्य न जहाति' (अङ्क ४)

वेद— १–'परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजूषि'। (अङ्क २)

२–'गायत्री द्रुपदा देवी पाप्मानमपहन्तु ते।
पुनन्तु पावमान्यस्त्वामृध्नोतु ब्रह्म ते परम् ॥' (अङ्क ४)

धर्मशास्त्र— १–न ह्रीक्षिप्यमाणा क्रुध्यन्तीति रक्षितार क्षत्रियमुपाददते (अङ्क २)

२–'आतिपातिके कर्मणि राज्ञा सद्य शुद्धि'। (अङ्क ५)

वैशेषिक— १–'विश्व चाक्षुषमस्तमस्ति हि तम कैवल्यमौपाधिकप्राच्यादिव्यवहारबीजविरहाद्दिङ्मात्रमेव स्थितम'। (अङ्क २)

२–'वैशेषिक कन्दली पण्डितो जगद्विजयमान पर्यटामि' (अङ्क ५)

मुरारिका कवित्व

केवल शास्त्रीय पाण्डित्यके बलपर कोई प्रसिद्ध नाटककार होने का दावा नहीं कर सकता है अत मुरारिका कवित्व जबतक हमारे सामने न आवे तबतक हम उनके नाटकका आदर कैसे करेंगे।

इस सम्बन्धमे मैं उनके नाटकसे कुछ उद्धरण देकर उनके कवित्वका उदाहरण उपस्थित करता हूँ। देखिये —

'क्रियाणा रक्षायै दशरथमुपस्थाय विमुखे
मुनौ विश्वामित्रे भगवति गते सम्प्रति गृहान्।
तपोलेशक्लेशादुपशमितविघ्नप्रतिभये
प्रवृत्ते यष्टु वा रघुकुलकथैवास्तमयते ॥ (१ ४५)

रामको यज्ञरक्षार्थ तपोवन ले जानेके लिये विश्वामित्र दशरथके यहाँ आये थे, दशरथ विचार करते है कि विश्वामित्रके ऐसे तपस्वी यज्ञकी रक्षाके लिये मेरे पास आये अगर वे यों हीं लौट जाते है और अपने तपके अशको खर्च करके यज्ञ करने लगते हैं तब रघुवशकी दानवीरताकी कथा ही अस्त हो जाती है। कितनी उदारभावना तथा प्राञ्जल कथन है।

'एकद्विप्रभृतिक्रमेण गणनामेषामिवास्त यता
कुर्वाणा समकोचयद्दशशतान्यम्भोजसवर्त्तिका ।
भूयोऽपि क्रमश प्रसारयति ता सम्प्रत्यमूनुद्यत
सख्यातु सकुतूहलेव नलिनी भानो सहस्र करान् ॥ (२ ५)

कमलिनी सहस्रपत्रा होती है, जब सूर्य अस्त होने लगते है उनके अस्त होते हुए करोंके एक एक गिनती हुई यह कमलिनी अपने हजार पत्रोंको सङ्कुचित कर लेती है, स्वय मुद जाती है, फिर जब सूर्य उगने लगते है तब उनके उदित होने वाले करो की गिनती सी करती हुई वही नलिनी अपने हजार पत्रोंको विकसित कर लेती है। कितनी अच्छी उत्प्रेक्षा है यह।

'दातव्येयमवश्यमेव दुहिता कस्मैचिदेनामसौ
दोर्लीलामसृणीकृतत्रिभुवनो लङ्कापतिर्याचते।
तत्किं मूढवदीक्षसे ननु कथागोष्ठीषु न शासति
त्वद्वृत्तानि परोरजासि मुनय प्राच्या मरीच्यादय ॥ (३ ४४)

रावण की ओरसे सीता की मॅगनी करनेके लिये आया हुआ पुरोहित शौष्कल जनकसे कह रहा है कि जब आपको कन्यादान करना ही है तब आप क्या देख रहे है, रावणके समान वीर पात्रका मिलना आपका सौभाग्य है। आप

विचार क्या करते है. आपका विचार करना मूढताका प्रतीक है, आपसे ऐसी आशा नही की जाती है।

रामने धनुर्भङ्ग कर दिया, पुरोहित शौष्कलको इसकी खबर मिल गई, वह जारहा है परन्तु जाते जाते चेतावनी देता है, वह कितना रम्य है —

समन्ताद्दृत्ताले सुरसहचरीचामरमरु-
त्तरङ्गैरुन्मीलद्भुजपरिघसौरभ्यशुचिना।
स्वयं पौलस्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृता
मरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपयथा ॥ (३ ६१)

रावणने जिस सीताको हृदयमे रख लिया है उस सीताके साथ विवाह करना सर्पसे खेलना होगा, अत हे राम, धनुर्भङ्ग की कीर्त्तिमात्रसे सन्तुष्ट होकर आप लौट जाँय, विवाहके फन्देमे न पडे।

प्रसाद गुण कविताकी रीढ मानी जाती है। देखिए —

अभेदेनोपास्ते कुमुदमुदरे वा स्थितवतो
विपक्षादम्भोजादुपगतवतो वा मधुलिह।
अपर्याप्त कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचय-
प्रबन्ध साधूनामयमनभिसन्धानमधुर ॥ (६ ६)

कुमुद अपने उदरम रहनेवाले तथा शत्रुभूत कमलोके पाससे आनेवाले भ्रमरोका समान आदर करता है, ठीक ही है साधुजन स्व तथा परका विचार किये बिना ही उपकार किया करते है।

कितने उदाहरण दिये जॉय, श्लोकोंका अर्थगौरव माघके श्लोकोंकी याद दिलाते है, बन्धगाढना तथा उपस्थापन शैलीके लिये एक श्लोक देखिये —

'कल्पान्तक्रूरसूरोत्करविकटमुखो मानुषद्वन्द्वयुद्ध
क्रीडाकण्डूयदूर्जस्वलसकलभुजालोकभूयोविलक्ष।
सम्भूयोत्तिष्ठमानस्वपरबलमहाशस्त्रसपातभीमा-
मुर्वी गीर्वाणगोष्ठीगुरुमदनिकषो नैकषेय पिधत्ते ॥ (६ ३१)

रावणके युद्धावतरणका यह वर्णन कितना उदात्त बना है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि इस नाटकमे कवित्वका बडा सुन्दर विकास है।



कथासार

अङ्क १

महर्षि विश्वामित्रके आश्रममें यज्ञ होनेवाला है, उन्होंने दशरथके पास आकर राम तथा लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ आश्रम लेजानेकी इच्छा प्रकट की। हृदयसे व्यथित होकर भी दशरथने विश्वामित्रका अनुरोध स्वीकार किया और विश्वामित्र राम तथा लक्ष्मणको आश्रममें ले आये। वसिष्ठने भी वामदेवके द्वारा विश्वामित्रके अनुरोधका समर्थन किया।

अङ्क २

आश्रममें आनेपर रामने यज्ञकी रक्षा की। एकदिन सन्ध्यासमय राक्षसोंने उपद्रव मचाया। विश्वामित्रकी आज्ञासे धनुष्पाणि रामने ताडका का वध किया। विश्वामित्रने रघुकुलकी कीर्त्तिका गान किया।

अङ्क ३

विश्वामित्र राम तथा लक्ष्मणके साथ मिथिला आये। वहाँ जनकने सीता-स्वयंवरकी पूरी तैयारी कर रक्खी थी। विश्वामित्रके साथ राम लक्ष्मणको देखकर जनकको बडी प्रसन्नता हुई। विश्वामित्रने जनककी तथा जनकने विश्वामित्रकी बडी प्रशंसा की। वहीं पर विश्वामित्रने राम लक्ष्मणका परिचय कराया। जनकने अपनी प्रतिज्ञापर खेद प्रकट किया। इस पर विश्वामित्रने कहा कि दिखलाइये हर चाप, राम उसे भग्न करेंगे। इसी समय रावणका पुरोहित शौष्कल आया, उसने बडी भूमिकाके साथ सीताकी मँगनी रावणके लिये की, उसकी बातके समाप्त होनेसे पहले ही रामने धनुर्भङ्ग कर दिया और वह अपनासा मुँह लेकर चला गया।

अङ्क ४

माल्यवान् तथा शूर्पणखाके कथोपकथन रूपसे अनन्तर करणीय स्थिर किया गया। इधर हरचापभङ्ग सुनकर कुपित परशुराम मिथिलासे आये। उनके कोपका सौम्य उत्तर रामने दिया, परन्तु वह बढता ही गया, अन्तमें उन्होंने अपना वैष्णव धनुष रामको चढानेके लिये दिया, रामने जब उसे चढा दिया तब उनका संशय दूर हो गया, और वह आशीर्वाद देकर तपस्या करने चले गये। उनके जानेके बाद सीता विवाहोत्सवके साथ परशुराम विजयोत्सव भी मनाया ही जारहा था कि कैकेयीने दासीके द्वारा पत्र भेजकर अपने

वरदानों से रामवनवास तथा भरतका राज्याभिषेक मागा। सभी सम्मोहित हो उठे। परम पितृभक्त राम सीता तथा लक्ष्मणके साथ वन चले गये।

अङ्क ५

रामके वनमें जाने पर रावणने भिक्षुका वेष बनाकर रामके आश्रममें प्रवेश किया, उस समय राम आश्रममें नही थे। सीताका हरण हुआ, जटायु मारे गये, पीछे सब समाचार जानकर राम बडे दुखी हुए, उन्होंने अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये वालिवधपूर्वक सुग्रीवके साथ मैत्री कर ली।

अङ्क ६

सुग्रीव द्वारा आयोजित सारी वानर-सेनाने समुद्र बाधकर लङ्कापर आक्रमण किया। युद्धमें इन्द्रजित् कुम्भकर्णके मारे जानेके बाद रावण स्वय लडने आया और बडा भीषण युद्ध करता रहा। अन्तमें रामके अस्त्रोंसे आहत होकर वह भी धराशायी हो गया।

अङ्क ७

अग्नि परीक्षाके बाद शुद्धा सीताको साथ लेकर पुष्पक विमानपर आरूढ हो राम आदि अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए। मार्गमें नाना नदी, पर्वतों, स्थानोंको देखते हुए वह अयोध्या पहुँच, जहा वसिष्ठ आदि उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। रामका राज्याभिषेक होता है॥

कथाका आधार

अनर्घराघवकी कथा रामायणकी प्रसिद्ध कथापर आधारित है। जो कुछ परिवर्तन-परिवर्धन किया गया है वह नाटककी दृष्टि से ही। इसमें भी महावीर-चरितकी तरह राम वनगमनका प्रसङ्ग मिथिलासे ही उठा दिया गया है। माल्यवान् तथा जाम्बवान् की पूरी मन्त्रणायें कविकी सृष्टिया है जिनसे कथा तथा रसका परिपोष होता है। परशुरामका विस्तृत भाषण वर्णन काव्यसौष्ठव लाने तथा वीर रसको परिपुष्ट करनेके लिये किया गया है। सप्तम अङ्कमें कथा भाग नहींके बराबर है, उसमें तो कालिदास कृत रघुवशके त्रयोदश सर्गकी तरह केवल वर्णन मात्र है।



पात्रालोचन

१—राम

रामका चित्रण इस नाटकने आदर्श वीरके रूपमें किया गया है। विश्वामित्रके यज्ञमें उनके गुरु विश्वामित्र उन्हें आदेश देते है कि 'गृहाण चाप निगृहाण ताडकाम्' उसपर वे कहते हैं कि यह तो स्त्री है। आप इसको मारनेकी आज्ञा क्यों देरहे हैं। इसपर विश्वामित्र कह उठते है कि आश्रमकी बाधा समीप आरही है उत्तर-प्रत्युत्तर मत करें, इसको मारो। इसपर राम उसका बध तो करते हैं परन्तु उन्हें लज्जा होती ही है।

परशुरामसे बातें हो रही हैं, दशरथ, जनक, शतानन्द सभी गुरुजन उन्हें मना रहे हैं परन्तु उनका पारा नहीं उतरता, रामकी वीरता सौजन्यसे आवृत है वह कुछ कठोर बात नहीं निकालते है। परशुराम बढते जा रहे है, तब रामने देखा कि ऐसे काम नहीं चलेगा तब वे बोल उठे—

'नृपानप्रत्यक्षान् किमपवदसे नन्वयमहं शिशुक्रीडाभग्नत्रिपुरहरधन्वा तव पुरः।
अहङ्कारक्रूरार्जुनभुजवनव्रश्चनकलानिसृष्टार्थो बाहुः कथय कतरस्ते प्रहरतु'॥

व्यर्थमें बडे बूढोंका अपमान क्यो करते है, बालक्रीडामें ही शिवधनुर्भञ्जक मैं तो आपके सामने ही खडा हूँ, सहस्रार्जुनको मारनेवाला आपका कौनसा हाथ मुझपर प्रहार करेगा ? कृपया इसकी आज्ञा दीजिये।

कितना नम्र और दृढ यह वचन है, कितनी बहादुरी इस वचनके पीछे छिपी है।

परशुराम परास्त होकर जाने लगते है तब भी रामने उनकी बडी प्रतिष्ठा की जिससे उनकी वीरतामें चार चाँद लग गये हैं।

२—लक्ष्मण

लक्ष्मण का चित्रण इस ग्रन्थमें बहुत थोडा है पर जहाँ है वहाँ उन्हें रामका अनुगामी चित्रित किया गया है। चन्द्रोदयादि-वर्णनमें वह रामके साथ है। ताडकाके वधके समय जब राम स्त्रीवधके लिये कुछ विचारमें पड जाते है तब लक्ष्मण उन्हें कहते हैं कि जब विश्वामित्र कह रहे है तब कोई क्षति नहीं है।

परशुरामके आनेपर इनका कोप भडकता है, परन्तु रामके आदेशसे इन्होने अपनेको सयत कर लिया। इस प्रकार यह बराबर रामके अनुगामी रहे।

३—सीता

सीताका चरित बहुत स्वल्प है, विवाहके पहले, वन जानेके समय, कहीं भी सीताका कुछ ऐसा उल्लेख नहीं है जिससे चारित्रिक विशेषतापर प्रकाश पडे।

४—रावण

इस नाटकमे रावण प्रतिनायक है। प्रतिनायकका उत्कर्ष वर्णन फलत नायकोत्कर्षमे पर्यवसित होता है, इस दृष्टिसे रावणका चित्रण बहुत साधारण हुआ है। रावण वीर अवश्य है परन्तु इस नाटकमें उसका चित्र विलासीका चित्र है। उसकी बहादुरीका अवसर उपस्थित होता है लङ्काके घेरे जानेपर। उसे हम चरित्र नही कहकर कीर्त्ति कहते है।

५—माल्यवान्

यह रावणका मातामह भ्राता तथा मन्त्री है। इसका राजनीति ज्ञान इसके भाषणोंसे स्पष्ट झलकता है। इसके चार गण सर्वत्र सतर्क तथा बुद्धिमान् है। माल्यवान् भविष्यकी चिन्ता इतनी सावधानीसे करता है कि इसके लिये उसको धन्यवाद देना चाहिये। राम रावणयुद्ध अभी दूर है परन्तु उसे उस समयकी परिस्थितिका चित्र अङ्कित करके अपने सहधर्मियोंको समझाना तथा तदनुसार आचरण करना है। बाली उसके मित्रोंमे है, उसके द्वारा की गई स्वपक्षपरपक्ष-विवेचना तथा राजनीतिक घात प्रतिघातकी एक राजनीतिक विवेचना होगी।

६—परशुराम

स्वाभाविक वीरता, तपस्या तथा गुरुभक्तिमे पूर्ण वे रङ्गमञ्चपर आते है, उनका क्षत्रियविरोध तथा वीरभाव इतना प्रकट है कि वह रामकी बातोंपर ध्यान तक नही देना चाहते, वे अपनी ही बात कहे जाते है।

परशुरामको ब्राह्मण वकी एव तपस्या तथा क्षत्रियोचित वीरताका भी समान अभिमान है। शतानन्दकी बातोंसे उनको चिढसी होती है।

वीर होनेके कारण परशुराम रामकी प्रशसा भी किये बिना नही रह सकते है, वह कह उठते है—'नापराद्धमस्मासु वत्सेन।'

७—विश्वामित्र

विश्वामित्रका चरित्र इस नाटकमे मूलस्रोत माना जाता है, वे रामको उसी प्रकार सवारते है जैसे मुद्राराक्षसका चाणक्य चन्द्रगुप्तको। धनुष उठानेकी आज्ञा देते है तब धनुष उठता है, ताडका बधकी प्रेरणा होती है तब ताडकावध होता है। रामके सभी कर्त्तव्योंकी चिन्ता विश्वामित्रको ही है।

इस नाटकमें पात्रके चरित्रपर कम ध्यान दिया गया है, वर्णन पर अधिक अत चरित्रचित्रणका प्रकरण कुछ छोटा हो गया है।



पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

१	दशरथ	अयोध्याधीश
२	वामदेव	दशरथके पण्डित
३	विश्वामित्र	प्रसिद्ध ऋषि
४	राम	दशरथपुत्र
५	लक्ष्मण	,,
६	दौवारिक	एक सिपाही
७	शुनःशेप	विश्वामित्रशिष्य
८	पशुमेढ्र	,,
९	शतानन्द	गौतमपुत्र, जनक पुरोहित
१०	जनक	मिथिलाधीश
११	परशुराम	प्रसिद्ध क्षत्रियद्वेषी
१२	कञ्चुकी	जनकके दरबारका भृत्य
१३	शौष्कल	रावण पुरोहित
१४	माल्यवान्	रावणके मन्त्री
१५	जाम्बवान्	सुग्रीवके मन्त्री
१६	जटायु	दशरथमित्र, गृध्र
१७	गुह	नाविक
१८	बाली	किष्किन्धाधीश
१९	शुक	रावणके चर
२०	सारण	,,
२१	रत्नचूड	व्योमचारी सिद्ध
२२	हेमाङ्गद	,,
२३	विभीषण	रावणानुज
२४	सुग्रीव	वानरराज
२५	भरत	राम के अनुज
२६	शत्रुघ्न	,,

स्त्री-पात्र

१	सीता	जनकपुत्री
२	कलहंसिका	सीताकी दासी
३	शूर्पणखा	रावणकी बहन
४	श्रवणा	तापसी



॥ श्री ॥

अनर्घराघवम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

निष्प्रत्यूहमुपास्महे भगवतः कौमोदकीलक्ष्मणः
कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने ।

भूतेशे नियमाय मानिनि गते दूरं क्वचिन्नन्दिनि
म्लाने बालविधौ तथामृतभुजा सिन्धौ भजन्त्या क्रुधम् ।
यस्मिन्हैमवती बबन्ध विविधा भावानुबन्धोद्धुरा
चेतोवृत्तिमसौ कृषीष्ट कुशलं देवो द्विपेन्द्रानन ॥ १ ॥
श्रद्धानतेन शिरसा पितरं मधुसूदनम् ।
प्रसूं जयमणिं चाहं प्रणमामि पुनः पुनः ॥ २ ॥
श्रीमन्मुरारिकविता-भावानवबोधबद्धवैमुख्यान् ।
मन्ये कतिचन बालान् प्रोत्साहयिता प्रकाशोऽयम् ॥ ३ ॥
सन्तो गुणेन तुष्यन्ति स नैकान्तेन दुर्लभः ।
दोषाविलेऽपि तेनात्र दृक्पातः क्रियतां बुधैः ॥ ४ ॥

नाटकप्रणयनयशस्वी महाकविर्मुरारिः शिष्टाचारानुमितकर्त्तव्यताकं नान्दी-सञ्ज्ञया प्रथमानं मङ्गलमारचयति—निष्प्रत्यूहमिति । प्रत्यूहस्य विघ्नस्याभावो निष्प्रत्यूहम्, तस्मै निष्प्रत्यूहम् विघ्नाभावाय चिकीर्षितग्रन्थसमाप्तिप्रचारयोर्निर्विघ्न-सम्पत्तये भगवतः सर्वसामर्थ्यशालिनः कौमोदकीलक्ष्मणः कौमोदकी नाम विष्णु-गदा लक्ष्म चिह्नं यस्य तस्य तथोक्तस्य गदाधरस्य विष्णोः कोकस्य चक्रवाकस्य प्रीतिः आनन्दः चकोरस्य तदाख्यया प्रसिद्धस्य पक्षिभेदस्य पारणमुपवासान्त-भोजनञ्च तयोः कोकप्रीतिचकोरपारणयोः पटुनी ज्योतिषी ययोस्तादृशी लोचने

विघ्नशान्तिके लिये कौमोदकी नामक गदासे भूषित भगवान् विष्णुके उन नयनोंकी उपासना करते हैं जिनमें कोककी प्रीति तथा चकोरके व्रतान्त भोजनमें उपयुक्त सूर्य-

याभ्यामर्धविबोधमुग्धमधुरश्रीरर्धनिद्रायितो
नाभीपल्वलपुण्डरीकमुकुल• कम्बोः सपत्नीकृतः ॥ १ ॥

नयने उपास्महे आराधयाम, भगवतो विष्णोर्नयने सूर्यचन्द्रात्मके, तत्र सूर्यज्योतिषा दिवससयोगिन कोकस्य प्रीति, चन्द्रज्योत्स्नापिबस्य चकोरस्य दिवसमनाहारेण यापितवतो जायमाने चन्द्रोदये पारणञ्जायत इति नयनयोस्तयो कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मत्त्वमुच्यते । याभ्या सूर्यचन्द्रात्मकाभ्या विष्णुलोचनाभ्याम् अर्धविबोधेन आशिकविकासेन मुग्धमधुरा अतिमनोहरा श्री शोभा यस्य तथोक्त सूर्यरूपनेत्रसम्पर्कवशादर्धविकसिततया मनोहारीत्यर्थ, अर्धनिद्रायित चन्द्ररूपद्वितीयनेत्रप्रभासपर्कवशादर्धमुद्रितश्च नाभी पल्वलमिव अल्प सैर इव तस्य पुण्डरीक सिताम्भोज तस्य मुकुल कलिका कम्बो शङ्खस्य सपत्नीकृत सादृश्य प्रापित । अयमाशय —विष्णोस्ते नयने भजामो ये सूर्यचन्द्रात्मकतया कोकप्रीति चकोरपारण च जनयत, किञ्च याभ्या सम्पृक्त कमललोचनस्य नाभीपल्वलपुण्डरीकमुकुलोऽशतो विकसितो मुद्रितश्च भूत्वा शङ्खस्य साम्यमुपाच्छर्तीति । निष्प्रत्यूहमिति 'अव्यय विभक्ती'त्यादिना समासे 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्या' इति चतुर्थ्या अम्भाव । 'कौमोदकीलक्ष्मण' इति भगवतो विशेषण दृताम्रतया तस्य विघ्नोपशमनसमर्थतामाह । इतराण्यङ्गानि विहाय भगवतो नेत्रयोरेव क्रियमाणाऽऽराधना तदीयशुभदृष्टिनिपाताभिलाषिता ध्वनयति ग्रन्थकृत । कोकप्रीतिचकोरपारणपटुत्वोक्त्या च परमकारुणिकयोर्नयनयोर्विनैव कञ्चनोपाधि कोकाना प्रियाविरहशोकापहारितया प्रीतिप्रदानेन चकोराणा ज्योत्स्नारूपभक्ष्यप्रदानविधया चोपकारितया निवेद्यमानया उपासनाकर्तुरभिलषितार्थप्रदातृत्व ध्वन्यते । नाभ्या पल्वलत्वरूपणेन गभीरताध्वनि, पुण्डरीकस्य श्वेतगुणयोगितयाऽर्धविकासितया च शङ्खसादृश्यमवगन्तव्यम् । अत्रार्धविबोधमुग्धमधुरश्रीरित्यनेनैवार्धनिद्राणत्वे लब्धेऽवशिष्टार्धखण्डितत्वशङ्कानिराकरणायार्धनिद्रायितत्व शब्दत उक्तम् इति केचित् । केचित्तु 'अर्थत प्राप्तेऽपि निद्राणत्वे स एव विशेष शाब्द्या वृत्त्या परिचीयतामिति तदुपादान शाब्द्या वृत्त्या प्रकाशन न पौनरुक्त्यमावहतीत्याहु, तथा चोक्त सरस्वतीकण्ठाभरणे—'आर्थ्या वृत्त्या लब्धस्य शास्त्रेतिहासादौ शाब्द्या वृत्त्या भणन न पौनरुक्त्याय' ।

अत्र निष्प्रत्यूहमित्यनेन प्रकृते निर्गत प्रत्यूहो रावणादिर्यस्मात्स निष्प्रत्यूहो

चन्द्रात्मक ज्योति विद्यमान है, जिन सूर्यचन्द्रात्मक नयनोंके सम्पर्कसे आधा विकसित तथा आधा मुकुलित भगवान्‌का नाभि कमल शङ्खकी समताको प्राप्त करवा दिया जाता है ॥ १ ॥

अपि च—

विरमति महाकल्पे नाभीपथैकनिकेतन-
　　स्त्रिभुवनपुरःशिल्पी यस्य प्रतिक्षणमात्मभूः ।
किमधिकरणं कीदृक्कस्य व्यवस्थितिरित्यसा-
　　वुदरमविशद्द्रष्टुं तस्मै जगन्निधये नमः ॥ २ ॥

रामभद्रस्तमुपास्महे इति नायको रामस्तत्कृतरावणवधश्च सूच्यते, कौमोदकीति, कौ पृथिव्या मोदकी हर्षहेतुरिन्द्रजिद्विनाशः, कोकप्रतीति कोकतुल्यो विभीषणः, चकोरपदेन तदुपमः सुग्रीवः, अर्धविमुग्धार्धविकासपदाभ्यां रावणसेनाया अविकासो रामसेनाया विकासश्च सूच्यन्ते ।

उपमात्रालङ्कारः, कम्बो साहश्यस्य कमलमुकुले बोधनात् । 'कौमोदकी गदा' 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' 'पल्वलं चाल्पसरः' 'पुण्डरीकं सिताम्भोजम्' 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' 'कोकश्चक्रश्चक्रवाकः' 'शङ्खोऽस्त्री कम्बुरस्त्रियाम्' इति सर्वत्र कोषाः ।

शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्—'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

विरमतीति । महाकल्पे महाप्रलये विरमति अतिक्रामति सति पुनः सर्गप्रारम्भकाले नाभी एव पन्था भगवदुदरप्रवेशमार्गः एकम् अद्वितीयं निकेतनं वासस्थानं यस्य तथोक्तः, त्रिभुवनपुरः त्रिलोकीनगर्याः शिल्पी निर्माता असौ आत्मभूः ब्रह्मा कस्य वस्तुनः कीदृक् व्यवस्थितिः व्यवस्था किमधिकरणा च कस्मिन्नधिकरणे कः पदार्थः केन रूपेण व्यवस्थितः इति द्रष्टुं प्रत्यक्षमीक्षितुं यस्य भगवतः उदरमविशत्, तस्मै जगन्निधये जगन्निवासाय नारायणाय नमः । महाप्रलयावसाने सृष्टिमारब्धुकामो भगवन्नाभीकमलवास्तव्यो ब्रह्मा सकलस्रष्टव्यपदार्थस्थितिपरिचयार्थं यस्य भगवतो विश्वावासभूतमुदरमविशत्तस्मै जगन्निवासाय प्रलये विश्वमात्मनि संहृतवते नमोऽस्तु इत्यर्थः ।

अनेन पद्येन दशग्रीवे विरमत्यात्मभूः रामो लङ्कोदरं तत्सन्निवेशदर्शनाय प्रविष्टः

प्रलयकालके समाप्त होनेपर विष्णुके नाभिकमलमें रहनेवाले तथा त्रिभुवन निर्माणके शिल्पी ब्रह्मा जब संसार बनानेकी इच्छा करते हैं तब बनाये जानेवाले संसारकी क्या स्थिति है? कितना बड़ा अधिकरण है? क्या व्यवस्था है? इत्यादि सभी बातोंको प्रत्यक्ष देखनेके लिये जिस भगवान् विष्णुके उदरमें प्रवेश करते हैं, उस संसारके आश्रय प्रलयकालमे संसारको अपने उदरमे समेट लेनेवाले विष्णुको नमस्कार है ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते ।)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । भो भो लवणोदवेलावनालीतमालतरुकन्दलस्य त्रिभुवनमौलिमण्डनमहानीलमणेः कमलाकुचकलशकेलिकस्तूरिकापत्त्राङ्कुरस्य भगवतः पुरुषोत्तमस्य यात्रायामुपस्थानीयाः सभासदः, कुतश्चिद् द्वीपादागतेन कलहकन्दलनाम्ना कुशीलवेन रौद्र-

---

इत्यर्थः सूच्यते। हरिणी वृत्तम्, 'नसमरसलगाः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥ २ ॥

नान्द्यन्ते। नन्दयति देवादीनिति नान्दी, रङ्गविघ्नोपशान्तये नटैः क्रियमाणो मङ्गलाचरणविशेषः। उक्तञ्च साहित्यदर्पणे—'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि। तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।' अत्राष्टपदा नान्दी, तथा चोक्तं तत्रैव, 'पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत'। अत्र पदशब्दः श्लोकपादपरः सुप्तिङन्तरूपो वेति द्वैधम्, इह तु श्लोकपादपरकतयैव समन्वयः कर्त्तव्यः।

लवणोदः लवणसागरः क्षारजलतया तथा नाम। वेला तीरभूमिः। तत्र या वनाली वनराजिः तस्या यः तमालतरुः तापिच्छवृक्षः, तस्य कन्दलस्य काण्डभूतस्य, लवणोदधितटवनस्थितस्येत्यर्थः, त्रिभुवनस्य लोकत्रयस्य मौलिर्मस्तकः तस्य मण्डनाय अलङ्काराय यः महान् नीलमणिर्नीलकान्तरत्नं तस्य तथोक्तस्य लोकत्रयवन्दनीयस्येत्यर्थः। कमला लक्ष्मीस्तस्याः कुचावेव कलशौ तयोः केलिः क्रीडा तदर्थं कस्तूरिकया पत्त्रं पत्त्रावलीविरचनम् तदङ्कुरस्येव, हरेः कृष्णत्वात्त्रिभिरिह रूपणम्। पुरुषोत्तमस्य पुरुषश्रेष्ठस्य। यात्रायाम् उत्सवे, 'यात्रा स्याद्यापनायां च गतौ देवार्चनोत्सवे' इति धरणिः। उपस्थानीयाः उपस्थिताः, 'भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा' इति कर्त्तर्यनीयर्। सभासदः सामाजिकाः। 'सभासदः सभास्तारा सभ्याः सामाजिकाश्च ते' इत्यमरः। कुतश्चिद् द्वीपात् द्वीपविशेषात् सिंहलात्। कुशीलवेन नटेन। प्रबन्धम् नाटकम्। अभिनयता प्रयोज्यदर्शयता। उद्वेजिताः खेदिताः।

[नान्दीके अनन्तर]

सूत्रधार—अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है। लवण समुद्रके तटपर वर्तमान वनमालाके तमालवृक्षप्ररोह-समान, त्रिभुवनशिरोभूषण महानीलमणितुल्य, लक्ष्मीके कुचकलशपर लिखित मृगमदलेखसदृश श्यामवर्ण भगवान् पुरुषोत्तमकी यात्रामें उपस्थित सभासदो, किसी अन्य द्वीपसे आये हुए कलहकन्दल नामक नटने रौद्र, बीभत्स तथा

बीभत्सभयानकाद्भुतरसभूयिष्ठं कमपि प्रबन्धमभिनयता नित्य किलायमुद्वेजितो लोक ।

तत्कस्यचिदभिमतरसभावभाज प्रेक्षणकस्य प्रयोगानुज्ञया नाट्यवेदोपाध्यायबहुरूपान्तेवासी मध्यदेशीय सुचरितो नाम भरतपुत्रोऽहमनुगृह्ये। यत —

प्रीतिर्नाम सदस्यानां प्रिया रङ्गोपजीविनः।
जित्वा तदपहर्तारमेष प्रत्याहरामि ताम्॥ ३॥

(आकाशे कर्णं दत्त्वा।) किं ब्रूथ। 'वैदेशिको भवानसमग्रपात्र कथमीदृशे कर्मणि प्रगल्भते' इति। (विहस्य। सप्रश्रयमञ्जलिं बद्ध्वा।)

अभिमतरसभावभाज अभीष्टरसभावशालिन। प्रेक्षणकस्य दृश्यकाव्यप्रभेदस्य। नाट्यवेदोपाध्यायस्य नाट्यवेदाचार्यस्य बहुरूपनाम्न अन्तेवासी शिष्य, भरतपुत्रो नट। अनुगृह्ये अनुगृहीत स्याम्। मा नाटक प्रयोजयितुमनुमन्यन्ता भवन्त इति तदाशय।

प्रीतिरिति। यत यस्मात् सदस्याना सामाजिकाना या प्रीति सन्तोप सा मम रङ्गोपजीविनो नटस्य प्रिया अपेक्षिता। तस्या प्रीते अपहर्त्तारम् अपहारकम् कलहकन्दलनामानम् (सतत नीरसनाटकप्रयोगेण भवदीयाप्रीतिकरम्) नट जित्वा स्वप्रयोगनैपुण्येन विजित्य एष अहम् ता भवत प्रीति नाम प्रियाम् प्रत्याहरामि पुनरानयामि। अत्र प्रियाहरणतत्कर्त्तृपराजयप्रियापुनरानयनादिभिरत्र नाटके वक्ष्यमाणसीताहरणरावणपराजयसीताप्रत्याहरणादिरूपोऽर्थो ध्वनित॥ ३॥

वैदेशिक —अन्यदेशायात पथिक। असमग्रपात्र तत्तद्भूमिकाग्राहिजन-

भयानक रससे ओतप्रोत कोई प्रबन्ध नित्यप्रति दिखलाकर यहाँके लोगोंको उद्वेजित कर दिया है।

अत आप नाट्यकलाके आचार्य बहुरूपके शिष्य मध्यदेशवासी सुचरित नामक मुझ नटको आज्ञा देकर कृतार्थ करें कि मैं अभिमत रसवाले किसी रूपकका अभिनय दिखलाऊं। क्योंकि—

सदस्योंकी प्रीति नाट्योपजीवी नटोंकी प्रियतमा हुआ करती है, उसे छीनकर ले जानेवाले उस दुष्टको जीतकर मैं, उस प्रीतिरूप प्रियतमाको वापस लाना चाहता हूँ॥ ३॥

(आकाशमें कान लगाकर) क्या कहा? 'आप वैदेशिक होकर बिना पात्रोंके ऐसे कार्यमें किस प्रकार उद्यत हो रहे हैं'। (हसकर, नम्रताके साथ हाथ जोडकर) अहा,

हन्त भो, किमेवमुदीर्यते। भवद्विधानामाराधनी वृत्तिरेव मे पात्राणि समग्रयिष्यति। यत —

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥ ४ ॥

(पुनराकाशे कर्णं दत्त्वा।) किं ब्रूथ ! 'तर्हि प्रहितेयमस्माभि पत्रिका' इति।

(प्रविश्य नट पत्रिका ददाति। सूत्रधारो गृहीत्वा वाचयति।)

'यत्र सर्वपुरुषार्थरहस्यनि स्यन्दिनि—

विकल्‍। ईदृशे बहुपात्रप्रयोजनीयेऽभिनयात्मके कार्ये। प्रगल्भते प्रवृत्तिसाहस्निक्य दर्शयति। भवद्विधानाम् विज्ञसामाजिकानाम्। आराधनी—सेवाविधात्री। वृत्ति व्यापारो व्यवहारो वा। समग्रयिष्यति—पूर्णता नेष्यति।

यान्नाति। न्यायप्रवृत्तस्य नीत्यनुवर्त्तिनो जनस्य तिर्यञ्च तिर्यग्योनिजाता विवेकविकला वानरादयोऽपि सहायताम् उपकारतत्परता यान्ति गच्छन्ति, अपन्थान कुवर्त्म गच्छन्त यान्त तु सोदर सगर्भ्योऽपि विमुञ्चति परिहरति। इह सन्मार्गानुगतस्य रामस्य वानरादयोऽपि सहाया सवृत्ता अपथप्रवृत्तस्य तु रावणस्य सोदरोऽपि विभीषणस्त त्यक्त्वा राममाश्रित इति नाटकीय वस्तु ध्वनितम् ॥ ४ ॥

'प्रहितेयमस्माभि पत्रिकेति सदस्यवचनानुवाद —

यत्र यस्मिन् सर्वपुरुषार्थरहस्यनिस्यन्दिनि सर्वे पुरुषार्था धर्मार्थकाममोक्षा तेषा रहस्य गोपनीय तत्त्वम् तस्य निस्यन्द धारण तद्वति सर्वपुरुषार्थरहस्योद्घाटके सकलपुरुषार्थप्रदानक्षमे सन्दर्भे इति विशेष्यमध्याहृत्य योजनीयम्।

ऐसा क्यों कहते हैं। आप सरीखे महानुभावोंको प्रसन्न करनेकी मेरी प्रवृत्ति ही मुझे पात्रोंको जुटानेमें सहायता देगी। क्योंकि—

न्याय सङ्गतमार्गसे चलनेवालोंको पशु-पक्षी भी सहायता प्रदान करते हैं, और अपथप्रवृत्त जनको उनके सोदरभी छोड देते हैं ॥ ४ ॥

(फिर आकाशमें कान लगाकर) क्या कहा ? 'तो हमने यह आज्ञा पत्रिका दे दी'। (प्रविष्ट होकर नट आज्ञापत्रिका देता है। सूत्रधार लेकर पढता है]

'जिस प्रबन्धमें चतुर्विध पुरुषार्थका रहस्य प्रवाहित होता है—

चेत·शुक्तिकया निपीय शतश· शास्त्रामृतानि क्रमा-
द्वान्तैरक्षरमूर्तिभि· सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिता' ।
उन्मीलत्कमनीयनायकगुणग्रामोपसंवल्गन-
प्रौढाहंकृतयो लुठन्ति सुहृदां कण्ठेषु हारस्रजः ॥ ५ ॥
तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे ।
जगदानन्दकन्दाय संदर्भाय त्वरामहे' ॥ ६ ॥

चन शुक्तिकयेति । (यत्र सन्दर्भे) चेत एव शुक्तिका तया क्रमात् यथावसर शतश शास्त्राणि शत शतमुपदेशप्रदशासनानि एव अमृतानि निपीय सादर पीत्वा समालोच्य वान्तै उद्गीर्णै मुक्ताफलै मौक्तिकै अक्षरमूर्त्तिभि वर्णस्वरूपै सुकविना गुम्फिता सन्दब्धा उन्मीलता प्रस्फुरता कमनीयाना नायकगुणाना ग्रामस्य समुदायस्य उपसवल्गनेन सम्बन्धेन सद्भावेन प्रौढाहङ्कृतय रचनोत्कर्षजनिताभिमानशालिन्य हारस्रज मनोहारिण्यो वर्णमाला सुहृदा सहृदयसामाजिकाना कण्ठेषु लुठन्ति निवसन्ति । अन्यानि अपि मौक्तिकानि शुक्तिकासु बहुश पीतपानीयासु वान्तानि सुचतुरपुरुषेण गुम्फितानि कमनीयमध्यमणिसयुतानि सूत्रग्रथितानि सत्पुरुषाणा कण्ठेषु लुठन्तीति प्रसिद्ध तथैव चेत शुक्तिकया शास्त्रामृतानि पीत्वा वान्तैरक्षरस्वरूपैर्मुक्ताफलैर्ग्रथिता कमनीयनायकरूपमध्यमणितद्गुणरूपसूत्रसन्दब्धतयोत्कृष्टताजनितगर्वभाज प्रबन्धरूपमाला सहृदयसामाजिकाना कण्ठेषु स्थान लभन्त इत्यर्थ । अत्र वान्तशब्दप्रयोगेणाश्लीलत्व माशङ्कि, तस्य दोषस्य लाक्षणिकप्रयोगातिरिक्तस्थलविषयतया नियतत्वात्, अत्र प्रकाशितार्थे वान्तपदस्य लाक्षणिकत्वात्, तथा चोक्त दण्डिना—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादिगौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षा विगाहते' । श्लिष्टपरम्परितरूपकमलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५ ॥

तस्मै इति । तस्मै प्रसिद्धाय वीराद्भुतयो रसयोरारम्भेण सम्बन्धेन ताडकावधधनुर्भङ्गादिप्रकरणप्रयोज्येन गम्भीर दुरवगाहम् उदात्त सर्वहृद्य च वस्तु कथावस्तु यत्र तस्मै तथोक्ताय जगदानन्दकन्दाय सकलरसिकानन्ददात्रे सन्दर्भाय

जिस प्रबन्धमें—हृदयरूप शुक्तियाँ शास्त्ररूप अमृत पीकर यथाक्रमसे अक्षररूप मौक्तिक उत्पन्न करती हैं, उन्हे लेकर सुकविगण हार तैयार करते है, जिसमें नायक (नेता–सुमेरु) का रमणीय गुण द्योतित होता है, जिससे अहङ्कार झलका करता है, ऐसे यह हार सहृदयोंके गलेमें शोभा पाते है—यह बात चरितार्थ होती हो ॥ ५ ॥

उस वीर तथा अद्भुतरसपूर्ण कथावस्तुसे युक्त ससारको आनन्द प्रदान करनेवाले सदर्भको अभिनीत करने की शीघ्रता करें ॥ ६ ॥

(विमृश्य सहर्षस्मितम् ।) मारिष, रामायणमिति श्रृणोषि तत्रभवतः कवित्वावतारप्रथमतीर्थस्य वल्मीकजन्मनो मुने सरस्वतीनिर्यासो यश - शरीरमिक्ष्वाकूणाम् ।

नटः—अथकिम् ।

सूत्रधारः—तत्प्रतिबद्धप्रबन्धानुबन्धिनी परिषदाज्ञा ।

नटः—(विहस्य ।) अहो, सकलकविसार्थसाधारणी खल्विय वाल्मीकीया सुभाषितनीवी ।

सूत्रधारः—मारिष, किमुच्यते ।

नाटकरूपप्रबन्धाय त्वरामहे सत्वरा भवाम । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ६ ॥

मारिषेति सूत्रधारामन्त्रणम् ।

तत्रभवत पूजनीयस्य, 'पूज्यस्तत्रभवानत्रभवान्' इत्यमर । कवित्वावतारप्रथमतीर्थस्य कवित्वेन कवित्वस्य वा योऽवतार प्रकाशस्तस्य प्रथमतीर्थस्य आदिमस्थानस्य, आदिकवेरित्यर्थ । वल्मीकजन्मनो वाल्मीके । सरस्वतीनिर्यास वाक्प्रसर । इक्ष्वाकूणा यश शरीरम् , इक्ष्वाकुकुलकीर्त्तिगाथा ।

अथकिम्—सत्यमुक्त त्वयेति भाव ।

तत्प्रतिबद्धेति । तेन वाल्मीकिना प्रतिबद्धो विरचितो यो रामायणरूप प्रबन्ध तदनुबन्धिनी तदनुसारिणी परिषदाज्ञा सामाजिकानामादेश । सामाजिकाः कमपि रामायणानुगत प्रबन्धमभिनेतुमादिशन्ति इति भाव ।

सकलेति । सकलाना कविसार्थाना कविसमुदायाना साधारणी सवादिनी सकलकविभि समानभावेनादृता । सुभाषितनीवी वाल्मीकिकृतसूक्तरूप मूलधनम् । सर्वेऽपि कवयो वाल्मीकिसूक्तमुपजीवन्तीत्यर्थ । 'नीवी स्याद् वसनग्रन्थौ नीवी मूलधनेऽपि च' इति विश्व ।

(विचार करके) (सहर्ष मुस्कुराकर) मारिष, पूजनीय कविताके प्रथमावतारके लिये प्रसिद्ध भगवान्—वाल्मीकि मुनिकी कृति सरस्वतीके सारभाग रामायणको तुमने सुना होगा जो इक्ष्वाकुवंशियोंका यश शरीर है ?

नट—और क्या ?

सूत्रधार—रामायणसे सम्बन्धित प्रबन्धके अभिनयकी आज्ञा परिषद् दे रही है ।

नट—(हसकर) अहा सभी कविगण वाल्मीकिकी कवितारूप मूलधनका ही तो उपजीवन किया करते हैं ।

सूत्रधार—मारिष, क्या कहना है ?

अपि कथमसौ रक्षोराजस्ततापः जगत्त्रयी-
मपि कथमभूदिक्ष्वाकूणां कुले गरुडध्वजः ।
अपि कथमृषौ दैव्यो वाचः स्वतः प्रचकाशिरे
सुचरितपरीपाकः सर्वः प्रबन्धकृतामयम् ॥ ७ ॥

तत्र तावन्निरूपयामि रूपकमभिरूपमीदृशम् । (मुहूर्तमिव स्थित्वा । स्मरणमभिनीय । सोल्लासम् ।) अस्ति मौद्गल्यगोत्रसम्भवस्य महाकवेर्भट्ट-श्रीवर्धमानतनूजन्मनस्तन्तुमतीनन्दनस्य मुरारेः कृतिरभिनवमनर्घराघव

अपि कथमिति । अपि असौ रक्षोराज सकलराक्षसचक्रवर्त्ती रावण जगन्त्रयीं त्रिलोकी कथ ततापः सन्तापितवान्? अपि इक्ष्वाकूणा तदाख्यया प्रथितानां सूर्यवंश्यराजन्यकानाम् कुले वंशे गरुडध्वज विष्णु कथमभूत् केन प्रकारेण—रामात्मनाऽवततार, अपि कथम् ऋषौ वाल्मीकौ दैव्य देवभाषिता संस्कृता गिर वाच प्रचकाशिरे छन्दोबद्धवागात्मना पर्यणमन् , सर्वं अयम् प्रबन्धकृताम् रामाश्रिततत्प्रबन्धप्रणयनयशस्विनाम् कवीनाम् सुकृतपरिपाक पुण्यपरिणाम , रावणकर्तृकजगत्सन्तापनतदुपशमोद्देश्यकरामावतारतद्यशोवर्णनप्रयोजनकादिकविनिष्ठच्छन्दोबद्धवागवतारादि सर्वं सुकविसुकृतनिदानकमेव, कथमन्यथेद सम्भवेदिति । त्रयोऽप्यपय प्रश्नार्था, 'अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इति विश्व । हरिणीवृत्तम् ॥ ७ ॥

निरूपयामि विचार्य निर्धारयामि । अभिरूपम् योग्य यथोक्तगुणयोगि । अभिनीय–शिर कम्पादिना स्मरण नाटयित्वा ।

वर्धमानतनूजन्मन वर्धमानाख्यविदुष पुत्रस्य । तन्तुमतीनन्दनस्य तन्तुमती नाम मुरारिमाता तन्नन्दनस्य तत्पुत्रस्य । 'गोत्र नाम च बध्नीयात् पूजावाक्यं च पार्षद । नाटकस्य च यन्नाम गर्भनिर्दिष्टलक्षणम्' इति भरतोक्तदिशात्र मुरारिजनकजननीनामनिर्देश तत्कृतिप्रशंसा च । तत् अनर्घराघव नाम नाटकम् ।

यह कैसे सभव हो गया कि रावणने सारे ससारको सन्तापित कर दिया, यह भी कैसे सम्भव हो गया कि भगवान् विष्णुने इक्ष्वाकुवंशमें जन्म ले लिया, और यह भी कैसे सम्भव हो गया कि वाल्मीकिके हृदयमें वाणीने अपना प्रकाश फैलाया ? निश्चय ही यह सारा काण्ड सुकवियोंके पुण्यप्रतापका फल है ॥ ७ ॥

इसीलिये सोचता हूँ कि कौन रूपक उपयुक्त होगा । (क्षणभर रुककर) (याद करके उल्लासके साथ) मौद्गल्यगोत्रोत्पन्न महाकवि वर्धमान भट्टके पुत्र तन्तुमती नामक

१. 'महाकवे' इत्यस्मात्पूर्वम् 'बालवाल्मीके' इत्यधिकविशेषणम् ।

नाम नाटकम् । तत्प्रयुञ्जाना[1] सामाजिकानुपास्महे । (विचिन्त्य सहर्षम् ।) अहो रमणीया खल्वियं सामग्री परिषदाराधनस्य । यतः —

मद्वर्ग्या रसपाठगीतिगतिषु प्रत्येकमुत्कर्षिणो
मौद्गल्यस्य कवेर्गभीरमधुरोद्गारा गिरां [1]व्यूतयः ।
[2]वीरोदात्तगुणोत्तरो रघुपतिः काव्यार्थबीजं मुनि-
र्वाल्मीकिः फलति स्म यस्य चरितस्तोत्राय दिव्या गिरः ॥८॥

अयं तु प्राचेतसीयं कथावस्तु बहुभिः प्रणीतमपि प्रयुञ्जानो नाप-

प्रयुञ्जाना अभिनयन्तः । सामाजिकान् सहृदयसभ्यान् । उपास्महे—आराधयामः । सामग्री—उपकरणम् । परिषदाराधनस्य—सभ्यजनसन्तोषस्य ।

मद्वर्ग्या इति मद्वर्ग्या मम सम्प्रदाये वर्त्तमाना जनाः प्रत्येकम् एकैकम् रसाः नाटकप्रयोज्याश्शृङ्गारवीरादयः, पाठः स्वरस्वादमाधुर्यम्, गीतिः सङ्गीतञ्च तेषु उत्कर्षिण उत्कर्षवन्तः, मौद्गल्यस्य मौद्गल्यगोत्रोत्पन्नस्य कवेर्मुरारिनाम्नः गिरां व्यूतयः वाग्विस्तराः गभीराः अर्थगौरवपूर्णाः मधुराः मनोहराश्च उद्गाराः उक्तयो यासु तादृश्यः अर्थगौरवपूर्णाः मनोहराश्चेत्यर्थः । धीरोदात्तगुणोत्तरः धीरोदात्त-श्रेष्ठः रघुपतिश्च काव्यार्थबीजम् काव्ये वर्णनीयतया तदर्थमूलम्, यस्य रघुपतेः रामस्य चरितस्तोत्राय कीर्त्तिस्तुतये वाल्मीकिर्नाम मुनिः दिव्याः अमानुषीः गिरः वाचः फलति स्म आविर्भावयति स्म । एतेन सामग्रीपूर्णता द्योतिता, नटकविकाव्य-वस्तुकविभाषाणामुत्कृष्टतया प्रबन्धाभिनयसामग्रीपूर्त्तिरस्तीति भावः । 'अवि-कत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः । स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥' इति धीरोदात्तलक्षणम् ॥ ८ ॥

अयम् मुरारिः । प्राचेतसीयम् वाल्मीकिकृतम् । कथावस्तु चरितम् । बहुभि-

माताके गर्भसे उत्पन्न मुरारिकृत अनर्घराघव नाटक है । उसीके अभिनयद्वारा सामाजिकों का अनुरञ्जन किया जाय । क्योंकि—

मेरे सहकर्मी रससृष्टि, पदपाठ, गीतिकला, सभी नाट्याङ्गोंमें एकसे एक बढकर सिद्धहस्त हे, मौद्गल्यकवि मुरारिकी कविता गभीर मधुर-उद्गारशालिनी है, काव्यके नायक वीर तथा उदात्तगुण-मण्डित भगवान् रामचन्द्रही है, जिनके चरित की प्रशंसामें वाल्मीकिने दिव्यवाणीका प्रयोग सफल किया है ॥ ८ ॥

यह श्रोत्रियपुत्र मुरारि यदि वाल्मीकिद्वारा प्रयुक्त कथावस्तुका उपयोग करता है तो

१. 'स्यूतयः' इति पाठान्तरम् । २. 'वीरोदात्त-' इति ।

राध्यति श्रोत्रियपुत्र । पश्य—

यदि क्षुण्णं पूर्वैरिति जहति रामस्य चरितं
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति कः ।
स्वमात्मानं तत्तद्गुणगरिमगम्भीरमधुर-
स्फुरद्वाग्ब्रह्माण· कथमुपकरिष्यन्ति कवय· ॥ ९ ॥

उपक्रममाणश्च स कवि स्वनिर्भासशब्दब्रह्माणमाचार्य प्राचेतस गिरं च देवतामेवमुपश्लोकितवान् ।

कालिदासादिप्राचीनकविभि , प्रणीतम् प्रकाशित स्वकाव्ये आदृतम् , प्रयुञ्जान स्वनाटके उपाददान । नापराध्यति न दोषभाग् भवति । श्रोत्रियपुत्र वेदज्ञस्य वर्धमानस्य तनय ।

यदि क्षुण्णमिति । यदि पूर्वै प्राचीनै पण्डितै वाल्मीकिप्रभृतिभि क्षुण्णम् बहुशो वर्णितमिति कृत्वा रामस्य चरितम् रामायणीयं कथावस्तु जहति त्यजन्ति, यदि साम्प्रतिका कवयो भूतपूर्वकविभिराम्रेडिततया रामचरित्र न स्वकविताविषय चिकीर्षन्ति, तदा तत्तद्गुणाना माधुर्यौज प्रसादादीना गरिम्णा गौरवेण गम्भीरमर्थ-गुरु मधुर हृद्य च यथा स्यात्तथा स्फुरद्वाग्ब्रह्म शब्दरूप ज्योतिर्येषा ते तथोक्ता तत्तद्गुणपूर्णकवित्वशालिन कवय कथम् स्वम् आत्मानम् कथम् उपकरिष्यन्ति प्रतिपत्तिरूपमुपकार प्रापयिष्यन्ति यशस्विन करिष्यन्ति, यत एतावद्भि अपरिसख्ये-यैर्गुणैर्जगति कोऽन्यो रामातिरिक्तो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते पूर्वकविपरिगृहीततया यदि रामस्य चरित साम्प्रतिका कवयो न स्वकविताया विषयीकरिष्यन्ति तदा ते स्फुरद्वाग्ब्रह्माण सन्तोऽपि कथमात्मानमुपकरिष्यन्ति, तादृशपुण्यकीर्त्तिनायकान्त-रस्य दुर्लभत्वादित्यर्थ । शिखरिणीवृत्तम् , 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलाग शिख-रिणी' इति तल्लक्षणात् ॥ ९ ॥

उपक्रममाण —काव्यमारभमाण , स कवि मुरारि । स्वनिर्भास स्वत प्रकाश-

---

इसमें उसका कुछ दोष नहीं माना जाना चाहिये ।

यदि प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित होनेके कारण रामचन्द्रके चरितको अपनी काव्यकलाका आधार नही बनावें, तो दूसरा रामचन्द्रसमान चरितनायक इस ससारमें कहाँ पाया जायगा, और तब तत्तत् गुणकी गरिमा तथा गम्भीरतासे पूर्ण वाणीवाले कविगण अपनेको महाचरित प्रदर्शन द्वारा कैसे उपकृत कर सकेंगे ? ॥ ९ ॥

अपनी कविताके प्रारम्भमें महाकवि मुरारिने स्वत प्रकाश शब्दब्रह्म वाले प्राचेतस वाल्मीकि तथा सरस्वती की वन्दना निम्नलिखित रूपमें की है ॥

नमृषिं मनुष्यलोकप्रवेशविश्रामशाखिनं वाचाम्।
सुरलोकादवतारप्रान्तरखेदच्छिदं वन्दे ॥ १० ॥
धातुश्चतुर्मुखीकण्ठश्रृङ्गाटकविहारिणीम्।
नित्यप्रगल्भवाचालामुपतिष्ठे सरस्वतीम् ॥ ११ ॥

नटः—(सहर्षम्।) भाव, तत्प्रस्तूयताम्। अस्य हि मौद्गल्याना[1]

शब्द एव ब्रह्म यस्य त स्वतोऽवतीर्णवाक्प्रसरम अनायासप्राप्तकवित्वप्रवाहमित्यर्थ । आचार्यम् सकलकविगुरुम्। प्राचेतसम् वाल्मीकिम्। उपश्लोकितवान् स्तुतवान्।

नमृषिमिति । वाचाम् कवितारूपवचनविन्यासानाम् य मनुष्यलोके मर्त्ये प्रवेश समागम तत्र [स्वर्गात् (कविताया) अवतारे अवतरणे प्रान्तरखेद शून्यवर्त्मनि निरवलम्बनतया गमनक्लेश त छिनत्तीति तथोक्त] विश्रामशाखिन श्रमापह तरु तमृषि वाल्मीकि वन्दे। अनालम्बे वर्त्मनि सक्लेश स्वर्गाद् भुवमवतरन्त्या कविताया विश्रामदवृक्षभाव भजन्तं वाल्मीकि नामर्षिं वन्द इत्यर्थ । आर्यावृत्तम्। रूपकमलङ्कार ॥ १० ॥

धातुरिति। धातु ब्रह्मण चतुर्णा मुखाना समाहार चतुर्मुखी मुखचतुष्टयम् तस्या कण्ठा एव श्रृङ्गाटकानि चतुष्पथम् तत्र विहारिर्णी सततविहारशीलाम् प्रगल्भवाचालाम् समुद्धता वावदूकाञ्च सरस्वतीम् वाचम् सतत सर्वदा उपतिष्ठे पूजयामि। ब्रह्ममुखवासरमिका वाच मन्त्रद्वाराऽऽराधयामीत्यर्थ । ननु बहुभाषित्वेन सरस्वत्या का स्तुतिरिति चेन्न, सरस्वत्या चतुर्मुखमुखरूपश्रृङ्गाटकविहारितया पण्यस्त्रीत्वेन रूपितत्वे वाचालताया एव स्तुत्यन्वात्। 'श्रृङ्गाटक भवेद्वारिकण्टके च चतुष्पथे' इति मेदिनी। 'स्याज्जल्पकस्तु वाचाल' इति च। रूपक स्पष्टमलङ्कार ॥

प्रस्तूयताम् आरभ्यताम् । ब्रह्मर्षीणाम् ब्रह्माणश्च ते ऋषयो ब्रह्मर्षयस्तेषाम्

वाणी मनुष्यलोकमे प्रवेश करने चली तब बीचमें उसने अपने विश्रामके लिये वाल्मीकिरूप वृक्षको चुना, उस वृक्षने अपनी छायामे बैठाकर वाणीको छायारहित मार्गमे सुरलोकसे मर्त्यलोकतक आनेके कष्टको दूर कर शीतलता प्रदानकी, मै उस विश्रामशाखी वाल्मीकि मुनिको नमस्कार करता हू ॥ १० ॥

ब्रह्माके चारो मुखरूप चतुष्पथमें विहार करनेवाली सदा प्रगल्भ तथा वाचाल सरस्वतीकी वन्दना करता हूँ ॥ ११ ॥

नट—(हर्षके साथ) भाव, तब प्रारम्भ कर दीजिये। इस मौद्गल्य गोत्रोत्पन्न ब्रह्मर्षि-

१ 'मौद्गल्यायनानाम्' इति।

ब्रह्मर्षीणामन्वयमूर्धन्यस्य मुरारिनामधेयस्य बालवाल्मीकेर्वाङ्मयममृत-बिन्दुनिष्यन्दि कन्दलयति कौतुक मे ।

सूत्रधारः—मारिष, स्थाने भगवत कुतूहलमीदृशमेवैतत्। तथाहि—

तत्तादृगुज्ज्वलककुत्स्थकुलप्रशस्ति-
सौरभ्यनिर्भरगभीरमनोहराणि ।
वाल्मीकिवागमृतकूपनिपानलक्ष्मी-
मेतानि बिभ्रति मुरारिकवेर्वचांसि[1] ॥ १२ ॥

ऋषिस्वरूपाणा ब्राह्मणानामित्यर्थ । अन्वयमूर्धन्यस्य वशे प्रधानस्य । मुरारिनामधेयस्य मुरारिनामकस्य । बालवाल्मीके बाल्मीक्यवतारभूतस्य बालपद वृद्धवाल्मीकेर्भेदकम् । वाङ्मयम् वचनविन्यासो नाटकमित्यर्थ । अमृतनिष्यन्दि सुधावर्षि । कौतुकम् औत्सुक्यम् । कन्दलयति अङ्कुरयति । स्थाने भवत कुतूहलम् । उचित तवौत्सुक्यम् । ईदृशमेवैतत्—उत्सुकता जनकमेव वचन मुरारेरतो युक्तमेव तत्प्रयोगे तवौत्सुक्यमिति भाव ।

तत्तादृगिति । तत् प्रसिद्धम् तादृक् अनन्यसाधारणम् उज्ज्वलम् स्वगुणप्रकाशम् यत्ककुत्स्थकुलम् सूर्यवंश्यराजकुलम् तस्य या प्रशस्ति चरितकीर्त्तनरूपा प्रशसा तस्या सौरभ्य ख्यातिस्तया गभीरमनोहराणि महान्ति सुन्दराणि च एतानि मुरारिकवेर्वचासि वाल्मीकेर्यद् वागेवामृत तस्य य कूपस्तस्य निपानलक्ष्मीम् कूपसमीपस्थेष्टकादिबद्धस्वल्पजलाशयशोभा बिभ्रति धारयन्ति । यथा कूपान्न्यून निपान तथा वाल्मीकिवचनेभ्य किञ्चिन्न्यूनानि मुरारिवचनानीति भाव । 'आहावस्तु निपान स्यादुपकूपजलाशये' इति कोष । अत्रान्यस्य धर्म कथमन्यो वक्ष्यतीति मुरारिवचनस्य निपानस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावात् निदर्शनालङ्कार, 'सम्भवन्वस्तु-सम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित् । यत्र बिम्बानुबिम्बत्व बोधयेत्सा निदर्शने'ति

वशमूर्धन्य बालवाल्मीकि मुरारिकी कवितायें—जो अमृत बिन्दुकी वर्षा करती है—मेरे हृदयमे उत्सुकता पैदा कर रही है ।

सूत्रधार—मारिष, आपका कौतुक ठीक ही है, यह कविता ऐसी ही है ।

उन अवर्णनीय काकुत्स्थकुलकी प्रशसासे सुरभित गम्भीर तथा मनोहर मुरारिकी कवितायें वाल्मीकिके वचनरूप अमृतके लिये कूप-निपानकी शोभा धारण करती है ॥१२॥

१ क्वचित् 'तत्तादृगुज्ज्वल–' इत्यादि श्लोकाग्रे 'अपि च । देवी वाचमुपासते हि बहव' इत्यादि श्लोको दृश्यते ।

(नेपथ्ये गीयते ।)

दिणअरकिरणुक्केरो पिआअरो को वि जीअलोअस्स ।
कमलमउलंकवालीकिअमहुअरकड्ढणविअड्ढो ॥ १३ ॥

[दिनकरकिरणोत्कर प्रियाकर कोपि जीवलोकस्य ।
कमलमुकुलाङ्कपालीकृतमधुकरकर्षणविदग्ध ॥ १३ ॥]

सूत्रधारः—(आकर्ण्य ।) कथमुपक्रान्तमेव नर्तकैः, यदिय दशरथोत्सङ्गाद्रामभद्राकर्षिणो विश्वामित्रस्य प्रावेशिकी ध्रुवा । (पुरोऽवलोक्य ससभ्रमम् ।) अये, कथमत्रैव तत्रभवत कमलयोनिजन्मनो मुनेराय-

---

लक्षणात् ॥ वसन्ततिलक वृत्तम्, 'ज्ञेय वसन्ततिलक तभजा जगौ ग' इति च तल्लक्षणम् ॥ १२ ॥

दिनकरेति । दिनकरस्य सूर्यस्य किरणोत्कर तेजोनिवह (तत्स्वरूप) जीवलोकस्य ससारस्य प्रियाकर सुखद कोऽपि अनिर्वचनीयगुणगण पुरुष कमलमुकुलेन पद्मकलिकया अङ्कपालीकृत क्रोडविनिहित य मधुकरो भ्रमरस्तस्य कर्षणे तत् क्रोडात् बहिर्नयने विदग्ध चतुर क्षम । यथा कमलमुकुलक्रोडीकृतस्य भ्रमरस्य ततो बहिर्नयने सूर्यकिरणोत्कर एव दक्षस्तथा दशरथस्य क्रोडे स्थितस्य रामस्य ततो विकृष्य तपोवननयने विश्वामित्र एव समर्थ इति ध्वनि । एतद्गाथासूचितोऽर्थोऽयमग्रे सूत्रधारकथनेन स्पष्टीभविष्यति ॥ १३ ॥

उपक्रान्तम् प्रारब्धम् । प्रावेशिकी प्रवेशसूचिका । ध्रुवा गीतिभेद । तथा चोक्त भरतेन 'ध्रुवा तु गीतिभेदोऽय वृन्दसामा निबध्यते'। सा चेय पञ्चधा 'प्रावेशिकी निष्क्रमणी परिक्रामण्यवस्थिति । उत्थापनी तु पञ्चम्या ध्रुवा नाट्यार्थसिद्धये । तत्र प्रावेशिकी ज्ञेया प्रवेशे गानयोगत ॥' ससभ्रमम् सादरम् । कमलयोनिजन्मन कमलयोनिर्ब्रह्मा ततो जन्म यस्य तस्य मुनेर्वसिष्ठस्य । आयतनात्

(नेपथ्यमे गाया जाता है)

यह सूर्यका किरण समुदाय लोगोंको अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करता है जो कमलकुलकी गोदरूप कारागारमें वन्दीभूत मधुकरोंको बाहर निकालनेमे पटु है ॥ १३ ॥

सूत्रधार—(सुनकर) क्यों, नर्त्तकोंने प्रारम्भ भी कर दिया ? जिसमें दशरथकी गोदसे रामको अलग करनेवाले विश्वामित्रकी सूचना देनेवाली यह गीत है। (आगे देखकर घबडाहटके साथ) अरे, वसिष्ठमुनिके आश्रमसे वापस आये हुए वामदेवके

तनात्प्रतिनिवृत्तेन ऋत्विजा वामदेवेन किमपि तद्वाचिकमभिधीयमानो महाराजो दशरथस्तिष्ठति । तदेहि । न द्वयोस्तृतीयेन[1] भवितव्यमित्यावामप्यनन्तरकरणीयाय सज्जीभवाव । (इति निष्क्रान्तौ ।)

प्रस्तावना ।

(तत प्रविशति यथोपदिष्टो दशरथो वामदेवश्च ।)

दशरथः—अहो, बहुधा श्रुतमपि भगवतो वसिष्ठस्यानुशासन नव नवमिव प्रमोदयति माम् ।

आश्रमपदात् । प्रतिनिवृत्तेन परावर्त्तमानेन । किमपि सातिशयरहस्यम् । [redacted]कम् वसिष्ठसन्देशम् । अभिधीयमान उच्यमान । वसिष्ठाश्रमान्निवृत्तो वामदेवो दशरथाय वसिष्ठसन्देश कथयस्तिष्ठति, तदनयो रहस्यकथाया नावाभ्या सङ्गन्तव्यमित्याह—न द्वयोरिति, न द्वयोस्तृतीयेन भवितव्यम् न द्वयो कथाया तृतीयेन सम्मिलिव्यमिति 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र' इति स्मरणात् । आवाम् नटसूत्रधारौ । सज्जीभवाव उद्यतौ भवाव ।

प्रस्तावना—'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा । सूत्रधारेण सहिता सलाप यत्र कुर्वते ॥ चित्रैर्वाक्यै स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैश्चापि नाटके । प्रस्तावना हि सा ज्ञेया प्रकृतार्थोचित वच ॥' इति तल्लक्षणम् । अयमेव पूर्वरङ्ग, 'पूर्वरङ्ग सभापूजा कवेर्गोत्रादिकीर्त्तनम् । नाटकादिस्तथा सज्ञा सूत्रधारोऽप्यथो मुखम् ॥ गीतिक्रिया च वाद्य च वर्णिकाग्रहण तथा । रतिर्जवनिकायाश्च पूर्वरङ्गश्चतुर्विध ॥' इति तत्स्वरूपस्य भरतेन निवेदनात् ।

बहुधाश्रुतम् अनेकवारमाकर्णितम् । अनुशासनम् आज्ञावचनम् । नव नवमिव सततनूतनमिव । प्रमोदयति आनन्दयति ॥

द्वारा कहे गये सवादको सुनते हुए महाराज दशरथ यहा तो है । अब चलो, दो आदमियोंकी रहस्य कथामें तृतीय नही बनना चाहिये । अब हम अपने अग्रिम कर्त्तव्यके लिये सज्जित हो लें । (दोनोका प्रस्थान)

[प्रस्तावना समाप्त)

(इसके बाद यथोक्तरूपमें दशरथ तथा वामदेवका प्रवेश)

दशरथ—अहा ! अनेक बार सुना गया भी वसिष्ठका अनुशासन नित्य-नूतनकी तरह मुझे आनन्दित करता है ।

---

१ क्वचित् 'न द्वयोस्तृतीयेन भवितव्यमिति निष्क्रान्तौ' इत्येतावदेव पाठ ।

वामदेवः—

मधुकैटभदानवेन्द्रमेदःप्लवविस्रा विषमैव मेदिनीयम्।
अधिवास्य यदि स्वकैर्यशोभिश्चिरमेनामुपभुञ्जते नरेन्द्राः ॥ १४ ॥

दशरथः—(सविमर्शस्मितम् ।) सखे[1] वामदेव,

तस्याज्ञयैव परिपालयतः प्रजां मे
कर्णोपकण्ठपलितङ्करणी जरेयम्।
यद्गर्भरूपमिव मामनुशास्ति सर्व-
मद्यापि तन्मयि गुरुर्गुरुपक्षपातः ॥ १५ ॥

मधुकैटभेति । मधुकैटभौ दानवेन्द्रौ प्रथितौ तयोर्मेदसो वसाया प्लवेन प्रवाहात्मना क्षरणेन विस्रा आमगन्धवती इयं मेदिनी पृथ्वी विषमा दुर्भोग्या एव दानवेन्द्रयोस्तयोर्वसापङ्केन पङ्किलेयं धरित्री नोपभोगक्षमा आसीदिति पूर्वार्द्धार्थः नरेन्द्रा राजानः स्वकैर्यशोभिरधिवास्य स्वकीर्त्तिभिः सुरभीकृत्य चिरम् उपभुञ्जते तर्हि उपभुञ्जते, राक्षसैः पूतिगन्धिता प्रापिताया अस्य भुवो राजकीर्त्तिभिरेव सुरभीकृतत्वेन वासक्षमता जातेति हृदि कृत्य भवन्तोऽपि भुवं यशसा सुरभीकर्त्तुं यतन्तामिति वसिष्ठस्य सन्देशो वामदेवेन दशरथाय निवेद्यमानो बोध्यः । 'विस्रं स्यादामगन्धि यत्' इति मेदिनी ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्य वसिष्ठस्याज्ञया आदेशानुसारम् एव प्रजाः रक्षतः पालयतो मे मम इयम् कर्णोपकण्ठे कर्णपार्श्वे पलितङ्करणी शौक्ल्यसम्पादिका जरा वृद्धावस्था जातेति शेषः, वसिष्ठाज्ञयैव प्रजाः पालयन्नहं वार्द्धक्यं प्राप्त इत्यर्थः, अद्यापि इह वृद्धावस्थायामपि गर्भरूपमिव अतिबालमिव गुरुः वसिष्ठः सर्वं कर्त्तव्यजातम् माम् अनुशास्ति आदिशति, तन्मयि तस्य गुरुपक्षपातः, महान्स्नेहातिशयः, वृद्ध-

---

वामदेव—यह पृथ्वी मधुकैटभ आदि दानवोंके मेद प्रवाहसे दुर्गन्ध पूर्ण हो रही थी, इसे अपनी कीर्त्तियोंसे सुवासित करके ही इन नृपतियोंने उसका उपभोग किया ॥ १४ ॥

दशरथ—(विचारकर मुस्कुराते हुए) सखे वामदेव, महाराज वसिष्ठकी आज्ञासे ही मैं इस पृथ्वीका शासन करता आया हूं, मैं अब बूढ़ा हो चला, फिर भी आज भी वसिष्ठ छोटे बालककी तरह मुझे सभी विषयोंमें राय देते हैं यह उनका महान् अनुग्रह है ॥ १५ ॥

---

१. 'ऋषे' इति ।

वामदेवः—महाराज, किमुच्यते। समानवृत्तेरपि क्वचिदेव कस्यचित्तारामैत्रकम्। तथाहि स तत्रभवान्—

साधारणो रघूणां गुरुर्भवन्नपि विशेषदृष्टिस्ते।
नामोदयति कमिन्दुः कुमुदं पुनरस्य सर्वस्वम्॥ १६॥

दशरथः—वामदेव, मम हि गुरुवचनश्रवणतृष्णामङ्कुशीकरोति[1] श्रोत्रवृत्तिरिन्द्रियान्तरानुसारिणो हृदयमहागजस्य। तन्न किञ्चिदपरमवशिष्यते[2]।

मपि यन्मा गुरुरनुशास्ति तत्सर्वं स्नेहविजृम्भितमित्यर्थः। 'पलितं जरसा शौक्ल्यम्' इति कोषः। पलितं क्रियते यया सा पलितङ्करणी। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ १५॥

समानवृत्तेः सर्वजनसमवर्त्तिनः। तारामैत्रकम् चक्षूरागः, समवृत्तेरपि जनस्य क्वचन स्नेहातिशयो दृश्यत इति भवति वसिष्ठस्यास्ति प्रेमप्रकर्ष इति भावः।

साधारण इति। रघूणां रघुवंश्यानां साधारणो गुरुर्भवन्नपि वसिष्ठस्ते तव विषये विशेषदृष्टिः त्वयि धृतसविशेषप्रेमा तिष्ठतीति शेषः, अत्र दृष्टान्तमाह—नामोदयतीति इन्दुश्चन्द्रः कन्न आमोदयति हर्षयति सर्वमप्यानन्दयतीत्यर्थः, अस्य चन्द्रस्य पुनः कुमुदं सर्वस्वम् निधिभूतम्, यद्यपि चन्द्रः सर्वानानन्दयति, तथाऽप्यसौ कुमुदस्यात्यन्तमानन्दजनक इत्यर्थः। प्रतिवस्तूपमालङ्कारः, 'वस्तु किञ्चिदुपन्यस्य समानात्तत्सधर्मणः। साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा मता' इति तल्लक्षणम्॥१६॥

मम दशरथस्य, श्रोत्रवृत्तिः श्रवणव्यापारः इन्द्रियान्तरानुसारिणः किञ्चिदपरमिन्द्रियमनुसर्तुमिच्छतो हृदयमहागजस्य मनोरूपस्य करिणः गुरुवचनश्रवणतृष्णाम् वसिष्ठादेशश्रवणाभिलाषम् अङ्कुशीकरोति अङ्कुशतां नयति, यदैव मम मनो विषयान्तरे प्रसक्तं भवितुमिच्छति तदैव मम श्रोत्रवृत्तिर्गुरुवचनतृष्णारूपेणाङ्कुशेन

वामदेव—महाराज, क्या कहें, समवर्त्ती होने पर भी किसीके साथ किसीका लग्न मिल जाता है। महाराज वसिष्ठ—

यद्यपि सभी रघुवंशियोंके तुल्यभावसे गुरु रहे हैं फिर भी उनकी आप पर खास कृपा रहती है, चन्द्रमा किसको नहीं आनन्दित करता है किन्तु कुमुद उसका सर्वस्व कहा जाता है॥ १६॥

दशरथ—इन्द्रियान्तरके साथ सबन्ध जोडनेकी इच्छा रखनेवाले हमारे हृदयको कान गुरुवचन तृष्णा द्वारा अपने वशमें कर रहे हैं, तो क्या कुछ और सन्देश है?

---

१ 'अङ्कुशयति' इति। २ 'तत्किमपरमवशिष्यते' 'तन्न किंचिदवशिष्यते' इति च।

वामदेवः—महाराज, निःशेषमभिहितम्। इमां तु सर्वसंदेशसंग्रहकारिकां कारिकामतिप्रयत्नेन भगवान्भवन्तमनुस्मारयति।

दशरथः—(सादरम्।) अवहितोऽस्मि। किमाज्ञापयति[1]।

वामदेवः—

हुतमिष्टं च तप्तं च धर्मश्चायं कुलस्य ते।
गृहात्प्रतिनिवर्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिनः ॥ १७ ॥

दशरथः—(सहर्षम्।) सुष्ठु शिरसि कृतमाचार्यवचनम्। किं च—

अस्मद्गोत्रमहत्तरः क्रतुभुजामद्यायमाद्यो रवि-

तद्विषयान्तरान्निवर्त्तयति, अन्योऽपि हस्तिपको मार्गान्तरं प्रपित्समानं करिणं बलादङ्कुशेन निवर्त्तयति तद्वदित्यर्थः।

निःशेषमभिहितम्—सर्वं वक्तव्यमुक्तम्। सर्वसन्देशसंग्रहकारिकाम्—सकलसन्देशसङ्कलनरूपाम्। कारिकाम्—श्लोकम्। (कारिका तु कृतौ श्लोके) अतिप्रयत्नेन—महता प्रयासेन। भवन्तमनुस्मारयति—त्वां स्मारयति।

अवहितः—कृतावधानः, श्रोतुमुत्सुकः।

हुतमिति। हुतं होमः देवतोद्देशेन वह्नौ हविस्त्यागः, इष्टमग्निहोत्रादि, तप्तं तपः, धर्मश्च ते कुलस्य, यत् अतिथयो याचकाः पूर्णकामाः प्रार्थितं लब्ध्वा गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते गच्छन्ति। तव कुलस्य होमो यागस्तपस्याधर्मश्चायमेव यदतिथयो लब्धकामा एव तव गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते नालब्धकामा इत्यर्थः। एतेन विश्वामित्रकृतरामप्रार्थनायाः अनुपदभाविन्याः साफल्यं सूच्यते ॥ १७ ॥

सुष्ठु साधु। शिरसि कृतम् अङ्गीकृतम्। आचार्यवचनम् वसिष्ठाज्ञा।

अस्मद्गोत्रेति। क्रतुभुजां देवानाम् आद्यः प्रथमो रविः अद्य अस्मद्गोत्रमहत्तरः

वामदेव—महाराज, निःशेषरूपसे सन्देश कह चुका हूं, सभी सन्देशोंको समेट लेनेवाले इस सूत्रको भगवान् वसिष्ठने विशेषरूपसे याद कराया है।

दशरथ—(आदरके साथ) सावधान हूं, क्या आदेश है ?

वामदेव—होम, याग, धर्म, तथा तप सब कुछ आपके वंशका यही है कि आपके घरसे याचक पूर्णकाम होकर ही लौटा करते हैं ॥ १७ ॥

दशरथ—(सहर्ष) आचार्यके सन्देशको मैंने भली-भांति सिरपर चढाया, आज यज्ञांश भोक्ताओं में प्रथम सूर्य हमारे वंशके प्रवर्त्तक सिद्ध हुए, आज हमारे

---

१ 'किमाज्ञापयन्ति गुरव इति' इति।

यज्वानो वयमद्य ते[1] भगवती भूरद्य राजन्वती।
अद्य स्वं बहुमन्यते सहचरैरस्माभिराखण्डलो
येनैतावदरुन्धतीपतिरपि स्वेनानुगृह्णाति नः॥ १८॥

वामदेवः—राजर्षे, सहजानुभावगम्भीरमहिमानो यूयमेव तादृशाय यशसे। [2]वयं तु केवलमुपदेष्टारः।

उन्मुद्रयति हि कुमुदाकरमशरन्निशातनिस्तुषोऽपि तुषारकिरणः।

मदीयकुलमूलम्, (सूर्यस्य मदीयगोत्रमूलताया फलमद्यैव लभ्यते मया) अद्य ते वयं यज्वानः इष्टवन्तः (यागसाफल्यमप्यद्यैव प्राप्यते) भगवती भूः सर्वसमर्था मही अद्य राजवन्ती प्रशस्तराजशालिनी। अद्य अस्माभिः सहचरैः सहायः सद्भिः आखण्डलः इन्द्रः स्वम् आत्मानं बहुमन्यते धन्यं मन्यते, येन यत् अरुन्धतीपतिः वसिष्ठः अपि स्वेन आत्मना अस्मान् एतावत् इयत् अनुगृह्णाति अनुकम्पते। वसिष्ठस्येयत्या दयाया पात्रत्वं नाद्यावत् सूर्यवंशप्रसूतत्वं यज्ञकर्तृत्वं राज्यमिन्द्रसख्यं च स्वीयं धन्यं मन्ये इत्यर्थः। 'सुराज्ञि देशे राजन्वान्' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १८॥

सहजेति। सहजः स्वाभाविको योऽनुभावः प्रभावस्तेन गम्भीरः दुरवगाहो महिमा माहात्म्यं येषां तथाविधाः यूयमेव तादृशाय वसिष्ठदयापात्रत्वप्रभवाय तादृशकीर्त्तिशालित्वरूपाय वा यशसे प्रभवथेत्यर्थः।

उन्मुद्रयतीति। शरद् ऋतुभेदस्य निशा रात्रिस्तया निशातः तीक्ष्णः समेधितकरः अत एव निस्तुषः मेघाद्यनावृतः—शरन्निशानिशातः निस्तुषः—स न भवति इति पश्चान्नञा समासे अशरन्निशानिशातनिस्तुषोऽपि तुषारकिरणः शीतरश्मिः चन्द्रः कुमुदाकरम् कुमुदसमूहम् उन्मुद्रयति विकासयति स पुनर्वसिष्ठो द्वितीय-

यज्ञ सफल हुए, आज ही पृथ्वीने सुराजा प्राप्त किया, आज इन्द्र हमारे समान मित्रको पाकर अपनेको आदृत समझते हैं, जबकि स्वयं वसिष्ठ मुझपर इतना अनुग्रह रखते है॥ १८॥

वामदेव—राजर्षे, स्वाभाविक प्रताप तथा गम्भीर महिमाके आश्रय आप स्वयं उस कीर्त्तिके योग्य हैं, हम तो केवल उपदेश देते है।

शरद् निशामें प्रकट प्रकाश तथा मेघाद्यनावृत चन्द्रमा कुमुद कुलको विकसित

१ 'नो भगवती' इति। २ 'न केवलमुपदेष्टारोवयम्' इति।

वामदेवः—महाराज, निःशेषमभिहितम्। इमा तु सर्वसंदेशसंग्रहकारिका कारिकामतिप्रयत्नेन भगवान्भवन्तमनुस्मारयति।

दशरथः—(सादरम्।) अवहितोऽस्मि। किमाज्ञापयति[1]।

वामदेवः—

हुतमिष्टं च तप्तं च धर्मश्चायं कुलस्य ते।
गृहात्प्रतिनिवर्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिनः॥ १७॥

दशरथः—(सहर्षम्।) सुष्ठु शिरसि कृतमाचार्यवचनम्।

किं च—

अस्मद्गोत्रमहत्तरः क्रतुभुजामद्यायमाद्यो रवि-

तद्विषयान्तरान्निवर्त्तयति, अन्योऽपि हस्तिपको मार्गान्तरं प्रपित्समानं करिणं बलादङ्कुशेन निवर्त्तयति तद्वदित्यर्थः।

निःशेषमभिहितम्–सर्वं वक्तव्यमुक्तम्। सर्वसन्देशसंग्रहकारिकाम्–सकलसन्देशसङ्कलनरूपाम्। कारिकाम्–श्लोकम्। (कारिका तु कृतौ श्लोके) अतिप्रयत्नेन–महता प्रयासेन। भवन्तमनुस्मारयति–त्वां स्मारयति।

अवहितः—कृतावधानः, श्रोतुमुत्सुकः।

हुतमिति। हुतं होमः देवतोद्देशेन वह्नौ हविस्त्यागः, इष्टमग्निहोत्रादि, तप्तं तपः, धर्मश्च ते कुलस्य, यत् अतिथयो याचकाः पूर्णकामाः प्रार्थितं लब्ध्वा गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते गच्छन्ति। तव कुलस्य होमो यागस्तपस्याधर्मश्चायमेव यदतिथयो लब्धकामा एव तव गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते नालब्धकामा इत्यर्थः। एतेन विश्वामित्रकृतरामप्रार्थनाया अनुपदभाविन्याः साफल्यं सूच्यते॥ १७॥

सुष्ठु साधु। शिरसि कृतम् अङ्गीकृतम्। आचार्यवचनम् वसिष्ठाज्ञा।

अस्मद्गोत्रेति। क्रतुभुजां देवानाम् आद्यः प्रथमो रविः अद्य अस्मद्गोत्रमहत्तरः

वामदेव—महाराज, निःशेषरूपसे सन्देश कह चुका हूं, सभी सन्देशोंको समेट लेनेवाले इस सूत्रको भगवान् वसिष्ठने विशेषरूपसे याद कराया है।

दशरथ—(आदरके साथ) सावधान हूं, क्या आदेश है?

वामदेव—होम, याग, धर्म, तथा तप सब कुछ आपके वंशका यही है कि आपके घरसे याचक पूर्णकाम होकर ही लौटा करते हैं॥ १७॥

दशरथ—(सहर्ष) आचार्यके सन्देशको मैंने भली-भांति सिरपर चढाया, आज यज्ञांश भोक्ताओं में प्रथम सूर्य हमारे वंशके प्रवर्त्तक सिद्ध हुए, आज हमारे

---

१. 'किमाज्ञापयन्ति गुरव इति' इति।

यज्वानो वयमद्य ते[1] भगवती भूरद्य राजन्वती।
अद्य स्वं बहुमन्यते सहचरैरस्माभिराखण्डलो
येनैतावदरुन्धतीपतिरपि स्वेनानुगृह्णाति नः॥ १८॥

वामदेव.—राजर्षे, सहजानुभावगम्भीरमहिमानो यूयमेव तादृशाय यशसे। [2]वय तु केवलमुपदेष्टार।

उन्मुद्रयति हि कुमुदाकरमशरन्निशातनिस्तुपोऽपि तुषारकिरणः।

मदीयकुलमूलम्, (सूर्यस्य मदीयगोत्रमूलताया फलमद्यैव लभ्यते मया) अद्य ते वय यज्वान इष्टवन्त (यागसाफल्यमप्यद्यैव प्राप्यते) भगवती भू सर्वसमर्था मही अद्य राजवन्ती प्रशस्तराजशालिनी। अद्य अस्माभि सहचरै सहाये सद्भि आखण्डल इन्द्र स्वम् आत्मान बहुमन्यते धन्य मन्यते, येन यत् अरुन्धतीपति वसिष्ठ अपि स्वेन आत्मना अस्मान् एतावत् इयत् अनुगृह्णाति अनुकम्पते। वसिष्ठस्येयत्या दयाया पात्रत्वे नाद्याह सूर्यवशप्रसूतत्व यज्ञकर्तृत्व राज्यमिन्द्रसख्य च मय्यपि धन्य मन्ये इत्यर्थ। 'सुराज्ञि देशे राजन्वान्' इत्यमर। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्॥ १८॥

सहजेति। सहज स्वाभाविको योऽनुभाव प्रभावस्तेन गम्भीर दुरवगाहो महिमा माहात्म्य येषा तथाविधा यूयमेव तादृशाय वसिष्ठदयापात्रत्वप्रभवाय तादृशकीर्त्तिशालित्वरूपाय वा यशसे प्रभवथेत्यर्थ।

उन्मुद्रयतीति। शरद ऋतुभेदस्य निशा रात्रिस्तया निशात तीक्ष्ण समेधित कर अत एव निस्तुष मेघाद्यनावृत—शरन्निशानिशात निस्तुष—स न भवति इति पश्चान्नञा समासे अशरन्निशानिशातनिस्तुषोऽपि तुषारकिरण शीतरश्मि चन्द्र कुमुदाकरम् कुमुदसमूहम् उन्मुद्रयति विकासयति स पुनर्वसिष्ठो द्वितीय-

---

यज्ञ सफल हुए, आज ही पृथ्वीने सुराजा प्राप्त किया, आज इन्द्र हमारे समान मित्रको पाकर अपनेको आदृत समझते हैं, जबकि स्वय वसिष्ठ मुझपर इतना अनुग्रह रखते हैं॥ १८॥

वामदेव—राजर्षे, स्वाभाविक प्रताप तथा गम्भीर महिमाके आश्रय आप स्वय उस कीर्त्तिके योग्य हैं, हम तो केवल उपदेश देते हैं।

शरद निशामें प्रकट प्रकाश तथा मेघाद्यनावृत चन्द्रमा कुमुद कुलको विकसित

---

१ 'नो भगवती' इति। 　२ 'न केवलमुपदेष्टारोवयम्' इति।

स पुनः किमुच्यते भगवान्द्वितीयपरमेष्ठी वसिष्ठः ॥ १९ ॥

अपि च—

इदं वो याज्यानामुदितमुदितं यत्कुलमभू-
द्यदिष्टं वा कुर्वन्नकृत सगरः पूर्तमुदधिम् ।
असौ पूर्वेषां ते सुचरितपताका यदमर-
स्रवन्ती कृत्स्नोऽयं त्रिभुवनगुरोस्तस्य विभव ॥२०॥

किं च—

कौशिकस्वीकृतस्यापि यदाज्ञातिक्रमादभूत् ।

परमष्ठां अपरो ब्रह्मा किमुच्यते ? स हि सर्वाधिकं कुमुद प्रकाशयेत्, ब्रह्मवद्-मितसामर्थ्यशालित्वादित्यर्थ । इद तु कुमुदाकर नाम वृत्तम्, एकादशभिर्वर्णै रष्टादशभि क्रमादुभौ पादौ। तत्कुमुदाकरवृत्तं चरमौ तु दशाक्षरौ यस्य इति तल्लक्षणम् ॥ १९ ॥

इदमिति। यत् याज्याना वसिष्ठेन याजनीयानाम् व युष्माक रघुवश्यानाम् कुल वंश उदितमुदितम् उदययुक्त हृष्ट च अभूत्, यत् इष्ट याग कुर्वन् सगरो नाम राजा उदधि सागर पूर्त्तं खातम् अकृत कृतवान्। यत् अमरस्रवन्ती देवनदी गङ्गा ते तव पूर्वेषा भगीरथाभिधपूर्वजन्मनाम् सुचरितपताका कीर्त्तिवैजयन्ती, अय कृत्स्न सकलोऽपि त्रिभुवनगुरो वसिष्ठस्य विभव प्रभाव अस्तीति शेष., भवता कुलस्योदये प्रमोदे, भवत्कुलोत्पन्नस्य सगरस्य समुद्रखननपूर्वकयज्ञ-सम्पादनसाफल्ये भवत्कुलजस्य भगीरथस्य गङ्गाप्रवाहानयनरूप सामर्थ्ये च भगवतो वसिष्ठस्यैव प्रभावो विजृम्भते इत्याशय । 'पूर्त्तं त्रिषु पूरिते स्यात् क्लीव खातादिक मतम्' इति मेदिनी। 'पताका वैजयन्ती स्यात्' 'स्रवन्ती निम्नगापगा' इत्युभयत्रामर ॥ २० ॥

कौशिकेति। यस्य वसिष्ठस्य आज्ञातिक्रमात् आदेशोल्लङ्घनात् कौशिकस्वी-कृतस्य विश्वामित्रेण याज्यतयानुमतस्यापि त्रिशङ्कोर्नाम प्राचीननृपस्य उपभोगाय वासविहारादिकर्मणे द्यौ स्वर्ग भू पृथ्वीलोकोऽपि नाभूत्। वसिष्ठाज्ञामुल्लङ्घ

करता है, वसिष्ठके सम्बन्धमे क्या कहा जाय ? व तो अपर ब्रह्मा है ॥ १९ ॥

यह विश्वगुरु वसिष्ठका ही सारा प्रभाव है कि आपका यह याज्ञिक वश नित्य नूतन उदय प्राप्त करता रहा है, यज्ञ करते हुए सगरने सागर खुदवा डाला, आपके पूर्वज भगीरथका ही यह प्रताप है कि गङ्गा प्रवाहित हे ॥ २० ॥

जिस वसिष्ठकी आज्ञाको नहीं माननेके कारण विश्वामित्र द्वारा अनुगृहीत होनेपर भी

त्रिशङ्कोरुपभोगाय न द्यौरपि न भूरपि ॥ २१ ॥

[1]**प्रतीहारी**—[2]जयतु जयतु देवः । देव, भगवान्कौशिको द्वारमध्यास्ते।

दशरथः—(ससंभ्रमम् ।) किं[3] कौशिकः ।

वामदेवः—अहं तमुपेत्य श्रौतेन विधिना पुरस्कृत्य प्रवेशयामि तपोनिधिम् (इति [4]प्रतिहार्या सह निष्क्रान्तः ।)

दशरथः—(सहर्षम् ।)

यः क्षत्त्रदेहं परितक्ष्य टङ्कैस्तपोमयैर्ब्राह्मणमुच्चकार ।

विश्वामित्रं पुरोहितं कृत्वेष्टवतोऽपि त्रिशङ्कोर्न स्वर्गोऽसिद्ध्यत्, न वा धरित्री वासक्षमाऽवर्तत, किन्त्वसौ मध्येऽलम्बत तदीदृशप्रभावो वसिष्ठर्षिरिति भावः । पुरा किल त्रिशङ्कुर्नाम राजा सदेहं स्वर्गं गन्तुकामो यागाय वसिष्ठं वृतवांस्तेन निषिद्धस्तत्पुत्रांश्च वृतवांस्तदनन्तरं विश्वामित्रं पुरोहितं कृत्वा यज्ञे प्रवृत्तो वसिष्ठेन चाण्डालतयाभिशप्तः, देवाश्च तद्यज्ञे नोपागमन्स्तदित्थं स्वं पौरोहित्यं हीयमानं विलोक्यापरां सृष्टिं विधातुमुपक्रममाणो विश्वामित्रो ब्रह्मणा प्रसाद्य वारितो भूत्वा स्वतपसा त्रिशङ्कुं स्वर्गं प्रेषितवांस्ततश्चाण्डालस्य स्वर्गानर्हतामालोक्येन्द्रेण ढुकृतोऽधः पतितो द्यावापृथिव्योरन्तरालेऽवर्त्ततेति पौराणिकी कथात्रानुसन्धेया ॥ २१ ॥

द्वारमध्यास्ते—द्वारदेशे तिष्ठतीत्यर्थः ।

ससंभ्रमम्—सम्भ्रमश्चात्र तत्प्रभावजनितः प्रत्युत्थानस्वागतादिचिन्ताजन्यः ।

श्रौतेन—शास्त्रोक्तेन । पुरस्कृत्य आदृत्य । प्रवेशयामि राजद्वारमानयामि ।

यः क्षत्रदेहमिति । यः विश्वामित्रः तपोमयैः तपस्यारूपैः टङ्कैः पाषाण-

---

त्रिशङ्कुके लिये स्वर्ग तथा पृथ्वी कहीं पर स्थान नहीं रहा, वे अधरमें लटकते रहे ॥ २१ ॥

प्रतीहारी—जय हो महाराजकी, देव, भगवान् कौशिक, दरवाजेपर खड़े हैं ?

दशरथ—(चकित होकर) क्या कौशिक हैं ?

वामदेव—मैं उनके पास जाकर वैदिक विधानसे सत्कारकरके बुला लाता हूँ। (प्रतीहारीके साथ जाते हैं)

दशरथ—(सहर्ष)

जिस विश्वामित्रने तपस्यारूप छेनीमें काटकर क्षत्रिय शरीरको ब्राह्मण शरीरके रूपमें

---

१ 'प्रतीहार' इति । २ 'जयति जयति देव', 'जयतु देव' इति च ।

३. 'किं कौशिकः' इत्यस्मादग्रे 'प्रतीहार—अथ किम्' इत्यधिकं क्वचिद् दृश्यते ।

४. 'प्रतीहारेण सह' इति ।

परोरजोभिः स्वगुणैरगाधः स गाधिपुत्रोऽपि गृहानुपैति ॥२२॥

(ततः प्रविशति वामदेवोपदिश्यमानवर्त्मा विश्वामित्रः ।)

विश्वामित्रः—सखे [1]वामदेव, त्वमधुनैव वसिष्ठाश्रमादागतोऽसि । कच्चित्कुशली तावदरुन्धतीनाम्ना पतिव्रतामयेन ज्योतिषा सहचरितधर्मा तत्रभवान्मैत्रावरुणिः ।

वामदेवः—विशेषेण पुनरद्य याज्यकुलमुपतिष्ठमाने चिरन्तनप्रणयिनि कौशिके ।

दारणास्त्रभेदैः चत्रदेहं क्षत्रियशरीरं परितक्ष्य खण्डयित्वा तनूकृत्य ब्राह्मणम् उच्चकार तदेव क्षत्रियशरीरं ब्राह्मणभावमानीतवान्, परोरजोभिः रजोगुणसंबन्धवर्जितैः स्वगुणैः सात्त्विकगुणैः अगाधः अतलस्पर्शगभीरः स विश्वामित्रः अपि गृहान् अस्मद्गृहान् उपैति, तदहो भाग्यं ममेति भावः । 'टङ्कः पाषाणदारणः' ,अगाधमतलस्पर्शे' इत्युभयत्रामरः ॥ २२ ॥

कच्चिदिति जिज्ञासासूचकमव्ययम्, पतिव्रतामयेन पातिव्रत्यपूर्णेन । ज्योतिषा तेजसा । सहचरितधर्मा सङ्गतधर्मा, अरुन्धतीसहधर्मिणीकः अरुन्धतीपतिः, मैत्रावरुणिः मित्रवरुणयोरपत्यं वसिष्ठः ।

याज्यकुलम् यजमानगृहम्, उपतिष्ठमाने समागते । चिरन्तनप्रणयिनि प्राचीनमित्रे । त्वयि प्राक्तनसुहृदि रघुकुलगृहमायाते सातिशयकुशलः प्रसन्नो वसिष्ठ इत्यर्थः ।

परिणत कर दिया, रजोगुणसे परे अपने सात्त्विक गुणोंसे अगाध वही गाधिपुत्र विश्वामित्र हमारे घर पधार रहे हैं ॥ २२ ॥

[वामदेवके साथ विश्वामित्रका प्रवेश]

विश्वामित्र—मित्र वामदेव, आप अभी वसिष्ठके आश्रमसे आये हैं । अरुन्धती नामक पतिव्रताज्योतिसे सहचरित धर्मानुष्ठानकर्त्ता वसिष्ठ कुशल तो हैं ?

वामदेव—खास करके आज चिरप्रणयी कौशिकके यजमानगृहमें पधारनेपर वसिष्ठ सानन्द हैं ।

---

१. 'वामदेव' इत्यस्मादग्रे 'कथय' इति । २ 'विश्वामित्रे' इति ।

विश्वामित्रः—सखे वामदेव, चिरेण दशरथो द्रष्टव्य इति सर्वमनोरथानामुपरि वर्तामहे।

वामदेवः—(सविनयम्।) भगवन्कुशिकनन्दन, धन्यः खल्वयं राजा सावित्रो यमेवमनुरुध्यन्ते [1]भवन्तोऽपि।

विश्वामित्रः—सखे, धन्य एवायम्।

नमन्नृपतिमण्डलीमुकुटचन्द्रिकादुर्दिन-
स्फुरच्चरणपल्लवप्रतिपदोक्तदोः सम्पदा।
अनेन ससृजेतरां तुरगमेधमुक्तभ्रम-
त्तुरङ्गखुरचन्द्रकप्रकरदन्तुरा मेदिनी॥ २३॥

सर्वमनोरथानाम् सर्वाभिलषणीयानाम्। उपरि वर्त्तामहे सर्वेऽपि न कामाः सिद्धा इति भावः।

अयं राजा सावित्रः सूर्यवंशोद्भवोऽयं राजा दशरथः। यम् दशरथम्। एवमनुरुध्यन्ते इत्थं बहु मानयन्ति।

नमदिति। नमन्ती पादयोः प्रणमन्ती या नृपतिमण्डली राजसमुदायः तस्या मुकुटानाम् किरीटानाम् चन्द्रिकया नानावर्णप्रभया दुर्दिने आच्छन्ने स्फुरन् राजन् यश्चरणपल्लवः पल्लवकोमलः पादः तेन प्रतिपदम् सर्वत्र उक्ता प्रकटीकृता दोः सम्पत् बाहुबलं यस्य तादृशेन पादप्रणतराजन्यकप्रकटीकृतभुजवीर्येणेत्यर्थः, अनेन राजा दशरथेन तुरगमेधेषु अश्वमेधनामकयागभेदेषु मुक्तानाम् अभिमन्त्र्य विसृष्टानाम् भ्रमताम् अनिरुद्धप्रसरं सर्वासु दिक्षु सञ्चरताम् तुरङ्गाणाम् अश्वानाम् खुरचन्द्रकप्रकरः चन्द्रकलाकारखुरसमूहः, तेन दन्तुरा नतोन्नता मेदिनी पृथ्वी ससृजेतराम् क्रियतेस्म। अनेन दशरथेन अश्वमेधे त्यक्तेनाश्वेन सकलदिशासु

विश्वामित्र सखे वामदेव, बहुत दिनोंके बाद राजा दशरथसे मिलूंगा यह सभी मनोरथों के ऊपर है।

वामदेव—(नम्रता के साथ) महाराज विश्वामित्र, ये सूर्यवंशी राजादशरथ धन्य है आप इतना आदर करते है

विश्वामित्र—सखे, ये राजा दशरथ धन्य है।

अन्यान्य राजगण इनके चरणों पर नत होते है उनके मस्तकालङ्कारस्थित ज्योत्स्नासे प्रकाशित होनेवाले चरणोंकी शोभा ही इनके बाहुके प्रतापका प्रतिपादन करती है, यह राजाने अश्वमेधमे छोडे गये अश्वके खुरचिह्नोसे सारी पृथ्वीको निम्नोन्नत बना दिया है॥

१ 'भगवन्तोऽपि' इति।

(पुरोऽवलोक्य सहर्षम् ।)

चिरादक्ष्णोर्जाड्यं शमयति समस्तासुरवधू-
कचाकृष्टिक्रीडाप्रसभसुभगं भावुकभुज ।
त्रिलोकीजङ्घालोज्ज्वलसहजतेजा मनुकुल-
प्रसूतिः सुत्राम्णो विजयसहकृत्वा दशरथः ॥२४॥

सखे वामदेव, इयमनेन पीयूषतुषारसीकरासारवर्षिणी सुजनसंवाद-

भ्रमता सकला अपि दिशो जिता इत्यर्थ । 'मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' 'भुजबाहू [redacted]दो' इत्युभयत्रामर ॥ पृथ्वीवृत्तम् , जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु' इति हि तल्लक्षणम् ॥ २३ ॥

चिरादिति । समस्ताना सर्वेषाम् असुराणा राक्षमाना या वध्व अङ्गना तासा कचाकृष्ट्या केशाकर्षणेन या क्रीडा विलास तया सतत सुभगभावुकौ प्रसह्यमनोहरौ भुजौ यस्य स तथोक्त सर्वासामपि निशाचरवधूना तत्पतिवधपूर्वककेशाकर्षकतया मनोज्ञौ भुजौ दधान इत्यर्थ । त्रयाणा लोकाना समाहारस्त्रिलोकी तत्र जङ्घालम् अतिशीघ्रग यत् उज्ज्वल प्रकाशशालि सहज स्वभाविक च तेजो यस्य स , सुत्राम्ण इन्द्रस्य विजयेषु तत्र तत्र युद्धेषु जायमानेषु जयेषु सहकृत्वा साहायकेनोपकर्त्ता मनुकुलप्रसूति मनुवशजन्मा अयं राजा दशरथ चिरात् बहुकालानन्तरम् अक्ष्णो मम नेत्रयो जाड्यम् विषयग्रहाशक्तिम् शमयति, नेत्रे विकासयति सकलासुरजयिनं त्रिभुवनप्रचारियशसं शक्रसहायकमेन दृष्ट्वा चिरस्य विकास भजतो ममाक्षिणी इति भाव । 'जङ्घालोतिजवस्तुल्यौ' 'सुत्रामा गोत्रभिद् वज्री' इत्युभयत्रामर , शिखरिणी वृत्तम् , तल्लक्षणमुक्तपूर्वम् ॥ २४ ॥

अनेन लोकनाथेन–राज्ञा दशरथेन, पीयूषमेव यत्तुषार हिम तस्य सीकरोऽम्बुकणस्तस्यासारो धारासम्पातस्तद्वर्षिणी सुजनाना संवादे परस्परालापे यत्कौतुकम् आनन्दस्तस्य मेघलेखा घनश्रेणी पौरस्त्येनमरुता पूर्वदिग्देवेन शक्रेण सहस्रशिखरीक्रियते सहस्रशिखरशालिता प्राप्यते, यथा जलसीकरासारवर्षिणी

बहुत दिनोंपर आज राजा दशरथ हमारी आंखोंकी तकलीफको दूर करेंगे, जिन्होंने समस्त असुर स्त्री समुदायके कचाकर्षणद्वारा अपने बाहुओंकी सुभगता बढाई है, जिनका यश त्रिलोकीमें व्याप्त है, जो मनुकुलमें उत्पन्न हुए हैं, तथा जो युद्धमें इन्द्रको विजय दिलाया करते हैं ॥ २४ ॥

सखे वामदेव, जैसे पूरबसे आनेवाली वायु मेघमालाको बढाती है उसी तरह इस

कौतुकमेघलेखा पौरस्त्येनेव मरुता लोकनाथेन सहस्रशिखरीक्रियते ।

वामदेव.—भगवन्, अद्य खलु दिलीपकुलकुशलकर्मकल्पलतानामङ्कुरग्रन्थिभि[१]रुदीर्यन्ते किसलयानि । यदत्रभवानपि त्रिभुवनसनातनगुरुरेवमस्मै नरेन्द्राय स्पृहयति ।

(इति परिक्रामत ।)

दशरथः—(सहर्ष ससम्भ्रममासनादुत्थायोपसृज्य च ।) भगवन्कुशिकनन्दन, ऐक्ष्वाक पङ्क्तिरथोऽभिवादयते ।

विश्वामित्रः—स्वस्ति भवते सपरिवाराय ।

(इति सर्वे यथोचितमुपविशन्ति ।)

घनमाला पौरस्त्यवातेन सहस्रशिखरता प्रापय्य विस्तार्यते तथैवेन्द्रेण दशरथेन सह वार्त्तालापकौतुक सहस्रवर्त्मसु विस्तार्यते, इन्द्र सर्वदा दशरथेन सह वार्त्तालाप कामयत इत्यर्थ । 'सीकरोऽम्बुकणा स्मृता' 'मरुतौ पवनामरौ' धारासम्पात आसार' इति सर्वत्रामर ।

दिलीपेति । दिलीपस्य कुल वशस्तस्य कुशलकर्माण्येव कल्पलता सत्कर्मरूपकल्पवल्ली तासाम् अङ्कुरग्रन्थय पर्वाणि तै किसलयानि नवपत्राणि उदीर्यन्ते प्रकाश्यन्ते, दिलीपवश्यनृपतिविहितसत्कर्मरूपवल्ली किसलयानि प्रसूते, नवीभवति फलाभिमुखीभवतीत्यर्थ । अत्रभवान्–पूजनीयो भवान्, त्रिभुवनसनातनगुरु लोकत्रितयमूर्धन्य, एवम् पूर्वोक्तप्रकारेण । अस्मै नरेन्द्राय–दशरथाय ।

पङ्क्तिरथ —दशरथ ।

राजाने सुजन सवादको-जिसमें अमृतकी बूंदें बरसती रहती हैं–बढावा दिया करता है ।

वामदेव—महाराज, आज दिलीप वशके शुभकर्मरूप तरुओंने नये पत्ते पैदा किये हैं, जिससे आपके सदृश त्रिभुवनगुरु मुनि इस राजाकी प्रशसा करते है ।

[दोनों चलते हैं]

दशरथ—(सहर्ष आसनसे उठकर समीप जाकर) महाराज विश्वामित्र, इक्ष्वाकुवशी मैं दशरथ प्रणाम करता हूँ ।

विश्वामित्र—आपका परिवारके साथ मङ्गल बढे ।

[सभी यथोचित स्थान पर बैठते हैं]

---

१ 'उद्गीर्यन्ते' इति । २ 'सप्रणयम्' इति ।

दशरथः—([1]सप्रश्रयम् ।) भगवन्विश्वामित्र,

कच्चित्कान्तारभाजां भवति परिभवः कोऽपि शौवापदो वा
प्रत्यूहेन क्रतूनां न खलु मखभुजो भुञ्जते वा हवींषि ।
कर्तुं वा कच्चिदन्तर्वसति वसुमतीदक्षिणं सप्ततन्तु-
र्यत्संप्राप्तोऽसि किं वा रघुकुलतपसामीदृशोऽयं विवर्तः ॥२५॥

विश्वामित्रः—(विहस्य ।)

जनयति त्वयि वीर दिशां पतीनपि गृहाङ्गनमात्रकुटुम्बिनः ।

---

1. प्रश्रयम्—सविनयम् ।

कच्चिदिति । कान्तारभाजाम् अरण्यवासिना भवता मुनीना कोऽपि शौवापदः श्वापदकृत परिभव अनादरादि क्लेश भवति कच्चित् किम् ? मखभुजो यज्ञभागभोक्तारो देवा वा क्रतूना प्रत्यूहेन राक्षसादिभिर्यज्ञाना विघ्नितया हवींषि न खलु भुञ्जते अश्नन्ति वा ? वसुमतीदक्षिण पृथ्वीदक्षिणाक सप्ततन्तुर्याग वा कच्चित् अन्तर्वसति मनसि वर्त्तते ? यत् यस्मात् सम्प्राप्त अस्मद्गृहान् समायात असि, किंवा रघुकुलतपसाम् रघुवशचरिततपस्यानाम् अयम् ईदृश एतादृश एव विवर्त्त परिणाम । वनवासिन श्वापदा अभिभवन्ति किम् ? राक्षसकृतविघ्नेन देवाना हविर्भोजने बाधा वा जायते किम् ? पृथ्वीदक्षिणाक याग वा कर्त्तुमन्तरभिलाषो वर्त्तते ? यदस्मद्गृहानागता भवन्त, अथवाऽय रघुवशतप प्रभावो यद्भवादृशा समागच्छन्तीति भाव । शुन इव पदमेषामिति श्वापदा व्याघ्रा, ततोऽणि शौवापदमिति रूपम् । 'द्वारादीनाञ्च' इत्यैजागम । 'सप्ततन्तुर्मख क्रतु' 'विवर्त्त परिणामे स्यात्' इति मेदिन्यमरौ । स्रग्धरावृत्त तल्लक्षण यथा—'म्रभ्नैर्याना त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' ॥ २५ ॥

जनयतीति हे वीर, त्वयि दशरथे दिशापतीन् दिगधीशान् इन्द्रादिनपि गृहाङ्गणमात्रकुटुम्बिन त्वद्गृहाङ्गणसततस्थायिन (सर्वदा यज्ञानुष्ठानात्सतत

दशरथ—(नम्रताके साथ) क्या वनवासियोंको किसी प्रकारसे श्वापदोंने कष्ट दिया है ? क्या यज्ञमे कुछ बाधा हुई है जिससे देवोंको हवि नहीं प्राप्त हो रही है ? क्या आपके हृदयमें सारा पृथिवी दक्षिणा में देकर कोई यज्ञ करनेकी इच्छा हो रही है ! जो आप हमारे घर पधारे हैं, या यह रघुवंशियों के तपकाही परिणाम है ॥ २५ ॥

विश्वामित्र—(हसकर) हे वीर, आपने जब सभी असुरों को परास्त करके देवोंको भी घरमरमें नियतवासी बना रक्खा है तब हम लोगों को भय किस प्रकारका ? भय तो

रिपुरिति श्रुतिरेव न वास्तवी प्रतिभयोन्नतिरस्तु कुतस्तु नः ॥२६॥

अपि च—

दत्तेन्द्राभयविभ्रमाद्भुतभुजासंभारगम्भीरया।
त्वद्वृत्त्या शिथिलीकृतस्त्रिभुवनत्राणाय नारायण।
अन्तस्तोषतुषारसौरभमयश्वासानिलापूरण-
प्राणोत्तुङ्गभुजङ्गतल्पमधुना भद्रेण निद्रायते ॥ २७ ॥

त्वद्गृहोपस्थितिशालिन) जनयति कुर्वति सति, रिपुरिति अस्माक यज्ञस्य शत्रुरिति श्रुतिरेव वास्तवी श्रवणमात्रमेव रिपूणाम् न पारमार्थिक सत्त्वमिति न अस्माक प्रतिभयस्य शत्रुकृतस्य त्रासस्य उन्नति वृद्धि कुत नु, शत्रूणा नाममात्र-शिष्टत्वे शत्रुभयसम्भावना नितान्तनिरस्ता वेद्येति भाव । द्रुतविलम्बित वृत्त, 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति तल्लक्षणम् ॥ २६ ॥

दत्तेन्द्रेति । दत्तम् वितीर्णम् इन्द्राय अभयम् निर्भयत्व येन तादृशो विभ्रमो विलासो ययो तयोस्तथोक्तयो अतएव अद्भुतयो आश्चर्यकरयो भुजयो सभार सामर्थ्यम् तेन गम्भीरया उद्भटया त्वद्वृत्त्या त्वदीयव्यापारेण।इन्द्राय दत्ताभयस्य तव बाहुबलस्य प्रभावेणेत्यर्थ. त्रिभुवनत्राणाय लोकरक्षाकर्मणे शिथिलीकृत अनपेक्षित नारायण विष्णु अधुना सम्प्रति अन्तस्तोषेण आन्तरसन्तोषेण तुषार शीतल सौरभमय सुगन्धपूर्ण य श्वासानिल तेन आपूरणं परिपुष्टिर्यस्य तथाभूतेन प्राणेन प्राणाख्यवायुना उत्तुङ्ग समुन्नतो यो भुजङ्ग शेष- स एव तल्प शय्या यत्र तथा भद्र सुखम् निद्रायते स्वपिति । इन्द्रायापि निर्भयभाव दत्तवतोरद्भुतयोस्तव भुजयोर्व्यापारेण जगति रक्ष्यमाणे तत्रानपेक्षितो भगवान्विष्णुरन्तस्तोषव्यञ्जकेन स्वेन सुगन्धिना श्वासानिलेन भक्ष्यभूतेन फुल्लतनौ शेषनागे स्वतल्पे सुख स्वपितीत्याशय । 'तुषार शीतल शीत' 'दोर्दोषा च भुजा भुज' 'तल्प तु शयनीये स्यात्' इति सर्वत्र विश्वामरौ । निद्रायत इत्यत्र 'कर्त्तु क्यङ्' इति क्यङ् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २७ ॥

केवल सुनने की बात रह गई है वस्तुन वह कोई वस्तु नहीं है ॥ २६ ॥

इन्द्रको अभय देनेवाले आपके भुजबलगम्भीरव्यापारोने नारायणके शिरसे भुवन रक्षाका भार उतार दिया है, अत नारायण आन्तरिक सन्तोषको अभिव्यक्त करनेवाला श्वासग्रहण करते हैं जिससे नारायण के तल्पभुजगपवनाश होने से स्थूल होते जाते है, और भगवान् नारायण उस पन्नागशयन पर आनन्द की नींद सोते हैं ॥ २७ ॥

दशरथः—(सवैलक्ष्यस्मितम् ।) भगवन्विश्वामित्र, अभ्यमित्रीणस्य तत्रभवत सुनासीरस्य नासीरपूरकेण पदातिपरमाणुना मयापि कदाचिदुद्धृत धनुर्यन्मूलोऽयमलीकलोकप्रवादो भवन्तमप्याप्याययति ।

विश्वामित्रः—(सोन्माहस्मितम् ।)[1] [2]सखे,

त्रैलोक्याभयलग्नकेन भवता वीरेण विस्मारित-
स्तज्जीमूतमुहूर्तमण्डनधनुःपाण्डित्यमाखण्डलः ।

सवैलक्ष्यम्—सङ्कोचम ।

अभ्यमित्रीणस्य शत्रोरभिमुख गच्छत । सुनासीरस्य इन्द्रस्य । नासीरपूरकेण सैन्याग्रगामिना । पदातिपरमाणुना क्षुद्रपदातिना । उद्धृतम् उत्थापितम् । यन्मूल यत्कारणक । अलीकप्रवाद मिथ्याप्रचार । आप्याययति तर्पयति । शत्रूँ-ल्लक्ष्यीकृत्य पिपासोरिन्द्रस्य सैन्यसमुदयेऽहमप्येक पदाति स्व धनुरुद्यत कृतवानेतावतैव ममेय कीर्त्तिर्भवन्तमपि प्रशसार्थं मुखरयतीत्यर्थ । 'यो गच्छत्यल विद्विषत प्रति । सोऽभ्यमित्र्योऽभ्यमित्रीयोऽभ्यमित्रीण' इत्यमर । 'सुनासीर पुरुहूत पुरन्दर' इत्यमर । 'नासीरोऽग्रगन्तरि' 'अलीक त्वप्रियेऽनृते' इति च विश्वामरौ ॥

त्रैलोक्याभयेति । आखण्डल इन्द्र त्रैलोक्यम् लोकत्रयम् तस्य पदभयम् सर्वतोऽप्यकुतोभयत्व तत्र लग्नकेन प्रतिभूस्वरूपेण वीरेण भुजशौर्यशालिना भवता तत् प्रसिद्धम् जीमूते मेघे मुहूर्त्तं क्षणिक मण्डनमलङ्करण धनु तस्य पाण्डित्य चालनचातुर्यं विस्मारित ,त्वया वीरेण त्रिलोक्या निवृत्तभयाया कृताया शक्र कदापि स्व मेघालङ्कारभूत धनुरावश्यकताऽभावेन न स्पृशतीति चिरादभ्यासाभावादसौ तत्पाण्डित्यमेव विस्मृतवानित्यर्थ । किञ्च अजस्र बहुलम् मखेषु यज्ञेषु अर्पितेन दत्तेन हविषा हवनीयद्रव्येण सम्फुल्लेन प्रवृद्धेन मासेन उल्लसन्ती जायमाना

दशरथ—(लज्जा तथा मुस्कुराहटके साथ) भगवन् विश्वामित्र, इन्द्रने जब शत्रुओंपर आक्रमण किया था तब उनकी सेनामें मे भी पैदल सैनिकके रूपमें धनुष उठाया था, जिसके चलते यह किंवदन्ती फैलाई गई जो आपको प्रसन्न कर रही है ।

विश्वामित्र—(उत्साहके साथ हसकर) सखे,—

त्रैलोक्यको अभयदान देनेवाले आपने मेघरूप धनुषकी पण्डिततासे इन्द्र को सूना कर दिया है, अनभ्यास हो जानेके कारण इन्द्रने धनुर्विद्या पाण्डित्यसे सबन्ध छुडा लिया है,

---

१ 'सोत्प्राससस्मितम्' इति । २ सखे इत्यस्मादग्रे 'दशरथ' इति ।

किं चाजस्रमखार्पितेन हविषा संफुल्लमांसोल्लस-
त्सर्वाङ्गीणवलीविलुप्तनयनव्यूढः कथं वर्तते ॥ २८ ॥

[1]वामदेवः—महाराज भूकश्यप, [2]यथाह भगवान्कौशिकः । स्वय मनेकधा सुधर्मायामध्यक्षीकृतमहमपि ब्रवीमि ।

त्वय्यर्धासनभाजि किंनरगणोद्गीतैर्भवद्विक्रमै-
रन्तःसंभृतमत्सरोऽपि भगवानाकारगुप्तौ कृती ।
उन्मीलद्भवदीयदक्षिणभुजारोमाञ्चवि[3]द्धोच्चर-
द्बाष्पैरेव विलोचनैरभिनयत्यानन्दमाखण्डलः ॥ २९ ॥

या सर्वाङ्गीणा सर्वाङ्गव्यापिनी वली स्थूलता तया विलुप्त समाच्छन्न नयनव्यूह. सहस्र नयनानि यस्य तथाभूत सन् कथ महता कष्टेन वर्त्तते जीवति । त्वया सतत यज्ञानुष्ठानेऽनवरतहविर्भोजनावसरप्राप्त्या शरीरस्थौल्ययोगादावृतनयनोऽसाविन्द्र कृच्छ्र जीवतीति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २८ ॥

भूकश्यपेति दशरथस्य नामान्तरमिति रुचिपति । यथाह भगवान् कौशिक विश्वामित्रोक्त सत्यमित्यर्थ । स्वयम आत्मना । सुधर्मायाम् देवसभायाम् । अध्यक्षीकृतम् प्रत्यक्षीकृतम् ।

त्वय्यर्धेति । त्वयि दशरथे अर्धासनभाजि इन्द्रस्यासनार्धमलङ्कुर्वति सति किन्नरगणोद्गीतै किन्नरा देवयोनिभेदास्तेषा गणैरुद्गीतै उच्चै स्तुतै भवद्विक्रमै त्वदीयपराक्रमै अन्तर्मनसि सभृतमत्सर सञ्जनितद्वेषोऽपि (कथ किन्नरा मामपहाय मनुष्यमपीममित्थ स्तुवन्तीति ईर्ष्याकलुषमानस सन्नपि) आकारगुप्तौ मत्सरादिचिह्नगोपने कृती निपुण आखण्डल उन्मीलद्भि भवदीयगुणगीतश्रवणात्

सतत यज्ञमे समर्पित हव्यभागसे इन्द्रका देहमे मास बहुत बढ गया है, उसीमें उनके सारे नयन छिप गये हैं, न जाने वह कैसे रहते हैं ? ॥ २८ ॥

वामदेव—महाराज भूकश्यप, कौशिकने ठीक ही कहा है। मैने भी जो वस्तु देवसभामे अनेक बार देखी है, वह कहता हू—

आप जब इद्रके साथ अर्धासन पर विराजमान रहते है, उस समय जब किन्नरगण आपकी कीर्तिका गान करते है, तब इन्द्रको मात्सर्य होता है परन्तु वह आकार गोपनमें बहुत चतुर होनेके कारण फडकने वाले आपके दक्षिण बाहु में वर्त्तमान रोमाञ्चसे विद्ध उनके नयनोंमे निर्गत बाष्पों द्वारा आनन्दका अभिनय करके रह जाते है ॥ २९ ॥

---

१ 'वामदेव' इत्यस्मादग्रे 'विहस्य' इति । २ 'यदाह' इति ।

३. 'बन्धोच्चरत्' इति ।

दशरथः—(सस्मितम् ।) [1]वामदेव, त्वमपि भगवन्त गाधिनन्दन-मनुप्रविष्टोऽसि ।

एतस्मै समराङ्गणप्रणयिने तिष्ठेत कः प्रज्वल-
दम्भोलिद्युतिमण्डलोद्भटभुजस्तम्भाय जम्भारये ।
निर्यद्भिर्बहिरेष रोषदहनज्योतिःस्फुलिङ्गैरिव
स्वै रज्यद्भिरपीक्षणैः समतनोदाग्नेयमस्त्रं द्विषाम् ॥३०॥

विश्वामित्रः—(सगौरव दशरथबाहुमामृशन् ।) राजर्षे वसिष्ठशिष्य,

संवृत्तोऽयं यदि तव भुजच्छायया सम्प्रतीन्द्रो

विकसद्भि भवदीयदक्षिणभुजाया तव दक्षिणबाहो रोमाञ्चै रोमकण्टकै विद्धानि अत एव च उच्चरन् उद्गच्छन् बाष्प जल येभ्य तथाभूतै इव विलोचनै स्वनयनै आनन्दम् अभिनयति नाटयति । दक्षिणभागस्थितस्य तव बाहौ जायमानेन रोमाञ्चेन तदक्षिभेदे जाते प्रवृत्ते च बाष्पे आनन्दाश्रुप्रवाहोऽयमित्यभिनयन्निन्द्र अमर्षप्रभवमश्रु गोपयतीत्यर्थ । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ २९ ॥

गाधिनन्दनम्—विश्वामित्रम् । अनुप्रविष्ट अनुसृतवान् । यथाऽसौ मा स्तौति तथैव स्तुवॅस्त्वमपि तदनुसारी जात इत्यर्थ ।

एतस्म इति । प्रज्वलता दीप्यमानेन दम्भोलिद्युतिमण्डलेन उद्भटौ भीषणौ भुजावेव स्तम्भौ यस्य तथाभूताय प्रकाशमानवज्रभीषणभुजशालिने एतस्मै जम्भारये समराङ्गणप्रणयिने सग्रामभूमाववतीर्णाय क तिष्ठेत आत्मान प्रकाशयेत् ? न कोऽपि शक्राभिमुख रणे स्थातुमीश इत्यर्थ । एष इन्द्र बहि निर्यद्भि रोषदहनस्फुलिङ्गैरिव कोपाग्निकणैरिव रज्यद्भि रक्तीभवद्भि स्वै निजै ईक्षणै नयनै द्विषा शत्रूणाम् आग्नेयम् अस्त्रम् समतनोत् विस्तारितवान् , कोपरक्तानि तदीयनयनान्येव शत्रूणा मनसि दहनास्त्रभयमादधानास्तान्निवारयन्तीति भाव । 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्नि कण' 'दम्भोलिरशनिर्द्वयो' इत्युभयत्रामर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३० ॥

दशरथ—(हँसकर) वामदेव, तुम भी भगवान् विश्वामित्रसे मिल गये हो ।

इन्द्र जब युद्धक्षेत्रोन्मुख हो जाते हैं तब वज्रप्रभाभासित भुजदडशाली इन्द्रके सामने कौन ठहर सकता है ? उनकी रक्त आँखें ऐसी प्रतीत होती हैं मानों रोषवह्निकी स्फुलिङ्गावलिया हों, उन रक्त आँखोंसे उनके शत्रु आग्नेय अस्त्रकी तरह भीत हो उठते हैं ॥ ३० ॥

विश्वामित्र—(आदरपूर्वक दशरथके हाथको पकडकर) हे वशिष्ठके शिष्य राजर्षे ?

---

१ 'सखे वामदेव' इति ।

निर्विघ्नश्रीरियमभिनवा कीदृशी ते प्रशस्तिः ।
इक्ष्वाकूणां लिखितपठिता स्वर्वधूगण्डपीठ-
क्रीडापत्त्रप्रकरमकरीपाशुपाल्यं हि वृत्तिः ॥ ३१ ॥

दशरथ—भगवन्सर्वाद्भुतनिधे, भगवन्तमनुगन्तुमुक्तिप्रत्युक्तिकया के वयम् । एव किल त्रिशङ्कुसङ्कीर्त्तनोपाख्यानपारदृश्वान पौराणिका कथयन्ति—

त्रासोत्कम्पत्रिदशपरिषन्मौलिमाणिक्यमाला-
बालादित्यप्रकरकिरणस्मेरपादारविन्दे ।

मवृत्तोऽयमिति । यदि अयमिन्द्रस्तव भुजच्छायया बाहुबलाश्रयेण सम्प्रति निर्विघ्नश्री अबाधलक्ष्मीक सवृत्त इय ते कीदृशो अभिनवा नूतना प्रशस्ति ख्याति, नेय तवाभिनवा प्रशस्तिरपि तु कुलक्रमागतैवेति भाव । हि यत इक्ष्वाकूणाम् त्वद्वशभवानाम् नृपाणाम् स्वर्वधूनाम् स्वर्गवासिनीना रमणीना गण्डपीठेषु कपोलाभोगेषु य क्रीडापत्रप्रकर । विलासार्थं विरचित पत्रावलीसमूह तत्र चित्रिता या मकरी मकराख्यजलजन्तुस्त्री तस्या पाशुपाल्य रक्षावृत्ति व्यापार लिखितपठिता लिखिता पठिता च लोकोक्तिरिय लिखितपठितेति त्वत्कुलजा प्राचीनकालादेव देवाना रक्षास्वासक्ता अतस्त्वया शक्रो निर्बाधलक्ष्मीकता गमित इति तव प्रशसा न नूतनाऽपि तु कुलक्रमागतैवेति तात्पर्यम् । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ३१ ॥

सर्वाद्भुतनिधे सकलाश्चर्यनिधान । उक्तिप्रत्युक्तिकया कथनोपकथनद्वारा । भगवन्तमनुगन्तुम् त्वा तुलयितुम् । के वयम् न समर्था इत्यर्थ । त्रिशङ्कुसङ्कीर्त्तनोपाख्यानपारदृश्वान -त्रिशङ्कुकथाज्ञातार ।

त्रासोत्कम्पेति—त्रासेन भयेन उत्कम्पा वेपथुशालिनी या त्रिदशपरिषत् देवमण्डली तस्य मौलिषु किरीटेषु या माणिक्यमाला माणिक्याख्यरत्नविशेषस्रज एव बालादित्यप्रकरकिरणा नवोदितसूर्यसमूहप्रभा तै स्मेर विकासशालिपादारविन्द

आपके भुजोंको आश्रय बनाकर सम्प्रति इन्द्र निर्विघ्न हो रहे हैं, इसमें आपकी कौनसी नवीन प्रशसा होती है ? इक्ष्वाकुवंशियोंको देवाङ्गनाओंके कपोलस्थलोंपर वर्त्तमान क्रीडापत्र मकरीके पालनका भार लिखा-पढी करके सौंपा गया है ॥ ३१ ॥

दशरथ—हे सभा आश्चर्योंके निधि विश्वामित्र, कथोपकथनमे आपकी बराबरी हम कहां तक कर सकते हैं ? त्रिशकुकी कथाको जानने वालोंका कहना है कि—

भयभीत देवगणके मस्तकोंपर वर्त्तमान माणिक्यमालाकी किरणस्वरूप बाल वियोंमे

प्राचीमेतां भुवनरचनामन्यथा निर्मिमाणे
कार्पण्योक्तीस्त्वयि रचितवानन्तरायं महेन्द्रः ॥ ३२ ॥

(विहस्य ।)

जवादाराद्धुं त्वामुपनमति वर्गे दिविषदा-
[1]मपव्यस्तो मन्दैरजनि रथहंसैः कमलभूः ।
नियच्छामो जिह्वां न तव चरितेभ्यः किमुत ते
सुधासध्रीचीनामतिपतति[2] वाचामवसरः ॥ ३३ ॥

यस्य ताहशे त्वयि विश्वामित्रे एता प्राची भुवनरचनाम् विश्वसृष्टिम् अन्यथा प्रकारान्तरेण निर्मिमाणे रचयति सति महेन्द्र शक्र कार्पण्योक्ती दीनतासूचकवचनानि अन्तरायं रचितवान् विघ्नतयोपस्थापितवान् । भयभीतदेवगणशिरोरत्नमालाकान्तिसूर्यप्रभासमुदयविकासितचरणकमलस्त्वमिमा प्राचीना सृष्टिरचनामन्यथाकर्त्तुं प्रवृत्त एव दीनवचनानि प्रयुञ्जानेनेन्द्रेण न्यवार्यथा इत्याशय । पुरा द्वितीयां सृष्टिं कर्त्तुमुद्यत विश्वामित्र भयोद्विग्ना देवा समुपेत्य पाद पतनेन दैन्यवचसा च निवारयामासुरिति पुराणकथात्रानुसन्धेया । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ३२ ॥

जवादिति । दिविपदा देवाना वर्गे समुदाये त्वाम् नूतनसृष्टिप्रवृत्त विश्वामित्र नामर्षिम् जवात् वेगात् उपनमति प्रवृत्ते सति कमलभू ब्रह्मा मन्दैर्मन्थरगामिभि रथहसै स्वरथनियुक्तैर्हंसै अपव्यस्त विसस्थुल अजनि जात, देवेषु त्वा प्रसादयितुमहमहमिकावेगेन परापतत्सु स्वरथस्थहसगतिमान्द्याद् ब्रह्मापश्चात्पदे भूत्वाऽपत्रपित इवाजायतेत्यर्थं । तव चरितेभ्यो जिह्वा न नियच्छाम निवारयाम त्वचरितस्तुतेर्जिह्वा न निवारयामो वयम्, किमुत किन्तु सुधासध्रीचीनाम् अमृतसहचरीणा तव वाचामवसर काल अतिपतति अतिक्रामति, अत परमपि यद्यह-

जब आपका चरणकमल खिल उठा था, और जब आप इस भुवनका रचनापद्धतिका पलट दना चाहन लगे थे, तब इन्द्र आपके सामने गिडगिडा रहे थे ॥ ३२ ॥

(हसकर) जब समस्तदेवगण तेजीसे आपकी आराधनाके लिए दौडकर आने लगे थ तब रथमें जुते हुए हसोंकी मन्दगतिसे ब्रह्माको पिछड जाना पडा था, मै आपके चरित कीर्त्तनसे अपनी जिह्वाको विरत नहीं करूगा, किन्तु सुधासदृश आपके वचनोका अवसर बीता जा रहा है ॥ ३३ ॥

१ 'अपध्वस्त' इति । २ 'अभिपतति' इति ।

(अञ्जलिं बद्ध्वा ।) भगवन् , [1]प्रसीद तावत् ।
वाना कदाचिदपि न तृप्यन्ति पुंसां हृदयानि, यदिय
सम्भावनातिप्रसङ्गसङ्गीतनर्तकी मे चित्तवृत्तिर्नियो[2]गानुग्रहाय
अपि च ।

एताभिस्तव कौतुकोक्तिभिरपि त्रैविद्यमूर्तेरिव
त्वष्टस्यामरशिल्पिना दिनकृतोऽवच्छेदवेदाक्षरैः ।
पूताः स्मो वयमद्य यद्यपि [3]तदप्याज्ञामपि स्यामहो
वोढुं विष्टिरनर्घता रघुकुले कल्पान्तमुन्मीलतु ॥ ३४ ॥

मेव तव स्तुतिं प्रवृत्ता रचेय तदा तवोक्तय कदा भूयेरन्निति विचार्यैव जिह्वा स्वीया तव स्तुतेर्निवर्तयामि न तृप्तयेति भाव ॥ शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३३ ॥

उत्तरोत्तरेषाम्—अग्रिमाग्रिमाणाम् । महोत्सवानाम्—भद्राणाम् । तृप्यतियोगे भद्राणामिति करणे षष्ठी । त्वदुपस्थानेन तवोपस्थित्या सुलभ स्वयमुपनतो यः सम्भावनातिप्रसङ्ग त्वद्विषयकादरातिशयस्तस्य सङ्गीते कीर्त्तने नर्त्तकी नटी (भवदागमने भवदादरबुद्ध्या स्तुतिपरायणा) मम चित्तवृत्ति मनोदशा नियोगानुग्रहाय आज्ञाप्रदानरूपाय भवतोऽनुग्रहाय स्पृहयति स्पृहा करोति ।

एताभिस्तवेति । यद्यपि वयम् तव एताभि पूर्वनिर्दिष्टाभि कौतुकोक्तिभि परिहासवचनै अमरशिल्पिना विश्वकर्मणा त्वष्टस्य यन्त्रोल्लिखितस्य त्रैविद्यमूर्ते वेदत्रयीमयशरीरस्य दिनकृत सूर्यस्य अवच्छेदा खण्डा एव वेदाक्षराणि तैरिव पूता स्म पवित्रीकृता स्म , तदपि तथापि आज्ञाम् भवदीयमादेश वोढुं सम्पादयितुम् विष्टि कर्मकर स्याम् , इयम् अनर्घता असाधारणता रघुकुले रघुवंशे कल्पान्त

(हाथ जोडकर) भगवन् , कृपा कीजिये । उत्तरोत्तर महोत्सवसे पुरुषोंके हृदयोंकी तृप्ति नही होती है, देखिये आपके आगमनसे गौरवशालिनी हमारी यह चित्तवृत्ति आपके आगमनप्रयोजनको पूछनेकी स्पृहा कर रही है ।

और—आपने जो यह वचन परिहासमे कहे हैं—यह वेदत्रयमूर्त्तिधारी सूर्यके विश्वकर्माद्वारा खण्डित होने पर उनके अंशभूत वेदाक्षरोंके समान हैं, यद्यपि हम आपके शुभागमनमे ही पवित्र हो गये है तथापि आपकी आज्ञाके पालनका अवसर मुझे मिले और यह गौरव रघुवंशके लिये प्रलयकाल तक वर्त्तमान रहे ॥ ३४ ॥

१ 'प्रसीदतामुत्तरोत्तरेषाम्' इति । २ 'नियोगानुयोगाय' इति ।
३ 'तथाप्याज्ञामपि स्यामहम्' इति ।

विश्वामित्र —(विहस्य ।) ऐन्दुमतेय, किमन्यन्नियोज्यम् ।

निर्मुक्तशेषधवलैरचलेन्द्रमन्थ-
संक्षुब्धदुग्धमयसागरगर्भगौरैः ।
राजन्निदं बहुलपक्षदलन्मृगाङ्क-
च्छेदोज्ज्वलैस्तव यशोभिरशोभि विश्वम् ॥ ३५ ॥

पुनरिदानीमपि—
यश स्तोमानुच्चैरुपचिनु चकोरप्रणयिनी-

समुन्मीलतु प्रसरतु । अयमाशय —परिहासरूपतयोदीरिताभिरपि वेदत्रयमूर्त्ते-र्विश्वकर्मणा परितक्ष्य कृशीकृतस्य सूर्यस्य खण्डभूतैर्वेदाक्षरैरिव पूताभिस्तव वाग्भि-र्वयं पूतीकृतास्तथापि तावकमादेश पालयितुमवसर लभेय, इयमसाधारणता मम कुले जायतामेतदर्थं तवादेश श्रोतुं कामये इति । पुरा सौर तेजोऽसहमानया सञ्ज्ञानामिकया सूर्यपत्न्याऽभिहित पिता विश्वकर्मा सूर्यं यन्त्रमारोप्योल्लिख्य चेप-द्धीनतेजसमकरोदिति पुराणवार्त्ताऽत्रानुसन्धेया । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३४ ॥

ऐन्दुमतेय–इन्दुमतीतनय । नियोज्यम्–आदेष्टव्यम् ।

निर्मुक्तेति । निर्मुक्त निर्मोकरहित य शेष शेषनागस्तद्वद्धवलै श्वेतवर्णै, अचलेन्द्र मन्दरगिरि तेन य मन्थ विलोडनम् तेन सङ्क्षुब्ध चालितो यो दुग्ध-मयसागर क्षीरसमुद्रस्तस्य गर्भो मध्यभाग इव गौरै· धवलवर्णै, बहुलपक्षे कृष्णपक्षे दलन् उन्मीलन् य मृगाङ्कच्छेदश्चन्द्रखण्डम् तद्वदुज्ज्वलैस्तव यशोभि कीर्त्तिभि, हे राजन् इद विश्वम् अशोभि शोभाशालि कृतम् । अत्र यशस उपमान-त्रयमुक्तम्, निर्मोकरहित शेष एकम्, मन्दरमथनचालितक्षीरसागरमध्यभागो द्वितीयम्, कृष्णपक्षप्रकाशमानम् चन्द्रखण्ड तृतीयम्, तदेवमिय मालोपमा नामा-लङ्कार । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

यश स्तोमानिति । चकोरप्रणयिनीना चकोरीणा या रसज्ञा जिह्वा तस्या पाण्डित्यं चन्द्रिकापानचातुर्यं तस्य छिदुर भेदक यत् शशिधाम चन्द्रतेज तस्य

विश्वामित्र—(हसकर) हे इन्दुमतीनन्दन, और क्या कहना है ?

हे राजन्, केंचुल छूटे हुए शेष नागकी तरह धवल, तथा मन्दराचलद्वारा मथे गये क्षीरसागरके अभ्यन्तर भागकी तरह स्वच्छ तथा कृष्णपक्षके चन्द्रखण्डोंकी तरह स्वच्छ आपके यशसे सारा विश्व शोभित हो रहा है ॥ ३५ ॥

अब भी आप—

चकोरीगणकी रसज्ञाको भ्रममें डालनेवाले स्वच्छ चन्द्रकरोपम यशको आप

रसज्ञापाण्डित्यच्छिदुरशशिधामभ्र[1]मभरान् ।
अपि त्वत्तेजोभिस्तमसि शमिते रक्षतु दिशा-
मसौ यात्रामैत्री नभसि नितरामम्बरमणिः ॥ ३६ ॥

कि तु [2]कतिपयरात्रमायुधसध्रीचा रामभद्रेण सनिहितवैतानव्रताना-मस्माकमाश्रमपद सनाथीकरिष्यते । अपि च—

मध्येकृत्य घनं धिनोति जलधि· स्वैरम्बुभिर्मेदिनीं
हन्ति स्वै· किरणैस्तमिस्रमरुणं कृत्वान्तराले रवि ।

भ्रमभर सन्देहप्राचुर्यं यत्र तादृशान्—चकोर्यो हि चन्द्रकरान् रसयन्ति, तासा रसज्ञाया पाण्डित्य चन्द्रकरान् पीत्वा तृप्यति, यशसि तादृशाना चन्द्रकराणा भ्रमो जायत इति तादृशान् यश स्तोमान् उच्चैरुपचिनु वृद्धि नय। तथा तव तेजोभि प्रतापै किरणैश्च तमसि अन्धकारे दु खे च शमिते सति शान्ति गमितेऽपि सति असौ अम्बरमणि सूर्य नभसि आकाशे दिशा यात्रामैत्री गमनेन मित्रता नितरा रक्षतु। तवैव तेजसा सूर्यसाध्ये तमोनाशे साध्यमाने तदुदयस्य निरर्थकतया सूर्यस्य दिक्षु भ्रमणमिदानी केवल पूर्वतनमैत्रीरक्षणार्थमिति तात्पर्यम्। शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

कतिपयरात्रम्—कतिपयरात्रिपर्यन्तम्, आयुधसध्रीचा—धृतास्त्रेण, रामभद्रेण—रामचन्द्रेण, सन्निहितवैतानव्रतानाम्—सन्निहितयज्ञानुष्ठानानाम् । आश्रमपदम्—आश्रम , सनाथीकरिष्यते—पालयिष्यते । कतिपयदिवसपर्यन्त रामो धृतास्त्र सन् यज्ञपराणामस्माकमाश्रम परिपालयत्वित्यर्थ ।

मध्येकृत्येति । जलधि सागर घन मेघ मध्येकृत्य द्वारीकृत्य स्वै अम्बुभि पानीयै मेदिनी पृथ्वी धिनोति तर्पयति, रवि सूर्य अरुण नाम स्व सूतमन्तराले मध्ये कृत्वा स्वै किरणै स्वप्रभाभि तमिस्र तम हन्ति क्षपयति । त्व च दशरथ

विस्तारित करें, आपके तेजसे अन्धकारके नष्ट हो जाने पर सूर्य भगवान् आकाशमें यात्राको अनायास सम्पन्न करें ॥ ३६ ॥

किन्तु—कुछ दिनोंके लिये आयुधके साथ राम हमारे आश्रमोंको सनाथ करेंगे, क्योंकि हमारे यज्ञका समय समीप आ गया है । और—

समुद्र मेघको बीचमें करके अपने जलसे पृथ्वीको आप्लावित करता है, सूर्य अरुणको मध्यवर्त्ती बनाकर अपनी किरणोंसे अन्धकारका उन्मूलन करता है, आप रामको मध्यवर्त्ती

---

१ 'भ्रमकरान्' इति । २ 'कतिपयमहोरात्रम्' इति ।

त्वं रामान्तरितश्च पालय निजैरेव [1]प्रतापैः प्रजा-
मीदृक्कोऽपि परोपकारसुहृदामेष स्वभावो हि वः ॥ ३७ ॥

किं च—

दृष्टः साक्षादसुरविजयी नाकिनां चक्रवर्ती
मात्स्यो न्यायः कथयति यथा वारुणी दण्डनीतिः ।
पातालेन्द्रादहिभयमथास्त्येव नित्यानुषक्तं
तन्न पुण्यैरजनि भवता वीर राजन्वती भूः ॥ ३८ ॥

रामान्तरितः राममध्ये कुर्वन् निजैः एव प्रतापैः प्रजाम् पालय, परोपकारसुहृदाम् परोपकारकर्मणि दत्तचित्तानाम् वः युष्माकम् कोऽपि विशिष्य निर्वक्तुमनर्हः ईदृक् स्वभावः प्रकृतिः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

दृष्ट इति । नाकिनां देवानां चक्रवर्ती सम्राट् इन्द्रः असुरविजयी असुराणां विजेता साक्षात् दृष्टः प्रत्यक्षमालोकितः, इन्द्रो ह्यसुराणामेव जेता नाधर्मस्येति प्रत्यक्षमेवेक्षितम् असुरविजयीत्यनेन तस्य भ्रातृभ्रातृपुत्रादिवधप्रवृत्त्युक्त्या दुष्कृति-नस्तस्य राज्ये वासो नोपयुक्त इति व्यञ्जितम् । असुरविजयीत्यस्य असुरकर्तृक-जयविषय इत्यर्थस्यापि सम्भवेन तस्यासुरैर्जितत्वमित्यप्यर्थो ध्वनितः । वारुणी वरुणप्रवर्त्तिता दण्डनीतिः शासनपद्धतिर्यथा यादृशी, तत् मात्स्यो मत्स्येषु प्रसृतः न्यायः कथयति निवेदयति, जलाधिपस्य वरुणस्य राज्ये प्रजारूपा मत्स्याः स-जातीयदुर्बलभक्षका इति तत्रत्यो मात्स्यो न्याय एव वरुणस्य दण्डनीतौ साधू-नामल्पसामर्थ्यानां महाधनैर्बलवद्भिर्निग्रहं प्रकाशयन् तदीयराज्यस्य वासक्षमतां निषेधति । अथ किञ्च पातालेन्द्रात् वासुकेः अहिभयं सर्पाणां भयं नित्यानुषक्तं

बनाकर अपने प्रतापसे प्रजाका पालन करें, परोपकार–रसिकोंका कुछ ऐसाही स्वभाव हुआ करता है ॥ ३७ ॥

इन्द्र सदा असुरोंसे उलझे रहते हैं, उनके राज्यमें रहना स्वस्थतासे पूर्ण नहीं है, वरुणकी नीति कैसी है ? इस बातको मात्स्य–न्याय ही बता देता है–अर्थात् बड़े मत्स्य छोटे मत्स्योंको निगल जाते हैं इसीसे वरुणका शासन दुष्ट सिद्ध होता है, वासुकिनागके राज्यमें रहनेवाले सर्पोंको सदा भय बना रहता है अतः उनका भी राज्य अच्छा नहीं समझा जा सकता है, अतः हमारे सौभाग्यसे ही यह पृथ्वी आप सदृश राजाको पा सकी है ॥ ३८ ॥

---

१ 'प्रभावैः' इति ।

दशरथः—(सविषादमात्मगतम् ।) कथमिदमस्माक सकललोकशोकशङ्कूद्धरणशीलशीतलेभ्य कौशि[1]कप्रसादेभ्यो रामभद्रप्रवासवैमनस्य[2]मुत्पत्स्यते। दृष्ट वा नि शेषानन्दनि स्यन्दिनीनामपीन्दुकरकन्दलीना [3]कमलवनीमीलन कल[4]ङ्कस्थानम् । (विहस्य ।) का गति ।

कूर्मराजभुजगाधिपगोत्रग्रावदिक्करिभिरेकधुरीण ।

सततसम्बद्धनस्त्येव, पाताले राजा वासुकिस्तत्प्रजाश्च सर्पा तै सह वासो मृत्युरेव, सर्पवद्देशे वासस्य 'सम्पर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न सशय ' इति निन्दितत्वात् तदित्थ स्वर्गजलपानालाना वासानर्हतोक्ता। तत् तस्मात् हे वीर न अस्माक पुण्यै सुकृते भू इय पृथिवी भवता राजन्वती शोभनराजयुक्ता अजनि जाता। तव राज्ये प्रजाना नास्ति क्लेश इति भाग्यमस्माकमिति भाव ॥३८॥

सकललोकशोकशङ्कूद्धरणशीलशीतलेभ्य । सर्वजनदु खकण्टकोद्धरणशीलेभ्य कोमलप्रकृतिभ्य । कौशिकप्रसादेभ्यो विश्वामित्रानुग्रहेभ्य । रामभद्रप्रवासवैमनस्यम्—रामभद्रस्य प्रवासरूप दु खम्। उत्पत्स्यते—भविष्यति। यो विश्वामित्र सकललोकदु खशल्योद्धर्त्ता स एव कुतो मम पुत्रप्रवास्य मह्य क्लेश प्रदास्यतीति भाव । नि शेषानन्दस्य—सर्वानन्दस्य। निष्यन्दिनीनाम्—वर्षिणीनाम्। इन्दुकरकन्दलीनाम्—चन्द्रकिरणनिचयानाम्। कमलवनीमीलनम् कमलाकरसङ्कोचनम् । कलङ्कस्थानम् अपकीर्त्तिनिदानम् । सकललोककल्याणकरस्य मुनेर्विश्वामित्रस्य मत्पुत्रप्रवासजननद्वारा मद्दु खप्रदत्व सकलानन्ददायिनश्चन्द्रस्य कमलकुलसङ्कोचकत्वमिव कलङ्कपदमिति तात्पर्यम्।

कूर्मराजेति । कूर्मराज कमठ (शेषस्य धर्त्ता,) भुजगाधिप शेषनाग, गोत्रग्रावाण कुलाचला, दिक्करिणो दिग्गजाश्च तै एकधुरीण समानधुरन्धर रघुवशो मा दशरथ प्रसूय जनयित्वा कथ केन प्रकारेण परार्थविमुख परकीयार्थ-

---

दशरथ—(विषादके साथ स्वगत) समस्त लोकके दु खको दूर करने वाले विश्वामित्रके अनुग्रहसे ही हमको राम-प्रवासरूप कष्ट क्यो होने जारहा है? अथवा समस्त प्रजाजनको आनन्द देने वाले चन्द्रमाका कमलवन-सकोचन देखा ही हुआ है। (हसकर) क्या उपाय है? कूर्मराज, भुजगराज, गोत्राचल तथा दिग्गजोंके साथ समान

---

१ 'कौशिकपादेभ्य ' इति पाठान्तरम्। २ 'अप्युत्पत्स्यते' इति पाठान्तरम्।

३ 'कमलिनीमीलनम्', 'कमलवनीविनिमीलनम्' इति च।

४ 'अङ्कस्थानम्' इति।

मां प्रसूय कथमस्तु विगीतो हा परार्थविमुखो रघुवंशः ॥३९॥

विश्वामित्रः—(सस्मितम् ।) राजर्षे, ममकारो हि राजपुत्रेषु राज्ञामुपलालनक्लेशाय केवलम् । उपयोगस्तु प्रजानाम् । यथैतत् ।

कष्टा वेधव्यथा कष्टो नित्यमुद्वहनक्लमः ।
श्रवणानामलंकारः कपोलस्य तु कुण्डलम् ॥ ४० ॥

दशरथः—भगवन्, परमनुगृहीता वयमेव तत्रभवता सम्भाव्य-

साधनपराङ्मुख सन् विगीत निन्दित अस्तु । कूर्मराज शेष धत्ते स कुलाचलान्, ते दिग्गजान्, ते च भुव धारयन्ति, तदित्थमेते यथा परार्थसाधनलग्ना तथैव सदा परार्थसाधनधुरीणता प्राप्तो रघुवश सम्प्रति मा प्रसूय मया परार्थे पराङ्मुखीभूयोपेक्ष्यमाणे कथ निन्दितत्व व्रजतु नैतन्मया कथमपि कर्त्तुमुचितमिति भाव ॥ ३९ ॥

ममकार —ममत्वबुद्धि । उपलालनम् पालनपोषणादि । उपयोग उपकार. । राजान स्व पुत्र ममत्वेन केवल पालयन्ति, नहि तेन स्वार्थमपेक्षन्ते, राजपुत्रस्योपयोग तु स्वपालनद्वारा प्रजा एव लभन्त इति भाव ॥

कष्टेति । श्रवणानाम् श्रोत्राणाम् वेधव्यथा वेधजनिता पीडा कष्टा क्लेशदा, तथा नित्य सततम् उद्वहने कुण्डलधारणे श्रोत्राणा क्लम श्रम, तु किन्तु कुण्डलम् कपोलस्य गण्डदेशस्य अलङ्कार. भूषणम् । यथा श्रोत्राणि वेधव्यथामनुभवन्ति कुण्डलाना वहने श्राम्यन्ति च परं तै कपोलप्रदेशा भूषिता भवन्ति, तद्वद्राजान स्वपुत्राणा लालनपालनादौ क्लिश्यन्ते, परन्तैरुपक्रियन्ते प्रजा एव न जनकास्तेषामिति भाव ॥ ४० ॥

परम् अनुगृहीता —अत्यर्थमनुकम्पिता तत्रभवता—पूज्येन त्वया । एव

रूपसे पृथ्वाके भारको वहन करने वाले रघुवशको मेरे द्वारा परार्थविमुखताजन्य अयश कैसे प्राप्त होगा ? ॥ ३९ ॥

विश्वामित्र—(हसकर) राजर्षे, राजपुत्रोंपर राजोंका ममत्व केवल लालन पालनके समय क्लेशके लिये होता है, उनमे लाभतो प्रजाओंको ही होना है । जैसे—

कानोंको विंधना पडता है, नित्य ढोनेका कष्ट उठाना पडता है, परन्तु इतना होने पर भी कुण्डल कानोंसे अधिक कपोलोंकी शोभा-वृद्धि करते हैं ॥ ४० ॥

दशरथ—भगवन्, आपके इस आदरसे हम अनुगृहीत हो गये हैं, किन्तु इस

माना । किं पुनरकृतास्त्र[1] क्षीर[2]कण्ठो वत्सोऽयमिति [2]मुग्धोऽस्मि ।

विश्वामित्र—(विहस्य ।) सखे, तत्रभवन्तं मैत्रावरुणिमृषि पुरोधाय चरितब्रह्मचर्यव्रतस्य धनुर्वेदसस्कारास्तावदस्य कृशाश्वप्रसादादस्मास्वायतन्ते ।

दशरथः—(सविनयोपरोधम् ।) भगवन्, उच्छ्वसितमपि रघुराजबीजिना त्वदायत्तमेव, किमु[3]त कार्मुकविद्यासम्प्रदाय । शङ्के सहस्रकिरणकुलैकपक्षपातेनैव सहस्र [4]वत्सरान्भगवन्त कृशाश्वमुपासीनो दिव्यास्त्रमन्त्रोपनिषदमध्यगीष्ठा ।

सम्भाव्यमाना –इत्थमाद्रियमाणा । अकृतास्त्र —अगृहीतधनुर्वेदशिक्ष । क्षीरकण्ठ – दुग्धमुख । मुग्ध —किङ्कर्त्तव्यताज्ञानशून्य ।

मैत्रावरुणिम्—वसिष्ठम । पुरोधाय—पुरोहित कृत्वा । चरितब्रह्मचर्यव्रतस्य—धृतब्रह्मचर्यस्य । धनुर्वेदसस्कारा —अस्त्रविद्याशिक्षा । कृशाश्वप्रसादाद्—भगवतो मम गुरो कृशाश्वस्यानुग्रहात् । आयतन्ते—आयत्ता । ब्रह्मचर्यमनेन साधु निरूढ सम्प्रति कृशाश्वान्मया लब्धा धनुर्वेदविद्या मयैव राम शिक्षणीय इति तदर्थचिन्तयाऽल भवताऽऽत्मानमायास्येति भाव ।

रघुराजबीजिनाम्—रघुराज बीजी आदिपुरुषो येषा तेषाम् रघुवंश्यानाम् । उच्छ्वसितम्—जीवनम् । त्वदायत्तम्—त्वदधीनम् । कार्म्मुकविद्यासम्प्रदाय – धनुर्वेदोपदेश । शङ्के—सभावयामि । सहस्रकिरणकुलैकपक्षपातेन—सूर्यवशानुग्रहबुद्धया । उपासीन —सेवमान । दिव्यास्त्रमन्त्रोपनिषदम्—दिव्यास्त्रमन्त्ररहस्यम् । अध्यगीष्ठा –अधीतवान् ।

दुधमुह रामने अभी अस्त्रविद्या नही सीखा है अत मूढ हो रहा हू ।

विश्वामित्र—(हसकर) वसिष्ठके तत्त्वावधानमें रामने ब्रह्मचर्य व्रतका पालन कर लिया है, अब इसके धनुर्वेद-सस्कारका भार कृशाश्वके प्रसादसे हमारे ऊपर रहता है ।

दशरथ—(विनय और अनुरोधके साथ) भगवन्, रघुवशियोका उच्छ्वास भी आप पर ही निर्भर है, फिर धनुर्वेदकी क्या बात ? मै समझता हूँ सूर्यवश पर पक्षपात होनेके ही कारण आपने सहस्र सवत्सर पर्यन्त कृशाश्व मुनिसे अस्त्रविद्या सीखी थी ।

---

१ 'क्षीरकण्ठश्च' इति । २ 'प्रमुग्धोऽस्मि' इति ।

३ 'किं पुन ' इति । ४. 'परिवत्सरान्' इति ।

विश्वामित्रः—अलं च ते रामभद्रेऽपि बालोऽयमित्यलीकसम्भावनया। दिव[1]स्पृथिव्योस्तिमिरतिरस्करिणीं तरणिरणुतरोऽपि तेजसा तिरस्करोति।

दशरथः—(सस्मितम्।) भगवन्कुशिकवंशकेतो, कस्य तलिनी तादृशी जिह्वा यस्त्वामपि ब्रुवाणम[2]धरोत्तरेणाभिसन्धत्ते। (अपवार्य।) वामदेव, स्वमत्रभवान् कौशिको ब्रवीति।

वामदेवः—राजर्षे किमत्र प्रष्टव्या वयम्।

कौशिकोऽर्थी भवान्दाता रक्षणीयो महाक्रतुः।
रक्षिता रामभद्रश्चेदनुमन्यामहे वयम्॥ ४१॥

अलीकसम्भावनया—मिथ्याकल्पनया। दिवस्पृथिव्योस्तिमिरतिरस्करिणीम्—द्यावाभूम्योरावरणकारिणीम् (अन्धकारसन्ततिम्)। अणुतरः—स्वल्पाकारः। तरणिः—सूर्यः। तिरस्करोति–विनाशयति।

कुशिकवंशकेतो—कुशिकवंशप्रदीप। तलिनी—स्वच्छा (तलिनं विरले स्तोके स्वच्छेऽपि वाच्यवत्) अधरोत्तरेण–उत्तरोत्तरमुक्तिप्रत्युक्तिकया।

कौशिक इति। कौशिको विश्वामित्रोऽर्थी याचकः, महाक्रतुः यागः रक्षणीयः पालनीयः, भवान् दाता, रामभद्रश्च रक्षिता मद्यागपालकः चेत् वयम् तव शुभैकध्यानपरा अनुमन्यामहे, रामस्य विश्वामित्रकर्तृकयागरक्षार्थं गमनमनुमोदामहे इत्यर्थः॥ ४१॥

विश्वामित्र—आपका यह समझना कि राम बालक है सर्वथा व्यर्थ है। पृथ्वी तथा आकाशमें भरेहुए अन्धकारको छोटासा सूर्य ही अपने करोंसे दूर कर देता है।

दशरथ—(हसकर) हे कुशिक वंशके केतुरूप महाराज विश्वामित्र, किसकी जिह्वामें इतनी शक्ति है जो आपको उत्तर देसके? (छिपाकर) वामदेव, कौशिकतो ऐसा कहते हैं।

वामदेव—राजर्षे, इसमें मुझसे क्या पूछना है?

कौशिक याचक हैं, आप दाता है, यज्ञकी रक्षा करनी है, राम रक्षक हैं, इस हालतमें मैं अपनी सम्मति देता हूँ॥ ४१॥

---

१ 'द्यावापृथिव्यो', 'दिवस्पृथिव्योरन्तराले' इति च। २ 'अधरोत्तरैः' इति।

अपि च—

जगतीभारखिन्नानां विश्रामो भवतामयम् ।
यद्यथाकामसंपत्तिप्रीतार्थिमुखदर्शनम् ॥ ४२ ॥

किं च विशेषेण ।

पूरयितुमर्थिकामान्मैत्रावरुणेन गोत्रगुरुणा ते ।
संदिशता संदिष्टः समाधिदृष्टोऽयमेवार्थः ॥ ४३ ॥

दशरथः—वामदेव, एवमेतत् ।

[1]ध्यानमयदृष्टिपातप्रमुषितकालाध्वविप्रकर्षेषु ।

जगतीति । जगत्या पालनीयाया पृथिव्या भारेण पालनवहनादिश्रमेण खिन्नानाम् क्लिश्यमानानाम् भवता महाराजानाम् अयम् विश्राम कियतांशेन निर्वृति यत् यथाकामसम्पत्त्या यथेष्टवस्तुलाभेन प्रीताना सन्तुष्टानामर्थिनां याचकाना मुखस्य दर्शनमवलोकनम् पृथ्वीपालनक्लिष्टा भवादृशा महाराजा यथेष्टलाभसन्तुष्टयाचकमुखावलोकनेन—विश्रामसुखमनुभवन्ति, तद् विश्वामित्र याचमान प्रसाद्य भवानपि तत्सुख प्राप्तु प्रयतततामिति भाव ॥ ४२ ॥

पूरयितुमिति । ते तव दशरथस्य गोत्रगुरुणा कुलगुरुणा वसिष्ठेन अर्थिकामान् पूरयितु याचकमनोरथान् सपादयितु सन्दिशता मन्मुखेन वाचिकं प्रेषयता समाधिदृष्ट प्रणिधानसाक्षात्कृत अयमेवार्थ सन्दिष्ट कथित । समाधिद्वारा विश्वामित्रेण करिष्यमाणा रामभद्रस्य याच्ञामेव मनसिकृत्य भवत कुलगुरुर्वसिष्ठो भवन्त याचकाना मनोरथान् पूरयितु सन्दिष्टवास्तदित्थमत्र विश्वामित्रानुरोधे पाल्यमाने फलतो गुरोरपि सन्देश पालितो भवतीत्यवश्यपालनीयोऽयमनुरोध इत्याशय ॥ ४३ ॥

ध्यानमयेति । नैष्ठिकानाम् निष्ठाशालिना सिद्धिमताम् सर्वपथीना सर्वमार्ग-

---

और—

ससारके भारसे थके हुए आप लोगोंके लिये यही विश्राम है कि यथाकाम याचना करने वाले याचकोंकी इच्छा पूरी करके उनके प्रसन्नमुखका दर्शन करें ॥ ४२ ॥

याचकोके मनोरथको पूर्ण करनेका सन्देश देकर आपके गुरु वसिष्ठने भी समाधिदृष्ट इसी अर्थकी ओर इशारा किया था ॥ ४३ ॥

दशरथ—वामदेव, ठीक यही बात है,

ध्यानमय दृष्टिमें देश तथा कालका व्यवधान नही रहता है, अत सिद्ध पुरुषोंकी

---

१. 'ज्ञानमय' इति ।

विषयेषु नैष्ठिकानां सर्वपथीना मतिः क्रमते ॥ ४४ ॥

(विमृश्य ।)

क्रियाणां रक्षायै दशरथमुपस्थाय विमुखे
मुनौ विश्वामित्रे भगवति गते संप्रति गृहान् ।
तपोलेशक्लेशादुपशमितविघ्नप्रतिभये
प्रवृत्ते यष्टु वा रघुकुलकथैवास्तमयते ॥ ४५ ॥

(मुनि प्रति ।) जगद्गुरो गाधिनन्दन,

त्वं चेद्दीक्षिष्यमाणो मे रामभद्र प्रतीक्षसे ।

सञ्चारिणी मति बुद्धि ध्यानमयेन दृष्टिपातेन ज्ञानयोगेन प्रमुषित अपसारित कालस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानरूपस्य समयस्य अध्वनो देशस्य च विप्रकर्षो दूरत्व येपु तथोक्तेषु विषयेषु क्रमते प्रवर्त्तते । सिद्धिमन्तो मुनयो ज्ञानदृष्ट्या अतीतानागतादिक दूरस्थ च विषयजात बुद्धौ प्रत्यक्षीकुर्वन्ति, तत्सम्भवति कुलगुरुर्मम विश्वामित्राभिप्राय मनसि निधायैव तथा सन्दिष्टवान् स्यादिति भाव ॥ ४४ ॥

क्रियाणामिति । क्रियाणा यागानुष्ठानानाम् रक्षायै रक्षाविषये दशरथम् उपस्थाय दशरथ प्रार्थ्य तदीयं पुत्रं रक्षक याचित्वा विमुखे प्रार्थितार्थमलब्ध्वा सम्प्रति मुनौ विश्वामित्रे गृहान् स्वाश्रमान् गतवति सति तपोलेशस्य स्वतपस्यैकदेशस्य क्लेशात् व्ययात् उपशमितम् शान्तीकृत विघ्नप्रतिभय प्रतिबन्धभयं येन तस्मिन् स्वतप प्रभावेण विघ्न शमयित्वा यष्टु याग कर्त्तु वा प्रवृत्ते सति रघुकुलकथा रघुवंश्यानाम् दानजनिता कीर्त्तिकथा एव अस्तमयते समाप्नोति । यज्ञरक्षार्थं विश्वामित्रो दशरथमुपेत, स हि प्रार्थितार्थमलब्ध्वा यदि परावर्त्तते, गत्वा च स्वतपोलेशस्य व्ययेन यज्ञप्रतिबन्धक शमयित्वा याग कर्त्तुमुपक्रमते तदा रघुकुलस्य दानशूरता समाप्ति गच्छति, तदल मुनि विमुखीकृत्येति भाव । शिखरिणीवृत्तम्, तल्लक्षणमन्यत्र दर्शितम् ॥ ४५ ॥

व चेदिति । दीक्षिष्यमाण यागदीक्षां ग्रहीतुकाम त्व विश्वामित्र चेत् यदि

दृष्टियाँ अतीत, अनागत विषयोंके भी साक्षात्कारमें समर्थ रहती हैं ॥ ४४ ॥

(विचारकर) यज्ञकी रक्षाके लिये दशरथसे याचना करके विमुख होकर यदि विश्वामित्र अपने आश्रमको लौट जाते हैं और तपस्याके थोडे अंशको खर्च करके यज्ञ करना प्रारम्भ कर देते हैं, तबतो रघुकुलकी कीर्त्ति-कथा ही समाप्त हो जाती है ॥ ४५ ॥

(मुनिसे) जगद्गुरो विश्वामित्र, आप यज्ञ करेंगे इसलिये रामकी याचना करते हैं

तन्नः पतिव्रतावृत्तमियं चरतु मेदिनी ॥ ४६ ॥

(नेपथ्याभिमुख ।) क. कोऽत्र भो. ।

(प्रविश्य ।)

दौवारिकः—किमाज्ञापयति देव. ।

दशरथः—आहूयता रामभद्र. ।

वामदेवः—लक्ष्मणश्च ।

दशरथ.—(सस्मितम् ।) ऋषे, पृथक्प्रयत्नापेक्षी नायमर्थ । न खलु प्रकाशमन्तरेण तुहिनभानुरुज्जिहीते ।

(दौवारिको निष्क्रान्त ।)

(तत प्रविशतो रामलक्ष्मणौ ।)

राम प्रतीक्षसे स्वयागरक्षकतया राम नेतुमिच्छसि, तदा न अस्माकमिय मेदिनी धरा पतिव्रतावृत्तम् मालिन्यादिप्रोषितभर्तृकवधूचिह्नम् चरतु करोतु । राम एवास्या धराया पति, तस्मिन् त्वया नीयमाने धरेय प्रोषितभर्तृकतया मालिन्यं वहतामिति । अतश्च रामस्याचिरप्रत्यावर्त्तनीयता द्योतिता ॥ ४६ ॥

पृथक्प्रयत्नापेक्षी—अतिरिक्तप्रयासकर । अयमर्थ—लक्ष्मणाह्वानम् । रामे आहूयमाने लक्ष्मण स्वयमागमिष्यति, तदाह्वान नापेक्ष्यत इत्यर्थ । प्रकाशमन्तरेण प्रभा विना । तुहिनभानु-चन्द्र । उज्जिहीते-उदयते । यथा प्रभामतिरिच्य चन्द्रो न तिष्ठति तथैव लक्ष्मण विना रामोऽतो रामाह्वानेनैव लक्ष्मणोऽप्याहूतो भवतीति भाव ॥

तो यह हमारी पृथ्वी कुछ दिनों तक प्रोषितपतिका पतिव्रताकी स्थितिको प्राप्त करे, (नेपथ्यकी ओर) कोई है ? ॥४६॥

[प्रवेश करके]

दौवारिक—महाराजकी क्या आज्ञा है ?

दशरथ—रामभद्रको बुला लाओ ।

वामदेव—लक्ष्मणको भी बुलाते आना ।

दशरथ—(हसकर) मुनिवर, इसके लिये अलग यत्नका आवश्यकता नहीं है । प्रकाशको छोडकर चन्द्रमा उदित नहीं होता है ।

[दौवारिक जाता है]

[राम तथा लक्ष्मण का प्रवेश]

रामः—(सहर्षम् ।)

सुराधीशक्रोधाज्जगदपरथा कर्तुमपरे
पुराणब्रह्माणो भुवनपितरः सप्त च कृताः ।
धृतास्तुष्टेनामी बहिरपि च वैश्वानरपथा-
त्कथा पौराणी यच्चरितमितिह स्म प्रथयति ॥ ४७ ॥

कथं सोऽपि भगवान्विश्वामित्रः [1]स्वयमस्माभिरुपचरिष्यते ।

सुराधीशेति । सुराणाम् अधीश इन्द्रस्तस्मिन् क्रोध त्रिशङ्कोरिन्द्रेण स्वर्गाद् भ्रंशनजन्मा कोप तस्मात् हेतो जगत् अपरथा भिन्नप्रकारक कर्त्तुम् अपरे अग्निष्वात्ताद्यपेक्षया भिन्ना सप्त भुवनपितर मरीच्यत्रिप्रभृतय सप्तर्षय कृता । ततो नानादेवप्रणिपातात्तुष्टेन प्रसीदता अमी स्वरचिता भुवनपितरो ब्रह्माण वैश्वानरपथात् बहि पृथग् धृता आकाशस्थस्थानविशेषे स्थापिता । यद्वा वैश्वानरपथाद्धविर्दानात् बहिरेव धृता दानाहुतिभागिनो न कृता, इति एतादृशी पौराणी पुरातनी कथा यच्चरित यस्य विश्वामित्रस्य चरित्र प्रकाशयति स्म। यदा शक्रस्त्रिशङ्को स्वर्गप्रवेश नानुमन्यतेस्म तदा स्वापमानकुपितो विश्वामित्रोऽपरसृष्टिनिर्मित्सया सप्तापरान् ब्रह्मण कृतवान् , अथ देवै पादपतनादिना प्रसादितोऽसौ स्वकृतास्तान् ब्रह्मणोऽन्तरिक्षे सप्तर्षिभावेनास्थापयदिति पौराणी वार्त्ता यस्य विश्वामित्रस्य चरित प्रथयति स कथमस्माभि सेव्य इति वक्ष्यमाणेनान्वये वाक्यार्थविश्रान्ति । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४७ ॥

उपचरिष्यते सेविष्यते । सौभाग्येन तादृशपुण्यप्रकर्षशालिनो मुने सेवाया अवसरो लभ्यत इति स च लब्धोऽस्माभिरित्यहो भाग्यमस्माकमिति ध्वनि ।

राम—(सहर्ष) इन्द्रपर कुपित होकर जिस विश्वामित्र ने सात पुराण ब्रह्मा तथा भुवनपितरोंकी सृष्टि कर डाली थी, और देवोंका प्रार्थनासे प्रसन्न होकर जिस विश्वामित्रने उन स्वरचित ब्रह्मा आदिको वैश्वानरपथसे बाहर रख दिया, इस प्रकारसे जिनकी कीर्त्तिकथा प्रथित है ॥ ४७ ॥

वही भगवान् विश्वामित्र हमें अपनी सेवाका अवसर प्रदान करेंगे ?

---

१ 'स्वयमुपचरिष्यतेऽस्माभि-' इति ।

(इति परिक्रामन्पुरोऽवलोक्य[1] हर्षातिशयं रूपयन् ।) नूनं विनयनम्रयोस्तातवामदेवयोस्तृतीयः[2] प्रशान्तपावनीयाकृतिः स भगवान्विश्वामित्रो भविष्यति ।

लक्ष्मणः—(साश्चर्यस्मितम् ।) आर्य,

अयमयमीदृशप्रशमविश्वसनीयतनु-
र्भुवनभयंकरीं कथमधत्त रुषोऽपि मुनिः ।
स्थितमिदमेव वा मृदुमनोज्ञतुषारतमा-
स्तमसि सति ज्वलन्ति सहसैव महौषधयः ॥ ४८ ॥

नूनम् निश्चयेन । विनयनम्रयोः प्रणतयोः प्रह्वयोश्च । प्रशान्ता सौम्या पावनीया पवित्रताजननी चाकृतिर्यस्य तथोक्तः ।

अयमयमिति । अयमयमिति सम्भ्रमे द्विरुक्तिः, अयम् ईदृशेन दर्शनमात्रप्रत्ययेन प्रशमेन प्रकृष्टया शान्त्या विश्वसनीया अशङ्कनीया तनुः शरीरं यस्यासौ अपि मुनिर्विश्वामित्रः भुवनभयङ्करीं विश्वत्रासजननीं रुषः कोपात् कथम् अधत्त धृतवान् (जगतो ध्वंसनं नवां सृष्टिं च कर्तुं प्रवृत्तो भूत्वा कथं विश्वभयमजनयत्) वा अथवा इदमेव स्थितं स्थितिर्मर्यादा यत् मृद्व्यः कोमलाः मनोज्ञाः मनोहारिण्यः तुषारतमाः अतिसौम्याः महौषधयः तमसि सति जाते अन्धकारे सहसैव एकपद एव ज्वलन्ति प्रकाशन्ते । यथा कोमलानां शीतवीर्याणां चौषधीनां सत्यन्धकारे दीपनं तथैव शान्तसौम्यस्यापि मुनेः परेण पराभवे दीपनं स्वभाव इति अयमपि शान्तस्वभावो मुनिर्भुवनभयङ्करीं क्रियां कृतवान्स्यादिति तात्पर्यम् । कोकिलकं वृत्तम्, 'हयऋतुसागरैर्यतियुतं यदि कोकिलकम्' इति तल्लक्षणम् ॥ ४८ ॥

(आते हुए सामने विश्वामित्रको देखकर प्रसन्नतामें) पिताजी तथा वामदेव विनयसे नम्र हो रहे हैं, उनके साथ बैठे हुए यह प्रशान्त पावन आकारधारी भगवान् विश्वामित्र होंगे ।

लक्ष्मण—(आश्चर्य तथा हँसीके साथ) इस तरहकी शान्तिसे जिनकी देह अति विश्वसनीय लग रही है वही यह विश्वामित्र उस तरहके कोपको किस प्रकार धारण कर सके थे ? अथवा यही विश्वमर्यादा है, जो लतायें अति कोमल सुन्दर तथा शीतल लगती हैं वेही अन्धकार होनेपर सहसा जल उठती हैं ॥ ४८ ॥

---

१ 'विलोक्य', 'अवलोक्य' इति च ।
२ 'तृतीया प्रशान्तपावनीयमाकृतिः' इति ।

रामः—वत्स लक्ष्मण, एव दुरवगाहग[1]म्भीराश्चित्रीयन्ते महान्त ।

अपि च—

व्रतविहतिकरीभिरप्सरोभि सह जगदस्य निगृह्णतो गृणन्ति ।
नमदमरशिर किरीटरोचिर्मुकुलितरोषतमांसि चेष्टितानि ॥ ४९ ॥

वामदेवः—([2]सहर्षं दृष्ट्वा ।) कथमागतो रामभद्र । (मुनि प्रति ।) भगवन्,

ब्रह्मज्योतिर्विवर्तस्य चतुर्धा देहयोगिनः ।
ऋष्यशृङ्गचरोरंशः प्रथमोऽयं महाभुज ॥ ५० ॥

दुरवगाहगम्भीरा दुर्धर्षा गम्भीरमतयश्च । चित्रीयन्ते—आश्चर्यं कर्म कृत्वा विश्व चमत्कुर्वते ।

व्रतविहतीति । व्रतस्य तपसो विहतिं विघ्न कुर्वन्ति यास्तास्ताभि अप्सरोभि सह जगत् भुवन निगृह्णत भस्मीकर्त्तुमुद्यच्छत अस्य विश्वामित्रस्य मुने चेष्टितानि चरितानि नमता पादयो पतता प्रसादनार्थं विनीतानाम् अमराणा शिर किरीटानि मौलिमुकुटानि तेषा रोचिर्भि प्रभाभि मुकुलितम् उपशमित रोष एव तमोऽन्धकारो येषु तथाभूतानि गृणन्ति पुराणविद कथयन्ति । तपस्याविघ्नकरीभिरप्सरोभि सहैव लोकान्दग्धुं प्रवृत्तोऽय मुनि पादप्रणतै देवै प्रसादित स्व कोप निवारयामासेति पुराणविदोऽस्य चरितानि कथयन्तीति भाव । पुष्पिताग्रावृत्त, 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणात् ॥ ४९ ॥

ब्रह्मज्योतिरिति । ब्रह्मज्योतिर्विवर्त्तस्य ब्राह्मतेज परिणामस्य चतुर्धा प्रकारचतुष्टयेन देहयोगिन रामादिराजपुत्रचतुष्टयतया धृतदेहस्य ऋष्यशृङ्गचरो मुनि-

---

राम—वत्स लक्ष्मण, दुरवगाह तथा गंभीर आशयवाले महान् जन इसी तरह आश्चर्यजनक कार्य किया करते हैं । और—

तपस्या भङ्ग करनेवाली अप्सराओंके साथ ही जब आपने ससारको समाप्तकर देनेकी तैयारी की थी, तब इनके चरणोंपर देवगण गिरे उनके किरीटस्थमणि-प्रकरकी प्रभासे विश्वामित्रके कोपरूप तमकी शान्ति हुई, यही इनके चेष्टित हैं ॥ ४९ ॥

वामदेव—(देखकर हर्षसे) क्यों, रामभद्र आगये ? (मुनिसे) भगवन् , चार भागोंमें बटे ब्रह्मतेज-परिणामस्वरूप ऋष्यशृङ्ग—चरुके प्रथम अंश यही महाभुज राम हैं ॥५०॥

---

१ 'गम्भीरचरिता' इति । २ 'राम दृष्ट्वा सहर्षम्' इति ।

विश्वामित्रः—(सहर्षसम्भ्रमम[1]वलोक्य ।) वामदेव, किमुच्यत आरण्यकेषु किमपि [2]प्रकृष्टतम ब्राह्मण्यमृष्यशृङ्गस्य । न केवलममुना वत्सेन ब्रह्मर्षिर्विभाण्डक पुत्रवता धुरमारोपितः, [3]दशरथोऽपि ।

[4]**दशरथः**—भगवन्, एवमेवैतत् ।

ये मैत्रा[5]वरुणि पुरोहितवतो वंशे मनोर्जज्ञिरे
तास्ता वैनयिकीः क्रिया विदधिरे येषां च युष्मादृशः ।

विशेषहव्यान्नस्य प्रथमोंऽश आद्यो भाग अय महाबाहू राम, ऋष्यशृङ्गो नाम मुनिर्यद्–ब्राह्मतेज परिणामभूत चरुनामक यद् हवनीयद्रव्य चतुर्धा व्यभजत ततो ये देहधारिणो नृपात्मजाश्चत्वारोऽजनिषत तेष्वाद्योऽय महाभुजो राम इति । 'अथ चरु पुमान् हव्यान्नभाण्डयो ' इति धरणि ॥ ५० ॥

आरण्यकेषु वनवासिमुनिषु । प्रकृष्टतमम् अत्युत्कृष्टम् । अमुना वत्सेन ऋष्यशृङ्गेण । पुत्रवता धुरमारोपित —पुत्रवत्सु मूर्धन्य कृत । दशरथोऽपि पुत्रवता धुरमारोपित इति योजना । अयमृष्यशृङ्गो निजेन ब्राह्मण्येन न केवल स्वजनक विभाण्डकमेव पुत्रवता धुरमारोपितवानपि तु स्वतपसा दशरथमपि पुत्रवता धुरमारोपितवान् । स्वय तपस्तप्त्वा स्वपितर धन्यतामनयत् स्वतप प्रभावेण दशरथमपि प्रशसाशालिपुत्रभाजनमकार्षीदिति धन्यत्वमृष्यशृङ्गस्येति भाव ॥

ये मैत्रावरुणिमिति । ये राजान मैत्रावरुणि वसिष्ठ पुरोहितवत पुरोहितत्वेन वृतवतो मनो वंशे जज्ञिरे जनिमलभन्त, येषा राज्ञा मध्ये युष्मादृश त्वादृशा पुण्यपरिपाकशालिन तास्ता प्रसिद्धा वैनयिकी विनयपूर्णा क्रिया व्यापार-

---

विश्वामित्र—(सहर्ष, अकचकाकर देखकर) वामदेव, क्या कहा जाय, वनवासियोंमे ऋष्यशृङ्गका कुछ अद्भुत ब्राह्मण्य है, उसने केवल विभाण्डकको पुत्रवानोंका मूर्धन्य नहीं बनाया है, दशरथको भी पुत्रवानोंका मूर्धन्य बनाया है ।

दशरथ—हाँ महाराज, ठीक है,

वसिष्ठ जिनके पुरोहित हैं, जो मनुवशमें उत्पन्न हुए, जिन्होंने विनयपूर्ण सारी क्रियायें की, जिनको आप सरीखे ऋषियोंने सम्पन्न कराया, उन रघुवंशियोंमें दशरथ

---

१ 'आलोक्य' इति । २ 'प्रकृष्टतम किमपि' इति ।
३ 'राजर्षिर्दशरथोऽपि' इति । ४ 'वामदेव ' इति ।
५ 'मैत्रावरुणम्' इति ।

तेषाम[1]ञ्चलमेष ते दशरथ संप्रत्यमी ये पुन-
र्जातास्ते भुवमृष्यश्रृङ्गतपसामैश्वर्यमिक्ष्वाकव॰ ॥ ५१ ॥

(रामलक्ष्मणावुपसर्पत ।)

[2]दशरथः—वत्सौ, भगवानेष नि शेषभुवनमहनीयो महामुनि कौशिक॰ प्रणम्यताम् ।

रामलक्ष्मणौ—(उपसृत्य ।) भगवन्विश्वामित्र, सावित्रौ रामलक्ष्मणावभिवादयेते ।

विश्वामित्र॰—वत्सौ, आयुष्मन्तौ भूयास्ताम् । (इति भुजाभ्या गृहीत्वा राम नि[3]र्वर्ण्य च सबहुमानम् । आत्मगतम् ।)

वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रैर्दधति जगतामाभ्युदयिकी
धुरं संप्रत्येते दिनकरकुलीना॰ क्षितिभुज॰ ।

कलापान् विदधिरे कृतवन्त॰, तेषाम् राज्ञाम् एष ते तव दशरथ अञ्चलम् प्रान्त-देश , अन्तिमो राजा, सम्प्रति ये अमी इक्ष्वाकव रामादयो जातास्ते भुवम् ऋष्यश्रृङ्गतपसाम् ऐश्वर्यम् प्रभाव । वसिष्ठेन पुरोहितयोगिनो मनोर्वंशे जाताना विनयपूर्णा क्रिया कृतवता राज्ञामहमन्तिमो राजा, अमी रामादयस्तु ऋष्यश्रृङ्ग-तपसा प्रभावेण जाता इत्यर्थ ॥ ५१ ॥

नि शेषभुवनमहनीय समस्तलोकपूजनीय ।

सावित्रौ सवितु सूर्यस्य वशे लब्धजन्मानौ । अभिवादयेते भवन्त प्रणमत ।

वसिष्ठोक्तैरिति । एते दिनकरकुलीना सूर्यवशोद्भवा क्षितिभुजो राजान॰ वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रै वसिष्ठव्याहृताभिर्मन्त्रणाभि जगताम् आभ्युदयिकीम् जगन्मङ्गल-

---

अन्तिम है, अब जो पैदा हुए हैं वह इक्ष्वाकुवशी ऋष्यश्रृङ्गके तपके प्रभावसे पैदा हुए है ॥ ५१ ॥

(राम-लक्ष्मण समीप आते हैं)

दशरथ—बेटे, यह हैं अशेष भुवनगीतकीर्त्ति महामुनि विश्वामित्र, इन्हें प्रणाम करो,

राम-लक्ष्मण—(समीप जाकर) महाराज विश्वामित्र, सूर्यवशी राम-लक्ष्मण प्रणाम करते हैं ।

विश्वामित्र—बच्चे, आयुष्मान् हो । (हाथोंसे रामको पकडकर) (देखकर सादर स्वगत) इस समय यह सूर्यवशी राजागण वसिष्ठोक्त मन्त्रों द्वारा ससारके अभ्युदयका भार

---

१ 'अञ्चल' इति । २ 'वामदेव' इति । ३. 'च निर्वर्ण्य' इति ।

गृहे येषां रामादिभिरपि कलाभिश्चतसृभिः
स्वयं देवो लक्ष्मीस्तनकलशवारीगजपतिः ॥ ५२ ॥

अपि च—

त्वं तास्ताः स्मृतवानृचो दशतयीस्त्वत्प्रीतये यज्वभिः
स्वाहाकारमुपाहितं हविरिह त्रेताग्निराचामति ।
त्वां क्षीरोदजलेशयं [1]क्रतुलिहः पृथ्वीमवातीतर-
न्नुद्वृत्ता दशकंधरप्रभृतयो निग्राहितारस्त्वया ॥ ५३ ॥

साधनीम् धुर राज्यभारं दधति धारयन्ति । येषा सूर्यवश्यानां राज्ञां गृहे सम्प्रति लक्ष्म्या स्तनकलश एव कुचकुम्भ एव वारी गजबन्धनयन्त्रविशेष (तत्र बद्ध) गजपतिर्गजेन्द्रो भगवान् विष्णुर्देवो नारायण रामादिभिश्चतसृभि' कलाभि जात इति शेष । अयमाशय —सूर्यवश्या अमी राजानो वसिष्ठोक्तमन्त्रणासखा सन्तो जगन्मङ्गलसावनी' क्रिया कृतवन्त , सम्प्रत्येषा गृहेषु लक्ष्मीकुचकलशरूपबन्धने बद्ध (तत्रासक्त) भगवान् विष्णु रामादिभिश्चतसृभि कलाभिरवतीर्ण इति भाव । 'वारी तु गजबन्धनी' इत्यमर । लक्ष्म्या स्तनावेव कलशौ तावेव वारीति रूपकगर्भ रूपकम् । दण्डीदं रूपकरूपकनाम्ना व्याजहार—भ्रूलतानर्त्तकीतिवदिद रूपकरूपकम् ॥ ५२ ॥

त्व तास्ता इति । त्वं तास्ता प्रसिद्धा दशतयीनामधेया ऋग्वेदान्तर्वर्त्तिनी' ऋच मन्त्रान् स्मृतवान् स्मृत्वा प्रकाशितवान् । त्वत्प्रीतये त्वदीयसन्तोषाय स्वाहाकारम् स्वाहाशब्दोच्चारणपूर्वकम् उपाहितम् दत्तं हविर्घृतादिहवनीयद्रव्यम् त्रेताग्नि अग्नित्रयी आचामति आस्वादयति । क्रतुलिहो देवा क्षीरोदजलेशय क्षीरसागरशायिनं त्वाम् पृथ्वीम् अवातीतरन् पृथिव्यामवतारयामासु , त्वया च उद्वृत्ता समुद्धता दशकन्धरप्रभृतयो रावणादिका राक्षसा निग्राहितार निगृहीता भविष्यन्ति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५३ ॥

उठाये हुए हैं, जिनके वशमें स्वय लक्ष्मीके स्तनरूप गजबन्धन स्थानके हाथीरूप भगवान् विष्णु रामादिरूप चारों कलाओंसे प्रकट हुए हैं ॥ ५२ ॥

आप स्वय ब्रह्मरूप होनेके कारण दशतयी नामक ऋचाओंको स्मरण करके प्रकाशित किया, आपको प्रसन्न करनेके लिए ऋत्विग्गण स्वाहाकारपूर्वक हवि आगमें डालते हैं आप क्षीर समुद्रमें थे, देवोंने आपको पृथ्वीपर अवतारित किया, अब आप दुराचारी रावणादिका निग्रह करेंगे ॥ ५३ ॥

१. 'क्रतुभुज.' इति ।

वामदेवः—([1]सस्मितम् ।) वत्सौ, अयमत्रभवान्भवन्तौ नेतुमागतः ।

रामलक्ष्मणौ—यदभिरुचितं भवते [2]ताताय च ।

(दशरथस्तौ सस्नेहमादाय 'भगवन्कौशिक' इत्यर्धोक्ते मन्यूत्पीडनिगृह्यमाणकण्ठो वामदेवस्य मुखमीक्षते ।)

वामदेवः—इमौ तौ रामलक्ष्मणौ । (इत्यर्पयति ।)

(विश्वामित्रः सादरं गृह्णाति ।)

(नेपथ्ये [3]शङ्खध्वनिः ।)

(वामदेवो निमित्तमनुमोदमानो दशरथमुल्लासयति ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

वैतालिकः—सुखाय माध्यन्दिनी सन्ध्या भवतु देवस्य । संप्रति हि—किरति मिहिरे विष्वद्रीचः करानतिवामनी

भवन्तौ युवां रामलक्ष्मणौ ।

मन्यूत्पीडनिगृह्यमाणकण्ठः शोकवेगावरुद्धकण्ठः ॥

वैतालिकः वन्दी, 'वैतालिका बोधकरा वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः ।

माध्यन्दिनी मध्याह्नकालिकी । देवस्य भवतो दशरथस्य ॥

किरतानि । मिहिरे सूर्ये विष्वद्रीचः सर्वतः सञ्चरणशीलान् करान् मयूखान् किरति क्षिपति सति जनस्य लोकस्य अतिवामनी अतिखर्वा देहच्छाया स्थल-

---

वामदेव—(हसकर) वत्सो, यह तुम लोगोंको लेने आये हैं ।

राम-लक्ष्मण—आपका तथा पिताजीका जो विचार हो ।

[दशरथ राम-लक्ष्मणको स्नेहपूर्वक पकडकर—'भगवन् कौशिक' इतना कहते ही शोकावेगसे रुद्धकण्ठ होकर वामदेवका मुख देखते हैं]

वामदेव—यही हैं राम-लक्ष्मण । (सौंपते हैं)

(विश्वामित्र सादर स्वीकार करते हैं)

(नेपथ्यमें शङ्खध्वनि)

(वामदेव निमित्त देखकर दशरथको उल्लासित करते हैं, फिर नेपथ्यमें)

वैतालिक—यह मध्यन्दिनकी सन्ध्या आपके सुखके लिये हो । इस समय—

सूर्य चारों तरफ अपनी किरण फैंक रहे हैं, अतिशय छोटी यह जन-जनकी छाया

---

१ क्वचित् 'सस्मितम्' इति नास्ति । २ 'ताताय भवते च' इति ।

३. 'शङ्खध्वनिर्मङ्गलगीतिश्च' इति ।

स्थलकमठवद्देहच्छाया जनस्य विचेष्टते ।
गजपतिमुखोद्गीर्णैराप्यैरपि त्रसरेणुभिः
शिशिरमधुरामेणाः कच्छस्थलीमधिशेरते ॥ ५४ ॥

अपि चेदानीं पटीरतरुकोटरकुटीर[1]मध्यासीनाः—

प्रत्यक्षरस्नुतसुधारसनिर्विषाभि-
राशीर्भिरभ्यधिकभूषितभोगभाजः ।
गायन्ति कञ्चुकविनिह्नुतलोमहर्ष-
स्वेदोर्मयस्तव गुणानुरगेन्द्रकन्याः ॥ ५५ ॥

कमठवद् भूमिस्थितकूर्मवत् विचेष्टते प्रतीयते । मध्याह्ने सूर्यकरेषु सर्वत प्रसृमरेषु च्छायाऽतिलघ्वी सती स्थलकमठवत् प्रतिभासत इत्यर्थ । एणा हरिणा गजपति-मुखोद्गीर्णै करिशुण्डादण्डाभिसृष्टै आप्यै जलीयैरपि त्रसरेणुभि सूक्ष्मकणै शिशिरां मधुरां मनोहारिणी च कच्छस्थलीं जलप्राया भूमिमधिशेरते आश्रित्य स्वपन्ति । हरिणीवृत्तम्—'नसमरसलाग षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥५४॥

पटीरतरु चन्दनवृक्ष., तस्य कोटर गह्वरमेव कुटीरं स्वल्पगृहं तद् अध्यासीना आश्रिता, चन्दनतरुकोटरगृहे वसन्त्य उरगकन्या इति विशेष्यमध्याहर्त्तव्य भवति । 'पटीरश्चन्दनतरौ' इति मेदिनी ॥

प्रत्यक्षरेति । प्रत्यक्षर त्वद्गुणगानस्य अक्षरेऽक्षरे स्नुत क्षरितो य सुधारस अमृतद्रव तेन निर्विषाभि विषशून्याभि आशीर्भि दंष्ट्राभि अभ्यधिकम् भूयसा भूषितम् अलङ्कृतम् भोगम् फणादेश भजन्ति ता तथोक्ता प्रत्यक्षरस्नुतामृत-निर्विषीभूतदंष्ट्राभूषितफणादेशशालिन्य इत्याद्यपादद्वयलभ्यं विशेषणम् । किञ्च कञ्चुकै निर्मोकै विनिह्नुता गोपिता लोमहर्षा गानरसास्वादजन्यरोमाञ्चा स्वेदोर्मय गानश्रमजन्मान घर्मनिचया यासा तास्तथोक्ताश्च उरगेन्द्रकन्या

स्थल-कमठकी तरह लगती है, गजपतियोंके मुखसे निर्गत जलबिन्दुओंसे शीतल तथा सुखद जलसमीपस्थ देशमें रहे हरिणगण सो रहे हैं ॥ ५४ ॥

और इस समय चन्दन तरुके कोटरमें स्थित—

प्रत्यक्षरमें निकलनेवाले सुधारससे निर्विष स्वदंष्ट्राओंसे अपने भोग–मण्डलको भूषित करनेवाली नागकन्यायें आपके गुणोंको गा रही हैं, उनके रोमाञ्च तथा स्वेद–प्रवृत्ति उनके कञ्चुकमें गुप्त हैं ॥ ५५ ॥

१. 'मध्यमध्यासीना.' इति ।

विश्वामित्रः—सखे दशरथ, प्रियमपि तथ्यमाह वैतालिकः ।

मन्दोद्धूतैः शिरोभिर्मणिभरगुरुभिः प्रौढरोमाञ्चदण्ड-
स्फायन्निर्मोकसंधिप्रसरदविगलत्संमदस्वेदपूराः ।
जिह्वायुग्माभिपूर्णाननविषमसमुद्गीर्णवर्णाभिराम
वेलाशैलाङ्कभाजो भुजगयुवतयस्त्वद्गुणानुद्गृणन्ति ॥ ५६ ॥

([1]सविनयविलक्षस्मित च ।) राजर्षे, प्रत्यासीदति दीक्षाप्रवेशसमयः ।

भुजङ्गकुमार्यं तव दशरथस्य गुणान् शौर्यौदार्यादीन् धर्मान् गायन्ति 'आशीरुरगदंष्ट्रायाम्' इत्यमर । 'भोग सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययो' इति च । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

मन्दोद्धूतैरिति । वेला समुद्रतीरम् तत्र य शैल पर्वत तस्य अङ्कभाज उत्सङ्गवर्त्तिन्य भुजगयुवतय नागललना मणिभरेण शिरोरत्नभारेण गुरुभि दुर्वहै शिरोभि (उपलक्षिता) प्रौढ दीर्घ यो रोमाञ्च रोमहर्ष स एव दण्ड तेन स्फायन् स्फीततामाप्नुवन् य निर्मोक सर्पकञ्चुक तस्य ग्रन्थे बन्धनदेशात् प्रसरन् विस्तार गच्छन् अविगलन् अच्यवमानश्च सम्मद हर्ष स्वेदपूर. गानश्रमजनितस्वेदभरश्च यासां तथाभूता., जिह्वायुग्मेन रसनाद्वितयेन अभिपूर्णं भृत यदानन मुख तेन विषम विपर्यस्तवर्णं यथा स्यात्तथा उद्गीर्णैं उच्चारितैं वर्णैं अभिराम मनोज्ञ यथा स्यात्तथा तव गुणान् उद्गृणन्ति गायन्ति । समुद्रतटस्थपर्वताङ्कवर्त्तिन्यो मणिभरनमन्मूर्धानश्च नागयुवतय प्रकटरोमाञ्चदण्डव्यत्यस्तनिर्मोकसन्धिबन्धनतया पुञ्जीभूतानन्दस्वेदा सत्यो मुखानां जिह्वाद्वयशालितया विषमसमुच्चार्यमाणवर्णं यथा स्यात्तथा तव गुणान्गायन्तीति भाव । 'वेला तत्तीरनीरयो', 'प्रमोदामोदसम्मदा' इत्युभयत्रामर । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५६ ॥

प्रत्यासीदति समीपमुपैति । दीक्षाप्रवेशसमय यागसङ्कल्पसमय ।

विश्वामित्र—प्रिय मित्र दशरथ, प्रिय होनेपर भा इस वैतालिककी उक्तिमें सत्य है ।

बेला शैलके अङ्कमें वर्त्तमान नागललनायें तुम्हारे गुण गाती हैं, उनके सिर मन्द-मन्द डोल रहे हैं, जिनपर मणिगणका भार विद्यमान है, अधिक रोमाञ्च होनेसे उनके केंचुलमें छिद्र हो आये है और उन्हीं मार्गो से उनके स्वेद प्रवाहित हो रहे हैं, दो जिह्वायें होनेके कारण पूर्ण मुखसे आवाज विषम भावसे निकल रही है जो बडी सुन्दर लगती है ॥ ५६ ॥

(नम्रता तथा लज्जाके साथ) यज्ञदीक्षा लेनेका समय निकट आ रहा है, अत इस

---

१ 'दशरथ —(सविनयविलक्षस्मितम् ।), विश्वामित्र —'राजर्षे' इति ।

तदेवविधमधुरगोष्ठीभङ्गनिष्ठुराणा प्रथमे [1]तावद्वयमेव भवितुमिच्छाम' ।

(दशरथो रामलक्ष्मणाववलोक्य बाष्पभरो[2]त्तरङ्गितलोचनो मुनि प्रति 'भगवन्' इत्यर्धोक्ते वाच स्तम्भ नाटयति ।)

वामदेवः—(ससम्भ्रमम् ।) भगवन्कौशिक, साधय । शिवा सन्तु पन्थानो वत्सयो रामलक्ष्मणयो' ।

(इत्युत्थाय सर्वे यथोचितमाचरन्ति ।)

विश्वामित्रः—एवमास्यता भवद्भि । (इति राजपुत्राभ्यामनुगम्यमानो निष्क्रान्त ।)

दशरथ—(दीर्घमुष्ण च नि श्वस्य ।) वामदेव, नूनमिदानीमस्मानिव भगवन्तमपि कौशिकमकारणवत्सलं वत्सो मे रामभद्र. ।

तदेवविधमधुरगोष्ठीभङ्गनिष्ठुराणाम् एतादृशरोचककथागोष्ठीविघटकानाम् । प्रथमे आद्या । यज्ञकालातिपातभयादिमा सभा प्रथममहमेव हातुमिच्छामीति क्षमन्ता मा भवन्त इति भाव ।

साधय गच्छ, 'साधयेति च गत्यर्थे ' इति भरत । शिवा कल्याणपूर्णा ।

अकारणवत्सलम् निरुपाधिप्रेमशालिनम् । दु खाकरिष्यतीत्यादि वक्ष्यमाणक्रियापेक्ष कर्मत्वम् ।

मधुर गोष्ठीको तोडकर कठोर बनने वालों मे ही प्रथम बनना चाहता हूँ ।

(राम-लक्ष्मणको ओर देखकर दशरथकी आँखें सजल हो आती हैं, मुनिके प्रति— 'भगवन्' इतना कहते ही उनकी आवाज रुक जाती है)

वामदेव—(घबडाकर) भगवन् कौशिक, आप जाइये, राम-लक्ष्मणके मार्ग मङ्गलमय हों,

(उठकर सभी यथोचित आचार करते हैं)

विश्वामित्र—आप विराजें । (राजपुत्रोंके साथ जाते हैं)

दशरथ—(लम्बी तथा उष्ण सांस लेकर) निश्चय हमारी ही तरह सहजस्नेही विश्वामित्रको भी रामभद्र—

---

१. तावद्भवितुम्' इति ।　　२. 'उत्तम्भितलोचन.' इति ।

क्वचिदस्मद्वियोगार्तिदुःखी दुःखाकरिष्यति ।
अपूर्वविषयालोकसुखी च सुखयिष्यति ॥ ५७ ॥

वामदेवः—(विहस्य ।) राजर्षे, वय वा कौशिको वेति क पुनरेष कक्षाविभागो रामभद्रमाधुर्यस्य । पश्य ।

यदिन्दोरन्वेति व्यसनमुदयं वा निधिरपा-
मुपाधिस्तत्रायं जयति जनिकर्तुः प्रकृतिता ।

क्वचिदिति । अस्मद्वियोगार्त्तिदु खी अस्मद्वियोगपीडया खिन्न सन् वत्सो राम· विश्वामित्रमपि दु खाकरिष्यति खेदयिष्यति, अपूर्वस्य अदृष्टपूर्वस्य विषयस्य तपोवनादेर्देशस्य आलोकेन दर्शनेन सुखी प्रसन्नश्च सुखयिष्यति आनन्दयिष्यति । यथा वय रामस्य दु खेन दु खिन तदीयसुखेन सुखिनश्च भवामस्तथैव सम्प्रति विश्वामित्रोऽपि भविष्यति तस्यापि रामेऽकारणवत्सलत्वादिति भाव ॥ ५७ ॥

कक्षाविभाग· आश्रयविवेक , रामभद्रमाधुर्यस्य रामसौशील्यस्य । रामस्य स्वभावगतं माधुर्यं सर्वस्मिन् समानमिति भाव ।

यदिन्दोरिति । अपा निधि समुद्र यत् इन्दो शशिन व्यसनम् विपद् कलाक्षयम् उदय कलासमग्रत्व वा अन्वेति अनुगच्छति, तत्र तदनुगमे अयम् उपाधि कारण जनिकर्त्तु जनकस्य प्रकृतिता स्वभाव· । शशिनि क्षीणे सागर क्षीयते वर्धमाने च वर्धते, तत्र सागरस्य जनकस्य स्वभाव एव पुत्रसुखदु खानुगमने व्यवस्थापकत्व भजत इति भाव । सम्भवति शक्यमिद यज्जनक सागर स्वभावेन पुत्रस्य चन्द्रस्य व्यसनोदयावनुगच्छतीति, परन्तु अथ क सम्बन्ध अत्र कीदृशो जन्यजनकभावादिरूप सम्बन्धो यत्तस्य चन्द्रस्य (व्यसनोदयौ) कुमुदम् अनुहरते अनुसरति ? समुद्रेण चन्द्रव्यसनोदययोरनुहरणे जन्यजनकभाव उपाधिरास्ता नाम, परन्तु कुमुदेन चन्द्रव्यसनोदययोरनुहरणे कोऽपि

कभी हमारे वियोगके दु खसे दुखी होकर दुखी बनावेगा, और कभी नये स्थानो के देखनेसे प्रसन्न होकर सुखी बनावेगा ॥ ५७ ॥

वामदेव—(हसकर राजर्षे, हम या विश्वामित्र यह श्रेणी विभाग तो रामभद्रकी मधुरतामें है ही नहीं । देखिये—

समुद्र जो चन्द्रमाके उदयमें उदय और व्यसनमें व्यसन प्राप्त करता है इसका तो कारण स्पष्ट है कि वह चन्द्रमाका जनक है और जनकका यही स्वभाव होता है, परन्तु

अयं कः सम्बन्धो यदनुहरते तस्य कुमुदं
विशुद्धाः शुद्धानां ध्रुवमनभिसन्धिप्रणयिनः ॥ ५८ ॥

दशरथः—([1]विमृश्य ।) एवमेतत् ।

रत्नाकरो जनयिता सहजश्च वर्गः
किं कथ्यताममृतकौस्तुभपारिजाताः ।
कि तैरचिन्त्यमिह तत्पुनरन्यदेव
तत्त्वान्तरं कुमुदबन्धुरसौ यदिन्दुः ॥ ५९ ॥

नास्ति तादृश उपाधिरिति मन्ये—विशुद्धा निर्मलस्वभावा. शुद्धानां निर्मलप्रकृतीना जनानाम् अनभिसन्धिप्रणयिन. अकारणस्नेहिनो भवन्तीति शेष । अतश्च रामस्य विश्वामित्रे स्नेहो नासमवीति भाव उत्प्रेक्षाऽलकार । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५८ ॥

रत्नाकर इति । जनयिता उत्पादको रत्नाकर सागर, सहजश्च सोदरश्च वर्ग समानोदरजातगणाश्च अमृतकौस्तुभपारिजाता कि कथ्यताम् तद्विषये किमुच्यताम्, पितरि सागरे सोदरेष्वमृतकौस्तुभपारिजातेषु वा चन्द्रस्य तादृशोऽनुरागो नास्ति यादृश कुमुदेऽस्ति, तदाह–किन्तैरिति । तत् प्रेमबीजमिह जगति अचिन्त्यम् अविभाव्यकारणकमेव भवति तद्धि तत्त्वान्तर किमप्यन्यदेव जन्यजनकभावसमानगर्भजातत्वादिभ्य, अतएव इन्दुरसौ कुमुदबन्धुरिति कथ्यते, कुमुदस्य चन्द्रेण कोऽपि सम्बन्धो नास्ति, तथाप्यसौ तत्रानुरक्ततम इति प्रेमबीजमनिर्धार्यस्वरूपमिति भाव वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५९ ॥

चन्द्रमाका अनुसरण कुमुद करता है इसमें कौनमा सम्बन्ध है । अत स्पष्ट है कि विशुद्ध विशुद्धके साथ विना किसी कारण ही प्रेम करते है ॥ ५८ ॥

दशरथ—(विचारकर) यह ठीक है—

सागर पिता हैं और अमृत, कौस्तुभ और पारिजात सोदर हैं इनके सम्बन्धमें क्या कहना है । उनके सम्बन्धमें कुछ भी अचिन्त्य है परन्तु चन्द्रमाके लिये कुमुद कुछ अद्भुत तत्त्व है, जिससे वह कुमुद बन्धुही पुकारा जाता है अमृतबन्धु या कौस्तुभबन्धु नहीं ॥ ५९ ॥

---

१. 'विमृश्य' इति क्वचिन्नास्ति ।

([1]पुनरवलोक्य।) कथ लोचनपथमतिक्रान्तः सरामलक्ष्मणो भगवान्। तद्वयमपि वत्सप्रवासदुर्मनायमाना दक्षिणकोसलेश्वरसुता देवीमुपेत्य सान्त्वयाम ।

(इति निष्क्रान्ता सर्वे ।)

इति मुनीन्द्रसवादो नाम प्रथमोऽङ्क ।



लोचनपथमतिक्रान्त दृष्टिवर्त्मबहिर्गत । वत्सप्रवासदुर्मनायमानाम् रामलक्ष्मणयो प्रवासेन खिद्यमानाम् । दक्षिणकोसलेश्वरसुताम् कौसल्याम् ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते

अनर्घराघव'प्रकाशे'

प्रथमाङ्क 'प्रकाश' ॥



(फिर देखकर) राम–लक्ष्मणके साथ विश्वामित्र आँखोंसे ओझल हो गये । अत हम भी बच्चेके प्रवाससे खिद्यमानहृदया कौमल्याके पास जाकर उसे सान्त्वना प्रदान करते हैं ।

[सबका प्रस्थान]

प्रथम अङ्क समाप्त ॥



---

१. 'पुरोऽवलोक्य' इति ।

द्वितीयोऽङ्कः

(तत प्रविशति यजमानशिष्य ।)

शिष्यः—अये, प्रभातप्रायैव रजनी । तथा हि ।

तमोभि पीयन्ते गतवयसि पीयूषवपुषि
ज्वलिष्यन्मार्तण्डोपलपटलधूमैरिव दिशः ।
सरोजानां कर्षन्नलिमयमयस्कान्तमणिवत्
क्षणादन्त शल्यं तपति पतिरद्यापि न रुचाम् ॥ १ ॥

यजमानशिष्य सोमयागदीक्षितस्य गुरोर्विश्वामित्रस्य शिष्य शुन शेप । प्रभातप्राया प्रभातकल्पा, तत्र हेतुमाह—

नमोभिरिति । पीयूषवपुषि अमृतमयपिण्डे चन्द्रे गतवयसि क्षीणायुषि अस्तगते सति ज्वलिष्यत सूर्यकिरणसयोगेन तेज प्रकटयिष्यत मार्त्तण्डोपलपटलस्य सूर्यकान्तमणिसमुदयस्य धूमै इव तमोभि अन्धकारै दिश पीयन्ते आच्छादिता क्रियन्ते, अद्यापि सम्प्रत्यपि रुचापति सूर्य अयस्कान्तमणिवत् अलिमय भ्रमररूपम् सरोजानाम् कमलानाम् अन्त शल्य हृदयगत लौहनिर्मितास्त्रविशेषम् कर्षन् बहिर्नयन् न तपति न दीप्यते । अयमाशय—चन्द्रेऽस्तगते धूमपटली दिश आवृणोति मन्ये सूर्यकान्तमणीनामनतिचिरकालेन सूर्यतेजसा प्रज्वलिष्यतां धूमस्तोम इव प्रकटति, कस्यापि वह्नेर्ज्वलिष्यत पूर्वं धूमस्तोम उद्गच्छति किञ्चास्तङ्गतेऽपि विधौ सूर्यो नोदितो, यस्मिन्नुदिते सति विकसत्सु कमलेषु तदन्तर्गता बद्धा अलयो वारिजान्त शल्यानीव रविरूपायस्कान्तेनाकृष्यमाणानि प्रतीयन्ते, अयस्कान्तमणिसन्निधाने सत्यन्तर्गतमप्यय शल्यं बहिरेति, तत एवेयमुत्प्रेक्षा । अत्र धूमेषु ज्वलिष्यन्मार्त्तण्डोपलपटलधूमत्वम्, सूर्ये चायस्कान्तमणि-

---

[यजमान विश्वामित्र के शिष्यका प्रवेश]

शिष्य—अरे, रात्रि समाप्त-प्राय हो गई । क्योंकि

चन्द्रमाके क्षीण हो जानेके कारण ज्वलित होनेवाले सूर्यकान्त मणिके धूमकी तरह प्रतीत होनेवाले अन्धकारोंसे दिशायें घिरती जा रही हैं, अयस्कान्तमणिवत् कमलोंके अन्दर छिपे भ्रमररूप अन्त शल्यको बाहर खींचनेवाले प्रभानाथका अभी उदय नहीं हो रहा है ॥ १ ॥

अपि च—

जाता पक्वपलाण्डुपाण्डुमधुरच्छायाकिरस्तारकाः
प्राचीमङ्कुरयन्ति किंचन रुचो राजीवजीवातवः ।
लूतातन्तुवितानवर्तुलमितो बिम्बं दधच्चुम्बति
प्रातः प्रोषितरोचिरम्बरतलादस्ताचलं चन्द्रमाः ॥ २ ॥

(सर्वतोऽवलोक्य च ।)

दिङ्मण्डलीमुकुटमण्डनपद्मराग-
रत्नाङ्कुरे किरणमालिनि गर्भितेऽपि ।

त्वोत्प्रेक्षया च कमलान्तर्गतभ्रमरराशावय शल्यत्वम् , तद्बहिर्गमे च तत्कृत कर्षण-मुत्प्रेक्ष्यमाण बोध्यम् । शिखरिणीवृत्तम्—'रसैरीशैश्छिन्ना यमनसभलाग शिख-रिणी' इति च तल्लक्षणम् ॥ १ ॥

जाता इति । पक्व परिणतो य पलाण्डु 'पेयाज' पदख्यातो मूलविशेषस्त-द्वन्मधुरा पाण्डुश्च च्छाया यासा तास्तथोक्ता जाता पलाण्डुपाण्डुमधराकृतयो जातास्तारका नक्षत्राणि प्राचीम् पूर्वदिशम् अङ्कुरयन्ति ईषत् प्रकाशयन्ति, किञ्च राजीवजीवातव कमलजीवनौषधिभूता· रुच अरुणकिरणा प्राचीम् न अङ्कुरयन्ति प्रकाशयन्ति, चन्द्रेऽस्तगते क्षीणप्रभतया पलाण्डुवद् भासमानानि नक्षत्राणि पूर्वस्या दिशि स्वल्पं प्रकाश विस्तारयन्ति, सम्प्रति कमलविकासकारणीभूता अरुणरुचयो न प्राचीमुद्द्योतयन्तीति प्रथमपादद्वयस्यार्थ । इतश्च पश्चिमदिग्विभागे लूतातन्तु-वितानवर्त्तुलम् कीटभेदसम्बन्धिसूत्रविस्तारसमानाकारम् बिम्ब मण्डल दधत् धारयन् प्रात प्रोषितरोचि· प्रात काले गतप्रभश्चन्द्र अम्बरतलात् आकाशमण्डलात् अस्ताचलम् चुम्बति स्पृशति । प्रभाते कलुषीभूतकान्तिरय चन्द्रमा लूतातन्तु-वितानवत् प्रतीयमानोऽस्ताचलमुपसर्पतीति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २ ॥

दिङ्मण्डलीति । दिङ्मण्डली दिक्समुदायस्तस्य मुकुट प्रधानम् प्राची दिशा तस्य मण्डनम् भूषण यत् पद्मरागरत्नम् सूर्यबिम्बरूपम् तदङ्कुरे प्राचीदिगलङ्काररूपे

तारे पके हुए प्याजकी तरह पीताभ मधुर कान्तिवाले हो गये और कमलोंको जीवित करनेवाली कान्तियाँ प्राची दिशामें अङ्कुरित हो रही हैं। मकडेकी जालके समान गोल बिम्बको धारण करनेवाला चन्द्रनिस्तेज होकर प्रात कालमें अस्ताचलको छू रहा है ॥ २ ॥

(चारो ओर देखकर) दिशाओंके मुकुटमें शोभा पानेवाले पद्मरागके सदृश भगवान्

सौखप्रसुतिकमधुव्रतचक्रवाल-
वाचालपङ्कजवनीसरसा सरस्य ॥ ३ ॥

अपि च—

प्राचीविभ्रमकर्णिकाकमलिनीसंवर्तिका संप्रति
द्वे तिस्रो रमणीयमम्बरमणेर्द्यामुच्चरन्ते रुच ।
सूक्ष्मोच्छ्वासमपीदमुत्सुकतया संभूय कोषाद्बहि-
र्निष्क्रामद्भ्रमरौघसंभ्रमभरादम्भोजमुज्जृम्भते ॥ ४ ॥

किरणमालिनि सूर्ये गर्भिते आकाशगर्भस्थिते अनुदिते अपि सौखप्रसुप्तिका सुख-शयनप्रश्नकर्त्तार ये मधुव्रता भ्रमरा तेषा चक्रवालेन मण्डलेन वाचाला सशब्दा या पङ्कजवनी कमलाकरस्तया सरसा रमणीया सरस्य सरासि जाता इत्यव-गन्तव्यम् । प्राचीदिगलङ्काररूपे सूर्येऽनुदितेऽपि कमलाना सुखशयनप्रश्नपरायणै शब्दायमानैर्भ्रमरैर्वाचालाभि पद्मवनीभि सरासि मनोहरता प्रपद्यन्त इत्यर्थ । रूपकमलङ्कार । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ३ ॥

प्राचीति । सम्प्रति प्राच्या पूर्वदिशानायिकाया विभ्रमकर्णिका विलासार्थ-कर्णाभरणभूता कमलिनीसंवर्त्तिका पद्मिनीनवदलानि (तत्स्वरूपा) अम्बर-मणे सूर्यस्य द्वे तिस्रो रुच प्रभा द्यामुच्चरन्ते आकाशे उद्गच्छन्ति सूर्यस्य द्वित्रा प्रभा वियति प्रकाशन्ते या प्राचीदिङ्नायिकाया कर्णाभरणीभूतकमलिनीपत्राणीव प्रतीयन्त इत्यर्थ । सूक्ष्मोच्छ्वासम् अल्पकिरणसपर्कात् स्वल्पप्रकाशमपि इदम् अम्भोजम् पद्मम् उत्सुकतया उत्कण्ठया सभूय मिलित्वा कोषात् कुड्मलाद् बहि-र्निष्क्रामत निर्यत भ्रमरौघस्य संभ्रमभरात् आवेगातिशयात् उज्जृम्भते साति-शय विकसति । सूर्यप्रकाशस्याल्पतया स्वल्पविकाशमपि कमल त्वरया बहिर्गच्छता भ्रमराणा सभ्रमेण सातिशयं विकसतीत्यर्थ । 'कर्णिका कर्णभूषणे' इत्यमर । 'संवर्त्तिका नवदलम्' इति च । 'सभ्रम साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि' इति हारावली । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

सूर्यके गर्भित हो जानेपर भी सुखशयनकी जिज्ञासा करनेवाले भ्रमरसे सरोवरके पङ्कजवन वाचाल हो रहे हैं ॥ ३ ॥

प्राची दिशाके विलासार्थ कर्णाभरणके नवदलतुल्य सूर्यकी दो-तीन किरणें आकाशमें विचर रही हैं, थोडा-थोडा खिलनेवाले यह कमल उत्सुकतावश कोषसे बाहर निकलने वाले भ्रमरोंके सभ्रमसे खिल रहे है ॥ ४ ॥

अपि च—

एकद्विप्रभृतिक्रमेण गणनामेषामिवास्तं यतां
कुर्वाणा समकोचयद्दशशतान्यम्भोजसंवर्तिकाः ।
भूयोऽपि क्रमशः प्रसारयति ताः संप्रत्यमूनुद्यतः
संख्यातुं सकुतूहलेव नलिनी भानोः सहस्रं करान् ॥ ५ ॥

अपि च—

प्रत्यासन्नसुरेन्द्रसिन्धुरशिरः सिन्दूरसान्द्रारुणा
यत्तेजस्त्रसरेणवो वियदितः प्राचीन[1]मातन्वते ।

एकद्विप्रभृतीति । अस्तयताम् अस्तगच्छताम् एषां भानुकिरणानाम् एकद्विप्रभृतिक्रमेण एकोऽयमस्तंगतो द्वितीयोऽयमयं तृतीय इति क्रमेण गणना सख्यानमिव कुर्वाणा इय कमलिनी दशशतानि तावत्संख्या अम्भोजसंवर्त्तिका पद्मनवदलानि समकोचयत् संकोचितवती, भूय पुनरपि ता दशशतानि संवर्त्तिका उद्यत. उद्गच्छत भानो सहस्र करान् कौतुकेनेव सख्यातु गणयितु क्रमश. प्रसारयति । सायंकाले कमलस्य पत्राणि निमीलन्ति मन्ये—कमलिनी सहस्र स्वदलानि एकैकशोऽस्तगच्छतां रविकराणा गणनामिव कुर्वती समकोचयत्, प्रात काले च तानि विकसिन्ति तन्मन्ये पुनरुद्यतस्तत्सख्यकान् भानुकरान् गणयतीवेति सकोचविकासकाले पत्रसख्यया रविकरगणनोत्प्रेक्ष्यते । यतामिति इण शतरि रूपम् । यद्यपि दशशतशब्द नपुसकलिङ्गस्तथापि सवर्त्तिकाशब्देन स्त्रीलिङ्गेनान्वयो विशेषणतया जायत एव, 'विशत्याद्या सदैकत्वे सर्वा सख्येयसख्ययो' इत्युक्ते, विशेष्यविशेषणभावश्चार्थयोरिति लिङ्गविशेषोपस्थाप्यतताया अतन्त्रत्वाच्च । सहस्र करानित्यत्र करगत बहुत्व सहस्रगत चैकत्व विवक्षितमिति भिन्नवचनत्वेऽपि सामानाधिकरण्यम् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् । उत्प्रेक्षाऽलङ्कार स्फुट ॥ ५ ॥

प्रत्यासन्नेति । प्रत्यासन्न पूर्वदिगधीशतया समीपस्थितो य सुरेन्द्रो देवराज स्तस्य सिन्धुरो गज ऐरावतस्तस्य शिर सिन्दूरेण मस्तकलिप्तसिन्दूरेण सान्द्रारुणा सातिशयरक्ता यत्तेजस्त्रसरेणव. यस्य तेजस अणुपरमाणुविशेषा इत.

नलिनीने एक दो करके अस्त होनेवाली सूर्य-किरणोंको गिनती हुई अपने सहस्रसख्यक पत्रोंको समेट लिया था, अब फिर क्रमश उदित होनेवाली सूर्यकिरणोंको गिनती हुई वही नलिनी अपने दलोंको प्रसारित करती जा रही है ॥ ५ ॥

समीपस्थित इन्द्रगज ऐरावतके शिर सिन्दूरसे सान्द्र रक्तवर्ण जो तेज कण प्राची

---

[1] 'आचिन्वते' इति ।

शङ्के संप्रति यावदभ्युदयते तत्तर्कुटङ्कोन्मृजा-
रज्यद्बिम्बरजश्छटावलयितो देवस्त्विषामीश्वरः ॥ ६ ॥

(पुरोऽवलोक्य ।) कथमिदमुदयाचलमौलिमाणिक्यमर्कमण्डलमद्यापि न वि[1]हायस्तलमलंकरोति । तदस्मद्गुरोर्वितायमानयज्ञस्य कुलपतेः कौशिकस्यादेशात्समिदाहरणाय प्रस्थितोऽस्मि । [2]तत्त्वरितं गच्छामि । (इति परिक्रामति ।)

(प्रविश्य सम्भ्रान्तो बटुः ।)

बटुः—अज्ज सुणस्सेह, किं वि अच्चरिअं भीसणं च वट्टदि । [आर्य शुनःशेप, किमप्याश्चर्यं भीषणं च वर्तते ।]

शुनःशेपः—(सचमत्कारं परिवृत्य ।) सखे पशुमेढ्र, किमाश्चर्यं भीषणं च वर्तते ।

प्राचीनं वियत् पूर्वाकाशम् आतन्वते व्याप्नुवन्ति, यस्य सूर्यस्य तेजःपरमाणवो निकटस्थैरावतसिन्दूररक्ता इव प्राच्यां प्रसरन्तीत्याद्यपादद्वयार्थः, तत् शङ्के सभावयामि, तर्कुः विश्वकर्मणो गोलाकारो यन्त्रभेदस्तत्र यष्टङ्कः पाषाणदारणसाधनास्त्रविशेषस्तेन या उन्मृजा शुद्धिः संस्कारः ततो रज्यत् रक्तीभवत् यत् बिम्बं मण्डलं तस्य रजसाम् रेणूनाम् छटाभिः समूहैर्वलयितो वेष्टितः देवस्त्विषामीश्वरः प्रभानाथः सूर्यः सम्प्रति यावदभ्युदयते त्वरितमुदयमवाप्स्यति । आकाशस्य रक्ताभतया सूर्योदयः सन्निहिततयोत्प्रेक्ष्यते । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यति लट् । 'टङ्को नीलकपित्थे च खनित्रे टङ्कणे स्त्रियाम्' इति मेदिनी । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥६॥

उदयाचलमौलिमाणिक्यम् उदयाचलशिरोभूषणम् । अर्कमण्डलम् सूर्य-

दिशाके आकाशमें फैलते जा रहे हैं वह ऐसा लगता है—विश्वकर्माकी खरादपर चढाकर खरादे गये—अतएव तेजःपुञ्जसे वेष्टित भगवान् सूर्य उदय प्राप्त कर रहे हों ॥ ६ ॥

(आगेकी ओर देखकर) क्यों उदयाचलके मस्तकके अलङ्कारस्वरूप सूर्यमण्डल अभी भी नहीं आकाशमें आ रहा है ? यज्ञमें संलग्न स्वगुरु कौशिकके आदेशानुसार मैं समिधा लाने चला हूं, इसलिये शीघ्र जाता हूं । (जाता है)

(घबडाये हुए वटुका प्रवेश)

वटु—आर्य शुनःशेप, कुछ अद्भुत तथा भीषण बात हुई है ।

शुनःशेप—(अकचकाया हुआ लौटकर) सखे पशुमेढ्र, क्या अद्भुत तथा भीषण हुआ है ?

---

१ 'नभःस्थलम्' इति । २ 'त्वरितम्' इति ।

पशुमेढ्रः—अज्ज रामो त्ति को वि खत्तिअकुमारो आअदो त्ति सुणिअ कोदूहलेन धावन्तस्स [1]तवोवणपेरन्तपरिट्ठिदा पत्थरपुत्तलिआ सच्चमाणुसीभविअ मम ज्जेव्व समुहं परावडिदा। तं पेक्खिअ उत्तरासङ्गवक्कलं वि उज्झिअ पलायिदो म्हि। ['अथ राम इति कोऽपि क्षत्रियकुमार आगत इति श्रुत्वा कुतूहलेन धावतस्तपोवनपर्यन्तपरिस्थिता प्रस्तरपुत्रिका सत्यमानुषीभूय ममैव समुखं परापतिता। तां प्रेक्ष्य उत्तरासङ्गवल्कलमप्युज्झित्वा पलायितोऽस्मि'।]

शुनःशेपः—(विहस्य।) सखे, साधु कृतम्। दिष्ट्या हि जीवतः पुनरावृत्तिः।

पशुमेढ्रः—ता रक्खदु मं अज्जो इमाए दुट्ठरक्खसीए मुहादो। (इति वेपमानः पादयोः पतति।) ['तद्रक्षतु मामार्य एतस्या दुष्टराक्षस्या मुखात्'।]

शुनःशेपः—(सस्मितमुत्थाप्यालिङ्ग्य च।) [2]वयस्य, शृणोषि भगवतो गोतमस्य महर्षेरहल्या नाम धर्मदारान्।

बिम्बम्। विहायस्तलम् आकाशम् वितायमानयज्ञस्य प्रारब्धयागक्रियस्य। कौशिकस्य विश्वामित्रस्य। समिदाहरणाय काष्ठान्याहर्त्तुम्, त्वरितम् शीघ्रम्।

तपोवनपर्यन्तपरिस्थिता तपोवनोपकण्ठवर्त्तिनी। प्रस्तरपुत्रिका प्रस्तरमयी स्त्रीमूर्त्तिः। सत्यमानुषीभूय—वास्तवमनुष्यरूपं प्रपद्य। उत्तरासङ्गवल्कलम् उत्तरीयरूपं वल्कलम्। उज्झित्वा विहाय।

पशुमेढ्र—आज रामनामक कोई क्षत्रियकुमार आया है—ऐसा सुनकर मैं उत्सुकतावश दौड़ा हुआ उसे देखने गया, जाते ही तपोवनकी सीमापर वर्त्तमान पत्थरकी शिला सचमुच औरत बनकर मेरे सामने आ खड़ी हुई। उसे देखकर मैं उत्तरीय-वल्कल छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

शुनःशेप—(हँसकर) अरे मित्र, तुमने बहुत भला किया। भाग्यवश तुम जीते लौट आये।

पशुमेढ्र—अब आप मुझे उस दुष्टराक्षसीके मुखसे बचावें। (डरसे काँपता हुआ चरणोंपर गिरता है)

शुनःशेप—(हँसते हुए उठाकर गले लगाकर) मित्र, गौतमकी स्त्री अहल्याके विषयमें तुमने सुना होगा।

---

१. 'गोदमतवोवण' इति। २ 'वत्स, शृणोषि', 'वयस्य, न भेतव्यम्। शृणोषि' इति।

पशुमेढ्ः—जा जणअवंसपुरोहिदस्स तत्थभवदो सदाणन्दस्स जणणी। [1]तदो तदो। ['या जनकवशपुरोहितस्य तत्रभवत शतानन्दस्य जननी। 'ततस्तत '।]

शुनःशेप —सेयं पुरा पुरुहूतखण्डितचरित्रा तस्य दीर्घतपसो मुनेर्मन्युना निजमेव तदिन्द्रियदौर्बल्यमेव विवर्तमानमनुभवन्ती सम्प्रत्यस्य रघुराजपुत्रस्य तेजसा तस्मादन्धकारान्निरमुच्यत। तदलमावेगेन।

पशुमेढ्ः—(उन्मील्य चक्षुषी सर्वतोऽवलोक्य।) अहो अच्चरिअं। अज्जस्य पसादेण पुणोवि जीअलोए पविट्ठो म्हि। तह वि सङ्कज्जरो अज्ज वि ण मं परिच्चअदि। ता अज्ज सुणस्सेह, मुहुत्तअ विसमीअदु। ['अहो आश्चर्यम्। आर्यस्य प्रसादेन पुनरपि जीवलोके प्रविष्टोऽस्मि। तथापि शङ्काज्वरोऽद्यापि न मा परित्यजति। तदार्य शुन शेप, मुहूर्तं विश्रम्यताम्'।]

शुनःशेप.—सखे, भयमिति किमेतद् ब्राह्मणस्य। तत्पर्यवस्था[2]पयात्मानम्।

पुरुहूतखण्डितचरित्रा इन्द्रभ्रशितसतीत्वा। दीर्घतपस महातपस्विन·। मन्युना कोपेन। इन्द्रियदौर्बल्यम् मनोविकारम्। विवर्त्तमानम्—चरित्रदोषरूपतया परिणममानम्। तस्मादन्धकारात् शिलाभावापत्तिरूपात्। अलमावेगेन वृथा तवायं संभ्रम इति भाव।

पर्यवस्थापय स्थिरीकुरु।

पशुमेढ् —जो जनकवशके पुरोहित पूज्य शतानन्दकी माता थी। तब ••।

शुन·शेप—इन्द्रने उसका पातिव्रत्य खण्डित कर दिया, महातपा मुनिके कोपसे अपने इन्द्रिय दौर्बल्यका वह फल भोग रही थी, आज रघुराजपुत्रके प्रतापसे उस प्रस्तरभावरूप अन्धकारसे मुक्त हुई है। घबडानेकी जरूरत नहीं है।

पशुमेढ् —(आँखें खोलकर चारो ओर देखकर) अहो, आश्चर्य! आपके अनुग्रहसे मै फिर जीवलोकमें लौट आया। फिर भी शङ्काज्वर मुझे नहीं छोड रहा है, अतः आर्य शुन शेप, थोडी देर विश्राम कर लें।

शुन·शेप—ब्राह्मणको भय किस बातका? अपनेको धीरज बंधाओ।

---

१. 'शुन शेष.—अथ किम्। पशुमेढ्'—तदो' इति।

२. 'पर्युपस्थापय', 'पर्यवष्टम्भय' इति।

(इत्युपविशत ।)

पशुमेढ्रः—(चिर विमृश्य[1] नि श्वस्य च सविस्मयम् ।) कध विसय-मिअतिण्हासलज्झलाए भअवदो हरिणो वि हरिणदा विटप्पीअदि । [कथ विषयमृगतृष्णासलज्जलया भगवतो हरेरपि हरिणता विटप्यते ।]

शुन शेपः—(विहस्य ।) साधु [2]ब्रवीपि । अल्पीयान्खल्वय लोक । [3]कथमैहिक[4]सुखाध्यवसायाद्वै अमूर्भूयस्यो रात्रय परहण्यन्ते । कि तु मनोहारिभिराहा[5]यैराह्रियमाणलोचनद्वि[6]तयस्यापि न जनो विवेक-मङ्कुशयितु[7]मधीष्टे । किं पुनर्नयनसहस्रतयस्य तादृशि विभवे मरुता पति । चक्षु प्रीतिमुद्भवन्तीमनूद्भवन्ति चापराणि कुसुमचापचापलानि ।

विषयमृगतृष्णासलज्जलया वैषयिकसुखोपभोगरूपतृष्णाया आस्फालनेन । हरिणता पशुभाव । विटप्यते अर्ज्यते, कथमय देवेन्द्रोऽपि विषयाकृष्ट सन् तादृश कुकर्म करोतीति भाव । 'स्यादास्फाले सलज्जला' इति हारावली ।

अल्पीयान् क्षुद्रो मन्दमति । ऐहिकसुखाध्यवसायात् ऐहिकसुखप्राप्तिप्रया-सात्, अमू एता । भूयस्यो रात्रय पारलौकिकसुखसमया., रात्रे सुख-कालतयेत्थमुक्तम् । पराहण्यन्ते विनाश्यन्ते । क्षुद्रो हि लोको यदैहिकसुख-लिप्सापारवश्येन पारलौकिकानि सुखानि विनाशयितुमुद्यच्छतीति तात्पर्यम् ॥ मनोहारिभि हृदयावर्जकै । आहार्यै बाध्यमानतायामपि सुखसाधनत्वेनाभि-मन्यमानै स्त्रीधनादिभि । आह्रियमाणलोचनद्वितयस्य आकृष्यमाणस्य नयन-

---

[दोनों बैठते है]

पशुमेढ्र—(देर तक सोचकर दीर्घश्वास लेकर आश्चर्यसे) क्यों, विषय-मृगतृष्णासे इन्द्र भी हरिणकी तरह वञ्चित हो जाते है ?

शुन शेप—(हसकर) ठीक कहते हो । यह ससार बहुत छोटा है, ऐहिक सुखकी प्रत्याशासे दीर्घकालिक सुखका नाश क्यों किया जाय ? किन्तु हृदयको हरण करनेवाले मिथ्या सुखोंसे लोगोंकी आँखें इस तरह बन्द होती हैं कि लोग विवेकसे काम लेना छोड देते है । फिर इन्द्रकी क्या बात ? जिनके हजार नयन वैसे हों । आँखके लडते ही कामदेवके और हथकण्डे शुरू हो जाते है ।

---

१. 'विश्रम्य विमृश्य च' इति । २ 'ब्रवीति भवान्' इति ।
३ 'अन्यथा कथम्' इति । ४ 'सुखाध्यवसायलुब्धै ', 'सुखाध्यवसायात्' इति ।
५ 'आह्रियमाणस्य' इति । ६ 'द्वयस्य' इति । ७ 'ईष्टे' इति ।

पशुमेढ्रः—(विहस्य ।) मण्णे एदाए एव्व मुणिघरणीए पुण्णपरिणामो एत्थ रामभद्दस्स पवासे कारणम् । ['मन्ये एतस्या एव मुनिगृहिण्याः पुण्यपरिणामोऽत्र रामभद्रस्य प्रवासे कारणम्' ।]

शुनःशेपः—इदं तावत्प्रथमम् ।

पशुमेढ्रः—(साभ्यर्थनम् ।) अज्ज, दुदीअं वि सुणिदुं इमिणा दे वअणेण पज्जुस्सुओ म्हि । ['आर्य, द्वितीयमपि श्रोतुमनेन तव वचनेन पर्युत्सुकोऽस्मि' ।]

शुनःशेपः—सखे, त्वयि किमकथनीयं नाम। अस्ति किष्किन्धायां पुरन्दरस्य नन्दनो वालिर्नाम प्लवगराजः। स च रजनीचरचक्र-

---

द्वयस्य । विवेकम् ज्ञानम् । अङ्कुशयितुम् अङ्कुशीकर्त्तुम् । न अधीष्टे न पारयति । विषयाणामयं महिमा यत्तैराहार्यैरपि आकृष्टस्य स्वस्य नयनद्वयस्य निरोधाय जनः स्व विवेकं प्रयोक्तुं न शक्नोति, यदि लोको विषयाकृष्टस्य स्वनयनद्वयस्य विवेकद्वारके निरोधे न क्षमो भवति, तदा तावत्या सम्पदि विद्यमानायां यदिन्द्रो निजं नयनसहस्रं विषयप्रसक्तं न प्राभवद्वारयितुं न तदाश्चर्यमिति भावः ।

मरुतांपतिः देवेन्द्रः । चक्षुःप्रीतिम् चक्षूरागम् । उद्भवन्तीम् जायमानाम् । अनूद्भवन्ति पश्चाज्जायन्ते । कुसुमचापचापलानि कन्दर्पविकाराः । चक्षूरागे जाते तदनन्तरमपरे कामविकाराः समुद्भवन्ति, दुर्निरोधश्च चक्षुर्गणो, नहि लोको नेत्रद्वयमपि निरोद्धुं शक्नोति, कथं शक्रः शक्यतां स्व नेत्राणां सहस्रं निरोद्धुं 'यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमि'ति सर्वस्यानर्थबीजताया प्रसिद्धेरिति भावः ॥

मुनिगृहिण्याः गौतमस्त्रियोऽहल्यायाः । पुण्यपरिणामः सुकृतपरिपाकः । अत्र वने । रामप्रवासे रामस्यागमने । अत्र वने यद्रामः आगतस्तत्राहल्यासुकृतपरिपाक एव हेतुरिति तत्तर्कः ।

प्रथमम् रामप्रवासकारणम् । द्वितीयम् अन्यदपि कारणम् ।

अकथनीयम् गोपनीयम् । पुरन्दरस्य इन्द्रस्य । नन्दनः पुत्रः । प्लवगराजः

पशुमेढ़—(हसकर) मालूम होता है इस मुनि-पत्नीका पुण्य-परिपाक ही रामके इस प्रवासमें प्रधान कारण बना है ।

शुनःशेप—यह पहली बात है ।

पशुमेढ़—(प्रार्थनाके स्वरमें) आपके इस बचनने दूसरी बात सुननेकी उत्कण्ठा जागृत कर दी है ।

शुनःशेप—मित्र, तुझे कौन बात नहीं बताई जा सकती है? किष्किन्धामें इन्द्रका

वर्तिना दशकधरेण सह [1]प्रवृत्तमैत्रीकमवलोक्य तु वानराच्छभल्लगोलाङ्गूलप्रभृतीनामाचार्यः सर्वा[2]मात्यानुमतो जाम्बवानवादीत्।

पशुमेढ्रः—(सकौतुकम्[3]।) तदो तदो। [ततस्तत]

शुनःशेपः—(विहस्य) ततश्च राजन्मायाविनी खल्विय राक्षसजातिः। विशेषेण महेन्द्रावस्कन्दकन्दलितविक्रमः पितृवैरी तवाय रावण। अपि च त्वदीयदोर्मूलसपीडनगलितपौरुपो न विश्वविजयीति स्वयमाशङ्कनीय। नापि सामन्तान्तरजिघृक्षायामन्तरावर्तिनि समुद्रे लघु-

---

वानरराज। रजनीचरचक्रवर्त्तिना राक्षसराजेन। दशकन्धरेण रावणेन प्रवृत्तमैत्रीक प्राप्तसौहृदम्। वानरा जातिभेदा, अच्छभल्ला भल्लूका, गोलाङ्गूला कृष्णमुखा मर्कटा। सर्वामात्यानुमत सर्वैरमात्यै सम्प्रार्थित। जाम्बवान् नाम वालिमन्त्री।

मायाविनी छलनापरा। महेन्द्रावस्कन्देन शक्रपराभवेण कन्दलित नवीभूतो विक्रमो यस्य तथाभूत, इन्द्रदमनप्रवृद्धोत्साह इत्यर्थ। पितृवैरी पितुर्वालिजनकस्य शत्रु। त्वदीयेन त्वत्सम्बन्धिना दोर्मूलेन बाहुना यत् सम्पीडनम् आस्कन्दनम् तेन गलितपौरुष खण्डितपराक्रम। पितुस्तव शत्रुस्त्वया चापि दान्तो रावण इति स त्वया शङ्कनीय इति भाव। सामन्तान्तरजिघृक्षायाम् राजान्तरस्वीकारे करणीये। अन्तरावर्त्तिनि मध्यस्थिते। समुद्रे सागरे। लघुसमुत्थ शीघ्रमुत्थातु शक्त। विराद्धमण्लेन सर्ववैरिणा। मैत्रम् सख्यम् अनर्थानुबन्धि अहितकरम्। अनुपकारिणी

बेटा बालि नामक वानरराज रहता है। राक्षसराज रावणके साथ उसकी मैत्री बढती देख वानर, अच्छभल्ल, गोलांगूल वगैरह पशुओंके गुरु जाम्बवान्ने सभी अमात्योंकी अनुमतिसे कहा।

पशुमेढ्र—(उत्सुकतासे) तब ?

शुन शेप—तब जाम्बवानने कहा कि—महाराज, राक्षसजाति बडी मायाविनी होती है। विशेषत यह रावण आपका पितृवैरी है क्योंकि इसके विक्रमका उदय इन्द्रके अपमानसे ही अकुरित हुआ है। फिर यह रावण विश्वविजयी है ऐसी शङ्का मत करना, क्योंकि वह तुम्हारी कॉखमें अपनी शक्तिको खो चुका है। समुद्रके बीचमें होनेके कारण वह दूसरे सामन्तपर चढाईके समय शीघ्र सहायतार्थ आ भी नही सकता है।

---

१. 'प्रवृद्ध' इति। २ 'अनुगत' इति। ३ 'विहस्य' इति।

समुत्थः । तदनेन विरा[1]द्धमण्डलेन सहासु[2]रविजयिना मैत्र[3]मनर्थानुबन्धि । किं च सर्वथेयमनुपकारिणी पुलस्त्यापत्येषु प्रीतिरिति भगवानिहोदाहरणं हरिणाङ्क[4]शेखरः ।

तथा हि—

उक्षा रथो भूषणमस्थिमाला भस्माङ्गरागो गजचर्म वासः ।
एकालयस्थेऽपि धनाधिनाथे सख्यौ दशेयं त्रिपुरान्तकस्य ॥ ७ ॥

पशुमेढ्रः—(सहासम् ।) अहो ठेरभल्लुअस्स मन्तोवण्णासो परिहासकुसलदा अ । तदो तदो । ['अहो स्थविरभल्लूकस्य मन्त्रोपन्यासः परिहासकुशलता च । ततस्ततः' ।]

शुनःशेपः—ततश्च तद्वचनं जराप्रलपितमित्युपहसति हरीश्वरः

अहिताधायिका । पुलस्त्यापत्येषु रावणादिषु । उदाहरणं निदर्शनम् । हरिणाङ्कशेखरः शशिशेखरः शिवः ।

उक्षा रथ इति । उक्षा वृषः रथः यानम् , अस्थिमाला भूषणम् अलङ्कारः , भस्म विभूतिः अङ्गरागः अनुलेपनम् , गजचर्म हस्तिकृत्तिः वासः वसनम् , धनाधिनाथे कुवेरे एकालयस्थे कैलासरूपैकपर्वतवासिनि सख्यौ मित्रे वर्त्तमानेऽपि त्रिपुरान्तकस्य शिवस्य इयम् पूर्वोक्तरूपा दशा स्थितिः अतश्च पुलस्त्यापत्यमैत्री न युक्ता, कुवेरस्यापि पुलस्त्यापत्यतयेत्थमुक्तिः ॥ ७ ॥

स्थविरभल्लूकस्य वृद्धऋक्षस्य । मन्त्रोपन्यासः मन्त्रचिन्ता । परिहासकुशलता विनोदप्रियता च ।

जराप्रलपितम् वार्धककृतमनर्थकत्वदोषयुक्तम् । हरीश्वरे वानरराजे वालिनि ।

अतः समस्त भूमण्डलके अपकारी उस रावणके साथ मित्रता करना अनर्थप्रद होगा । और सबसे बडी बात तो यह है कि पुलस्त्यापत्योंके साथ प्रीति करनेमें अपकार ही होता है जिसके उदाहरण रूपमें शिव प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

बैलकी सवारी है, अस्थिमाला भूषण है, भस्म चन्दन है, वस्त्रकी जगह हस्तिचर्म है, मित्र कुवेरके साथ कैलासरूप एक घरमें रहनेपर भी शिवकी यह दरिद्र दशा है ॥ ७ ॥

पशुमेढ्र—(हसकर) अजी, यह बूढा रीछ तो मन्त्रणा तथा परिहास दोनोंमें दक्ष है ।

शुनःशेप—जाम्बवान्‌की बातको बालिने वृद्ध प्रलाप कहकर टाल दिया । अनन्तर

---

१ 'विराद्धभुवनमण्डलेन' इति । २. 'सुरासुरविजयिना' इति ।
३ 'अनर्थानुबन्धि भविता' इति । ४ 'शेखरोऽपि' इति ।

उपांशु तदनुमत्या महामात्यस्य केस[1]रिणः पुत्रो हनुमान्कुमारं [2]सुग्रीवमादाय ऋष्यमूक नाम [3]पर्वतदुर्गमनुप्रविष्टः ।

पशुमेढ्रः—(साकूतम् ।) अज्ज, जो सो मारुदी तेदामल्लो त्ति सुणीअदि । ['आर्य योऽसौ मारुतिस्त्रेतामल्ल इति श्रूयते' ।]

शुनःशेपः—अथ किम् ।

पशुमेढ्रः—(सविचिकित्सम् ।) अज्ज, जधा तधा भोदु । सामी सामी जेव्व । तं परिच्चइअ तस्सरिसो तारिसस्स महाणुभाअस्स पडिऊलपरिग्गहो । ['आर्य, यथा तथा भवतु । स्वामी स्वाम्येव । तं परित्यज्य तत्सदृशस्तादृशस्य महानुभावस्य प्रतिकूलपरिग्रहः' ।]

उपांशु एकान्ते 'उपांशु तूपभेदे स्यादुपांशु विजनेऽव्ययम्' इति विश्वः । तदनुमत्या जाम्बवत्सम्मत्या । केसरिणः पुत्रः अञ्जनाया वायोर्जायमानः क्षेत्रजः केसरिपुत्रः । सुग्रीवम् वालिनोऽनुजं तन्नामानम् । आदाय सह नीत्वा, मारुतिः वायुसुतः हनूमान् । त्रेतामल्लः द्वितीययुगे प्रख्यातो वीरः ।

अथकिम् स्वीकारार्थकमव्ययम् 'अथकिं स्वीक्रियार्थकम्' इति भरतः । सविचिकित्सम् संशयेन सह यथा तथा भवतु यादृशस्तादृशो जायताम् स्वामिना मन्त्रिकथनोल्लङ्घनेऽपि कृते मन्त्रिणस्तत्परित्यागो नोचित इति कथयति—

स्वामी स्वाम्येवेति । तं वालिनम् । तादृशस्य त्रेतामल्लतया ख्यातस्य । प्रतिकूलपरिग्रहः वैरिणा संधानम्, वालिनं परित्यज्य तद्रिपुणा सुग्रीवेण सह तादृशस्य हनूमतः सन्धानं किमुचितमिति तदाशयः ।

जाम्बवान्की अनुमतिसे महामात्य केसरीके पुत्र हनुमान् कुमार सुग्रीवको लेकर ऋष्यमूक नामक दुर्गमें चले गये ।

पशुमेढ्र—(साभिप्राय) वही मारुति, जो त्रेतामल्लके रूपमें सुने जाते है ।

शुनःशेप—और क्या ?

पशुमेढ्र—(सन्देहके साथ) आर्य, जो हो । स्वामी आखिर स्वामी ही है । उसे छोडकर दूसरेका आश्रयण करना क्या उनके योग्य कार्य हुआ ?

---

१ 'केसरिनाम्न' इति । २. 'आदाय सुग्रीवम्' इति । ३ 'पर्वतं सदुर्गम्' इति ।

शुनःशेप.—(विहस्य ।) [1]'पुरैव किलायमाञ्जनेयो भगवत सहस्र-किरणाद्[2]व्याकरणविद्यामधीयानस्तदात्मजन्मनो वानरयोने सुग्रीवस्य साहायकमभिप्रायज्ञो गुरुदक्षिणीचकार ।

पशुमेढ्र.—([3]सानन्दम् ।) हुं । ता उचित जेव्व गुरुपुत्तो सब्बह्म-चारी वा अणुवट्टीअदि । तदो तदो । ['हु । तदुचितमेव गुरुपुत्र सब्रह्मचारी वानुवर्त्यते । ततस्तत' ।]

शुनःशेपः—ततश्चाहिभयोपजापजर्जरं [4]सुहृद्गृहमुपश्रुत्य राक्षसराज

पुरैव वालिनोऽसन्मार्गग्रहणात् पूर्वत एव । आञ्जनेय हनूमान् । सहस्र-किरणात् सूर्यात् व्याकरणविद्याम् व्याकरणम् शास्त्र तदात्मजन्मन सूर्यपुत्रस्य । वानरयोने वानरजातौ गृहीतजन्मन साहायकम् सहायभावम् सख्य मैत्रीञ्च । अभिप्रायज्ञ सूर्याशयवेदी । गुरुदक्षिणीचकार गुरुदक्षिणारूपेण दातु मनसि निश्चित-वान् । यदाय हनूमान् सूर्याद् व्याकरणमधीतेस्म तदैव गुरोरभिप्रायमवेत्य तत्पुत्रस्य मन्त्रित्व कर्त्तु गुरो समीपे तदिच्छया प्रतिज्ञातवान् , अतश्च न वालिनोऽसन्मार्ग-प्रयत्नत्वात्परित्याग , किन्तु गुरोरिच्छया सुग्रीवानुवृत्तिरिति भाव ॥

सब्रह्मचारी सहाध्यायी । अनुवर्त्यते सेव्यते ।

अहिभयम् स्वपक्षप्रभव भयम्, उपजाप प्रकृतिप्रकोप , ताभ्या जर्जर जीर्णम् , दुरवस्थमित्यर्थ । 'महीभुजामहिभय स्वपक्षप्रभव भयम्', 'समौ भेदोपजापौ च' इत्युभयत्रामर । सुहृद्गृहम् वालिभवनम् । रावणो वालिमित्रमसौ वालिनो भ्राता विरुद्धस्तत्सहचराश्च कतिपये तथेति मित्रस्य दुरवस्थता विभाव्येत्यर्थ ।

शुन शेप—(हसकर) पूर्वकालमें ही जब मारुति भगवान् सूर्यके पास व्याकरण विद्या पढ रहे थे तभी सूर्यने वानरयोनिमें उत्पन्न अपने पुत्र सुग्रीवकी सहायता हनुमान्से गुरुदक्षिणामें स्वीकृत करा ली थी ।

पशुमेढ्र—(सानन्द) हाँ, तब तो ठीक ही है कि गुरुपुत्र तथा सहपाठीका आश्रयण किया । फिर क्या हुआ ?

शुन शेप—इसके बाद रावणने देखा कि मेरे मित्र वालिके गृहमें स्वपक्ष-सम्भव

---

१ 'सखे, पुरैवाञ्जनेयो' इति । २ 'व्याकरणम्' इति ।
३ 'सानन्दम्' इति क्वचिन्नास्ति । ४ 'सुहृत्कुलम्' इति ।

खरदूषणत्रिशिरोभिर्महामात्यैरधिष्ठितमात्मबलैकदेशं सिन्धोरुदीचि कूले वालिप्रतिग्रहाय प्राहिणोत्।

पशुमेढ्रः—कध अपरिहीणमित्तधम्मो वि सो रक्खसो। ['कथमपरिहीनमित्रधर्मोऽपि स राक्षसः।]

शुनःशेपः—सखे, किमुच्यते। रावणः खल्वसौ।

प्रियाकर्तुं त्वस्मै नवनिजशिरःकर्तनरस-
प्रहृष्यद्रोमा यः स परमिह लङ्कापरिवृढः।
विलक्षव्यापारं किमपि ददृशुर्यस्य दशमं
शिरस्ते मूर्धानः क्षणधृतपुनर्जन्मसुभगाः॥ ८॥

महामात्यैः प्रधानैः स्वसचिवैः। अधिष्ठितम् नियन्त्रितम्, आत्मबलैकदेशम् स्वसैन्यावयवम् उदीचि कूले उत्तरतटे। वालिप्रतिग्रहाय वालिरक्षायै। प्राहिणोत प्रहितवान्।

अपरिहीनमित्रधर्मः—अत्यक्तमित्रसहायतः।

किमुच्यते राक्षसराजोऽसौ अपरिहीनमित्रधर्म इति किमुच्यते, अर्थात् रावणो मित्रकार्यं न विस्मरतीति किं वक्तव्यम्, असौ राक्षसः सन्नपि सर्वमपि व्यवहारं मानवोचितं ततोऽपि वा विलक्षणं बिभर्तीति तात्पर्यम्, स्फुटीभविष्यति च तदग्रेतनश्लोकेन।

प्रियाकर्तुमिति। नवनिजशिरःकर्तने नवसंख्यकस्वशिरश्छेदने यो रसो रागस्तेन प्रहृष्यद्रोमा रोमाञ्चितसमग्रदेहः स लङ्कापरिवृढः रावणस्तु अस्मै वालिने प्रियाकर्तुं हितं सम्पादयितुं परम् प्रधानम्, अस्मै वालिने रावण एव सर्वाधिकप्रियकर्तृतयोपकारक्षम इति। यस्यास्य रावणस्य क्षणधृतपुनर्जन्मसुभगाः क्षणेन कर्तनक्षणमात्रेण धृतं पुनर्जन्म तेन सुभगाः कर्तनमात्र एव पुनः तज्जन्मान इत्यर्थः। ते शिवायोपहृताः मूर्धानः शिरांसि किमपि विलक्षव्यापारं सलज्जव्यापारं दशमं

भयकी स्थिति है तब उसने खरदूषण और त्रिशिरा नामक अपने महात्माओंकी देख रेखमें अपनी सेनाकी एक टुकडी समुद्रके उत्तर तटपर बालिकी सहायताके लिये भेजी।

पशुमेढ्र—क्यों, राक्षस होकर उसने धर्मका त्याग नहीं किया।

शुनःशेप—मित्र, क्या कहना है, वह रावण है।

वह रावण ही बालिकी प्रसन्नताके लिये पर्याप्त हो सकता है जिसने अपने नव मस्तकोंको काटकर भक्तिप्रसूत रोमाञ्च धारण किया था तथा जिसके सद्यःप्रसूत नव-मस्तकोंने उसके दशम सिरको अखण्डित रह जाने के कारण लज्जित होते देखा था॥८॥

पशुमेढ् —(सकौतुकम् ।) तदो तदो । [ततस्तत ।]

शुनःशेपः—तत सुकेतुसुता नागसहस्रबलधारिणी ताडका नाम राक्षसी तस्मादनीकादागत्य मनुष्यमण्डलविहारकौतुकादिमामस्मदीया भूमिमधिवसति ।

पशुमेढ्—(सकौतुकम् ।) णाअसअस्सबला इत्थी अत्ति त्ति अस्सुदपुव्व क्खु एदं । तदो तदो । ['नागसहस्रबला स्त्री अस्तीत्यश्रुतपूर्व खल्वेतत् । ततस्तत ' ।]

शुनःशेपः—ततश्च श्रौतस्य विधे प्रत्यूहमस्या शङ्कमान कुलपतिरिमौ दाशरथी रामलक्ष्मणावानीतवान् ।

पशुमेढ्—जाणे रामभद्दो त्ति को वि रक्खसाण उवरि अवइण्णो क्खु एसो । ['जाने रामभद्र इति कोऽपि राक्षसानामुपर्यवतीर्ण खल्वसौ' ।]

शिरो ददृशु दृष्टवन्त । नवसु शिरस्सु छिद्यमानेषु पुन प्ररोहत्सु च दशम शिरो लज्जितमिव स्थितमिति भाव , एतादृशाद्भुतप्रभावो रावणो वालिन सर्वाधिकप्रिय इत्याशय ॥ ८ ॥

नागसहस्रबलधारिणी सहस्रसख्यकगजबलसम्मितबला । तस्मात् वालिरक्षार्थं रावणेन प्रहितात् । अनीकात् सैन्यात् । मनुष्यमण्डलविहारकौतुकात् मनुजसमाजमध्यविहारकौतूहलात् । अस्मदीयाम् अस्मदुषिताम् । अधिवसति अधितिष्ठति । अश्रुतपूर्वम् अन्यस्यां कस्याचन स्त्रियामनाकर्णितम् , अपूर्वमित्यर्थ ।

श्रौतस्य विधे यज्ञकर्मण । प्रत्यूहम् विघ्नम् । कुलपति विश्वामित्र । आनीतवान् तपोवने नीतवान् ।

राक्षसानाम् उपरि अवतीर्ण सकलराक्षसविजयितया भुवमागत ।

पशुमेढ—(कौतुकसे) फिर क्या हुआ ?

शुन शेप—अनन्तर सुकेतुकी पुत्री हजार हाथियोंके तुल्यबलवाली ताटका राक्षसी उस सैन्यसमूहसे निकलकर मनुष्य-मण्डलमें विहारकी उत्कण्ठासे हमारी भूमिमे आ गई ।

पशुमेढ्—(कौतुकसे) हजार हाथियोंके तुल्य बलवाली स्त्री होती है, यह बात पहले मैंने नहीं सुनी थी । फिर क्या हुआ ?

शुन शेप—अनन्तर उससे यज्ञका विघ्न समझकर हमारे कुलपतिने रामलक्ष्मणको यहा ला रखा है ।

पशुमेढ्—मैं समझता हू रामभद्र मानो राक्षसोंके ऊपर (लिये) अवतीर्ण हुए हैं ।

शुन.शेपः—सखे, एवमेतत् । रामभद्र इति कोऽप्यय चतुरक्षरो राक्षसरक्षासिद्धमन्त्र । विशेषेण पुनरिदानी भगवता कौशिकेन ब्रह्मज्योतिषस्तादृश विवर्तमाश्चर्य दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणमध्यापित' ।

पशुमेढ्ः—मण्णे मन्तमईहिं अत्थदेवदाहिं समं बलादिबलाओ सत्तीओ वि रामे सकमिस्सन्ति । ['मन्ये मन्त्रमयीभिरस्त्रदेवताभि सम बलातिबले शक्ती अपि रामे सक्रमिष्यत ' ।]

शुन शेप —अथ किम् । तदपि [1]वृत्तमेव ।

पशुमेढ्—अज्ज, ण भणामि जइ णिआओ जेव्व सत्तीओ णिआओ जेव्व अत्थविज्जाओ, ता किं त्ति अत्तणो विग्घोवसमे राहवस्स गोरअमुप्पादेदि तत्थभव कोसिओ । [2]अहवा पाहुणहत्थेण सप्पमारण

राक्षसरक्षासिद्धमन्त्र रामभद्रस्य नाममात्रे गृहीते राक्षसापादानक भय निवर्त्तत एवेति रामनाम्नो राक्षसरक्षासिद्धमन्त्ररूपत्वमुक्तम् । ब्रह्मज्योतिष वेदरूपस्य तेजस । विवर्त्तम् स्वरूपभेदम् । वेदस्यांशभूतमित्यर्थं । दिव्यास्त्रपारायणम् दिव्यास्त्रोपस्थितिकारणीभूतम् । रामो हि स्वत एव राक्षसेभ्यस्त्राता विशेषत सम्प्रति विश्वामित्रेण दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणमध्यापित इति तन्नाममात्रे गृह्यमाणे राक्षसभय निवर्त्तत एवेति भाव. ॥

मन्त्रमयीभि मन्त्रोच्चारणमात्रसमुपस्थायिनीभि । बलातिबले शक्ती तदाख्यविद्याभेदौ । सक्रमिष्यत समुपस्थास्यत । बलातिबलाविद्याया लब्धाया पुमान्मासमेकं तृप्तस्तिष्ठतीति तद्विद्याप्रभाव ।

वृत्तमेव बलातिबलयोर्विद्ययो रामे संक्रमो जात एवेति भाव' ।

शुन शेप—सखे, यही बात है । रामभद्र यह चार अक्षरोंका राक्षससे रक्षार्थ सिद्ध मन्त्र है, खास करके अब जबकि हमारे कुलपतिने रामभद्रको ब्रह्मज्योतिके परिणामरूप दिव्यास्त्र मन्त्रकी शिक्षा उन्हें दे दी है ।

पशुमेढ्—मालूम पडता है मन्त्रमयी देवताओंके साथ बलातिबला नामक शक्तियाँ भी रामभद्रको प्राप्त हो गई हैं ।

शुन शेप —और क्या ? वह भी हो चुका है ।

पशुमेढ् —मैं कहता हू, यदि अपनी ही शक्तियाँ है और अपनी ही अस्त्रविद्यायें हैं

---

१ 'सवृत्तमेव' इति । २ (विहस्य ।) 'अहवा' इति ।

क्खु एदम् । ['आर्य, ननु भणामि यदि निजा एव शक्तयो निजा एवास्त्रविद्या, तत्किमित्यात्मनो विघ्नोपशमे राघवस्य गौरवमुत्पादयति तत्रभवान्कौशिक' । अथवा प्राघुणकहस्तेन सर्पमारण खल्वेतत् ।]

शुन शेप.—सखे, अनभिज्ञोऽसि । स्वय प्रयोगादन्तेवासिभिर्विहित प्रयोगो महिमानमाचार्याणामुपचिनोति । पश्य

> **स्थानेषु शिष्यनिवहैर्विनियुज्यमाना**
> **विद्या गुरुं हि गुणवत्तरमातनोति ।**
> **आदाय शुक्तिषु बलाहकविप्रकीर्णै**
> **रत्नाकरो भवति वारिभिरम्बुराशि ॥ ९ ॥**

कि च दीक्षि[1]ष्यमाणा न क्रुध्यन्तीति रक्षितार क्षत्रियमुपाददते ।

निजा एव शक्तयो निजा एव–यदि विश्वामित्रस्य हृदि तास्ता शक्तयोऽस्त्रविद्याश्च सन्ति तदा रामानयन किमर्थमिति प्रघट्टकार्थ ।

स्वयप्रयोगात् आत्मना कृतात् अस्त्रप्रयोगात् । यद्याचार्य स्वय प्रयुङ्क्ते ततो यावद्यश तदपेक्षया विद्यार्थिविहिते प्रयोगे आचार्यस्याधिकं यशो जायत इत्यर्थ ।

स्थानेष्विति । स्थानेषु उपयुक्तकालपात्रादिषु शिष्यनिवहै छात्रसमुदयै विनियुज्यमाना प्रयुज्यमाना विद्या गुरुम् आचार्यम् गुणवत्तरम् सातिशयगुणशालिनम् आतनोति प्रख्यापयति । आदाय सागरात् गृहीत्वा बलाहकविप्रकीर्णै मेघगणक्षिप्तै वारिभि जलै अम्बुराशि सागर शुक्तिषु रत्नाकरो भवति । सागरादेव पानीयमादाय स्वातीनक्षत्रयोगाद् मेघै शुक्तिषु क्षिप्तैरम्बुभि मुक्ताभाव गतै सागरो रत्नाकरपद प्राप्नोति, तथैव स्थाने शिष्यैर्विनियुज्यमानया विद्ययाऽऽचार्यो गुणवत्तरताख्यातिं लभत इति । प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कार ॥ ९ ॥

दीक्षिष्यमाणा यज्ञं करिष्यन्त । उपाददते आश्रयन्ति ॥

तब भगवान् विश्वामित्र अपने विघ्नोंकी शान्तिमे रामको क्या गौरव प्रदान कर रहे हैं ? अथवा, यह अतिथिके हाथसे सांपका मरवाना ही है ।

शुन.शेप—मित्र नहीं जानते हो । अपने द्वारा किये प्रयोगकी अपेक्षा विद्यार्थियों द्वारा किया गया प्रयोग आचार्योंकी महिमाको अधिक बढाता है । देखो—स्थानपर शिष्यों द्वारा प्रयुक्त विद्या गुरुकी गुणवत्तरताको द्योतित करती है मेघों द्वारा शुक्तियोंमें डाले गये जलोंसे ही सागर रत्नाकर कहलाता है ॥ ९ ॥

और यह भी बात है कि यज्ञमे दीक्षितोंको कोप नहीं करना होता है इसलिये रक्षार्थ क्षत्रियको नियोजित करते हैं ।

---

१. दीक्षमाणा इति ।

पशुमेढ् —अज्ज, सोहण मन्तेसि । अण्ण वि कि वि पुच्छिदुकामो ह्मि । [अन्यदपि किमपि प्रष्टुकामोऽस्मि ।]

शुन शेप —कि तत् ।

पशुमेढ् —सव्वधा णिगूढ वि वाणराण छग्गुणत्र कध अज्जेण पडिवण्णम् । [सर्वथा निगूढमपि वानराणा षाड्गुण्य कथमार्येण प्रतिपन्नम् ।]

शुन शेप —सखे, सर्वमेतदयोध्यायात्राया समाधिमयेन चक्षुषा साक्षात्कृतत्रिभुवनवृत्तान्तस्य तातविश्वामित्रस्य मुखादश्रौषम् । (सर्वतोऽवलोक्य ।) [1]अये, प्राभातिकी [2]भुवनस्य लक्ष्मीः । तथा हि ।

प्रत्यग्रज्वलितै पतङ्गमणिभिर्नीराजिता भानव
सावित्रा कुरुविन्दकन्दलरुच प्राचीमलंकुर्वते ।

निगूढम् गुप्तम् । षाड्गुण्यम् सन्ध्यादिषड्गुणप्रयोगचिन्तारूपमन्त्रणा । आर्येण त्वया शुन शेपेन । प्रतिपन्नम् ज्ञानम् ॥

अयोध्यायात्रायाम् यज्ञरक्षार्थं राममानेतुमयोध्यागमनसमये । समाधिमयेन ध्यानरूपेण । चक्षुषा नेत्रेण । साक्षात्कृतत्रिभुवनवृत्तान्तस्य लोकत्रयवृत्त जानत , ज्ञानदृष्ट्या सर्वमपि वृत्त प्रत्यक्षमीक्षमाणस्य । प्राभातिकी प्रात कालिकी ।

प्रत्यग्रेति । प्रत्यग्रज्वलितै सूर्यकरस्पर्शेन तत्कालप्रदीप्तै पतङ्गमणिभि सूर्यकान्तोपलै नीराजिता समुत्तेजिता अतएव कुरुविन्दकन्दलरुच पद्मरागनवाङ्कुरसमानकान्तय सावित्रा सूर्यसम्बन्धिनो भानव प्राचीम् पूर्वदिशम् अलङ्कुर्वते भूषयन्ति । सपदि जायमाने सूर्यप्रकाशे सद्य प्रज्वलद्भि सूर्यकान्तकिरणै समुत्तेजिता सूर्यकरा प्राची दिशमलङ्कुर्वते, ये पद्मरागनवाङ्कुरवत् प्रतीयन्ते । इत्याद्य-

---

पशुमेढ् —आर्य, ठीक कहते हो, और भी कुछ मुझे पूछना है ।

शुन शेप —वह क्या है ?

पशुमेढ्—सर्वथा छिपे इस वानरोंके रहस्यको आपने कैसे समझा ?

शुन शेप—सखे ! अयोध्यायात्रामें आचार्य विश्वामित्रके मुखसे ही यह सारी बात मैंने सुनी थी, उन्होंने समाधिदृष्टिसे त्रिभुवनवृत्तान्तका ज्ञान किया था (चारों ओर देखकर) अहा ! प्रभातकालकी कैसी शोभा है ?

तत्काल प्रज्वलित सूर्यकान्तमणियोंसे नीराजित सूर्यकिरणें विद्रुमदण्डकी तरह

---

१ 'अहा' इति । २ 'भुवनलक्ष्मी-' इति ।

प्रौढध्वान्तकरालितस्य वपुषश्छायाच्छलेन क्षणा-
दप्रक्षालितनिर्मलं जगदहो निर्मोकमुन्मुञ्चति ॥ १० ॥

अपि च—

पीत्वा भृशं कमलकुड्मलशुक्तिकोषा
दोषातनीं तिमिरवृष्टिमथ स्फुटन्त ।
निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिषाद्वमन्ति
बिभ्रन्ति कारणगुणानिव मौक्तिकानि ॥ ११ ॥

अपि च—

विकसितसंकुचितपुनर्विकस्वरेष्वम्बुजेषु दुर्लक्ष्या ।

पादद्वयस्यार्थ । अहो आश्चर्यम् जगत् संसार छायाच्छलेन अनातपव्याजेन प्रौढध्वान्तेन गाढान्धकारेण करालितस्य आच्छादितस्य वपुष स्वशरीरस्य अप्रक्षालितनिर्मलम् अक्षालितमपि स्वच्छम् निर्मोकम् कञ्चुकम् उन्मुञ्चति त्यजति । छायारूपतमोवृतमिदं जगत् प्रकाशमासादयत् निर्मोकमिव जहातीत्यर्थ । अपह्नुतिरत्रालङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १० ॥

पीत्वेति । कमलाना पद्मानां कुड्मलानि कलिका एव शुक्तिकोषा मुक्तास्फोटा ते दोषातनीं रात्रिसमयसञ्जाताम् तिमिरवृष्टिम् अन्धकारम् भृशम् अत्यर्थम् पीत्वा निगीर्य अथ प्रभाते निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिषात् निर्यद्भ्रमरसमूहव्याजात् कारणगुणान् बिभ्रन्ति धारयन्ति इव मौक्तिकानि वमन्ति आविर्भावयन्ति । निशि कमलानि यावन्तमन्धकार पीतवन्ति, तान्येव तत्र कोषे मुक्ताभावमापद्य कारणगुणानुबन्धित्वात्कार्याणा श्यामानि मौक्तिकानीव भ्रमरान्प्रातर्वमन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । अत्र कमलकोषा एव मुक्ताशुक्तय , निशि पीतोऽन्धकार एव जलभरो यो मुक्ताभाव प्राप्त , कारणस्य श्यामतया मौक्तिकानामपि श्यामता, भ्रमरा एव मौक्तिकानीति च यथायथमवसेयम् ॥ ११ ॥

विकसितेति । मधुलिहा भ्रमराणाम् अर्घ आदरातिशय विकसितानि पूर्वदिने

रक्ताभ दीखती तथा प्राची दिशाको अलकृत करती है, प्रौढ अन्धकारमे आवृत अपने शरीरकी छायाके रूप में यह जगत् अन्धकाररूप अपना निर्मोक त्याग कर रहा है ॥ १० ॥

कमल-कोषरूप शुक्तियोंने रात्रिके अन्धकाररूप जलको पी लिया और निकलते हुए भ्रमर-समुदायरूप मुक्ताको निकाल रहे है, अन्धकाररूप जलमे बननेवाले भ्रमररूप मुक्तागण कारणगुण-समान कार्य होते है—इसलिये काले है ॥ ११ ॥

कमल शीघ्र शीघ्र विकसित सकुचित तथा पुनर्विकसित हो रहे है इनमे कौन

कलिका· कथयति नूतनविकासिनीर्मधुलिहामर्घः ॥ १२ ॥

(आदित्य[1]मण्डल निर्वर्ण्य ।)

कटुभिरपि कठोरचक्रवाकोत्करविरहज्वरशान्तिशीतवीर्यैः ।
तिमिरहतमयं महोभिरञ्जयति जगन्नयनौघमुष्णभानुः ॥ १३ ॥

प्रफुल्लानि सङ्कुचितानि पुनर्निशि निमीलितानि पुनर्वर्त्तमानदिने विकस्वराणि विकासशीलानि यानि कमलानि तेषु दुर्लक्ष्या परिचेतुमशक्या नूतनविकासिनी अद्यैव प्रथमवार प्रस्फुटिता कलिका कथयति बोधयति । विकसितेषु बहुषु कमलेषु कतिचित् कमलानि दिनत्रयाद्विकसन्ति कानिचिद्दिनद्वयात् कानिचिच्चाद्य प्रथममेव विकसितानि, तेषु का कलिका नूतनविकासिनी का च प्राचीनेति विवेकस्यान्यथाकर्त्तुमशक्यतया भ्रमरादरातिशयदर्शनमेव विवेकहेतु, यत्र भ्रमराणामादराधिक्य सा कलिका प्रत्यग्रविकसिता, या च प्राचीनविकासा तस्या मन्दमधुत्वात्, प्रत्यग्रविकसितायाश्चाक्षतमधुतया समधिकादरभाजनत्वमिति बोध्यम् । 'पूजाया मकरन्देऽपि भवेदर्घस्तथाऽऽदरे' इति विश्व ॥ आर्यावृत्तम् ॥ १२ ॥

कटुभिरपीति । अयम् उष्णभानु सूर्य कटुभि ईषत्तीक्ष्णै अपि कठोरो दारुण य चक्रवाकोत्कराणा चक्रवाकवृन्दाना विरह तेन यो ज्वर सन्ताप· तस्य शान्तौ शमने शीतवीर्यैं शीतलस्वभावै महोभि स्वकिरणै तिमिरहतम् अन्धकारक्षपितम् आन्ध्यरूपरोगनष्टञ्च जगताम नयनौघम् नेत्रचयम् अञ्जन् अञ्जित कुर्वन् जयति । यथा कटुशीतल पिप्पल्यादिद्रव्य तिमिरहतदृष्टीनां जनानामञ्जनकर्मणि उपकारक भवति तथैव कटवोऽपीमे भानुभानवो विरहपराभूतचक्रवाकतापशमने दृष्टशीतवीर्यताभाजो लोकलोचनानि तम पराहतानि स्वसम्पर्कात् रूपग्रहणसमर्थानि कृत्वाऽञ्जनवन्तीव कुर्वत इति भाव । पुष्पिताग्रावृत्तम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणम् ॥ १३ ॥

कलिकायें है और कौन कमल ? इस बातका निर्णय भ्रमरो द्वारा किये गये आदरसे ही होता है ॥ १२ ॥

(सूर्यमण्डलको देखकर)

कटु होनेपर भी चक्रवाक-समुदायके कठोर विरह ज्वरको शान्त करनेमें शीतवीर्य प्रमाणित होनेवाले अपने तेजसे ससारकी आखोंको अञ्जित करनेवाले भगवान् सूर्यकी जय हो ॥ १३ ॥

---

१ 'आदित्य निर्वर्ण्य च' इति ।

तदनुजानीहि मां समिदाहरणाय ।

पशुमेढ्.—अह वि खत्तिअकुमाराण दसणे उक्कण्ठिदोह्मि । ता कद्‌धेहि कहिं पेक्खामि । [अहमपि क्षत्रियकुमारयोर्दर्शन उत्कण्ठितोऽस्मि । तत्कथय कुत्र प्रेक्षे ।]

शुन शेप—(विहस्य ।) नन्वेतावेव यज्ञवाटमुत्तरेण विहारभूमिषु क्रीडत । तदुपेत्य नि'शङ्कमवलोकय ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भक ।

(तत प्रविशतो रामलक्ष्मणौ ।)

राम—अहो विचित्रमिदमायतन सि[१]द्धाश्रमपदं नाम भगवतो गाधिनन्दनस्य ।

अनुजानीहि अनुमन्यस्व । समिदाहरणाय काष्ठान्याहर्त्तुम् ॥

यज्ञवाटम् यज्ञभूमेरुत्तरस्या दिशि । 'एनपा द्वितीया' इति यज्ञवाटस्य कर्मता ॥ विहारभूमिषु विचरणप्रदेशेषु ।

विष्कम्भक 'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशाना निदर्शक । सङ्क्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शित । मध्येन मध्यमाभ्या वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजित ॥

स चाय मिश्रविष्कम्भक, मध्यमोत्तमपात्रप्रयोजितत्वात् ॥

आयतनम् स्थानम् । सिद्धाश्रमपदम् वामनमूर्त्तेर्भगवतो हरे स्थानम् । गाधिनन्दनस्य विश्वामित्रस्य ।

अच्छा तो अब मुझे लकडी लानेके लिये जानेकी अनुज्ञा दो ।

पशुमेढ्—मैं भी क्षत्रिय कुमारोंको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहा हुँ, अत यह तो बताओ कि वे है कहाँ ?

शुन'शेप—(हसकर) यही तो यज्ञस्थलकी उत्तर ओर विहारभूमिमें खेल रहे हैं, जाओ नि शङ्क होकर देखो । (दोनोंका प्रस्थान)

(विष्कम्भक)

(राम और लक्ष्मणका प्रवेश)

राम—अहा ! गाधिनन्दनका यह सिद्धाश्रम नामक आश्रम बडा विचित्र है ।

---

१ 'सिद्धाश्रम नाम' इति ।

तत्तादृक्तृणपूलकोपनयनक्लेशाच्चिरद्वेषिभि-
र्मेध्या वत्सतरी विहस्य बटुभि सोल्लुण्ठमालभ्यते ।
अप्येष प्रतनूभवत्यतिथिभि सोच्छ्वासनासापुटै-
रापीतो मधुपर्कपाकसुरभि प्राग्वंशजन्मानिल ॥ १४ ॥

लक्ष्मण—आर्य, किलात्रैव

देव कौस्तुभकिंजल्कनीलोत्पलमसौ हरि ।
स्वयं किमपि तत्तेपे तप कपटवामन ॥ १५ ॥

तत्तादृगिति । तत्तादृक् दु खजनक यत्तृणपूलकोपनयनम् तृणमुष्ट्युपहरणम् तत्क्लेशात् चिरद्वेपिभि बहुदिवसधृतशत्रुभावै (सर्वदा तासा गवा कृते तैर्बटुभि तृणपूलकानामानयन क्रियते, तत्र कर्मणि क्लेश वहन्तो बटवो गवा द्वेषिण-मन्ति) बटुभि विहस्य प्रसन्नहसितै मेध्या सर्वलक्षणपवित्रा वत्सतरी द्विवर्ष-वयस्का गौ सोल्लुण्ठम् सोपहासम् आलभ्यते मार्यते । 'महोक्ष वा वत्सतरीं दद्यादतिथये गृही'ति स्मृतेर्गोवधस्य शास्त्रोक्ततया बटवो गवा वध कुर्वन्तीति भाव । अपि एप मधुपर्कपाकसुरभि हूयमानमधुपर्कस्य पाकेन सुगन्धित अत एव अतिथिभि सोच्छ्वासनासापुटै आपीत सादर विकसितघ्राणेन्द्रियमाघ्रात प्राग्वशजन्मानिल हविर्गेहवात प्रतनूभवति क्षीयते ॥ आङ्पूर्वो लभिर्मारणार्थ, 'श्वेत छागमालभेत' इत्यत्र यथा । 'आलम्भपिञ्जविशरघातोन्माथवधा अपि' इत्य-मर । 'प्राग्वश प्राग्घविर्गेहात्' इति च ॥ १४ ॥

देव इति । कौस्तुभो नारायणवक्ष स्थितो मणिविशेष स एव किञ्जल्क केसरो यस्य तादृशम् नीलोत्पलम् नीलकमलम् असौ देवो हरि कपटवामन स्वेच्छा-गृहीतवामनरूप स्वय किमपि अनिर्वचनीयरूपमविभाव्यफल च तप (अत्र) तेपे अनुष्ठितवान् । अतोऽस्य स्थानस्य महत्त्वम् । इह भगवतोऽतिश्यामत्वान्नीलो-त्पलत्वेन रूपणम्, कौस्तुभस्य च भगवतो हृन्मध्यस्थितत्वाद्दीप्तिमत्त्वाच्च किञ्जल्क-त्वेन रूपण बोध्यम् । हरिणा त्रिविक्रमेण किल बलिच्छलनार्थं वामनरूप कृत्वा तत्र

बटुओंको घास खिलाना पडता था इसी द्वेषसे वे उलाहना देकर मेध्यवत्सतरीका वध करते हैं, मधुपर्क-पाकसे सुगन्धित प्राग्वश वेदीकी यह आग अतिथियो द्वारा विस्तारित नासापुटसे पीयमान होनेके कारण क्षीण होती जाती है ॥ १४ ॥

लक्ष्मण—आर्य, यहीं पर—

कौस्तुभरूप जिनका किञ्जल्क है ऐसे नीलकमलस्वरूप भगवान् विष्णुने कपट वामना-वतारमें कुछ अद्भुत तप किया था ॥ १५ ॥

इत्थमेतन्महातीर्थमध्यासीना द्विजातय ।
अकुतोभयसंचारा षट्कर्माणि प्रयुञ्जते ॥ १६ ॥

([1]अन्यश्च दृष्ट्वा ।) आर्य,

पश्यैते पशुबन्धवेदिवलयैरौदुम्बरीदन्तुरै
र्नित्यव्यञ्जितगृह्यतन्त्रविधयो रम्या गृहस्थाश्रमा ।
यत्रामी गृहमेधिन प्रचलितस्वाराज्यसिहासना
वैतानेषु कृपीटयोनिषु पुरोडाशं वषट्कुर्वते ॥ १७ ॥

सिद्धाश्रमे तपस्तप्तमिति कथात्रानुसन्धेया। 'किञ्जल्क केसरोऽस्त्रियाम्', 'खर्वो ह्रस्वश्च वामन' इत्युभयत्रामर ॥ १५ ॥

इत्थमेतदिति । इत्थम् वामनकृततपस्याधिकरणतया एतत् सिद्धाश्रमनाम महातीर्थम् अतिपावन स्थानमध्यासीना आश्रिता द्विजातयो ब्राह्मणा अकुतोभयसञ्चारा सर्वतो निर्भयसञ्चारा सन्त षट्कर्माणि दानादिषट्शास्त्रोक्तकर्माणि प्रयुञ्जते अनुतिष्ठन्ति । 'दानमध्यापन पितृतर्पणातिथिपूजनम्। होमो बलिश्च विप्राणा षट् कर्माणि दिने दिने' इति। यद्वा यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहा षट् कर्माणि ॥ १६ ॥

पश्यैत इति। पश्येत्यस्य वाक्यार्थ कर्म। पशुबन्धो यागभेदस्तस्य वेद्य परिष्कृता भूमयस्तासा वलयै समूहै औदुम्बरीदन्तुरै उदुम्बरकाष्ठकृतस्थूणायुक्तै नित्यव्यञ्जित सततप्रकाशितो गृह्यतन्त्रविधि गृह्योक्तकर्मजातानि येषु तादृशा रम्या गृहस्थाश्रमा सन्तीति शेष,। यत्र गृहस्थाश्रमेषु अमी गृहमेधिन सदारा गृहिण प्रचलितस्वाराज्यसिहासना प्रचलितम् 'मामयमधिकरिष्यती'ति हेतो कम्पित स्वर्गराज्यासन येभ्यस्तादृशा वैतानेषु यज्ञसम्बन्धिषु कृपीटयोनिषु अग्निषु वषट्कुर्वते जुह्वति। पशुबन्धयागे हि पशुर्बध्यते औदुम्बरीस्पर्शश्च क्रियते, 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इति स्मरणात्। यद्वा औदुम्बरी सर्पफणाकार काष्ठभेदो य खलु

इस प्रकार इस महातीर्थमे रहनेवाल ब्राह्मणगण निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य यजन याजनादि षट्कर्मका प्रयोग किया करते हैं ॥ १६ ॥

आप देखें—यह हैं यहाँके रमणीय गृहस्थाश्रम, जिनमें पशु बन्धन वेदीके वेष्टन स्वरूप औदुम्बरकाष्ठ उच्च-नीचता उत्पन्न कर रहे है, और जहाँपर स्वर्ग राज्यके सिंहासनको प्रचलित कर देनेवाले गृहमेधीगण यज्ञिय वह्निमें पुरोडाशका होम किया करते हैं ॥ १७ ॥

---

१ अन्यत्र च' इति ।

राम —([1]सहर्षस्मितम् ।) [2]वत्स, इतोऽपि [3]तावत्कृतार्थयावश्चक्षुषी । प्रसन्नपावनोऽयमृषीणां समवाय । इदममीषाम्

पूरयित्वेव सर्वाङ्गमतिरिक्ता शिराततो ।
जटारूपेण बिभ्राणं शिरोभिर्गहनं सद ॥ १८ ॥

किं च—

तप कृशतरैरङ्गै स्रष्टुमाकारितैरिव ।
सायं प्रातरमी पुण्यमग्निहोत्रं [4]प्रयुञ्जते ॥ १९ ॥

(इति परिक्रमत ।)

पशुबन्धार्थं निखात्य ध्रियते । 'दन्तुरस्तून्नते दन्ते तथोन्नतनतेऽपि च' इति मेदिनीकार । 'कृपीटयोनिर्ज्वलन ' इत्यमर ॥ १७ ॥

कृतार्थयाव सार्थकीकुर्व । चक्षुषी नयने । प्रसन्नपावन सुन्दर पवित्रश्च । समवाय समुदाय ।

पूरयित्वेति । अमीषाम् ऋषीणाम् सद सभा गोष्ठीत्यर्थ , सर्वाङ्गम् पूरयित्वा व्याप्य इव अतिरिक्ता उर्वरिता शिराततो शिरासमुदयान् जटारूपेण जटास्वरूपेण बिभ्राणं शिरोभि गहनम् व्याप्तम् अस्तीति शेष । एषा मुनीना शिरस्सु वर्त्तमाना जटा सर्वाङ्गव्याप्तासु शिरासु अवशिष्टाभि शिराभिरिव घटिता प्रतीयन्त इत्यर्थ ॥१८॥

तप कृशेति स्रष्टुम् निर्मातुम् आकारितै कल्पिताकारै अपूरितैरिव तप कृशतरै तपस्याक्षामै अङ्गै करचरणादिभि उपलक्षिता अमी ऋषय पुण्यम् पवित्रताकरम् अग्निहोत्रम् यागविशेषम् प्रयुञ्जते कुर्वते । अन्यत्रापि चित्रलिखितादौ प्रथमं रेखा क्रियते ततो वर्णै पूर्यते, तथैवैषा तप कृशानामृषीणामङ्गानि रेखाभिरिव रचितानि प्रतिभान्ति । अस्थिपुञ्जनिभा इमेऽग्निहोत्रमाचरन्तीति भाव ॥ १९ ॥

राम—(हर्षसे हसकर) वत्स, इधर भी अपनी आखें कृतार्थ करें, प्रसन्न तथा पावन यह है ऋषियों का समुदाय । यह है इनकी गोष्ठा,

सिरा-समुदायोंसे ही इनके सर्वाङ्ग बनाये गये हैं और जो सिरायें बचगई हैं उन्हे ये जटा रूपमें शिरोदेशमें रक्खे हुए हैं ॥ १८ ॥

तपस्यासे कृश इनके अङ्ग ऐसे दीखते हैं मानो बनानेके लिये खाके तैयार किये गये हों । यह मुनिगण साय-प्रात पवित्र अग्निहोत्र क्रिया करते हैं ॥ १९ ॥

---

१ 'सहर्षम्' इति ।　　२ 'वत्स, लक्ष्मण' इति ।
३ 'तावत्कृतार्थय' इति ।　　४ 'उपासते' इति ।

लक्ष्मणः—(सहासम् ।) आर्य, रमणीयमितो वर्तते ।

बालेयतण्डुलविलो[1]पकदर्थिताभि-
रेताभिरग्निशरणेषु सधर्मिणीभिः ।
[2]तत्त्रासहेतुमपि दण्डमुदस्यमान-
माघ्रातुमिच्छति मृगे मुनयो हसन्ति ॥ २० ॥

रामः—(परिक्रामन्सकौतुकानुरागम् ।) वत्स, [3]इतस्तावत् ।

आर्द्रप्रसूतिरियमङ्गनयज्ञवेदि-
नैदिष्ठमेव हरिणी तृणुते [4]तृणं च ।
वत्सीयतापसकुमारकरोपनीत-
नीवारनिर्वृतमपत्य[5]मवेक्षते च ॥ २१ ॥

बालेयेति । बलिः पूजोपहारः तस्मै हितः बालेयम् तादृशस्य तण्डुलस्य विलोपेन भक्षणद्वाराऽपहरणेन कदर्थिताभिः क्लेशिताभिः सधर्मिणीभिः स्त्रीभिः अग्निशरणेषु होमगृहेषु तत्त्रासहेतुम् तण्डुलकणापहारिमृगभयजनकतयोदस्यमानम् उत्थाप्यमानम् दण्डम् मृगे आघ्रातुमिच्छति सति मुनयो हसन्ति । अग्न्यगारे बलिकर्मणे] तण्डुलन्यासः कृतः, आश्चर्यमृगास्तान्भक्षयन्ति, तेषामनया चेष्टया मुनिललनाः कदर्थिताः सत्यो मृगास्तान् भीषयितुं दण्डमुदस्यन्ति, मृगाश्च भयापरिचिततया तमपि दण्डमाघ्रातुमिच्छन्ति, तदिदं सर्वमालोकमाना मुनयो हसन्तीति भावः । स्वभावोक्तिरलंकारः ॥ २० ॥

आर्द्रप्रसूतिरिति । आर्द्रप्रसूतिः अभिनवप्रसूता इयम् हरिणी अङ्गनयज्ञवेदिनेदिष्ठम् अजिरस्थितयज्ञवेदिसन्निहितम् एव तृणम् तृणुते कवलयति, वत्सीया वत्सहिता

लक्ष्मण—(हँसकर) इधर बड़ा रमणीय है ।

अग्निगृहमें बलिके लिये रखे गये तण्डुलोंको हरिण खाजाते हैं, इसपर मुनिस्त्रियाँ खीझकर उनको डरानेके लिये दण्ड उठाती है, परन्तु हरिण इतने हिलेमिले है कि वे उस दण्डको सूँघने की इच्छा करने लगते हैं, जिसे देखकर मुनिगण उन मृगोंकी ढिठाई पर हँस देते हैं ॥ २० ॥

राम—(चलते हुए कौतुक तथा प्रेमसे) अङ्गनमें वर्त्तमान यज्ञवेदीके समीपस्थ तृण नई ब्याई हुई हरिणी चर रही है, उसके बच्चे जिसे तपस्वी कुमार अपने हाथोंसे नीवार खिलाते हैं उन्हे वह स्वस्थ भावमें देख भी रही है ॥ २१ ॥

---

१ 'विलेप' इति । २ 'उत्त्रास' इति । ३. 'इद तावत्' इति ।
४ 'तृणानि' इति । ५ 'अपेक्षते' इति ।

अपि च—

विष्वक्तपोधनकुमारसमर्प्यमाण-
श्यामाकतण्डुलहृतां च पिपीलिकानाम् ।
श्रेणीभिराश्रमपथा प्रथमानचित्र-
पत्त्रावलीवलयिनो मुदमुद्वहन्ति ॥ २२ ॥

[1]लक्ष्मण —अहो पशूनाम[2]प्यपत्यवात्सल्यम् । अहो शिशूनामपि सत्कर्मताच्छील्यम् ।

[3]राम—(अन्यतोऽवलोक्य ।)

मुनिविनियोगविलूनप्ररूढमृदुशाद्वलानि बर्हींषि ।

ये तापसकुमारा तपस्विजनबाला तेषां करै हस्तै उपनीतै समर्पितै नीवारै धान्यविशेषै निर्वृतम् तृप्तम् अपत्यम् बालकम् हरिणम् अवेक्षते पश्यति च । सद्य, प्रसूता हरिणी दूरगमनाक्षमतया समीपस्थाङ्गनवेदिप्ररूढ तृणमभ्यवहरति, तथा कुर्वत्येव च वत्सप्रियतापसकुमाराहृतनीवारलाभतृप्त स्वमपत्य प्रेक्षते चेति भाव ॥

विष्वगिति । आश्रमपथा तपोवनमार्गा तपोधना ऋषयस्तेषा कुमारै बालै समर्प्यमाणान् दीयमानान् श्यामाकतण्डुलकणान् तदाख्यतण्डुलाशान् हरन्ति तासाम् पिपीलिकानाम् श्रेणीभि विष्वक् समन्तात् प्रथमाना विस्तार गच्छन्त्य पत्रावल्य रचनाविशेषास्तासा वलया सन्त्येषु ते तथोक्ता मुदम् दर्शकानामानन्दम् उद्वहन्ति प्रादुर्भावयन्ति । आश्रममार्गेषु मुनिकुमारोपहृतश्यामाकतण्डुलकणहारिपिपीलिकातति पत्रावलीरिव विरचयन्ती दर्शकानानन्दयति । वसन्ततिलकमेव वृत्तम् । 'समन्ततस्तु परित सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमर ॥२२॥

अपत्यवात्सल्यम्—सन्ततिस्नेह । सत्कर्मताच्छील्यम् शुभकर्मप्रवृत्ति ॥

मुनिविनियोगति । अथ गोकर्णतर्णक मृगशावक उपकण्ठकच्छेषु समीपस्थित-

---

चारोओर ऋषि कुमार श्यामाकतण्डुल देरहे हैं और चीटियाँ उन्हे ले जारही हैं उनकी पङ्क्तियाँ विस्तीर्ण पत्रावलीकी वलयसी दीखती हैं जो आनन्द प्रदान कर रही हैं ॥ २२ ॥

लक्ष्मण—अहा ! पशुओंमें भी बडी अपत्यप्रीति हुआ करती है, और शिशुओंमें भी सत्कर्म प्रवृत्ति होती है ।

राम—(दूसरी ओर देखकर) मुनिकी आज्ञासे जिनके नये कोमलपत्ते खण्डित कर

---

१ 'लक्ष्मण —(दृष्ट्वा)' इति । २ 'प्रसव' इति । ३. 'राम' इति क्वचिन्नास्ति ।

गोकर्णतर्णकोऽयं तर्णोत्युपकण्ठकच्छेषु ॥ २३ ॥

([1]इति परिक्रामत ।)

लक्ष्मणः—आर्य,

इयमेभिरालवालैः पदे पदे ग्रन्थिलासु कुल्यासु ।
[2]तीव्रतमा जलवेणिः प्रवहति विश्रम्य विश्रम्य ॥ २४ ॥

रामः—वत्स, साधु [3]दृष्टम् ।

आलवालवलयेषु भूरुहां मांसलस्तिमितमन्तरान्तरा ।

नदीतीरेषु मुनीनां विनियोगार्थं यज्ञकर्मणि व्यवहारार्थम् विलूनानि उत्पाटितानि पुनः प्ररूढानि च मृदुशाद्वलानि कोमलहरितानि बर्हींषि कुशान् तर्णोति खादति । 'गोकर्णोऽश्वतरेऽपि स्यान्मृगसर्पविशेषयोः', 'तर्णको बालकः समौ' इत्युभयत्रामरः ॥ २३ ॥

इयमेभिरिति । इयम् तीव्रतमा अतिवेगवती जलवेणिः वेणीरूपं जलम् जलप्रवाहः आलवालैः पयोदानाय वृक्षाधोदेशे निर्मितैः स्थलैः पदे पदे स्थाने स्थाने ग्रन्थिलासु स्रोतोविघ्नकरीषु पार्वतीषु कुल्यासु कृत्रिमसरित्सु विश्रम्य विश्रम्य प्रवहति सञ्चरति । प्रवाहस्य वेगवत्त्वेऽपि मध्ये मध्ये स्थितैरालवालैः प्रतिरुद्धसञ्चारतया मन्दसञ्चारिता वर्ण्यते । जलस्य सूक्ष्मप्रवाहतया स्रोतोविघ्नाधायककुटिलवेगतया च वेणीरूपत्वम् । 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः ॥ आर्यावृत्तम् ॥ २४ ॥

आलवालेति । भूरुहाम् वृक्षाणाम् आलवालवलयेषु वृक्षमूलस्थजलाधारेषु अन्तरा अन्तरा मध्ये मध्ये मांसलस्तिमितम् प्रचुरं निश्चलञ्च, पुनः एवम्

लिये गये हुए ऐसे कुशों को जलप्राय देशके पास यह हरिण विशेषका बालक सानन्द चर रहा है ॥ २३ ॥

[दोनों चलते हैं]

लक्ष्मण—आर्य, पग-पगपर आलबालोंसे ग्रन्थियुक्त कुल्यावोंमें तीव्रगामिनी होकर भी यह जलधारा रुक-रुककर प्रवाहित होती है ॥ २४ ॥

राम—वत्स, तुमने ठीक देखा है,

वृक्षोंके आलवालोंमें पानी गम्भीर तथा मन्दप्रवाह दीखता है, परन्तु वहा पानी

---

१ 'इत्युभौ' इति । २ 'तीव्रतरा जलवेणी' इति । ३ 'दृष्टम् । अहो' इति ।

केरलीचिकुरभङ्गिभङ्गुरं सारणीषु पुनरम्बु दृश्यते ॥ २५ ॥

तदेहि। [1]भगवतीं कौशिकीमालोकयन्तौ मुहूर्तमात्रमात्मानं [2]पुनीवहे। (परिक्रम्यावलोक्य च।) क्वचित्साक्रामिकोऽपि विशेषो [3]नैसर्गिकमतिशेते। [4]तथा हि।

जडस्वच्छस्वादुप्रकृतिरुपहूतेन्द्रियगणो
गुणो यद्यप्यासामयमयुतसिद्धो विजयते।
तथाप्युत्कर्षाय [5]स्फुरति सरितामाश्रमसदा-
मिदानीं वानीरद्रुमकुसुमजन्मा परिमलः ॥ २६ ॥

सारणीषु जलप्रवाहिकासु केरलीचिकुरभङ्गिभङ्गुरम् केरलदेशस्थवनिताकेशपाशकुटिलम् अम्बु दृश्यते। 'आलवाल स्थितो मूले वृक्षस्य जलधारके' इत्यमर ॥२५॥

भगवतीं कौशिकीम्, तदाख्या पुण्या नदीम्। मुहूर्त्तम् क्षणम्। पुनीवहे पवित्रीकुर्वः। साङ्क्रामिक' ससर्गजन्य। विशेष गुणोदय.। नैसर्गिकम् स्वाभाविकम्। अतिशेते अतिक्रामति। स्वाभाविकगुणापेक्षयापि ससर्गजन्यो गुणो मुख्यतां भजत इत्यर्थ।

जडेति जडा शीता स्वच्छा निर्मला स्वादु सुस्वादा प्रकृतिः स्वभावो यस्य तथाभूतः उपहूतेन्द्रियगण आकृष्टकरणवर्ग, अयम् अयुतसिद्ध' गुणान्तरामिश्रणजन्मा स्वाभाविक आसाम् सरिता गुण यद्यपि विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते तथापि इदानीम् आश्रमसदाम् आश्रमवासिनाम् उत्कर्षाय परितोषाय वानीरद्रुमाणां नदीतीरवर्त्तिना वेतसतरूणा कुसुमेभ्य पुष्पेभ्यो जन्म यस्य तादृश परिमल सुगन्ध स्फुरति प्रसरति। यद्यप्यासां नदीनां स्वाभाविकी स्वच्छशीतलस्वादुजलता प्रसिद्धा, तथापि सम्प्रति तटस्थवानीरकुसुमप्रभव परि-

---

नालियोंमें पहुचकर करली स्त्रियोंके केशपाशकी तरह टेढा मेढा दीख पडता है ॥ २५ ॥

चलो, थोडी देर भगवती कौशिकीके दर्शनोंमे अपनेको पवित्र करलें। (चलकर तथा देखकर) कहीं कहीं सक्रमण करके होनेवाली विशेषतायें स्वाभाविक गुणको जीत लेती हैं।

यद्यपि जलका स्वाभाविक शीत स्वच्छ सुस्वादुगुण इन्द्रियोंको आकृष्ट करनेवाला है, तथापि आश्रमवाहिनी सरिताओंका यह वानीरकुसुमजन्मा परिमल उनके उत्कर्षको बढा रहा है ॥ २६ ॥

---

१ 'कौशिकीं भगवतीमवलोकयन्तौ मुहूर्तम्' इति। २. 'पुनीमहे' इति।
३ 'नैसर्गिकमधिकम्' इति। ४ 'पश्य' इति। ५ 'श्रयति' इति।

लक्ष्मणः—आर्य, पुरस्तादनुकौशिकीतीरमालोकय ।

तैर्मेधाजननव्रतप्रणयिभिर्व्यूहैर्वटूनामियं
सिक्ता नित्यवसन्तविभ्रमवती रम्या पलाशावली ।
एतस्यां हरिणारिपाणिजसृणिश्रेणिश्रियः कोरका
गोपायन्ति तपोवनं वनकरिक्रीडाकराकर्षणात् ॥ २७ ॥

(नेपथ्ये ।)

मल समीपस्थाश्रमवासिना विशेषतृप्तये जायत इत्याशय'। 'शीतवानीरवञ्जुला' इत्यमर'। 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धमात्रेऽपि दृश्यते' इति विश्व । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २६ ॥

पुरस्तात् अग्रत । अनुकौशिकीतीरम् कौशिकीनद्यास्तीरदेशसमीपे ।

तैर्मेधेति । मेधा धारणावती बुद्धिस्तस्या जननाय उत्पादनाय यत् व्रतम् नियम पलाशमूले जलदानरूपस्तत्प्रणयिभिस्तदासक्तै वटूना मुनिबालकाना व्यूहै· समुदयै सिक्ता जलैरार्द्रीकृता नित्यवसन्तविभ्रमवती सदावासन्तिकविलासधारिणी इय रम्या सुन्दरतमा पलाशावली दृश्यतामिति शेष, एतस्या पलाशावल्या हरिणारे सिहस्य पाणिजा नखा एव सृणिश्रेणय अङ्कुशावल्य तासा श्रीरिव श्रीर्येषा ते तथोक्ता कोरका' कलिका वनकरिभि· वनगजै' क्रीडया अनायासचेष्टया करै शुण्डादण्डै आकर्षणात् नमनात् लवनाच्च तपोवन रक्षन्ति । मेधाजननाय छन्दोगब्रह्मचारिण पलाशमूलं सिञ्चन्तीति वैदिकप्रसिद्धया तस्य व्रतस्य पूर्त्तये मुनिबालकै सिक्तमूला पलाशवनी सततानुभूयमानवसन्तविलासा नित्यकुसुमिता च दृश्यते, किञ्चास्या पलाशवन्या सिहनखाङ्कुशाकाराणि फुल्लानि कुसुमानि वनकरिणा हृदयेषु सिंहनखभ्रममुत्पादयन्ति तद्भयजननद्वारा वनकरिकराकर्षणापदस्तपोवन रक्षन्तीति भाव । 'व्यूहस्तु बलविन्यासे निर्मले वृन्दतर्कयो', 'अङ्कुशोऽस्त्री सृणि स्त्रियाम्', 'कलिका कोरक पुमान्' इति सर्वत्र विश्वामरौ । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

लक्ष्मण—आर्य, आगेकी ओर कौशिकीके तटमें देखो—

बुद्धिवर्धन-निमित्तक व्रतमें सलग्न वटुओंका समुदाय सींच-सींचकर इस पलाशवनको नित्य वसन्त-विभ्रमशाली बनाये रहता है, इस पलाशवनमें सिंहके नखकी तरह दीखनेवाली पलाशकलिकायें वनगजोंके आकर्षणसे इस वनकी रक्षा किया करती हैं ॥ २७ ॥

(नेपथ्यमें)

रामभद्र, कियच्चिरमवलोकनेन कृतार्थीक्रियन्ते तपोवनविहारभूमयः। संप्रति हि

परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजूंषि रुचां पतिः
किमपि [1]शमिनः सावित्राख्यं रहस्यमुपासते।
गुरुरय[2]मनुष्ठास्यन्माध्यन्दिनीं सवनक्रिया-
मिह मखविधौ नेदीयांसं भवन्तमपेक्षते ॥ २८ ॥

रामः—([3]अश्रुतमभिनीय सानुरागम्।)
[4]वारांस्त्रीनभिषुण्वते विदधते वन्यै शरीरस्थिती-

कियच्चिरम् कियन्त काल यावत्। अवलोकनेन दर्शनेन। कृतार्थीक्रियन्ते सनाथ्यन्ते। तपोवनविहारभूमय तपोवनचत्वराणि।

परिणमयतीति। रुचापति प्रभाकर ज्योतिर्वृत्त्या तेजोरूपेण यजूंषि यजुर्वेदान् परिणमयति परिणतानि करोति, यजूरूपं धारयति, मध्याह्ने सूर्यस्य यजूरूपतयेत्थमुक्तम्, तथाच पुराण उक्तम्-'ऋङ्मय प्रातरादित्यो मध्याह्ने च यजुर्मय। साय साममयश्चेति त्रयीमय उदाहृत'। शमिन शमनिष्ठा मुनयः किमपि अनिर्वचनीय सावित्राख्य सावित्रनामधेय रहस्य तत्त्वम् उपासते। अय गुरु आचार्यो विश्वामित्र माध्यन्दिनी मध्याह्नकालिकी सवनक्रियाम् स्नानविधिम् अनुष्ठास्यन् करिष्यन् इह मखविधौ यज्ञानुष्ठाने भवन्त नेदीयासम् निकटवर्त्तिनम् अपेक्षते इच्छति। स्नानाय प्रस्थितो गुरुर्मखरक्षायै भवन्तं वेदिसमीपे स्थापयितुमिच्छतीत्यर्थ, अतश्च विहारभूमिविलोकने विलम्ब मा कृथा इत्याशयः॥ 'सवन त्वध्वरे स्नाने' 'रहस्तत्त्वे रसे गुह्ये' इत्युभयत्र विश्व ॥ हरिणीवृत्तं, तल्लक्षणं यथा 'नसमरसलाग षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति ॥ २८ ॥

वारांस्त्रीनिति। (धन्या इमे मुनय) त्रीन् वारान् त्रिधा अभिषुण्वते

रामभद्र, तपोवनकी विहारभूमियोंको कितना देर तक आप देखते रहेंगे? अब सूर्य अपनी किरणोंको यजुर्वृत्तिमें परिणत कर रहे हैं—अर्थात् मध्याह्न हो रहा है, शमीजन सावित्री मन्त्रका जप कर रहे हैं, हमारे गुरुदेव माध्यन्दिन यज्ञको करनेके लिए यज्ञभूमिमें आपको उपस्थित देखना चाहते हैं॥ २८॥

---

१. 'यमिन' इति। २ 'अधिष्ठास्यन्' इति।
३ 'अश्रुतिम्' इति। ४ 'त्रीन्वारान्' इति।

रैणेय्यां त्वचि संविशन्ति वसते चापि [1]त्वचस्तारवीः ।
तत्पश्यन्ति च धाम नाभिपतति यच्चार्मणे चक्षुषी
धन्यानां विरजस्तमा[2] भगवती चर्येयमाह्लादते ॥ २९ ॥

(नेपथ्ये पुनस्तदेव[3] पठ्यते ।)

रामः—(श्रुत्वा ससम्भ्रममूर्ध्वमवलोक्य च ।) कथं [4]गगनमध्यमध्यारूढो निदाघदीधितिः । [5]वत्स, तदेहि । यज्ञवाटमधिष्ठाय क्रमेण कृताह्निकस्य भगवतः कौशिकस्य प्रत्यनन्तरीभवावः ।

(इति परिक्रामतः ।)

स्नान्ति, वन्यैः वनजातैः फलमूलादिभिः शरीरस्थितौ प्राणयात्रां विदधते कुर्वते, ऐणेय्यां त्वचि मृगचर्मणि संविशन्ति स्वपन्ति, अपिच तारवीः त्वचः तरुवल्कलानि वसते परिदधते । यत् धाम ब्रह्ममयं तेजः चार्मणे चर्मरचिते लौकिके चक्षुषी नाभिपततः नालोकयतः, तत् धाम पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति, अतः धन्यानां पुण्यात्मनामेषामृषीणाम् भगवती सर्वसामर्थ्यशालिनी विरजस्तमा रजस्तमोभ्यामस्पृष्टा सात्त्विकी चर्या अनुष्ठानविधिः आह्लादते दर्शकजनमनांसि सुखयतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

गगनमध्यमध्यारूढः—आकाशमध्यमागतः । निदाघदीधितिः—उष्णकरः । यज्ञवाटम् यागाग्निम् यज्ञमार्गं वा, अधिष्ठाय—आश्रित्य । कृताह्निकस्य—कृतदिनकृत्यस्य । प्रत्यनन्तरीभवावः—सन्निहितौ भवावः ॥

राम—(अनसुनाकी अभिनय करके) तीन बार स्नान करते हैं, वनके कन्दमूलोंसे शरीरयात्रा चलाते हैं, मृगचर्मपर सोते तथा वृक्षकी त्वचा पहनते हैं, चर्मचक्षुओंसे नहीं दीखनेवाले ब्रह्मतेजका प्रत्यक्ष करते हैं, इस तरहकी दिनचर्या किन्हीं रजोगुण-तमोगुणसे हीन धन्य पुरुषोंकी ही हुआ करती है ॥ २९ ॥

(नेपथ्यमें फिर वही बात दुहराई जाती है)

राम—(सुनकर घबड़ाहटके साथ ऊपर देखकर) क्यों, भगवान् सूर्य आकाशके मध्यमें आ गये । भाई चलो, यज्ञस्थलमें आह्निककृत्य सम्पन्न करके बैठे हुए भगवान् कौशिकके समीप चलें ।

(दोनों जाते हैं)

---

१. 'त्वच तारवाम्' इति । २ 'विरजन्तमा' इति । ३. 'तथैव' इति ।
४. 'गगनमध्यारूढ.', 'गगनमध्यमारूढ' इति । ५ 'वत्स' इति क्वचिन्नास्ति ।

लक्ष्मणः—(सर्वतो दृष्ट्वा ।) आर्य,

उद्दामद्युमणिद्युतिव्यतिकरप्रक्रीडदर्कोपल-
ज्वालाजालजटालजाङ्गलतटीनिष्कूजकोयष्टयः ।
भौमोष्मप्लवमान[2]सूर्यकिरणक्रूरप्रकाशा दृशो-
राविष्कर्म समापयन्ति धिगमूर्मध्याह्नशून्या दिशः ॥३०॥

अन्तिकतमा चेय [3]यज्ञवाटभूमि । तदेतदेव न्यग्रोधच्छायामण्डप-

उद्दामद्युमणीनि । उद्दामा प्रबला या द्युमणिद्युति सूर्यप्रभा तस्या व्यतिकरेण सम्बन्धेन प्रक्रीडन् ज्वलन् य अर्कोपल सूर्यकान्तमणिस्तस्य ज्वालाजालेन तेज-समूहेन जटालासु व्याप्तासु जाङ्गलतटीषु निर्जलभूमिषु निष्कूजा. अशब्दा कोयष्टय टिट्टिभा यासु तास्तथोक्ता, उद्दण्डसूर्यकरसम्बन्धप्रज्वलदर्कोपलज्वालाव्याप्तनिर्ज-लदेशमूकीभूतटिट्टिभा इत्यर्थ । किञ्च भौमे पार्थिवे प्लवमाना सन्तरन्तो ये सूर्य-किरणास्तै क्रूरप्रकाशा पार्थिवोष्मसमेधितसूर्यकरसम्बन्धादतिक्रूरप्रकाशा अमू-र्दिश दृशो मम नयनयो आविष्कर्म आविष्कार समापयन्ति, दृक्शक्ति प्रति-बध्नन्ति, अमू मध्याह्नशून्या दिशो धिक्? मध्याह्ने क्रूरप्रकाशशालिनीषु दिशा-स्वातपभयाज्जनसञ्चाराभावेन तासा शून्यतयाऽत्र धिक्कार उक्त । सर्वास्वपि दिशासु सूर्यकरातिशयप्रकाशसमिद्धार्कोपलप्रभासु सतीषु जाङ्गलभूमिषु टिट्टिभा-मूकीभूय समय यापयन्ति, दृक्सामर्थ्यमपेत, लोकसञ्चारश्चातपभयादवसितप्राय-स्तदमूर्मध्याह्नसूर्यकरातपेन शून्यता गमिता दिशो धिगिति भाव । 'द्युमणिस्तरणि-र्मित्र' इत्यमर । 'जङ्गल निर्जलस्थानम्' इतिधरणि ॥ ३० ॥

अन्तिकतमा अतिसमीपस्था । यज्ञवाटभूमि —यज्ञाग्निवेदि । न्यग्रोधच्छाया-

लक्ष्मण—(चारों ओर देखकर) आर्य,

उद्दाम सूर्यकर-सम्पर्कसे चमकनेवाले सूर्यकान्त उपलोंकी ज्वालाजालसे व्याप्त निर्जल प्रदेशोंमें टिट्टिभ पक्षिगण नि शब्द बैठे हुए हैं, और पृथ्वीकी गर्मीसे बढे हुए सूर्यकरोंसे क्रूर प्रकाशवाली दिशायें मध्याह्नमें शून्यसी प्रतीत होकर दृष्टिशक्तिका लोप सी कर रही हैं ॥ ३० ॥

समीपमें ही तो यज्ञशाला है । अत इसी न्यग्रोधवृक्षकी छायावाले मण्डपमें बैठकर

१. 'निरूप्य' इति । २ 'सूरकिरण' इति ।
३ 'यज्ञभूमिः । तदेतन्न्यग्रोध' इति ।

[1]मध्यासीना ऋत्विज प्रत्यवेक्षामहे। गलितयौवने पुनरहनि भगवन्तं द्रक्ष्यावः।

रामः—एवमस्तु।

(इति परिक्रम्य नाट्येनोपविशत ।)

लक्ष्मणः—(पार्श्वतोऽवलोक्य ।) आर्य,

मध्येव्योम क्रीडयित्वा मयूखान्भानोर्बिम्बे लम्बमाने क्रमेण।
स्वैरं स्वैरं मूलतः पादपानां पश्य च्छायाः कश्चिदाकर्षतीव ॥ ३१ ॥

रामः—(समन्तादवलोक्य ।) वत्स, मध्यन्दिनमतिक्रान्तमिति दिनमप्यतिक्रान्तमेव। [2]पश्य।

गगनशिखरमुदयाद्रेरधिरूढाः कष्टमर्करथहरयः।

मण्डपम् न्यग्रोधतरुतलम् । अध्यासीना -आश्रिता । ऋत्विज –यज्ञाविकृतान् । प्रत्यवेक्षावहे–पश्याव ।

मध्येव्योमेति । मध्येव्योम आकाशमध्ये मयूखान् स्वकरान् क्रीडयित्वा सञ्चार्य भानो सूर्यस्य बिम्बे मण्डले क्रमेण लम्बमाने पश्चिमाचलगामिनि सति (कश्चिज्जन) पादपाना वृक्षाणा छाया मूलत मूलदेशात् स्वैरम् स्वैरम् यथेच्छम् मन्दमन्दञ्च आकर्षतीव आकृष्य नयतीव। इति पश्य अवलोकय। 'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकै' इति लक्षिता मालिन्यत्र वृत्तम् ॥ ३१ ॥

मध्यन्दिनम् मध्याह्न । अतिक्रान्तम् व्यतीतम्।

गगनेति। उदयाद्रे उदयाचलात् गगनशिखरम् अन्तरिक्षस्योद्ध्र्वदेशम् कष्टम् क्लेशपूर्वकम् अधिरूढा आरूढवन्तोऽर्करथहरय सूर्यरथाश्वा अधुना (ततो

ऋत्विजोंकी रखवाली करते हैं, दिनके ढलनेपर कौशिकके दर्शन करेंगे ॥

राम—ऐसा ही होवे।

(चलकर दोनों बैठते हैं)

लक्ष्मण—(पार्श्वदेश देखकर) आर्य, आकाशके मध्यमे किरणोंसे खेलकर क्रमशः सूर्य-बिम्बके लम्बित होनेपर वृक्षोंके नीचेसे कोई छायाको धीरे-धीरे खींच सा रहा है ॥३१॥

राम—(चारो ओर देखकर) मध्याह्न बीत गया तो दिन भी बीत ही गया। देखो—जो सूर्य-रथके अश्व उदयाचलसे गगन शिखरपर बडी कठिनाईमे चढ मके थे, वही

---

१ 'अध्यासीनानृत्विज.' इति। २. 'तथाहि' इति।

अस्तमहीधरमधुना झटिति सुखेनावरोहन्ति ॥ ३२ ॥

[1]लक्ष्मणः—आर्य, नूनमद्य रक्षांसि परापतिष्यन्ति। यदयमध्वरवेदिकासंनिधाने ते शुनःशेपमुखेन भगवानुपाध्यायः प्रशास्ति।

रामः—(सरोषाहंकारम्।) वत्स, यद्येवं स्यात्

कल्पान्तकर्कशकृतान्तभयंकरं मे
निष्प्रघ्नतः क्रतुविघातकृताममीषाम्।
नीराक्षसां वसुमतीमपि कर्तुमद्य
पुण्याहमङ्गलमिदं [2]धनुरादधातु ॥ ३३ ॥

व्योमशिखरात्) झटिति सुखेन अक्लेशेन अस्तमहीरुहम् अस्ताचलम् अवरोहन्ति। उपर्यारोहणस्य क्लेशसाध्यत्वेऽपि अधोवरोहणस्य सुखसाध्यतया ये सूर्याश्वा उदयाचलाद् गगनशिखरारोहणे क्लेशमापुस्त एवाधुनागगनशिखरात्ततोऽस्ताचलावरोहणमनायासेनाचरन्तीति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

परापतिष्यन्ति यज्ञविघ्नमुत्पादयितुमागमिष्यन्ति। यत् यस्मात्। अध्वरवेदिकासन्निधानम् अध्वरवेदिपार्श्वेऽवस्थानम्। शुनःशेपमुखेन तद्द्वारा। प्रशास्ति आदिशति, यतो यज्ञवेदिपार्श्वे विश्वामित्रस्त्वदीयामुपस्थितिं कामयते तन्मन्ये तेन राक्षसानामागमनं सम्भाव्यते, न च तदनुमानमसङ्गतं संभवति, तदवश्यमद्य ते राक्षसाः समागमिष्यन्तीति मम विश्वास इति भावः ॥

यद्येवं स्यात् यदि राक्षसा आगच्छेयुः।

कल्पान्तेति। कल्पान्ते प्रलयकाले कर्कशोऽतिभीषणो यः कृतान्तो यमस्तद्वद् भयङ्करम् भीषणम्, क्रतुविघातकृताम् यज्ञविध्वंसकानाम् निष्प्रघ्नतः विनाशयतः मे मम रामस्येदं धनुः अद्य वसुमतीं पृथ्वीं नीराक्षसाम् समाप्तसकलयातुधानां कर्तुं पुण्याहमङ्गले पवित्रे दिने स्वकर्त्तव्यप्रारम्भम् आदधातु करोतु। यदि राक्षसा आगमिष्यन्ति, तदाहमपि राक्षसनाशप्रारम्भं करिष्यामीति भावः ॥ ३३ ॥

सूर्यरथाश्व इस समय आसानीसे अस्ताचलपर उतर रहे हैं ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—आर्य, निश्चय आज राक्षस आवेंगे, क्योंकि शुनःशेपके द्वारा भगवान् कौशिक आज आपको यज्ञवेदीके पास रहनेका आदेश दिया है।

राम—(कोप तथा अहङ्कारसे) वत्स, यदि ऐसा हुआ, तब,

कल्पान्तकालमे कुपित यमराजकी तरह भयङ्कर तथा यज्ञ-विघ्नकारी राक्षसोंको पीस देनेवाला यह मेरा धनुष इस पृथ्वीको नीराक्षस करनेका पुण्याह मङ्गल प्रारम्भ करे ॥३३॥

१. 'लक्ष्मणः—(सहर्षम्।)' इति। २. 'आदधाति' इति।

लक्ष्मणः—(विहस्य ।) कथं रजनीचरचक्र[1]विनाशोत्कण्ठाविसस्थुलमार्यहृदयमदीर्घदर्शिन [2]भगवन्त कौशिकमपि संभावयति ।

अविद्याबीजविध्वंसादयमार्षेण चक्षुषा ।
कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानमवीविशत् ॥ ३४ ॥

रामः—किमुच्यते[3] तत्रभवान्विश्वामित्र' ।

प्रज्ञातब्रह्मतत्त्वोऽपि स्वर्गीयैरेष खेलति ।
गृहस्थसमयाचारप्रक्रान्तैः सप्ततन्तुभि ॥ ३५ ॥

रजनीचराणाम् राक्षसानाम् , चक्रस्य समूहस्य, विनाशाय या उत्कण्ठा व्यग्रता, तया विसस्थुलम् विवशम् , आर्यहृदयम् तव चेत , अदीर्घदर्शिनम् अपुर - शोचिनम् । अयम् भाव —यदि भवान् राक्षसविनाशार्थमुत्कण्ठते तदा मन्ये भवान् विश्वामित्रमदीर्घदर्शिनमाह, यत स हि राक्षसनाश भवता कार्यं निश्चयेन मनुते, ततस्तत्रोत्कण्ठाप्रकाशन तददीर्घदर्शिताप्रत्यायकम् , तद्दीर्घदर्शिताविश्वासे राक्षसवधस्य तद्विश्वासानुसारणासिद्धकल्पतया तद्विषये उत्कण्ठाया अनौचित्यादिति भाव ॥

अविद्येति । अय विश्वामित्र अविद्याबीजविध्वसात् अविद्यारूपाज्ञानकारणस्य ज्ञानेन विनाशनात् आर्षेण चक्षुषा ध्यानदृष्ट्या भूतभविष्यन्तौ नाम कालौ वर्त्तमान नाम कालम् अवीविशत् प्रवेशितवान् । तावपि कालभेदौ वर्त्तमानकालमिव प्रत्यक्षमीक्षमाण प्रत्यक्षविषयत्वाविशेषात्तयोरपि वर्त्तमानकाल एव प्रवेश कारितवानिति भाव ॥ ३४ ॥

प्रज्ञातेति । प्रज्ञातब्रह्मतत्त्व आसादितब्रह्मतत्त्वावबोधोऽपि एष विश्वामित्रः स्वर्गीयै स्वर्गसाधनीभूतै गृहस्थसमयाचारप्रक्रान्तै गृहस्थजनोचिताचारप्राप्तै गृहस्थजनसाध्यै सप्ततन्तुभि' यज्ञै खेलति क्रीडति । आत्मतत्त्वविदा मुक्ततया

लक्ष्मण—(हसकर) राक्षसोको मारनेकी उत्कण्ठासे तरल आपका यह हृदय भगवान् कौशिकको अदूरदर्शी समझ रहा है ।

अविद्या-बीजको विनष्ट करके आर्षचक्षुके सहारे भगवान् कौशिकने भूत-भविष्यकालको वर्त्तमानमें ही समाविष्ट कर दिया है ॥ ३४ ॥

राम—पूज्य विश्वामित्रके विषयमें क्या कहना है ?

ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके भी यह कौशिक स्वर्गसाधक तथा गृहस्थोचिताचार प्राप्त यज्ञोंसे खेला करते हैं ॥ ३५ ॥

---

१ 'चक्र' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'भगवन्तम्' इति क्वचिन्नास्ति ।

३. 'वत्स, किमुच्यते तत्रभवान्कौशिक । तथा हि' इति ।

अपि च—

आर्द्रीकृतो विनयनम्रमहेन्द्रमौलि-
मन्दारदाममकरन्दरसैरिवायम्।
प्रक्रान्तकुण्डलितनूतनभूतसर्ग-
स्त्रैशङ्कवं चरितमद्भुतमाततान॥ ३६॥

लक्ष्मणः—(पुरोऽवलोक्य। [1]सहर्षम्।)

[2]आभिरध्वरचर्याभिः श्रौतमर्थं कृतार्थयन्।
अये कुलपतिः सोऽयमित एवाभिवर्तते॥ ३७॥

स्वर्गसाधकयज्ञप्रवृत्तिर्वृथा, तत्र हि अनात्मविदो गृहस्था प्रवर्त्तेरन्, तेषामेव स्वर्गे साभिलाषत्वौचित्यात्, नहि मुक्त्यधिकारिण स्वर्गे प्रवृत्तिरुचिता, आत्मज्ञानितया मोक्षाधिकृतस्यापि विश्वामित्रस्येय यागप्रवृत्ति क्रीडा एव, तत्साध्यस्वर्गरूपफलनिराकाङ्क्षत्वादिति भाव॥ ३५॥

आर्द्रीकृत इति। विनयेन पादप्रणिपातेन नम्रस्य विनतस्य महेन्द्रस्य मौलि-मन्दारदाम्न शिर स्थितमन्दारकुसुममालाया रसा मकरन्दा तै आर्द्रीकृत शैत्य प्रापित इव अयम् विश्वामित्र प्रक्रान्तकुण्डलित पूर्वं प्रक्रान्त प्रारब्ध पश्चात् कुण्डलित प्रतिबद्ध समाहृत नूतनभूतसर्ग नवीनसृष्टिर्येन तथाभूत· सन् अद्भुत विस्मयावहम् त्रैशङ्कवम् त्रिशङ्कुसम्बद्धम् चरितम् आततान कृतवान्। महेन्द्र-प्रणिपातेन तच्छिर स्थितमन्दारमकरन्दैरिवार्द्रीकृतोऽय विश्वामित्र प्रशान्तकोपो भूत्वा सद्य प्रारब्धा निजा भूतसृष्टि निरुद्धवानित्थमत्यद्भुतमिदमीय त्रैशङ्कव चरितमिति बोध्यम्। आर्द्रीकृत इवेति हेतूत्प्रेक्षा। वसन्ततिलक वृत्तम्॥ ३६॥

आभिरिति। सोऽयं कुलपति आचार्यो विश्वामित्र आभि प्रत्यक्षमीक्षणीयाभि अध्वरचर्याभि यज्ञकर्मभि श्रौतम् अर्थम् वेदस्य रहस्य तत्त्वम् कृतार्थयन् चरितार्थ-

---

पादप्रणत इन्द्रके शिरोमन्दार-पुष्परससे जिनका चरण भिंगाया जा चुका है ऐसे भगवान विश्वामित्रने त्रिशङ्कुके चरितसम्बन्धमें नवीनविश्वकी सृष्टिका प्रारम्भ तथा परित्यागरूप आश्चर्य कार्य कर दिखाया॥ ३६॥

लक्ष्मण—(आगे देखकर) (सहर्ष) इन यज्ञक्रियाओं द्वारा श्रौत अर्थको कृतार्थ करनेवाले यह विश्वामित्र इधर ही आ रहे हैं॥ ३७॥

---

१ 'सकौतुकम्' इति। २ 'स्वामि' इति।

(तत प्रविशति दीक्षितवेषो विश्वामित्र ।)

रामः—(निर्वर्ण्य । सबहुमानम् ।) वत्स लक्ष्मण, पश्य—

कर्मण· श्रूयमाणस्य व्यञ्जनैरधिकोज्ज्वलाम् ।
तपस्तेजोमयीं लक्ष्मीमद्य पुष्णाति मे गुरुः ॥ ३८ ॥

विश्वामित्रः—(परिक्रामन्सहर्षम् ।) हन्त । [1]कृतकृत्यप्रायमात्मान पश्याम । [2]यत·—

निर्वृत्तो बहु तावदध्वरभुजामातर्पणोऽयं विधि-
र्दायादेन समं सुकेतुदुहिता चाद्यैव घानिष्यते ।

यन् इत एवाभिवर्त्तते इत एवायाति । एतदनुष्ठितयज्ञादिक्रियाभिर्वेदार्थ सत्यापितो भवति शिष्टाचारप्रमाणकत्वाद् वेदस्येति भाव ॥ ३७ ॥

कर्मण इति । अद्य मे मम गुरु· विश्वामित्र श्रूयमाणस्य वेदप्रतिपाद्यस्य कर्मण क्रियाकलापस्य व्यञ्जनै प्रकाशकै (तत्तद्यज्ञीयपरिच्छदै) अधिकोज्ज्वलाम् समधिकदीप्तिमतीम् तपस्तेजोमयीं तपस्यातेज·सम्पत्सम्पन्नाम् लक्ष्मीम् श्रियम् पुष्णाति । यज्ञपरिच्छदैरस्य शोभाऽधिकीक्रियत इत्यर्थ ॥ ३८ ॥

कृतकृत्यप्रायम् सफलीभूतम् । स्वकर्त्तव्य सिद्धमिव प्रतीम इत्यर्थ· ।

निर्वृत्त इति । अध्वरभुजाम् देवानाम् आतर्पण समन्तात् तृप्तिजनक· अय विधिः यज्ञ तावत् साकल्येन निर्वृत्त· सम्पूर्ण, अद्य सुकेतुतनया ताडकादायादेन पुत्रादिना समं सह घानिष्यते मारयिष्यते । पुन अग्रे च वृषभध्वजस्य शिवस्य धनुषो भङ्गो भञ्जनमेव एक· पणो निबन्धनं शुल्क यस्यास्तां तथोक्ता वधूं सीता नाम

(दीक्षित-वेषमे विश्वामित्रका प्रवेश)

राम—(देखकर सादर) वत्स लक्ष्मण देखो—

श्रुत्युक्त उपवासादि कर्मोंके आचरणसे अधिक दीप्तिशाली तपस्या तथा तेजसे पूर्ण शोभाको आज हमारे आचार्य विशेषरूपसे धारण कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

विश्वामित्र—(चलते हुए-सहर्ष) मै अब अपनेको कृत्यकृत्य सा समझता हू ।

क्योंकि—यज्ञभागभोक्ता देवोंको सन्तुष्ट करनेवाला यह यज्ञ पूरा हो गया है, बान्धवों के साथ ताडका आज मारी जायेगी । शिवधनुष भङ्ग ही जिसे पानेकी बाजी है ऐसी

---

१ 'कृतकृत्यमिवात्मान पश्यामि' इति ।　　२ 'यत ' इति क्वचिन्नास्ति ।

पाणीकृत्य पुनर्वृषध्वज[1]धनुर्भङ्गैकशुल्कां वधू-
मैक्ष्वाके सुरकार्यदिक्षु चलति स्वास्थ्य विधातास्महे ॥३९॥

(रामलक्ष्मणावुत्थायोपसर्पत ।)

विश्वामित्र —([2]राममतिचिर निर्वर्ण्य सस्नेहकौतुकम् ।)

एष वैहारिकं वेषमादधानो धनुर्धर ।
तत्त्वमान्तरमस्माकममृतैरिव लिम्पति ॥ ४० ॥

उभौ—(उपसृत्य ।) भगवन्, दाशरथी रामलक्ष्मणावभिवादयेते ।

विश्वामित्रः—([3]आलिङ्गय ।) वत्सौ, किमन्यदाशास्महे ।

पाणीकृत्य विवाह्य ऐक्ष्वाके रामे सुरकार्यदिक्षु देवकार्यसम्पादिकासु दक्षिणदिशासु चलति प्रतिष्ठमाने सति स्वास्थ्यम् निर्वृति विधातास्महे कलयिष्याम । देवतातृप्ति-जनको यागो जातकल्प , अद्य रामेण ससुता ताडका हनिष्यत एव, इत पर रामो हरधनुर्भङ्गशुल्का सीता परिणीय यदा दक्षिणाशास्थितानि तत्तद्राक्षसवधात्मकानि देवकार्याणि सम्पादयितु तस्या दिशि प्रचरिष्यति, तदाह निर्वृति कलयितास्मी-ति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३९ ॥

एष इति । एष धनुर्धरो राम वैहारिक क्रीडाकालोपयुक्त वेषम् रूपम् आद-धान धारयमाणोऽस्माक दर्शनकृतार्थानाम् आन्तर तत्त्वम् अन्त करणम् अमृतै सुधाभि सिञ्चतीव । वैहारिक वेषमाधाय भ्रमतो धनुर्धरस्य रामस्य दर्शनेनास्माक-मन्त करणानि सुधाया मज्जनमिवाचरन्तीति भाव ॥ ४० ॥

दाशरथी दशरथपुत्रौ । रामलक्ष्मणौ नाम । अभिवादयेते भवन्तं प्रणमत ।

सीताको व्याहकर रामचन्द्र जब देवकार्यार्थ प्रस्थान कर देंगे तब मै स्वस्थ हो जाऊगा ॥३९॥

(राम लक्ष्मण उठकर समीप आते हैं)

विश्वामित्र—(रामको देरतक देखकर) यह विहारवेषधारी धनुर्धर राम हमारे हृदयको अमृतसे लिप्त कर दे रहा है ॥ ४० ॥

दोनों—(समीप जाकर) महाराज, दशरथके पुत्र राम, लक्ष्मण आपको प्रणाम करते हैं ।

विश्वामित्र—(गले लगाकर) बच्चों, और क्या आशीर्वाद दें ।

---

१. धनुर्ध्वंसैक-' इति । २ 'अतिचिराय' इति । ३. 'विहस्य' इति ।

युवाभ्यामभिनिर्वृत्तयोगक्षेमस्य वज्रिणः ।
ऐश्वर्यप्रक्रियामात्रकृतार्थाः सन्तु हेतयः ॥ ४१ ॥

(उभौ तूष्णीमधोमुखौ स्त' ।)

विश्वामित्र—(विहस्य ।) वत्सौ, समन्तादुपशीलितोऽय सनिवेशः । [1]कच्चिदस्मदीयास्तपोवनभूमयो रमयन्ति वामुपस्नेहयति वा गार्हस्थ्यमृषीणाम् ।

उभौ—(सप्रश्रयम् ।) भगवन्,

रम्यमेतदरम्यं वा कः परिच्छेत्तुमर्हति ।
किं तु द्वयातिग चित्तमद्य नौ पश्यतोरभूत् ॥ ४२ ॥

युवाभ्यामिति । युवाभ्या भवद्भ्या रामलक्ष्मणाभ्याम् अभिनिवृत्ते सम्पादिते योगक्षेमे यस्य तथोक्तस्य, अलब्धलाभो योग, लब्धस्य परिपालन क्षेमम्, ते प्राप्तवत सम्पादितसकलाभीष्टस्येति यावत् वज्रिण इन्द्रस्य हेतय अस्त्राणि ऐश्वर्यप्रक्रिया सम्पत्प्रतिष्ठा तन्मात्रकृतार्था सम्पत्प्रतिष्ठामात्राधायिका सन्तु जायन्ताम् । भवद्भ्यामेव सर्वेष्वभीष्टार्थेषु साध्यमानेषु शक्र प्रतिष्ठामात्रप्रयोजनकमस्त्रचयं धारयत्वित्यर्थ ॥ ४१ ॥

समन्तात् सर्वत । उपशीलित दृष्ट । सन्निवेश ऋष्यावासभूमि । वाम्-रमयन्ति प्रसन्नता प्रापयन्ति । इमा भुव दृष्ट्वा वा हृदय प्रसीदति ? अत्रत्याना गार्हस्थ्य वा दृष्ट्वा मन स्निह्यतीत्यर्थ ॥

रम्यमिति । एतत्तपोवन रम्यम् हृदयावर्जकम् अरम्यम् अतथाभूत वा इति क परिच्छेत्तु ज्ञातुम् अर्हति ? न कोऽपि वनमिदं रम्यतयाऽरम्यतया वा ज्ञातुं

तुम दोनों इन्द्रके योगक्षेमकी चिन्ता करते रहो और इन्द्रके अस्त्र उनके ऐश्वर्यके प्रतीक भर बने रहें ॥ ४१ ॥

(दोनों चुप रहते हैं)

विश्वामित्र—(हसकर) वत्स, तुम दोनोंने तो इस प्रदेशको अच्छी तरह देख लिया है । क्या हमारा यह तपोवन तुम्हें अच्छा लगता है और क्या हमारा यह गार्हस्थ्य तुम्हें अच्छा लगता है ? ।

दोनों—(नम्रतासे) भगवन्, यह रमणीय है या अरमणीय, इसका निर्णय कौन कर सकता है, किन्तु इसे देखकर हमारे हृदय रजतमसे रहित हो गये हैं ॥ ४२ ॥

---

१ 'क्वचित्' इति ।

([1]इति सर्वे यथोचितमुपविशन्ति ।)

विश्वामित्रः—(साकूतस्मितम् ।) वत्सौ,

इह वनेषु स कौतुकवामनो मुनिरतप्त तपांसि पुरातनः ।
तमिव वामवलोक्य तपस्विनो नयनमद्य मनागु[2]दमीमिलन् ॥४३॥

(उभौ मुहूर्तमुन्मनीभवत ।)

विश्वामित्रः—(स्वगतम् ।) अये, किमप्युत्साहवर्धनाय प्राग्भवीयमनुस्मारितमन्तःकरणमनयोः । तदेतावदस्तु । अन्यतः [3]प्रक्षिपामि । (प्रत्यगवलोक्य प्रकाशं [4]ससम्भ्रमम् ।) कथमुदयगिरिकाश्मीरकुङ्कुमकेदारस्य

शक्नोतीत्यर्थः, एवं सामान्यतो वनस्यावर्णनीयतामुक्त्वा स्वानुभवमाह—किन्तु रम्यतयाऽरम्यतया वाऽस्य वनस्य ज्ञानं कर्तुमशक्तत्वेऽपि पश्यतो वनमिदं साक्षात्कुर्वतो नौ आवयोः चित्तम् द्वयातिगम् रजस्तमसी अभिभूय स्थितम् अभूत् ॥४२॥

इह वनेष्विति । सकौतुकः वामनः कपटवामनमूर्त्तिः पुरातनो मुनिर्भगवान् इह एषु वनेषु तपांसि अतप्त कृतवान् । तपस्विनो मुनयः अद्य तमिव वामनावतारं भगवन्तमिव अवलोक्य नयनं स्वं नेत्रम् मनाक् ईषत् उदमीलयन् उन्मीलितवन्तः, ज्ञानदृष्ट्या मुनयो भगवन्तं वामनमिव युवां दृष्टवन्त इत्यर्थः । द्रुतविलम्बितं 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति च तल्लक्षणम् ॥ ४३ ॥

उत्साहवर्धनाय उत्साहं वर्धयितुम् । अनयोः रामलक्ष्मणयोः । अन्तःकरणम् चित्तम् । प्राग्भवीयम् पूर्वजन्मगतम् वृत्तम् । अनुस्मारितम् स्मृतिपथं नीतम्, तदेतावदस्तु अधिकं पूर्ववृत्तं मा वादि । अन्यतः प्रक्षिपामि प्रसङ्गं परिवर्त्तयामि । उदयगिरेरुदयाचलस्य यत्काश्मीरकुङ्कुमम् तत्केदारस्य तत्क्षेत्रस्य । प्रभातसन्ध्या

(सभी यथोचित रूपमें बैठते हैं)

विश्वामित्र—(हसकर साभिप्राय) वत्स, इसी वनमें पुरातन वामनावतार विष्णुने तपस्या की थी, उन्हींकी तरह तुम्हें देखकर यहाँके तपस्वियोंने आज अपनी आँखें उन्मीलित करली हैं ॥४३॥

(दोनों थोडी देरके लिये अनमने रहते हैं)

विश्वामित्र—(स्वगत) उत्साह बढानेके लिये मैंने इन्हें कुछ पूर्वजन्मवृत्त स्मरण करा दिया है । इतना ही रहे, अब दूसरी कथा चलाता हूँ । (पश्चिमकी ओर देखकर, घबडा

१ 'इति यथोचितमुपविशन्ति', 'इति यथोचितमुपविशन्ति सर्वे' इति च ।
२ 'उदमीलयन्' इति । ३. 'क्षिपामि' इति । ४. 'ससम्भ्रमम्' इति क्वचिन्नास्ति ।

प्रभातसन्ध्यालताया प्रथमस्तवको गभस्तिमाली हस्तहस्तिकया कुतूहलिनीभिर्दिगङ्गनाभिर्वारुणी यावदुपनीतः । (सनिर्वेदं च ।)

[1]यातोऽस्तमेष चरमाचल[2]चूडचुम्बी
पङ्केरुहप्रकरजागरणप्रदीपः ।
आः [3]सर्वतः स्फुरतु कैरवमाः पिबन्तु
[4]ज्योत्स्नाकरम्भमुदरंभरयश्चकोराः ॥ ४४ ॥

(सर्वतोऽवलोक्य[5] ।)

अयमपि खरयोषित्कर्णकाषायमीष-
द्विसृमरतिमिरोर्णाजर्जरोपान्तमर्चिः ।

प्रातःकाल एव लता वल्ली तस्याः प्रथमस्तवकः आद्यगुच्छः । गभस्तिमाली सूर्यः । कुतूहलिनीभिः सूर्यमायत्तीकर्तुमुत्काभिः । दिगङ्गनाभिः दिशारूपाभिर्वनिताभिः । वारुणीम् पश्चिमाशाम् ।

यातोऽस्तमिति । पङ्केरुहप्रकरस्य कमलकुलस्य जागरणाय प्रबोधाय प्रदीप एषः सूर्यः चरमाचलचूडचुम्बी अस्ताचलशिखरस्पर्शी सन् यातः अस्तगतः, आः इत्यनास्थासूचकमव्ययम्, कैरवं कुमुदम् सर्वतः समन्तात् स्फुरतु विकसतु, आः चकोराः पक्षिभेदाः उदरंभरयः उदरभरणार्थिनः ज्योत्स्नाकरम्भम् दधिसक्तुसमानां चन्द्ररुचं पिबन्तु आस्वादयन्तु । 'करम्भा दधिसक्तवः' इत्यमरः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

अयमिति । अयम् भानुमान् सूर्यः अपि मदकलानाम् मत्तानाम् कलविङ्कीनां चटकीनाम् काकुः ध्वनिभेद एव नान्दी स्तुतिवादस्तत्करेभ्यः क्षितिरुहशिखरेभ्यः वृक्षाग्रभागेभ्यः खरयोषितः गर्दभ्याः कर्णवत् काषायम् कषायवर्णम् ईषत् अल्पम् यथा तथा विसृमरम् प्रसरणशीलम् यत् तिमिरं तदेव ऊर्णा मेषादिलोम तया

हठके साथ) उदयाचलरूप केसरकी क्यारीके केसरस्वरूप तथा प्रभातसन्धियोंके प्रथम स्तवक स्वरूप इस सूर्यको दिशाओंने हाथों-हाथ पश्चिम दिशामें पहुँचा दिया ।

पश्चिमाचलके शिखरपर वर्तमान यह कमलकुलको जगानेवाला दीप सूर्य अस्त हो गया, अब सर्वतः कुमुद विकसित होंगे, तथा चकोरगण भरपेट ज्योत्स्नारूप दधि-सक्तुका भक्षण करें ॥ ४४ ॥

(चारों ओर देखकर) गर्दभके कानकी तरह कषायवर्ण तथा फैलनेवाले अन्धकाररूप

१ 'जातः स एष' इति । २. 'चूललम्बी' इति । ३ 'सम्प्रति' इति ।
४ 'ज्योत्स्ना कषायमधुरामधुना चकोराः' इति । ५ 'दृष्ट्वा' 'अवलोक्य च' इति ।

मदकलकलविङ्कीकाकुनान्दीकरेभ्यः
क्षितिरुहशिखरेभ्यो भानुमानुच्चिनोति ॥ ४५ ॥

अपि च—

मन्त्रसंस्कारसंपन्नास्तन्वदौदन्वतीरपः ।
एतत्त्रयीमयं ज्योतिरादित्याख्यं निमज्जति ॥ ४६ ॥

रामः—(सर्वतो [1]निरूप्य ।) वत्स लक्ष्मण,

तापनैरेव तेजोभिः [2]प्लुष्टनिर्वाणमेचकाः ।
दिशो जाताः प्रतीची तु समुदाचरति क्रमात् ॥ ४७ ॥

जर्जरम् ग्रस्तम् उपान्तं यस्य तत् अर्चिः तेजः उच्चिनोति आकर्षति । अयमस्तं व्रजन्भानुः खरयोषित्कर्णवर्णम् ईषत्प्रकाशप्रसारान्धकारस्पृश्यमानञ्च निजमर्चिः मत्तचटकीकुलकाकुध्वनिरूपस्तुतिवाक्यान्युद्घोषयद्भ्यो वृक्षाग्रभागेभ्यः समाकर्षतीत्यर्थः । 'भवेन्मदकलो मत्ते', 'चटकः कलविङ्कः स्यात्तस्य स्त्री कलविङ्किका', 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकहर्षादिभिर्ध्वनेः', 'ऊर्णा मेषादिलोम स्यात्' इति सर्वत्रामरः । मालिनीवृत्तम् 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणम् ॥४५॥

मन्त्रसंस्कारेति । औदन्वतीः उदन्वतः सागरस्येमाः औदन्वतीः अपः जलानि मन्त्रसंस्कारसम्पन्नाः अपः जलानि मन्त्रसंस्कारसम्पन्नाः मन्त्रजनितसंस्कारशुद्धाः तन्वत् कुर्वत् आदित्याख्यम् सूर्यनामकम् एतत्त्रयीमयम् वेदत्रयस्वरूपम् ज्योतिस्तेजो निमज्जति जले मज्जति । सूर्योऽयं वेदत्रयमूर्त्तिरात्मसम्बन्धेन सागरगतानि जलानि पावयन्नम्भसि निमज्जति, सूर्योऽस्तंगत इति ॥ ४६ ॥

तापनैरिति । दिशः प्रतीच्यतिरिक्ताः पूर्वोत्तरदक्षिणाः दिशः तापनैः सूर्यसम्बन्धिभिः तेजोभिः प्लुष्टाः दग्धाः निर्वाणाः शान्ताश्च अत एव मेचकाः श्यामाः जाताः, प्रतीची तु क्रमात् समुदाचरति पूर्वरूपं प्राप्नोति । प्रतीच्यतिरिक्ताः दिशः प्रागेव

ऊर्णासे जर्जर अपने तेजको भगवान् सूर्य मदमत्त-चटकस्त्रीको सशब्द करनेवाले वृक्षशिखरोंसे समेट रहा है ॥ ४५ ॥

समुद्रके जलको मन्त्रसंस्कार सम्पन्न करनेवाला यह वेदत्रयमूर्त्ति आदित्य नामक ज्योति सागरमें डूब रहा है ॥ ४६ ॥

राम—(चारो ओर देखकर) वत्स लक्ष्मण, अन्य दिशायें सूर्य-तेजसे जल बुतकर काली पड गई हैं, केवल प्रतीचीमें अभी कुछ तेज विद्यमान है, वह क्रमसे शान्त हो रहा है ॥४७॥

---

१ 'अवलोक्य' इति । २ 'दग्ध-' इति ।

किं च—

काञ्चिद्बिभ्रति भूतिमाश्रमभुवो वैतानवैश्वानर-
ज्वालोपप्लवमानधूम[1]वलभीविश्रान्तदिग्भित्तयः ।
श्रूयन्ते बटवस्तृतीयसवनस्वाध्यायदीर्घानपि
स्पर्धाबन्धमनोहरं प्रति मुहुः स्वान्द्राघयन्त स्वरान् ॥४८॥

विश्वामित्रः—वत्स [2]राघव,

सौरतेजोहीना इति सूर्यदग्धश्यामलतया सभाव्यन्ते, प्रतीची त्वस्तमनकालेऽपि यत्किञ्चित्तेजोयुक्ततया क्रमात्समुदाचरतीत्युच्यते । 'समुदाचरस्तु शोभायां पूर्वरूपे भयेऽपि च' इति विश्व । 'निर्वाणमस्तंगमने', 'कालश्यामलमेचका ' 'प्रुष्टप्लुष्टोषिता दग्धे' इति सर्वत्रामर ॥ ४७ ॥

काञ्चिदिति । वितानो यज्ञस्तत्सम्बन्धी यो वैश्वानरो वह्निस्तस्य ज्वालया उपप्लवमान अधिकता गच्छन् यो धूम स एव वलभी सौधोपरिगृहम् तत्र विश्रान्ता विशेषत श्रम प्राप्ता दिग्भित्तयो दिक्प्रदेशा यत्र तादृश्य आश्रमभुव काञ्चित् अनिर्वचनीयाम् भूति शोभा बिभ्रति धारयन्ति स्पर्धा परस्परजिगीषा तस्या बन्धेन अनुबन्धेन मनोहर यथा स्यात्तथा मुहु वारवार तृतीयसवने सायकालिकस्नाने स्वाध्याये जपे दीर्घान् अपि स्वान् स्वरान् द्राघयन्त दीर्घता प्रापयन्त वटव श्रूयन्ते । यज्ञवह्निज्वालादीर्घीकृतो धूमस्तोमो वलभीवत् प्रतीयमानो दिग्भ्रमं जनयति, तेनाश्रमभूमयो नितान्तमनोहरा प्रतीयन्ते, किञ्च वटव सायस्नान समाप्य स्वाध्यायमारभमाणा परस्परस्पर्धया स्वान् स्वरान् प्लुतान् कुर्वत इत्यर्थ । 'वितानो यज्ञविस्तार ' इति विश्व । 'वटव श्रूयन्ते' इत्यत्राधाराधेययोरभेदोपचाराद् ध्वनिश्रवणमेव विवक्षितम् , यथा प्रयुक्त कविभि —'अश्रूयत पाञ्चजन्य ' 'विलपन्त कपिञ्जलमश्रौषम्' इतिमाघकादम्बर्यो । 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामत ' इति न्यायाद् विशेषणलाभ ॥ ४८ ॥

आश्रम भूमिकी कुछ अद्भुत शोभा हो रही है, क्योकि वहाँ पर यज्ञाग्नि धूमरूप वलभियाँ दिशाओंका भ्रम उत्पन्न कर रही हैं, वटुलोक साय सन्ध्या-स्नानसे स्वतो दीर्घस्वरको और भी दीर्घ इसलिये कर रहे है कि उनमें जोरसे पढनेमें होडसी लग गई है ॥ ४८ ॥

विश्वामित्र—वत्स राघव,

१ 'वडभीविश्रान्त-' इति । २ 'रामभद्र' इति ।

उन्मुक्ताभिर्दिवसमधुना सर्वतस्ताभिरेव
स्वच्छायाभिर्निचुलितमिव प्रेक्ष्यते विश्वमेतत् ।
पर्यन्तेषु ज्वलति जलधौ रत्नसानौ च मध्ये
चित्राङ्गीयं रमयति [1]तम स्तोमलीला धरित्री ॥ ४९ ॥

लक्ष्मण —(सनिर्वेदम् ।)

तेजोमयं तमोमयमन्यतरस्यां तदेव दिक्चक्रम् ।
किमपि विचित्रा [2]धात्रा सृष्टिरियं भुवनकोषस्य ॥ ५० ॥

उन्मुक्ताभिरिति । एतत् विश्व जगन्मण्डलम् दिवसम् अखिलमपि दिनम् उन्मुक्ताभि परित्यक्ताभि सूर्यतेज सान्निध्यात् तिरोहिताभि ताभि प्राचीनाभि एव स्वच्छायाभि अधुना अस्तमनकाले सर्वत समन्तात् निचुलितम् आवृतम् इव प्रेक्ष्यते दृश्यते। अस्य विश्वस्य या च्छाया सूर्यतेज सान्निध्यात्तिरोहितेवासीत्साधुना तदस्तमने सति पुनरपि सन्निधाय जगदावृणोतीवेति पूर्वार्द्धार्थ । तमसा स्तोमस्य समुदयस्य लीला विलासो यस्या सेय तम स्तोमसमाकुला, धरित्री धरणी पर्यन्तेषु प्रान्तेषु जलधौ समुद्रे रत्नसानौ सुमेरुपर्वते च ज्वलति दीप्यमाने सति चित्राङ्गी विविधवर्णरञ्जिता सती रमयति विलोककानां मन प्रमोदयति। क्वचित् तम स्तोमनीला, क्वचिदुच्चतमस्थलेषु सद्य सूर्यस्पृष्टत्यक्तेषु च प्रदेशेषु सावशेषसूर्यकरद्योतिता चेय नानावर्णता भजन्ती पृथिवी प्रमोदयति मानसानि दर्शकानामित्यर्थ । तम स्तोमसुमेरुरत्नसमुद्रसलिलसम्बन्धवशाच्छ्यामरक्तश्वेततया भुवश्चित्राङ्गीभाव उक्त । 'रत्नसानु सुरालय' इत्यमर ॥ मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ४९ ॥

तेजोमयमिति । तदेव दिक्चक्रम् दिङ्मण्डलम् पश्चिमाया तेजोमयम् सूर्यकरयुक्तम्, अन्यतरस्या प्राच्यादौ दिगवकाशे तमोमयम् अन्धकारपूर्णञ्च इति विधात्रा ब्रह्मणा कर्त्रा इय भुवनकोषस्य ब्रह्माण्डस्य विचित्रा सृष्टि, एकत प्रकाशपूर्ण-

---

जो छाया दिन भर सूर्यकरोंसे अभिभूत होकर परित्यक्त सी बनी रही, उसी छायाने इस समय विश्वको व्याप्त कर रखा है। प्रान्तदेश, सागर, सुमेरु और मध्यदेशके चमकते रहनेके कारण चित्राङ्गी यह पृथिवी बहुत आनन्द दे रही है ॥ ४९ ॥

लक्ष्मण—(उदास भावसे) यही दिङ्मण्डल एक भागमें तेजोमय तथा अपर भागमें तमोमय है, जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्माने इस ससारको विचित्र बनाया है ॥ ५० ॥

---

१ 'तम स्तोमनीला' इति । २ 'धातु' इति ।

(सर्वतोऽवलोक्य ।)

चूडारत्नैः स्फुरद्भिर्विषधरविवराण्युज्ज्वलान्युज्ज्वलानि
प्रेक्ष्यन्ते चक्रवाकीमनसि निविशते सूर्यकान्तात्कृशानुः ।
किं चामी शल्ययन्तस्तिमिरमुभयतो निर्भराहस्तमिस्रा-
संघट्टोत्पिष्टसंध्याकणनिकरपरिस्पर्धिनो भान्ति दीपाः ॥५१॥

रामः—(विलोक्य ।)

विश्वं चाक्षुषमस्तमस्ति हि तमःकैवल्यमौपाधिक-

मन्यतश्च सान्धकारमिदमद्भुतं विश्वं ब्रह्मणा कृतमिति भावः । 'धात्रा भुवनकोषस्य सृष्टिः' अत्र 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति सूत्रेण कर्मणि षष्ठी नियम्यतेऽतः कर्त्तरि तृतीया ॥ ५० ॥

चूडारत्नैरिति । विषधराणां भुजङ्गानां विवराणि बिलानि स्फुरद्भिः तिमिरव्यापनात् प्रकाशं विस्तारयद्भिः चूडारत्नैः शिरोमणिभिः उज्ज्वलानि उज्ज्वलानि प्रेक्ष्यन्ते, प्रतिविवरं सर्पफणामणयः प्रकाशं विस्तारयन्तीति तानि प्रकामोज्ज्वलानि दृश्यन्त इत्यर्थः । कृशानुः सन्तापरूपो वह्निः सूर्यकान्तात् सूर्यकान्तमणिं विहाय चक्रवाकीमनसि तदाख्यपक्षिजातिभेदहृदये निविशते प्रवेशं करोति, सूर्येऽस्तमिते सूर्यकान्तमणयः शान्ता अजनिषत, मन्ये तत्रत्यस्तापो भानुकिरणेष्वस्तं गतेषु रात्रिवियोगिनीनां चक्रवाकीणामन्तर्निविशते, तत्र सन्तापो वर्द्धत इत्याशयः । किञ्च अमी प्रत्यग्रज्वालिता दीपाः तिमिरम् अन्धकारं शल्ययन्तः खण्डयन्तः उभयतः उभयोः पार्श्वयोः निर्भरम् अत्यर्थम् योऽहस्तमिस्रयोर्दिनरात्र्योः सङ्घट्टो मिलनं तेनोत्पिष्टायाः चूर्णितायाः सन्ध्यायाः ये कणसमूहास्तेषां परिस्पर्धिनः तुल्या भान्ति शोभन्ते, उभयतो मिलत्योर्दिनरात्र्योर्मध्ये चूर्णितायाः सन्ध्यायाः कणा इव प्रतीयमाना ध्वान्तमपघ्नन्तोऽमी दीपाः प्रतिभान्तीति भावः । 'तमिस्रा तामसी रात्रिः', 'आशीविषो विषधरः' इत्युभयत्रामरः ॥ ५१ ॥

विश्वमिति । चाक्षुषं चक्षुर्ग्राह्यं प्रत्यक्षम् विश्वम् जगत् अस्तम् तिरोहितम्,

---

(चारो ओर देखकर) प्रकाशित होनेवाले मस्तकस्थ रत्नोंकी कान्तिसे सर्पोंके बिल चमक रहे हैं, सूर्यकान्तमणिकी ज्वाला चक्रवाकियोंके हृदयमें प्रवेश कर रही है, दिन और रात्रिके सवर्षसे पिसी गई सन्ध्याके कणसे समता रखनेवाले यह दीप अन्धकारको उभय भागसे छेद रहे है ॥ ५१ ॥

राम—(देखकर)

ससारकी दृक् शक्ति समाप्त हो गई है, सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है, औपाधिक

प्राच्यादिव्यवहारबीजविरहाद्दिङ्मात्रमेव स्थितम् ।
गृह्यन्ते भयहेतव पटुभिरप्यक्षान्तरैर्भाति च
ध्वान्तेनातिघनेन वस्तु वचसा ज्ञातः स्वरेणामुक॰ ॥ ५२ ॥

किं च—

घनतरतिमिरघुणोत्करजग्धानामिव पतन्ति काष्ठानाम् ।
छिद्रैरमीभिरुडुभि किरणव्याजेन चूर्णानि ॥ ५३ ॥

चक्षुरिन्द्रियग्राह्य समस्तमपि वस्तुजातमदृश्यमजायत तमोऽभिभवात्, तम कैवल्यम् केवलोऽन्धकार अस्ति, सर्वत केवल तमो व्याप्तमस्तीति शेष । उपाधिर्विशेषण तत्सवन्धी औपाधिक य प्राच्यादिव्यवहार, तस्य बीज सूर्य, तत्सम्बन्धादेव हि प्राच्यादिव्यवहार प्रथते, सूर्योदयसम्बन्धवती प्राचीत्यादिव्यवहारो हि सूर्यजनित इति तेषा व्यवहाराणा बीज सूर्यस्तस्य विरहात् अस्तगमनात् दिङ्मात्रम् निरुपाधिका केवला दिक् एव स्थितम् वर्त्तमानमस्ति । पटुभि दृश्यग्रहणसमर्थैं अपि अक्षान्तरै अक्षिभिन्नैस्त्वगादीन्द्रियै भयहेतव भीतिकारणानि गृह्यन्ते रज्जव स्पृष्टा मत्य सर्पतया ज्ञायन्ते इत्येव प्रकारेणान्येऽपि पदार्था प्रतिभासमासादयन्तीत्यर्थ । अतिघनेन सान्द्रेण ध्वान्तेन तमसा वस्तु घटपटादिकम् वचसा आप्तवाक्येन भाति प्रकाशते, स्वरेण परिचितशब्दोच्चारणध्वनिना च अमुक अयमसाविति विदितो भवतीत्यर्थ । अविषादे तमसि सन्तते चक्षुर्ग्राह्य जगदस्तमेति, तम कैवल्य विजृम्भते, सूर्यरूपोपाधिविगमे प्राच्यादिव्यवहारस्य तदायत्तस्यानुदयाद्दिक्सामान्यमात्र प्रतीयते, वस्तुग्रहणसमर्थान्यपीन्द्रियाणि भीतिकारणानि वस्तूनि गृह्णन्ति, वस्तूना च प्रत्यय केवलमाप्तवाक्यायत्त व्यक्तिपरिचयश्च स्वराधीन इति सर्वत प्रसृत गाढ तम इति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५२ ॥

घनतरेति । घनतर सातिशयसान्द्र यत् तिमिरम् अन्धकार स एव घुणोत्कर काष्ठकीटसमूहस्तेन जग्धानाम् कवलीकृतानाम् काष्ठानाम् दिशां दारूणाञ्च चूर्णानीव अमीभि उडुभि नक्षत्रै छिद्रै नक्षत्ररूपकीटनिष्कासितकाष्ठविवरै इव

प्राच्यादि व्यवहारके बीज सूर्यके नहीं रह जानेसे एक मात्र दिशा सामान्यत रह गई। समर्थ इन्द्रियगण भी तमोमाहात्म्यसे भयजनक वस्तुओंका ज्ञान करा दे रहे है, किसी वस्तुका ज्ञान शब्दसे होता है प्रत्यक्षसे नही एव व्यक्ति का भी ज्ञान उसके स्वरसे ही होता है, रूपसे नही ॥ ५२ ॥

अति घने अन्धकार रूप घुनों द्वारा भक्षित काष्ठों (दिशाओं) का चूर्ण उडुगण रूप छिद्रोंसे उनकी किरणोंके व्याजसे गिर रहा है ॥ ५३ ॥

(नेपथ्ये कलकल ।)

(सर्वे ससम्भ्रममा[1]कर्णयन्ति ।)

(पुनस्तत्रैव[2] ।)

निर्मज्जच्चक्षुरन्तर्भ्रमदतिकपिशक्रूरतारा नरास्थि-
　ग्रन्थि दन्तान्तरालग्रथितमविरतं जिह्वया घट्टयन्ती ।
ध्वान्तेऽपि व्यात्तवक्त्रज्वलदनलशिखाजर्जरे व्यक्तकर्मा
　निर्मान्ती गृध्ररौद्रीं दिवमुपरि परिक्रीडते ताडकेयम् ॥५४॥

किरणव्याजेन मयूषमिषेण पतन्ति । अन्येषा घुणभक्षितकाष्ठाना चूर्णानि पतन्ति, तथैव दिशामपि काष्ठापदाभिलप्याना तिमिरैरिव घुणैर्भक्षिताना सतीना किरणानीव चूर्णानि पतन्तीति भाव । 'काष्ठ दार्विन्धन समम्', 'दिशस्तु ककुभ काष्ठा ', 'तारकाऽप्युडु वा स्त्रियाम्' इति सर्वत्रामर ॥ ५३ ॥

निमज्जदिति । निर्मज्जत् निमग्नीभवत् कोटररूप यच्चक्षु तस्य अन्त मध्ये भ्रमन्ती अतिकपिशा पिङ्गलाभा क्रूरा भयजनकतया दुर्दर्शा च तारा कनीनिका यस्या सा तादृशी तथोक्ता, दन्तान्तराले दशनपङ्क्तिमध्ये ग्रथित लग्न नरास्थिग्रन्थि मनुष्यास्थ्नो ग्रन्थिम् अविरतम् सततम् जिह्वया घट्टयन्ती चालयन्ती, व्यात्तं विवृत यन्मुख वक्त्र तत्र ज्वलन्ती प्रकाशमाना या अनलशिखा वह्निदीधिति· तया जर्जरे ध्वान्तेऽपि व्यक्तकर्मा दृश्यमानव्यापारा दिवम् आकाशम् , गृध्ररौद्रीम् गृध्रस्येव रौद्र तीव्रक्रूरत्व यस्यास्ता तथोक्ता निर्मान्ती कुर्वती सती इय ताडका उपरि ऊर्ध्वदेशे परिक्रीडते । कोटरनिमग्ननयना पिङ्गलतारा नरास्थिमालां दन्तलग्ना चालयन्ती मुखस्थिताग्निज्वालया तमसि भिद्यमाने सति व्यक्तरूपा दिव भीषणा कुर्वतीय ताडकोपरि भ्रमतीत्यर्थ । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५४ ॥

(नेपथ्यमें कलकल)

(सभी घबडाहटमे सुनते हं)

(फिर वही पर)

आखें भीतर पैठी हैं, जिनके भीतर अतिकपिशवर्णा भयङ्कर कनीनिका घूम रही है, दन्तान्तराल-ग्रथित नरास्थि-ग्रन्थिको बराबर जीभमे चला रही है, फैलाये हुए मुखके भीतर जलने वाली आगसे अन्धकारके जजर होनेके कारण उसका कर्त्तव्य स्पष्ट दीख रहा है, ऐसी आकाशमे गृध्रकी तरह मडरानेवाला ताडका क्रीडा कर रही है ॥ ५४ ॥

१. 'आकलयन्ति' इति ।　　२. 'तत्रैव भो ', 'भो भो ' इति च ।

अपि च—

त्रेताग्निकुण्डपूरं च वर्षन्तो रुधिरच्छटाः ।
हिस्रा सुबाहुमारीचमिश्रा न परिवृण्वते ॥ ५५ ॥

विश्वामित्र—([1]साकूतम् ।) कथ ताडका । वत्स रामभद्र,

विधानमानुश्रविकं गृहेषु न प्रतिस्किरन्ती किमियं प्रतीक्ष्यते ।
सुबाहुमुख्यैः सममाततायिभिर्गृहाण चापं निगृहाण ताडकाम् ॥५६॥

राम—(सघृणातिरेकम् ।) भगवन्, [2]स्त्रियमिमाम् ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

त्रेतेति । हिस्रा क्रूरकर्माण सुबाहुमारीचमिश्रा सुबाहुमारीचसहितास्तत्प्रधाना वा राक्षसा त्रेताग्नि अग्नित्रय तस्य कुण्ड पूरयित्वा इति त्रेताग्निकुण्डपूरं रुधिरच्छटा वर्षन्त न अस्मान् यज्ञव्यापृतान् परिवृण्वते अवरुन्धन्ति । दक्षिणाग्निर्गार्हपत्यो हवनीयस्त्रयोऽग्नय । 'अग्नित्रयमिद त्रेता' । 'त्रेताग्निकुण्डपूरम्' इत्यत्र चर्मोदरयो पूरे ' इत्यनुवर्त्तमाने 'वर्षप्रमाणे ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति णमुल् ॥ ५५ ॥

विधानमिति । न अस्माकम् तपस्विनाम् गृहेषु आनुश्रविक वैदिकम् विधानम् यज्ञानुष्ठानविधिम् प्रतिस्किरन्ती नाशयन्ती इय ताडका कि कुत प्रतीक्ष्यते ? अस्या विनाशे समयप्रतीक्षा व्यर्थेति भाव । तत् अस्या विनाशस्य सद्य सम्पाद्यतया चाप धनुर्गृहाण धारय, 'आततायी वधोद्यत ' इति लक्षितै आततायिभि सुबाहुमारीचमुख्यै समम् ताडका निगृहाण घातय । 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापह । क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिन ' ॥ ५६ ॥ —

स्त्रियमिमाम् स्त्रिय ताडका हन्तु कथमाज्ञापयन्ति भवन्त इति भाव ॥

अग्निहोत्रके कुण्डोंको भर देनेवाला रुधिरवृष्टि करते हुए सुबाहु मारीच आदि हिंस्र-राक्षस हमें घेर रहे हैं ॥ ५५ ॥

विश्वामित्र—क्यो ताडका है ? वत्स रामभद्र,

हमारे घरोंमें प्रस्तुत वेदिक विधानोंको नष्ट भ्रष्ट करती हुई इस ताडकाकी प्रतीक्षा क्या करते हो ? अब तुम धनुष धारण करो और उपद्रवकारी सुबाहु आदिकोंके साथ इस ताडकाको मारो ॥ ५६ ॥

राम—(दयापूर्वक) महाराज, इस स्त्रीको ?

---

१ 'साशङ्कमिव', 'ससम्भ्रममिव' इति ।

२ 'स्त्रियमिमा कथ हनिष्ये', 'स्त्रियमिमा कथ निगृह्णामि' इति च ।

[1]अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् । भोस्तात विश्वामित्र, परिभूयामहे । प्रहीयता-मधिज्यधन्वा दाशरथिः ।

राम.—(विहस्य । नेपथ्यावलोकितकेन ।) बालर्षे शुनःशेप, मुहूर्तं धीरो भव ।

अलं क्लिशित्वा गुरुमल्पकोऽयं विधिस्त्वदाज्ञैव गरीयसी नः ।
न कौशिकस्य त्वयि धर्मपुत्रे पुत्रे मधुच्छन्दसि वा विशेषः ॥ ५७ ॥

विश्वामित्र.—वत्स, [2]कृतमुत्तरोत्तरेण । नन्वयं नेदीयानाश्रमो-पघातः ।

लक्ष्मण.—(सव्यथमिव । स्वगतम् ।)

अब्रह्मण्यम् 'अब्रह्मण्यमवध्योक्तौ' महद्भयमुपस्थितमित्यर्थः । परिभूयामहे वयं शुनःशेपादयोऽमीभिर्यातुधानैरनादृता भवाम । प्रहीयताम् प्रेष्यताम् । अधिज्य-धन्वा धृतचापः । दाशरथिः रामः ॥

अलमिति । गुरुः विश्वामित्रः क्लिशित्वा अलम् वृथा गुरुर्न क्लेशनीय इत्यर्थः । अयं ताडकावधरूपो विधिः व्यापारोऽल्पकः अत्यल्पः, नः अस्माकं तवैवाज्ञा गरीयसी, तवैवाज्ञया मया ताडकावधो विधेय इति भावः । धर्मपुत्रे धर्मतः पुत्रवत्पाल्यमाने त्वयि शुनःशेपे पुत्रे औरसे तनये मधुच्छन्दसि वा तन्नामके कौशिकस्य विश्वामित्रस्य वा विशेषः तारतम्यमस्ति ॥ ५७ ॥

कृतमुत्तरोत्तरेण वाक्ये वाक्यं कृत्वाऽलम् । नेदीयान् समीपस्थितः । आश्रमोप-घातः आश्रमबाधा ।

(अब्रह्मण्य—अनर्थ हो रहा है, हे तात विश्वामित्र, हम सताये जारहे हैं, धनुषधारी रामभद्रको भेजिये)

राम—(हसकर) अजी बाल ऋषि शुनःशेप, थोडा देर ठहरो ।

इस सम्बन्धमे गुरुको क्लेश देना व्यर्थ है, यह बहुत छोटा कार्य है, इसके लिये आपकी ही आज्ञा पर्याप्त है, विश्वामित्रके लिये धर्मयुक्त शुनःशेप तथा पुत्र मधुच्छन्दस्‌में कोई अन्तर नही है ॥ ५७ ॥

विश्वामित्र—उत्तर-प्रत्युत्तर व्यर्थ है, आश्रमका उत्पीडन समीप आता जारहा है ।

लक्ष्मण—(व्यथासे स्वगत) जब कौशिक आज्ञा दे ही रहे हैं तब आर्य रामचन्द्र

---

१ 'अब्रह्मण्यं भो.' इति । २ 'कृतं कृतमुत्तरेण', 'कृतं कृतमुत्तरोत्तरेण' इति ।

मीमांसते किमार्योऽयं कौशिकेऽप्यनुशासति।
वाचमेषामृषीणां हि शास्त्रमेवानुवर्तते ॥ ५८ ॥

राम—(स्वगतम् ।)

गुर्वादेशादेव [1]निर्मीयमाणो नाधर्माय स्त्रीवधोऽपि स्थितोऽयम् ।
अद्य स्थित्वा श्वो गमिष्यद्भिरल्पैर्लज्जास्माभिर्मीलिताक्षैर्जितैव ॥५९॥

कि तु—

दीर्घं प्रजाभिरतिकौतुकिनीभिराभि-
रस्मिन्नकीर्तिपटहे मम ताड्यमाने ।

मीमांसत इति । अयम् आर्य पूजनीयो राम कौशिके विश्वामित्रेऽपि अनुशासति आज्ञा ददति सति कि मीमासते विचारयति (कथमह स्त्रिय हनानीति विभावयति ?) हि यत शास्त्र कर्तृ एषा मुनीनाम् एव वाचमनुवर्त्तते अनुधावति । मुनिवचसामेव शास्त्ररूपत्वे एतदीयस्त्रीवधाज्ञाया अपि शास्त्ररूपतया तत्र विचारावसरस्याभाव इति भाव ॥ ५८ ॥

गुर्वादेशादिति । गुरो विश्वामित्रस्य आदेशात् आज्ञया एव निर्मीयमाण क्रियमाण अयम् स्त्रीवध अधर्माय पापाय न स्थित समर्थ, गुर्वाज्ञयाऽनुष्ठीयमानोऽय स्त्रीवधो मम पापमुत्पादयितु न शक्नोतीत्यर्थ । ननु मास्तु पापमथापि लज्जा त्ववश्य भाविनी, तत्राह—अद्येति । अद्य अस्मिन् दिने अत्र स्थित्वा श्व परदिने इतो गमिष्यद्भि प्रस्थास्यमानै अल्पै बालै अस्माभि मीलिताक्षै मुद्रितलोचनै लज्जा जिता एव, नयननिमीलनजेतव्याया लज्जाया कि भेतव्यमित्यर्थ । निमीलितनयनेनास्मादकार्यस्थानात् सत्वरप्रस्थाने केनापि दुष्कृतस्याज्ञानान्नास्ति लज्जाप्रसर इत्याशय ॥ शालिनीवृत्तम् ॥ ५९ ॥

दीर्घमिति । अतिकौतुकिनीभि कथ रघुवंशीयेनापि सन्तानेन स्त्रीवध कृत इत्याश्चर्यचकिताभि आभि प्रजाभि जनै अस्मिन् मम अकीर्त्तिपटहे स्त्रीवधरूपा-

---

क्या विचार करते हैं, इन ऋषियोंके वचन शास्त्रका ही अनुसरण करते है ॥ ५८ ॥

राम—(स्वगत) गुरुदेवकी आज्ञासे किये गये इस स्त्री-वधमे भी अधर्म तो होगा नहीं, रही लाजकी बात, आज हम है कल चले जायेंगे, तब तक आखें बन्द करके लज्जाको भी परास्त कर दे सकते हैं ॥ ५९ ॥

किन्तु यहाँकी यह उत्कण्ठित प्रजा मेरी इस स्त्री-वध रूप दुर्यशका जब कीर्त्तन करेगी

---

१. 'निर्मीयमाण ' इति ।

ज्योतिर्मयेन वपुषा जगदन्तसाक्षी
लज्जिष्यते कुलगुरुर्भगवान्वसिष्ठ ॥ ६० ॥

(नेपथ्ये ।)

अलमिष्ट्वा मखान्मूर्खा खड्गधारेयमस्ति न ।
अद्वीयानयं पन्थाः स्वर्लोकमुपतिष्ठते ॥ ६१ ॥

राम —(श्रुत्वा [1]सरोष ससभ्रम चोत्थाय सविनयमञ्जलि बद्ध्वा ।) [2]भगवञ्जगत्त्रयगुरो गाधिनन्दन,

---

यशोडिण्डिमे ताडयमाने वाद्यमाने सति ज्योतिर्मयेन ज्ञानात्मकेन वपुषा जगदन्तसाक्षी ससारविनाशप्रत्यक्षकर्त्ता सर्वद्रष्टा कुलगुरु मदीयवशगुरु भगवान् वसिष्ठ दीर्घं चिराय लज्जिष्यते त्रपामनुभविष्यति, मद्गुरुकेऽपि रघुकुले कथमेतादृश कलङ्की जातो यो वधूमवधीत् इति त्रपामनुभविष्यतीत्यर्थ । साक्षीशब्दे 'साक्षाद्द्रष्टरि सज्ञायाम्' इतीनि ॥ ६० ॥

अलमिति । हे मूर्खा अज्ञानवन्तो यागपरायणा , मखान् तास्तान्यागानिष्ट्वा सम्पाद्य अलम् , इयमस्माकम् , खड्गधारा अस्ति विद्यते, यागसम्पाद्यस्वर्गस्यानया खड्गधारयैव लभ्यत्वे अनेकविधप्रयाससम्पाद्ययागप्रवृत्तिर्वृथेति भाव । ननु स्वर्गफलस्य यागखड्गधारोभयमार्गसाध्यत्वे किमिति स्वर्गसाधनाय याग एव नोपादीयता तत्राह—अद्वीयानिति । अय खड्गधारारूप पन्था अद्वीयान् सन्निहिततम , स्वर्गलोकमुपतिष्ठते याति । नानाविधैर्व्रीहिप्रोक्षणावघातफलीकरणपुरोडाशहोमप्रभृतिभि क्रियाकलापैर्याग सम्पाद्यते तेनापूर्व जन्यते, तेन च स्वर्गलाभ इत्येष यागात्मक पन्था वक्रो विप्रकृष्टश्च, मम तु खड्गधारापातेन युद्धहतस्य सद्य स्वर्गलाभनियमेन सपदि स्वर्गलाभ इत्यय नेदीयान्मार्गस्तदल याग कृत्वाऽऽयात युद्धे मृत्वा शीघ्र स्वर्ग लभध्वमिति भाव ॥ ६१ ॥

तब ज्ञानदृष्टिसे समस्त विश्वकी घटनाओको देखनेवाले मेरे कुलगुरु भगवान् वसिष्ठ लज्जित हो उठेंगे ॥ ६० ॥

मूर्खो, यज्ञ करना व्यर्थ है, हमारी तलवारको धार तो है ही, यह तलवाररूपी सीधा रास्ता स्वर्गको चला गया है ॥ ६१ ॥

राम—(सुनकर तेजीसे उठकर हाथ जोडकर) हे जगत्त्रय गुरो विश्वामित्र,

---

१ 'ससभ्रममुत्थाय', 'सरोषसभ्रममुत्थाय' इति च ।　२ 'भगवन्गुरो' इति ।

दशरथगृहे संभूतं मामवाप्य धनुर्धरं
दिनकरकुलास्कन्दी कोऽयं कलङ्कनवाङ्कुर ।
इति [1]न वनितामेतां[2] हन्तुं मनो विचिकित्सते
यदधिकरणं [3]धर्मस्थीयं तवैव वचांसि न ॥ ६२ ॥

(प्रणिपत्य [4]नेपथ्याभिमुखम् ।) [5]भोस्तपोधनाः, मा भैष्ट ।

रजनिचरचमूरमूरपास्यन्नयमहमागत एव [6]रामचन्द्रः ।

दशरथेति । दशरथगृहे दशरथभवने दशरथस्य धर्मभार्याया वा सम्भूत जात मां राम धनुर्धरम् चापपाणिम् अवाप्य प्राप्य दिनकरकुलास्कन्दी सूर्यकुलापमान-जनक कलङ्कस्य अय नवाङ्कुर नवप्ररोह क इति एता वनिता स्त्रिय ताडका हन्तु मारयितु मम मनो न विचिकित्सते न सन्देग्धि, यद् यस्मात् अस्माक नवानुशिष्याणा तवैव वचासि धमस्थीयम् धर्मप्रवृत्तिजनक धर्माधर्मव्यवस्थापकम् अधिकरणम् निर्णयवचनम् । यतस्तवैव वचासि वयं क्षत्रिया धर्मनिश्चायकतया-ऽऽद्रियामहेऽतोऽस्या स्त्रियो वधे कथ प्रवर्त्यतामिति मम मनो न सदिग्धे, त्वदाज्ञा-मादाय प्रवृत्तेरित्यर्थ ॥ हरिणीवृत्तम्, 'नसमरसला ग. षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति च तल्लक्षणम् ॥ ६२ ॥

रजनिचरेति । अमू सम्मुखस्थिता रजनिचरचमू राक्षससेना अपास्यन् समुत्-क्षिपन् नाशयिष्यन् अयमह रामचन्द्र आगत एव आयात इव । पुर स्थाया राक्षससेनाया अवश्यविनाशकोऽह रामचन्द्र समायात इति तपोधनैर्भवद्भिर्भयं न करणीयमित्यर्थ, ननु तवागममात्रेण कथ न भय करणीयमेषा राक्षसानामति दुर्दान्तत्वादिति चेत्तत्राह—

दशरथके कुलमें उत्पन्न तथा धनुषधारी मुझको प्राप्त करके सूर्यके वशको स्त्रीवधरूपी यह नया कलङ्क लग रहा है, इसलिये मुझे हिचकिचाहट नहीं हो रही है क्योंकि धर्माधिकारमें हमारे लिये आपके ही वचन प्रमाण हैं ॥ ६२ ॥

(प्रणाम करके नेपथ्यकी ओर देखकर) तपस्वियो, डरिये मत,

इन राक्षस सेनाओंको दूर भगानेवाला यह रामचन्द्र आगया है, विश्वामित्र करस्थ

---

१ 'हि' इति । २ 'एनाम्' इति । ३. 'धर्मस्थानम्' इति ।
४. 'नेपथ्याभिमुखमवलोक्य' इति । ५ 'मा भैष्ट तपोधना., मा भैष्ट', 'मा भैष्ट भोस्तपोधना , मा भैष्ट' इति च । ६ 'रामभद्र ' इति ।

कुशिकसुतकुशाग्रतोयबिन्दोरिदमनुकल्पमवेत कार्मुकं मे ॥ ६३ ॥

(इति धनुरारोपयन्निष्क्रान्तः ।)

लक्ष्मणः—([1]साशङ्कमात्मगतम् ।) दिष्ट्या क्षात्रेण धर्मेण कौमारमप्यशून्यमार्यस्यासीत् । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य हर्षं नाटयन्प्रकाशम्[2] ।) भगवन्कौशिक, [3]पश्य पुरस्तादार्ये [4]धृतधनुषि

वायव्यास्त्रव्यतिकरनिरालम्बनस्ताडकेयः
प्राप्तो जीवन्मरणमसुभिर्विप्र[5]मुक्तः सुबाहुः ।

कुशिकसुतेति । कुशिकसुतस्य विश्वामित्रस्य यत्कुशाग्रतोयम् तस्य बिन्दोः पृषतः अनुकल्पः गौणं रूपं मे कार्मुकं धनुः अवेत जानीत यथा विश्वामित्रकुशाग्रतोयबिन्दोः प्रभावेण तच्छुप्ताः सर्वेऽपि शत्रवः सद्यो विपद्यन्ते तथैव मम धनुषाऽपि सर्वेऽपि राक्षसाः सद्यो विपादनीयाः, तदलं भयेनेति भावः । 'मुख्यः स्यात्प्रथमे कल्पेऽनुकल्पस्तु ततोऽधमे' इत्यमरः ॥ ६३ ॥

दिष्ट्या आनन्दप्रकाशकम् । क्षात्रेण धर्मेण वीरतया । कौमारम् बाल्यम् । अशून्यम् युक्तम् । यथाऽयं रामो यौवने विक्रमधरो भावी तथैव बाल्येऽपि विक्रमधरः संवृत्त इत्यानन्दविषय इत्यर्थः । आर्ये रामचन्द्रे । धृतधनुषि सज्जीकृतचापे जाते सति, पश्य तत्फलं पश्येत्यर्थः ।

वायव्यास्त्रेति । ताडकाया अपत्यं पुमान् ताडकेयः सुबाहुर्नाम वायव्यास्त्रस्य व्यतिकरेण सम्बन्धेन निरालम्बनः आश्रयरहितः सन् जीवन्मरणं प्राप्तः सन् असुभिः

कुशाग्र जल बिन्दुके तुल्य ही आप मेरे धनुषको समझ लें ॥ ६३ ॥

(धनुष लेकर चलते हैं)

लक्ष्मण—(साशङ्क स्वगत) सौभाग्यवश आर्य रामका बाल्य भी क्षात्रधर्मसे पूर्ण रहा । (नेपथ्यकी ओर देखकर हर्ष प्रकाशित करते हुए, प्रकट) भगवन् कौशिक, देखिये, रामके धनुष धारण करते ही—

वायव्यास्त्रके सम्पर्कमे निराश्रय होकर मारीच जीते ही मरा हुआ है, सुबाहुने प्राण त्याग कर दिया, यह ताडका भी खण्डित होकर करुणा, आश्चर्य, त्रास तथा क्रोधसे ऋषियों द्वारा देखी जा रही है ॥ ६४ ॥

१ 'सोत्साहशङ्कमात्मगतम्' इति । २. 'सप्रकाशम्' इति ।
३ 'पश्य पश्य' इति । ४ 'धनुषि धृते' इति । ५ 'विप्रयुक्त' इति ।

कृत्तोन्मुक्ता भुवि च करुणाश्चर्यबीभत्सहास-
त्रासक्रोधोत्तरल[1]मृषिभिर्दृश्यते ताडकेयम् ॥ ६४ ॥

विश्वामित्रः—(विलोक्य ।) वत्स लक्ष्मण, विस्मयेन प्रमोदेन च परवन्तो वय [2]न वाचामधीश्महे। वक्तव्यमेव वा किमस्ति । न खल्वियमद्यतनी व' प्रतिष्ठा ।

दिक्कूलंकषकीर्तिधौतवियतो निर्व्याजवीर्यो[3]द्धता-
स्ते यूयं रघव प्रसिद्धमहसो यै सोऽपि देवाधिपः ।

प्राणैर्विप्रमुक्त परित्यक्त । इयञ्च ताडका कृत्ता छिन्ना भुवि पृथिव्याम् उन्मुक्ता त्यक्ता सती करुणया स्त्रीत्वकृतया दयया आश्चर्येण कथ महाराक्षस्या अस्या वालेन पराजय इति विस्मयेन बीभत्सेन घृणया हासेन प्रमादजन्मना हसितेन त्रासेन कदाचिदिय पुनर्जीविता चेत्सातिशयमुपद्रवेदिति भयेन क्रोधेन तदुपद्रवस्मरण-जन्मना कोपेन च उत्तरल यथा स्यात्तथा ऋषिभि दृश्यते ॥ ६४ ॥

विस्मयेन आश्चर्येण, कथमय बालो रामस्तथा भयङ्करीमिमा राक्षसीमहन् इति जायमानेनाश्चर्येण । प्रमोदेन विघ्नापगमजन्मना हर्षेण । परवन्त पराधीना हृतचित्ता इत्यर्थ । न वाचामधीश्महे न किमपि वक्तुं पारयाम । अद्यतनी नवीना। प्राक्तनी एव युष्माकमिय प्रतिष्ठाऽतो नात्र किमपि विशिष्य वक्तव्यमव-शिष्यत इत्यर्थ ॥

दिक्कूलङ्कषेति । दिशा कूलङ्कषा दिगन्तव्यापिनी या कीर्त्तिस्तया धौतं क्षालित वियत् आकाश यैस्तथाभूता यूय ते प्रसिद्धा रघव रघुवश्या निर्व्याजवीर्योद्धता अकपटपराक्रमदृप्ता तथा प्रसिद्धमहस प्रख्याततेजस्काश्च, स्थ इति शेष । असुरा-

विश्वामित्र—(देखकर) वत्स लक्ष्मण, विस्मय तथा आनन्दसे हम पराधीन हो रहे हैं, हममें बोलनेकी शक्ति नही रह गई है। अथवा कहना ही क्या है, यह प्रतिष्ठा तुम्हारे कुलके लिये कुछ नई नही है ।

दिगन्तव्यापी यशसे आकाशको धवल बना देने वाले तथा अकपट पराक्रमशाली तुम रघुवशियोंका तेज प्रसिद्ध ही है, तुम रघुवशियोंने तो इन्द्रकी जयके निदान अपने धनुष-धारणसे इन्द्रको पौलोमीके कुचमण्डल पर पत्रभङ्गरचना-निर्माणकी कला सिखला दी है,

१. 'असुभि ' इति । २ 'न च' इति । ३ 'वीरव्रता ' इति ।

विश्राणैरसुराधिराजविजयक्रीडानिदानं धनुः
पौलोमीकुच[1]पत्रभङ्गरचनाचातुर्यमध्यापितः ॥ ६५ ॥

लक्ष्मण —भगवन्, पश्य ।

अद्य नैशाचरीं सेनामेनामुन्मूलयन्नयम्[2] ।
[3]आधानं वीरधर्मस्य [4]निर्माय त्वामुपस्थितः ॥ ६६ ॥

(प्रविश्य ।)

रामः—([5]सवैलक्ष्यस्मितम् ।)

पूषा वसिष्ठः कुशिकात्मजोऽयं त्रयस्त एते गुरवो रघूणाम् ।

धिराजविजयक्रीडानिदानम् असुरमुख्यपराजयसाधनं धनुर्विश्राणैर्येः रघुवंश्यैः स देवाधिपः इन्द्रोऽपि पौलोमीकुचपत्रभङ्गरचनाचातुर्यम् शचीस्तनदेशाधिकरणपत्रावलीविरचनकौशलम् अध्यापितः शिक्षितः । दिगन्तविख्यातकीर्त्तयोऽकपटशौर्यशालिनश्च राघवाः प्रथिता एव, येषां राक्षसजैत्रधनुर्धराणां प्रभावेण जितेषु राक्षसेषु विजेतव्याभावेन शक्रः पुलोमात्मजाकुचपत्रभङ्गरचनायामेव समयं गमयतीत्याशयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६५ ॥

अद्येति । अयं रामः अद्य एनां नैशाचरीं राक्षसीं सेनाम् उन्मूलयन् विनाशयन् वीरधर्मस्य वीरचर्यायाः आधानं स्वस्मिन् संस्थितिं निर्माय कृत्वा त्वामुपस्थितः प्राप्तः । राक्षसबलमुन्मूलयन्नयं रामोऽद्य स्वस्मिन्वीरधर्ममाधाय भवदन्तिकमुपपन्नस्तत्सत्यं त्वदुक्तमित्यर्थः ॥ ६६ ॥

सवैलक्ष्यस्मितम् सलज्जमन्दहासम् ।

पूषेति । पूषा सूर्यः, वसिष्ठः, अयं कुशिकात्मजश्च एते त्रयः ते प्रसिद्धाः रघूणां

अर्थात् उन्हें युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि उनकी ओरसे तुम रघुवंशी ही लडा करते हो और वह अपनी स्त्रीके स्तनोंपर क्रीडापत्रभङ्ग बनानेमें लगे रहते हैं ॥६५॥

लक्ष्मण—भगवन् देखिये, आज यह रामचन्द्र राक्षससेनाका नाश करते हुए वीर धर्मका आरम्भ करके आपके पास उपस्थित हो रहे हैं ॥ ६६ ॥

(प्रवेश करके)

राम—(लज्जाके साथ हसकर) सूर्य, वसिष्ठ, तथा विश्वामित्र यही तीन रघुवंशके

---

१. 'पत्रभङ्गि' इति । २ 'इव' इति । ३. 'आधारम्' इति ।
४ 'विधाय' इति । ५ 'सवैलक्ष्यम्' इति ।

महामुनेरस्य[1] गिरा कृतोऽपि स्त्रैणो वधो [2]मां न सुखाकरोति ॥६७॥

(आश्रममवलोक्य ।)

प्रत्यासन्नतुषारदीधितिकरक्लिश्यत्तमोवल्लरी-
[3]बल्याभिर्मखधूमवल्लिभिरमी संमीलितव्यञ्जना ।
श्व संचीवरयिष्यमाणवटुकव्याधूतशुष्यत्त्वचो
निद्राणातिथयस्त[4]पोवनगृहाः कुर्वन्ति न कौतुकम् ॥६८॥

([5]पुरतोऽवलोक्य ।)

गुरव कुलपूज्या, तथापि अस्य महामुनेर्विश्वामित्रस्य गिरा वचसा कृतोऽनुष्ठितोऽपि स्त्रैणो वध स्त्रीहत्या ताडकाविनिपातरूपा मा न सुखाकरोति प्रीणयति। गुरोरपि विश्वामित्रस्याज्ञामनुरुध्य यदह स्त्रिय ताडका हतवास्तन्मे हृदये दु खमुत्पादयतीत्यर्थ ॥ ६७ ॥

प्रत्याम-नेति। प्रत्यासन्नस्य उदयोन्मुखस्य तुषारदीधितेश्चन्द्रस्य करै किरणै क्लिश्यन्त्य नश्यन्त्यो यास्तमोवल्लर्य अन्धकारश्रेणयस्तत्कल्पाभि तत्तुल्याभि मखधूमवल्लिभि यज्ञोद्गतधूमलताभि सम्मीलितानि तिरोहितानि व्यञ्जनानि द्वारकुड्यादिचिह्नानि येषु तादृशा, तथा श्व भाविदिने सञ्चीवरयिष्यमाणा परिधास्यमाना वटुकै ब्रह्मचारिभि व्याधूता कम्पिता शुष्यन्त्यश्च त्वचो वल्कलानि येषु तादृशा, निद्राणा शयिता अतिथय अभ्यागता येषु तथोक्ताश्च तपोवनगृहा न अस्माकं कौतुकम् आनन्दातिरेक कुर्वन्ति जनयन्ति। आसन्नोदयस्य चन्द्रस्य प्रकाशेन नश्यन्त्या तमोलेखया समानाकाराभिर्धूममालाभिस्तिरोहितानि

गुरु है, आज महामुनि विश्वामित्रके कहनेसे किया गया यह स्त्रीवध मुझे आनन्दित नहीं कर रहा है॥ ६७ ॥

(आश्रमकी ओर देखकर)

अभी अभी उदित होनेवाले चन्द्रमाकी किरणों से नष्ट होते अन्धकारकी तरह दीखनेवाले मखधूमोसे आच्छादित तथा कल्ह पहने जानेवाले सूखनेको डाले गये वल्कलोंसे घिरे तथा जिनमें अतिथि गण सो रहे है ऐसे यह तपोधनोंके घर मेरे कुतूहलकी सृष्टि कर रहे हैं॥ ६८ ॥

(आगेकी ओर देखकर)

---

१. 'तस्य' इति। २ 'अयम्' इति। ३. 'कल्पाभि' इति।
४ 'तपोवने' इति। ५. 'पुरोऽवलोक्य' इति।

स्फुरति पुरतो माद्यन्माद्यच्चकोरविलोचन-
प्रकरकिरणश्रेणीदत्तस्वहस्तघनं महः ।
हृदय लघु मा भूः प्रेयोदर्शनप्रतिभूरयं
कुवलयदृशामिन्दुर्नेत्रे सुधाभिरनक्ति न ॥ ६९ ॥

अपि च—

उन्मीलन्ति मृणालकोमलरुचो राजीवसंवर्तिकाः-

बाह्यचिह्नानि तपोवनगृहाणाम्, वटवृक्ष इव परिधेयानि वल्कलानि चालयित्वा शोषयन्ति, यत्र तत्रातिथयः सुखं शेरते, तदीदृशास्तपोवनगृहा अस्माकमन्तरानन्दातिशयं सृजन्तीति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६८ ॥

स्फुरतीति । माद्यतां माद्यता नितरां हृष्यतां चकोराणां ये विलोचनप्रकरास्तेषां किरणश्रेणीभिः मयूखनिचयैः दत्तेन स्वहस्तेन हस्तावलम्बनेन घनं सान्द्रं महः चान्द्रं तेजः स्फुरति राजते । चन्द्रोदये प्रसन्नतां प्रकाशयन्तश्चकोरा यच्चन्द्रोपरि दृष्टिपातं कुर्वन्ति तन्नयनमयूखैस्समेधितं चान्द्रं तेजो राजते इत्याशयः । हे कुवलयदृशां हृदय, लघु मा भूः कातरं भास्म भव, अयमिन्दुश्चन्द्रः प्रेयसोऽत्यन्तप्रियजनस्य दर्शने प्रतिभूर्लग्नकः न अस्माकं नेत्रे चक्षुषी सुधाभिरमृतैरनक्ति सिञ्चति । चन्द्रोदयस्य विरहिणां कृते कन्दर्पज्वरदायितया चन्द्रमुदितमवलोक्य स्वयमेव कुसुमबाणवशगः प्रियः समागमिष्यतीति हृदयमाश्वास्यते । कुवलयदृशामप्रकान्ततयाऽसम्बद्धाभिधानमिदमिति मत्वा केचित्—भगवतो हि चेतस्यन्धकारे महद्दुःखमुत्पन्नमत आह हे मदीयहृदय, मा लघु उपतप्तः भूः, अयं कुवलयदृशां प्रतिभूः प्रियदर्शने इन्दुः सुधाभिर्नेत्रे अनक्ति, अतोऽन्धकारापनोदः सन्निहित इत्यर्थमाहुः । इतरे तु—प्राच्यां दिशि तेजःपटलमालोक्य किमयमन्य एव कश्चन मायावी राक्षसः समुपागत इति बुद्धिरुत्पन्ना, ततो निपुणं निरूप्याह—'हे मदीयहृदय, मा लघु भूः मा त्वरिष्ठाः नासौ राक्षसः कश्चित्, किन्तु कुवलयदृशां प्रेयोदर्शनप्रतिभूरिन्दुरयमिति वर्णयन्ति । न चातीतानागतज्ञतया रामस्य नेदृशी शङ्कोचितेति वाच्यम्, सर्वदा तस्य तथात्वानभ्युपगमात् । अन्यथा राक्षसमायादर्शने तस्य मोहाप्राप्तिप्रसङ्गेन तथावर्णनस्यासम्बद्धत्वप्रसङ्गात् । 'प्रतिभूर्लग्नकः पुमान्' इत्यमरः । हरिणीवृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ६९ ॥

उन्मीलन्तीति । मृणालकोमलरुचः मृणालधवलकान्तयः राजीवानां या संव-

---

मतवाले चकोर नयनोंको अति बहुमूल्य आनन्द प्रदान करनेवाला यह तेज आगकी ओर फैल रहा है, हृदय, घबडाओ मत स्त्रियोंके हृदयोंमें प्रियतमोंके आनेका विश्वास दिलानेवाला यह चन्द्रमा अपनी किरणोंसे हमारी आँखोंको शीतलता प्रदान कर रहा है ॥

मृणालकी तरह स्वच्छ एवं कमलदलोंको सङ्कुचित करनेवाले यह चन्द्रमाके किरण

संवर्तव्रतवृत्तय कतिपये पीयूषभानोः करा ।
[1]अप्युस्त्रैर्धवलीभवत्सु गिरिषु क्षुब्धो यमुन्मज्जता
विश्वेनेव तमोमयो निधिरपामह्नाय फेनायते ॥ ७० ॥

(सनिर्वेदम् ।)

इन्दुर्यद्युदयाद्रिमूर्ध्नि न भवत्यद्यापि तन्मा स्म भू-
न्नासीरेऽपि तमःसमुच्चयममूरुन्मूलयन्ति त्विषः ।

र्त्तिका नवदलानि तासा संवर्त्ते प्रलये यत् व्रतं सङ्कल्प तत्र वृत्तिर्व्यापारो यासा तास्तथोक्ता. कमलदलसङ्कोचनप्रवृत्ता इत्यर्थ । पीयूषभानो चन्द्रमस कतिपये असमस्ता करा उन्मीलन्ति स्फुटीभवन्ति, उस्रै चन्द्रकिरणै गिरिषु पर्वतेषु धवलीभवत्सु श्वेततामञ्चत्सु उन्मज्जता उन्मज्जन कुर्वता (प्रकटपृथग्भावमाप्नुवता) विश्वेन जगता क्षुब्धो मथित इवायम् तमोमय अन्धकारस्वरूप अपां निधि समुद्र अह्नाय झटिति फेनायते फेनमुद्वमति । कमलदलसङ्कोचके शशिकरनिकरे किञ्चिदुन्मीलति सति प्रकाशीभवत्सु गिरिषु उन्मज्जता विश्वेन मथित इवाय तमोराशिरूप सागर प्रकाशरूप फेनमुद्वमति, अन्योऽपि सागर गिरिणा मन्दरेण मथ्यमान फेनं त्यजतिस्मेति मनसिकृत्येत्थमुक्तम् । 'उत्प्रेक्षालङ्कार स्पष्ट । 'सवर्त्तिका नवदलम्','द्रागझटित्यञ्जसाऽह्नाय','विश्व जगति स्यान्नपुसकम्' इति सर्वत्रामर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ७० ॥

इन्दुरिति । अद्यापि सम्प्रत्यपि यदि इन्दु चन्द्र उदयाद्रे उदयाचलस्य मूर्ध्नि शिरोदेशे न भवति नोदयते तत् मा स्म भूत् नोदयताम् , अमू त्विष अमी चन्द्रकरा नासीरे उदयादग्रेऽपि तमसामन्धकाराणाम् समुच्चयम् समुदायम् उन्मूलयन्ति निरवशेषमवसाययन्ति, चन्द्रसम्पाद्यस्य तमोनाशरूपकार्यस्य तदीयत्विड्भिरेव सम्पाद्यतया चन्द्रोदयापेक्षा नास्तीत्यर्थ. । न केवल तमोनाशरूपकार्यमेव त्विष सम्पादयन्ति, किन्त्वन्यान्यपि नेत्रानन्दजननकुमुदविकासनादिकार्याणि ता

प्रकटित हो रहे हैं, किरणोंसे पर्वत धवल हो रहे हैं, इससे सागर क्षुब्ध हो रहा है, यह ससार मानो सागरसे निकल रहा है और इसीलिये यह सागर फेनायमान हो रहा है ॥ ७० ॥

चन्द्रमा अभी भी उदयाचलकी चोटीपर भले ही न आया हो, परन्तु उसकी किरणें आगे आगे हा अन्धकारराशिका नाश कर रही हैं, आंखोंको आह्लादित तथा

---

१ 'अप्युग्रै' इति ।

अप्यक्ष्णोर्मुद[1]मुद्गिरन्ति कुमुदैरामोदयन्ते दिशः
संप्रत्यूर्ध्वमसौ तु लाञ्छनम[2]भिव्यङ्क्तु प्रकाशिष्यते ॥७१॥

([3]सहर्षम् ।)

काश्मीरेण दिहानमम्बरतलं वामभ्रुवामानन-
द्वैराज्यं विदधानमिन्दुदृषदां भिन्दानमम्भःशिराः ।
प्रत्युद्यत्पुरुहूतपत्तनवधूदत्तार्घद[4]र्भाङ्कुर-
क्षीबोत्सङ्गकुरङ्गमैन्दवमिदं बिम्बं समुज्जृम्भते ॥ ७२ ॥

कुर्वते, तदाह—अप्यक्ष्णोरिति । अक्ष्णो दृशो अपि मुदमानन्दमुद्गिरन्ति ददति, कुमुदै विकासितै कुमुदकुलै दिश आमोदयन्ते सुरभीकुर्वन्ति, असौ इन्दुस्तु सम्प्रति तमोनाशनेत्रानन्दनकुमुदद्वारकदिक्सुरभीकरणरूपकार्याणा त्विड्भिरेव कृतत्वे तु लाञ्छन स्व कलङ्कमभिव्यङ्क्तु स्फुटाचभासता नेतु प्रकाशिष्यते उदयिष्यते, सम्प्रति चन्द्रोदयस्य तत्कलङ्काभिव्यक्तिमतिरिच्य प्रयोजनान्तर नाभयाम इति भाव । स्वकीयै सन्ति कार्याणि सम्पाद्यन्ते स्वय तु कलङ्कमात्रं प्रकाशयत इत्यहो शोच्यता शशिन इति ध्वनि । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ७१ ॥

काश्मीरेणेति । काश्मीरेण कुङ्कुमेन अम्बरतलम् आकाशदेशम् दिहानम् लिम्पत्, वामभ्रुवाम् सुन्दरीणा स्त्रीणाम् आननद्वैराज्यम् मुखप्रतिपक्षताम् (सादृश्यम्) विदधानम्, इन्दुदृषदाम् चन्द्रकान्तोपलानाम् अम्भ शिरा जलाधारभूतनाडी भिन्दानम् खण्डयत्, (स्वेदयत्) प्रत्युद्यतीभि प्रत्युद्गच्छन्तीभि पुरुहूतपत्तनवधूभि पुरन्दरपुरीललनाभि दत्तो योऽर्घस्तस्य दर्भाङ्कुरेण (अतिभक्षितेन) क्षीब मत्त उत्सङ्गकुरङ्ग क्रोडस्थहरिणो यस्य तथाभूतम् इदमैन्दव चन्द्रसम्बन्धि बिम्ब मण्डल समुज्जृम्भते उदयते । प्रथमोदितकिरणानामतिरक्तत्वा-

---

दिशाओंको कुमुदोंसे आमोदित कर रही हैं, फिर पीछे चन्द्रमा भी अपने कलङ्कको व्यक्त करनेके लिये उदित होंगे ही ॥ ७१ ॥

आकाशको केसरके रगमें रगनेवाला, स्त्रियोंके मुखकी समता करनेवाला, चन्द्रकान्त मणियोंकी जलवाहिनी सिराको प्रवाहित करनेवाला यह चन्द्रमाका बिम्ब उदित हो रहा है, इसके उदय होते ही स्वर्गकी स्त्रियों द्वारा दिये गये अर्घमें वर्त्तमान कुशाङ्कुरोंको खाकर इसका अङ्कस्थ हरिण अलसा गया है ॥ ७२ ॥

---

१ 'उद्वहन्ति' इति । २ 'अभिव्यक्तुम्' इति ।
३ 'महर्षं च' इति । ४ 'दूर्वाङ्कुर–' इति ।

एताश्च—

पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरजःस्वाजन्यजन्मोद्धताः
शीतांशोर्द्युतय पुरन्दरपुरीसीम्नामुपस्कुर्वते ।
एताभिर्लिहतीभिरन्धतमसान्युद्ग्रथ्नतीभिर्दिशः
क्षोणीमास्तृणतीभिरन्तरतमं व्योमेदमोजायते ॥ ७३ ॥

अपि च—

नैवायं भगवानुदञ्चति शशी गव्यूतिमात्रीमपि
द्यामद्यापि तमस्तु कैरवकुलश्रीचाटुकाराः कराः ।
मथ्नन्ति स्थलसीम्नि शैलगहनोत्सङ्गेषु संरुन्धते

रकुङ्कुमसादृश्यम्, 'काश्मीर कुङ्कुमेऽपि स्यात्', 'नाडी तु धमनि शिरा' इति मेदिन्यमरौ ॥ ७२ ॥

पौलोमीति । पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरजसाम् इन्द्राणीस्तनकलशकुङ्कुमरजसां स्वाजन्ये समानकुले जन्मना उत्पत्त्या उद्धताः दृप्ता, शीतांशोर्द्युतय चन्द्रकरा पुरन्दरपुरीसीम्नाम् स्वर्गसीमादेशानाम् वियताम् उपस्कुर्वते गुणान्तराधानं कुर्वते । इन्द्रस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरज साजात्यसगर्वा अमी चन्द्रकरा व्योम्नि स्वगुणमादधत इत्यर्थं । अन्धतमसानि गाढान्धकारान् लिहतीभि आस्वादयन्तीभि नाशयन्तीभिरित्यर्थं, दिश प्राच्यादिदिग्विभागानुद्ग्रथ्नतीभि प्रकटयन्तीभि क्षोणीं पृथ्वीमास्तृणतीभि आच्छादयन्तीभिरेताभिर्द्युतिभि· चन्द्रकान्तिभि अन्तरतमम् मध्यगतम् इदं व्योम ओजायते उज्ज्वलीभवति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ७३ ॥

नैवायमिति । अय भगवान् शशी अद्यापि सम्प्रत्यपि गव्यूतिमात्रीम् क्रोशद्वयपरिमाणाम् अपि द्याम् आकाशम् नैव उदञ्चति नोत्तिष्ठते, तु पुन कैरवकुलश्री-चाटुकारा कुमुदवृन्दशोभाऽऽलोककर्त्तार करा चन्द्रकिरणा स्थलसीम्नि स्थलदेशे तम मथ्नन्ति विध्वंसयन्ति, शैलानाम् पर्वतानाम् गहनानाम् वनानाञ्चोत्सङ्गेषु

पौलोमी कुचकुम्भ पर वर्त्तमान कुङ्कुम रजकी तुलना प्राप्त होनेसे गर्वित यह चन्द्रद्युतियाँ प्राचीदिशाको प्रकाशित कर रही हैं, यह चन्द्रद्युतियाँ अन्धकारको चाटती जा रही हैं, दिशाओंको व्यक्त करती जारही हैं, पृथ्वीको विस्तीर्ण करती जा रही हैं, इनसे आकाश दीपित हो रहा है ॥ ७३ ॥

अभी भगवान् चन्द्रमा दो कोश ऊपर भी नहीं उठ सके है, तभी कैरवकुलकी श्रीवृद्धि करनेवाले यह चन्द्र किरणें स्थल स्थल पर अन्धकारोंको मथित कर रहे है, पर्वत

जीवग्राहमिव क्वचित्क्वचिदपि च्छायासु गृह्णन्ति च ॥७४॥

(ज्योत्स्नातिशयं [1]विभाव्य ।)

किं नु ध्वान्तपयोधिरेष कतकक्षोदैरिवेन्दोः करै-
रत्यच्छोऽयमधश्च [2]पङ्कमखिलं छायापदेशादभूत् ।
किं वा तत्करकर्तरीभिरभितो निस्तक्षणादुज्ज्वलं
व्योमैवेदमितस्ततश्च पतिताश्छायाच्छलेन त्वचः ॥ ७५ ॥

([3]परिक्रम्य पार्श्वतोऽवलोक्य ।)

अभ्यन्तरेषु संरुन्धते अवरुद्धं कुर्वन्ति, तथा क्वचित् क्वचित् छायासु जीवग्राहं गृह्णन्ति च । यथा राजभटाः शत्रून् स्वस्वामिनि दूरस्थेऽपि स्थलेषु विध्वंसयन्ति, पर्वतकाननमध्ये निरुध्य वशयन्ति, क्वचिज्जीवग्राहं गृह्णन्ति च, तद्वदमी चन्द्रकराः गव्यूतिमात्रीमपि दिवं समाक्रामति चन्द्रे स्थले तमांसि नाशयन्ति, पर्वतवनगतानि तु तानि निरुन्धन्ति, क्वचिच्छायासु जीवग्राहं गृह्णन्ति चेत्यर्थः । 'नृपादेर्वर्णने चाटुरालोके चाटुरिष्यते', 'गव्यूतिः स्त्रीक्रोशयुगम्' इति धरण्यमरौ ॥ ७४ ॥

किन्नु ध्वान्तेति । अयं ध्वान्तपयोधिः अन्धकारसागरः कतकक्षोदैः जलस्वच्छताकारकौषधिविशेषचूर्णैरिव इन्दोश्चन्द्रस्य करैः किरणैः अत्यच्छः अतिनिर्मलः किन्नु ? अखिलं पङ्कं छायापदेशात् अधः च अभूत् । किंवा तस्य इन्दोः करा एव कर्त्तर्यः छेदनसाधनास्त्राणि ताभिरभितः समन्ततस्तक्षणात् खण्डनात् इदं व्योम आकाशम् उज्ज्वलम् भवति, छायाच्छलेन इतस्ततस्तस्य व्योम्न एव त्वचः पतिताः, अन्यस्यापि निकृत्तस्य वृक्षादेस्त्वचः इतस्ततः पतन्ति तद्वदित्यर्थः, उपरि प्रकाशोऽधश्छाया, तन्मन्ये ध्वान्तपयोधिः कतकक्षोदोपमैरभिश्चन्द्रकरैरत्यच्छो जातोऽधश्च छायाच्छलात्पङ्कमवतिष्ठतेऽथवा चन्द्रकररूपकर्त्तरिकया व्योमवृक्षश्छिन्नस्तत्तस्योज्ज्वलता, छायाच्छलेन च तत्तरुत्वचा पात इति विवक्षितोऽर्थः । अत्र सन्देहालङ्कारः स्पष्टः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

तथा वनोंमें घेर रहे हैं, कहीं कहीं छायामें जीवित बन्दी बना रहे हैं ॥ ७४ ॥

(अधिक ज्योत्स्ना देखकर) क्या यह अन्धकार सागर ही चन्द्रकिरण रूप 'निर्मली' चूर्णके सम्पर्कसे ऊपरमें स्वच्छ तथा छायाके छलसे नीचे मलिन हो रहा है, अथवा चन्द्रकिरण रूप तीक्ष्ण अस्त्रसे यह आकाश रूप फल छील दिया गया है जिससे स्वच्छ आकाश निकल आया है और छायाके रूपमें उसका छिलका बिखर गया है ॥ ७५ ॥

(चलते हुए आगे देखकर)

१ 'विभाव्य च' इति । २ 'पङ्कपटलम्' इति ।

३ 'परिक्रम्यावलोक्य च' 'परिक्रम्य सर्वतोऽवलोक्य' इति च ।

दलविततिभृतां तले तरूणामिह तिलतण्डुलितं मृगाङ्करोचिः ।
मदचपलचकोरचञ्चुकोटीकवलनतुच्छमिवान्तरान्तराऽभूत् ॥७६॥
(विभाव्य च ।)

त्रिभुवनतमोलुण्टाकीनामहो मिहिरत्विषा-
मभिविधिरसौ कोकश्रेणीमनस्यवशिष्यते[1] ।
क्षुधमपि तमः [2]कोपादन्त प्रविश्य विनिघ्नत-[3]
शशधरकरानच्छिन्नाग्रांश्चरन्ति चकोरका ॥ ७७ ॥

दलेति । दलविततिभृताम् विस्तृतपत्राणाम् तरूणाम् वृक्षाणाम् इह तले अध प्रदेशे मृगाङ्करोचि चन्द्रद्युति तिलतण्डुलितम् तिलसङ्कीर्णतण्डुलवदाचरितम् अतएव अन्तराऽन्तरा मदचपलानाम् प्रमोदचटुलाना चकोराणा चञ्चुकोटिभि कवलनेन आस्वादनेन तुच्छ शून्यमिवाभूत्, विस्तृतपत्रवृक्षाधोभागे सङ्कीर्णतिल-तण्डुलसमान छायामिलितमिन्दुरोचि प्रमोदचपलचकोरचञ्चुपुटभक्षितरिक्त-मिवावभासत इत्याशय । उत्प्रेक्षालङ्कार । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ७६ ॥

त्रिभुवनेति । अहो आश्चर्यम्, त्रिभुवनतमोलुण्टाकीनाम् लोकत्रयव्याप्ततमो-विनाशिकानाम् मिहिरत्विषाम् सूर्यकान्तीनाम् असौ अभिविधि अभिव्याप्ति कोक-श्रेणीमनसि चक्रवाककुलचेतसि अवशिष्यते, य सूर्यतापो लोकत्रय व्याप्तस्स सम्प्रति सन्तापरूपेण चक्रवाकचित्तमात्रेऽवशिष्यते, चक्रवाकचयो हि सूर्येऽस्त गते सति वियोगव्यथया सन्तप्यते । चकोरका तन्नामान पक्षिण अन्त प्रविश्य क्षुध बुभुक्षा तमश्च विनिघ्नत निवारयत अच्छिन्नाग्रान् दूरप्रसारिण शशधरकरान् चन्द्रकिरणान् चरन्ति भक्षयन्ति । चन्द्रोदये चक्रवाका सन्तप्यन्ते, चकोराश्च तत्करानाचामन्तीति प्रसिद्धिमनुरुध्येदमुक्तम् ॥ ७७ ॥

पत्र-समुदाय पूर्ण इन वृक्षोंके नीचे तिल-तण्डुलकी तरह मिलित तम तथा चन्द्रकर (किरण) ऐसा प्रतीत होता है मानो मदचपलचकोरोंने अपनी चञ्चुओं द्वारा बीच-बीचमें चन्द्रकरोंको निगल लिया है जिससे उसका स्थान रिक्त पड गया है ॥ ७६ ॥

(विचार करके)

त्रिभुवनके तमको नष्ट करनेवाले सूर्य-करोंके द्वारा भी कोकश्रेणीके हृदयमें वर्त्तमान वियोग-सन्तापरूप तमका लोप नहीं हो पाया था, इसीलिये इस समय यह चकोरगण भूखके साथ-साथ अन्तर्गत तमको भी दूर करनेवाले इन चन्द्रकरोंको समस्त रूपमें चर रहे हैं ॥ ७७ ॥

१ 'अवतिष्ठते' इति । २ 'साक्षादन्त' इति । ३ 'निगृह्णत' इति ।

अपि चेदानीं—

तथा पौरस्त्यायां दिशि कुमुदकेदारकलिका-
कपाटघ्नीमिन्दुः किरणलहरीमुल्ललयति ।
समन्तादुन्मीलद्बहलजलबिन्दुस्तवकिनो
यथा पुञ्जायन्ते प्रतिगुडकमेणाङ्कमणयः ॥ ७८ ॥

(परिक्रामन्नूर्ध्वमवलोक्य ।)

तरुणतमालकोमलमलीमसमेतदयं
कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति ब्रुवते ।
तदनृतमेव निर्दयविधुन्तुददन्तपद-
व्रणविवरोपदर्शितमिदं हि विभाति नभः ॥ ७९ ॥

तथेति । इन्दुः चन्द्रः पौरस्त्यायां प्राच्यां दिशि कुमुदानां कैरवाणां केदारः क्षेत्रम् तत्र या कलिकाः मुकुलानि तासां कपाटघ्नीम् सङ्कोचविनाशिनीं विकास-करीम् किरणलहरीम् स्वकान्तिप्रवाहम् तथा उल्ललयति प्रसारयति, यथा समन्तात् सर्वतः उन्मीलद्भिः प्रसरद्भिः बहलैः प्रभूतैः जलबिन्दुभिः स्तबकिनः सगुच्छा जलबिन्दुवर्षिणः एणाङ्कमणयः चन्द्रकान्ताः प्रतिगुडकम् सर्वासु गुटिकासु पुञ्जायन्ते राशीभवन्ति । कैरवकुलविकासकारिचन्द्रकान्तिसम्पर्कवशात् द्रवतां चन्द्रकान्तानाम् प्रतिगुटिकं पुञ्जीभावो जायते इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ७८ ॥

तरुणेति । अयं चन्द्रमाः तरुणः प्रौढो यस्तमालस्तापिच्छस्तद्वत् कोमलं मलीमसं श्यामलं च (किञ्चन) कलयति धारयति, तत् लोकाः कलङ्कमिति अनृतमेव मिथ्यैव ब्रुवते कथयन्ति । इदं हि चन्द्रे दृश्यमानं श्यामलं वस्तु-निर्दयस्य अकृपस्य विधुन्तुदस्य राहोः दन्तपदे यद् व्रणविवरं तत्र दन्तक्षतस्थाने उपदर्शितं दृश्यं नभः विभाति । नेदं दृश्यमानं श्यामलं वस्तु कलङ्कात्मकमपि त्विदं राहु-दन्तक्षतविवरदृश्यं नभः एवेति तात्पर्यम् । अपह्नुतिरलङ्कारः, प्रकृतं प्रतिषिध्यान्य-

---

कुमुद वनकी कलिकाओंको विकसित करनेवाली अपनी कान्तियोंको चन्द्रमा प्राची दिशामें इस रूपमें फैलाता जा रहा है कि समन्ततः जलबिन्दुपूर्ण होनेके कारण प्रति स्थानमें चन्द्रकान्त मणियोंके पुञ्ज बनते जा रहे हैं ॥ ७८ ॥

(घूमते हुए ऊपरकी ओर देखकर)

यह चन्द्रमा तरुण तमाल-पल्लवकी तरह श्याम वर्णका कलङ्क धारण करता है—यह कहना गलत है, यह तो अन्धकार है, राहुने जो निर्दयतापूर्वक दांत गड़ा दिये थे, उसीसे उत्पन्न छिद्रोंमें अन्धकार व्याप्त हो रहा है ॥ ७९ ॥

किं च—

रुचिभिरभितष्टङ्कोत्कीर्णैरिव त्रसरेणुभि-
यदुडुभिरपि च्छेदैः स्थूलैरिव भ्रियते नभः ।
प्रकृतिमलिनो भास्वद्बिम्बोन्मृजाकृतकर्मण-
स्तदयमपि हि त्वष्टु कुन्दे भविष्यति चन्द्रमा ॥ ८० ॥

लक्ष्मण —(सर्वतोऽवलोक्य ।)

भूयस्तराणि यदमूनि तमस्विनीषु
ज्योत्स्नीषु च प्रविरलानि ततः प्रतीमः ।
संध्यानलेन भृशमम्बरमूषिकाया-

स्थापनात् । कोकिलकं वृत्तम्, तल्लक्षण यथा—हयऋतुसागरैर्यतियुतं यदि कोकिल• कम्' इति ॥ ७९ ॥

रुचिभिरिति । यत् अभित समन्तात् टङ्कोत्कीर्णैं पाषाणदारणास्त्रविशेषोत्क्षिप्तै त्रसरेणुभिरिव अत्यणुपरिमाणैर्वस्तुविशेषैरिव रुचिभि मयूखै तथा उडुभि नक्षत्रै छेदै खण्डैरिव नभ आकाश भ्रियते पूर्यते, तत् अयं प्रकृतिमलिन स्वभावकलुष चन्द्रमा भास्वद्बिम्बस्य सूर्यबिम्बस्य उन्मृजायाम् तक्षणे कृतकर्मण कृतव्यापारस्य त्वष्टु विश्वकर्मण कुन्दे यन्त्रविशेषे भविष्यति हि अवश्यमेव भविष्यति । नैताश्चन्द्ररुचय किन्तु विश्वकर्मणष्टङ्कोत्कीर्णास्त्रसरेणव एते, नैतानि नक्षत्राणि किन्तु विश्वकर्मणष्टङ्कोत्कीर्णाश्छेदविशेषा एते, तस्मादवश्यमेव चन्द्र प्रकृतिमलिनो विश्वकर्मण कुन्दे तिष्ठतीत्युत्प्रेक्षा । पूर्वकाले सूर्यतेजास्यसहमानया सूर्यपत्न्या संज्ञया प्रार्थित पिता विश्वकर्मा सूर्यं यन्त्रारूढ कृत्वा हीनतेजसमकरोदिति पुराणवार्त्ता मनमिकृत्येयमुत्प्रेक्षा । हरिणीवृत्तम् ॥ ८० ॥

भूयस्तराणीति । यत् यत अमूनि नक्षत्राणि तमस्विनीषु कृष्णनिशासु भूयस्तराणि अतिप्रचुराणि, ज्यौत्स्नीषु चन्द्रधवलासु च रात्रिषु च प्रविरलानि स्वल्पानि दृश्यन्ते, तत तस्मात् प्रतीम मन्यामहे यत् सन्ध्यानलेन ,सायङ्कालरूपेणाग्निना अम्बरमूषिकायाम् आकाशरूपसुवर्णादिद्रवीकरणपात्रभेदे आवर्त्तितै द्रवीकृतै

छेनीसे काटकर निकाले गये चन्द्रकरोंके समान दीखनेवाले इन दीर्घ-दीर्घ प्रतीत होनेवाले तारोंसे आकाश भरा हुआ है, क्या सूर्यको खरादपर चढाकर स्वच्छ बना देनेवाले विश्वकर्माकी खरादपर इस चन्द्रमाको भी चढना होगा ? ॥ ८० ॥

लक्ष्मण—यह तारे कृष्ण पक्षकी रात्रियोंमें अधिक तथा शुक्ल पक्षकी रात्रियोंमें कम होते हैं इससे समझमें आता है कि सन्ध्यानलके द्वारा आकाश रूप मूषा-यन्त्रमें

मावर्तितैरुडुभिरेव [1]भृतोऽयमिन्दु. ॥ ८१ ॥

([2]विहस्य च ।) हन्त, यथाधर्ममेतत् ।

यत्पीयूषमयूखमालिनि तम स्तोमावलीढायुषां
नेत्राणामपमृत्युहारिणि पुरः सूर्योढ एवातिथौ ।
अम्भोजानि पराञ्चि तन्निजमघं दत्त्वेव तेभ्यस्ततो
गौराङ्गीवदनोपमासुकृतमादत्ते पतिर्यज्वनाम् ॥ ८२ ॥

उडुभि नक्षत्रै एव अयम् इन्दु भृत पूरित । अतएव हि चन्द्रोदये नक्षत्राणा स्वल्पता, तेषा नक्षत्राणामेव द्रवीभावमापन्नाना पिण्डीभावेनाय चन्द्रो जात इति भाव' । उत्प्रेक्षालङ्कार स्फुट ॥ वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ८१ ॥

यथाधर्मम् धर्मानुकूलम् ।

यत्पीयूषेति । तम स्तोमेन अन्धकारनिकरेण अवलीढ समापितमायुर्येषा तेषा तमोहतानां नेत्राणाम् लोकनयनानाम् अपमृत्युहारिणि अकालमृत्युनिवारके नेत्राणा दर्शनक्षमताया समाधायके पीयूषमयूखमालिनि अमृतदीधितौ एव सूर्योढे अस्तमितसूर्यकालागते अतिथौ अभ्यागते समुपस्थिते सति यत् अम्भोजानि कमलानि पराञ्चि विमुखताभाञ्जि सङ्कुचितानि जायन्ते, तत् तत तेभ्योऽम्भोजेभ्य यज्वनापति द्विजराज (अतिथि) निजमघ पाप तेभ्य कमलेभ्यो दत्वा इव तेभ्य कमलेभ्य सकाशात् गौराङ्गीवदनोपमासुकृतम् सुन्दरीवदनसादृश्यपुण्यम् आदत्ते गृह्णाति । अयमाशय —सूर्यास्तकाले समागतोऽतिथिर्यदि न सत्कृतो निवृत्तश्च तदाऽसौ गृहिणे स्व पाप दत्वा तदीय पुण्यमादाय च गच्छति, अय चन्द्रमास्तादृश एवातिथि कमलकुलान्युपागत सङ्कुचद्भि कमलैर्मन्ये निराकृत इव तेभ्यो मालिन्यरूप स्वमघ प्रदाय तेषां पुण्य रमणीवदनसादृश्यप्रयोजकमादत्त इति । उक्त चात्र धर्मशास्त्रे—'अतिथिर्यस्य भग्नाशो

तवाकर तारों द्वारा ही यह चन्द्रमा प्रस्तुत किया जाता है ॥ ८१ ॥

(हँसकर) अहा ! यह ठीक ही है ।

अन्धकार द्वारा जिनकी आयु समाप्त कर दी गई थी ऐसा आखोंको पुनरुज्जीवित करनेवाले सुधाकिरणशाली चन्द्रमा जब सूर्यास्तके बाद अतिथिके रूपमें उपस्थित हुए तभी कमलोंने मुँह फेर लिया, अत चन्द्रमाने अपना पाप कमलोंको दे दिया और कमलोंके पुण्य ले लिये जिमसे चन्द्रमाको सुन्दरी स्त्रियोंके मुखकी समता प्राप्त हो रही है ॥ ८२ ॥

---

१ 'कृत ' इति । २. 'विहस्य यथाधममेतत्' इति ।

विश्वामित्रः—(सर्वतोऽवलोक्य । सस्मितम् ।) अहह [1]नामधेयमात्रमाधुर्यादपरमार्थदृश्वानो विप्रलभ्यन्ते । तथा हि ।

स्मेरा दिश कुमुदमुद्भिदुर पिबन्ति
ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोरा. ।
आ कीदृगत्रिमुनिलोचनदूषिकायां
पीयूषदीधितिरिति [2]प्रथितोऽनुराग ॥ ८३ ॥

(राम च दृष्ट्वा । सहर्षस्मितम् ।) कथमय [3]कुमाराङ्कविजयप्रत्यागतोऽपि

गृहात् प्रतिनिवर्त्तते । स तस्मै दुष्कृत दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति । अतिथौ विमुखे प्रोक्त गत यत् पातक नृणाम । तदेवाष्टगुण प्रोक्त सूर्योढे विमुखे गते ॥ इति ॥

नामधेयमाधुर्यात् नाममात्रस्य रमणीयत्वात् । अपरमार्थदृश्वान अतत्त्वदर्शिन । विप्रलभ्यन्ते प्रतार्यन्ते । नाममनोहरत्वे लोका प्रतारिता भवन्तीत्यर्थ. ।

स्मेरा इति । दिश स्मेरा विकासशीला, (नात्र चन्द्रापेक्षा, तासा स्वतोविकासशीलत्वात) कुमुदमुद्भिदुरम् विकसितम् (अत्रापि न चन्द्रापेक्षा, तद्विकासस्य स्वत सिद्धे) उदरम्भरय उदरपूर्त्तिलालसाशालिन चकोरा ज्योत्स्नाकरम्भम् शशिकररूप दधिसम्पृक्त सक्तुम पिबन्ति लिहन्ति, आ, अत्रिमुनिलोचनदूषिकायाम् अत्रिमुनेर्नेत्रविकाररूपे चन्द्रे पीयूषदीधिति अमृतकर इति प्रथितोऽनुराग कीदृक् ? कथमय मुनिनेत्रोत्पन्नतया तन्मलरूपो विधु सुधादीधितिपदेनोच्यते, कोपि तादृशोऽत्र विशेषो नालोक्यत इति भाव ॥ वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ८३ ॥

कुमाराङ्क प्रथमं युद्धं तत्र यो विजय शत्रुपराजय तत प्रत्यागत शत्रून्-

---

विश्वामित्र—(चारों ओर देखकर, सस्मित) अहा ! नाममात्रकी समतासे वास्तविक वस्तुको नहीं जाननेवाले वञ्चित होते हैं ।

दिशायें प्रकाशित हो गईं, कुमुद खिल रहे हैं, चकोरगण पेट भरकर चन्द्रकर रूप दधिसक्तु खा रहे हैं, आ ! अत्रि मुनिकी आखोंके मलस्वरूप इस चन्द्रमामें लोगोंको पीयूषदीधिति समझकर प्रेम क्यों है ? ॥ ८३ ॥

(रामको देखकर–हर्षमे हसकर) प्रथम युद्धमें ही विजय प्राप्त करके भी ताडकाके

---

१. 'नामधेयमाधुर्यात' इति । २ 'प्रथित' इति ।
३. 'कुमारोऽङ्कविजय', 'कुमारो विजय–' इति च ।

ताडकानिग्रहेण [1]ह्निणीयमान. सहसा नोपतिष्ठते [2]वत्स । (लक्ष्मण प्रति ।) वत्स सौमित्रे, अस्माकमनेन वृत्तान्तेन प्रदोषलक्ष्मीरियमनूद्यते । पश्य ।

निशाचराणां तमसां निहन्ता पुरोऽयमुद्गच्छति [3]रामचन्द्रः ।
अथोल्लसद्भिर्नयनैर्मुनीनामयं कुमुद्वानजनि प्रदेशः ॥ ८४ ॥

रामः—([4]विभाव्य ।)

मदयति यदुत्पन्नो दुग्धाम्बुधेरयमम्बुधी-
न्नयति नयनादत्रेर्जातो मुदं नयनानि च ।

विनाश्य समायात , ह्निणीयमान. लज्जमान (स्त्रीवधस्याकार्यतया तथा) सहसा हठात् । नोपतिष्ठते न समीपमागच्छति । अनेन ताडकावधात्मना । वृत्तान्तेन समाचारेण । प्रदोषलक्ष्मी रजनीमुखस्य शोभा । अनूद्यते पुनरुच्यते, यादृशी रजनीमुखस्य शोभा तादृश्येवास्मद्वृत्तान्तदशेति भाव ॥

निशाचराणामिति । निशाचराणाम् तमसाम् रात्रौ प्रसरतामन्धकाराणा रक्षसाञ्च निहन्ता मारयिता अय राम एव चन्द्र पुर उद्गच्छति, प्रदोषस्य पुरतो यथा रात्रिप्रसारिणा तमसां निहन्ता चन्द्र उदयते तथैव निशाचराणां निहन्ताऽय रामोऽस्माक पुर उदयत इत्यर्थं । अथ जाते रामचन्द्रोदये उल्लसद्भिर्विकास लभमानै. मुनीना नयनैरय प्रदेश कुमुद्वान् अजनि सञ्जात , चन्द्रोदये कुमुदानि विकसन्ति, रामस्य चास्मिन्नुदये प्रसन्नानि मुनीना नयनानि कुमुदानीव जायन्ते इत्यर्थं । रूपकमलङ्कार ॥ ८४ ॥

मदयतीति । अय सोमो विधु यत् यस्मात् दुग्धाम्बुधे क्षीरसागरात् उत्पन्न सञ्जात' (अत.) अम्बुधीन् सागरान् मदयति हर्षयति, अत्रे मुनिविशेषस्य नयनात् जात इति नयनानि त्रिलोकजनलोचनानि मुद नयति हर्षं प्रापयति, अयमस्य विधोर्जन्यजनकभावसम्बन्धमूल प्रमोदकत्वव्यवहार सङ्कुचित , सम्बन्धा·

मारे जानेसे यह राम लज्जित हो रहा है, अत शीघ्र हमारे पास नही आरहा है। (लक्ष्मणके प्रति) वत्स लक्ष्मण, हम लोगोंकी इस घटनाने प्रदोष कार्यको दुहरा दिया है।

निशाचर-तमको दूर करनेवाले यह रामचन्द्र उदित हो रहे हैं, इन्हे देखकर विकसित होनेवाले मुनिजन-नयनोंसे यह देश कुमुदयुत हो रहा है ॥ ८४ ॥

राम—(सोचकर) क्षीरसागरसे उत्पन्न यह चन्द्रमा सागरको प्रसन्न करता है और अत्रिनेत्रसे उत्पन्न होनेके कारण लोगोंके नयनोंको आनन्दित करता है, समस्त

---

१ 'घृणीयमान ' इति । २ 'वत्स ' इति क्वचिन्नास्ति ।
३ 'रामभद्र ' इति । ४ 'विभाव्य च' इति ।

तदखिलसुरश्रेणीसाधारणप्रणया शची-
सहचरचरुस्थाली सोम समञ्जसमीहते ॥ ८५ ॥

([1]सलज्जमुपसृत्य ।) भगवन्, अभिवादये ।

विश्वामित्र —([2]सस्नेहबहुमानमालिङ्ग्य ।) वत्स रघुनन्दन, इत्थमेव
प्रकृष्टकर्त्रभिप्रायक्रियाफलवतो विधीन् ।
प्रयुञ्जानास्त्वया वीर [3]परिपाल्यामहे वयम् ॥ ८६ ॥

राम —([4]स्वगतम् ।) शिरसा गृहीतमाचार्यवचनम् ।

विश्वामित्र —(समरधूलिधूसर रामस्य [5]कपोलमुन्मार्जयन् ।) [6]यत्सत्य-

पेक्षित्वादिति भाव, यदिय शचीसहचरस्य इन्द्रस्य चरुस्थाली हवनीयद्रव्य-भाण्डभूता सोमलता अखिलसुरश्रेणीसाधारणप्रणया सकलदेवताधृतप्रणया तत् समञ्जसम् युक्तम् ईहते चेष्टते । लतात्मकस्य सोमस्य सकलदेवप्रीणनपरायणतया युक्तव्यवहारिता, सम्बन्धनिरपेक्षत्वादिति सम्बन्धापेक्षोपकारिताया अपेक्षया सम्बन्धनिरपेक्षोपकारिता श्रेष्ठेति चन्द्ररूपसोमापेक्षया वर लतात्मक सोम इत्यभिप्राय । व्यतिरेकालङ्कार ॥ ८५ ॥

प्रकृष्टेति । प्रकृष्ट कर्त्तारमभिप्रेतीति प्रकृष्टकर्त्रभिप्रायं तादृश यत् क्रियाफल तद्वतो विधीन् यागादीन् उत्तमकोटिककर्तृसम्पाद्ययागादीन् प्रयुञ्जाना अनुतिष्ठन्त वय मुनय त्वया परिपाल्यामहे रक्ष्येमहि साधीयसो यागाननुतिष्ठतोऽस्मानेवमेव रक्षितु यतेथा इत्यर्थ ॥ ८६ ॥

देवगणके समान प्रमपात्र तथा इन्द्रके चरुस्थाली (भक्ष्यनिर्माणपात्र) रूप इस चन्द्रमाके लिये उचित ही है ॥ ८५ ॥

(लज्जाके साथ समीप जाकर) भगवन्, अभिवादन करता हूँ ।

विश्वामित्र—(सादर गले लगाकर) उत्तम कोटिक क्रिया फलोंके देनेवाले यज्ञोंको करनेके समय आप इसी तरह हमारी रक्षा किया करें ॥ ८६ ॥

राम –(स्वगत) आचार्यके वचन सिरपर ।

विश्वामित्र—(समरधूलिधूसर रामके कपोलको पोंछते हुए)

१ 'राम सलज्ज–' इति । २ 'सस्नेहमालिङ्ग्य' इति ।
३ 'प्रतिपाल्यामहे' इति । ४ 'स्वगतम्' इति क्वचिन्नास्ति ।
५ 'चुबुककपोल–' इति । ६ 'वत्स यत्सत्य–', 'सत्य–' इति च ।

ममुना [1]नक्तंचरव्यतिकरेण प्रियसुहृदा सीरध्वजेन वितन्यमाने वैताने कर्मणि कम्पितमिव मे हृदयम् ।

रामः—(सगौरवम् ।) भगवन्, क एष सीरध्वजो नाम [2]यमद्य ते त्रिभुवनदुर्लभोऽय प्रियसुहृच्छब्दप्रयोग कमपि महिमानमारोपयति ।

विश्वामित्रः—वत्स, शृणोषि विदेहेषु मिथिला नाम नगरीम् ।

रामः—यत्र पवित्रमाश्चर्यद्वयं जना कथयन्ति । सकलराज[3]दुराकर्षमैन्दुशेखरं धनु, लाङ्गलमुखोल्लिखित[4]विश्वम्भराप्रसूतिरगर्भसम्भवा [5]मानुषी ।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) अथ किम् ।

नक्तञ्चरव्यतिकरेण निशाचरसम्पर्केण । वितन्यमाने क्रियमाणे वैताने कर्मणि यज्ञविधौ । यदि राक्षसा जनकस्य धनुर्यज्ञं दूषयेयुस्तदा क प्रतिकुर्यादिति चिन्तया कम्पितमिव मम हृदयमित्यर्थं ।

कमपि महिमानमारोपयति कामपि प्रतिष्ठां प्रापयति ।

सकलराजकदुराधर्षम् सकलैरपि राजवर्गैर्दुर्नमनीयम् ।

लाङ्गलमुखोल्लिखितविश्वम्भराप्रसूति हलक्षुण्णपृथ्वीप्रभवा । अगर्भसम्भवा अनुदरजाता ।

इन राक्षसों द्वारा किये गये उपद्रवको देखकर सचमुच मेरा हृदय मेरे प्रियमित्र सीरध्वज द्वारा प्रक्रान्त यज्ञकी चिन्तासे काँप उठा है ।

राम—(गौरवसे) महाराज, यह सीरध्वज कौन हैं, जिन्हें आपके द्वारा प्रयुक्त प्रिय सुहृद् शब्द गौरव प्रदान कर रहा है ॥

विश्वामित्र—वत्स, तुमने विदेहदेशकी मिथिलाका नाम सुना होगा ।

राम—जहाँके विषयमें जो वस्तुयें पवित्र तथा आश्चर्यजनक प्रसिद्ध है, एक स[कल]राजों द्वारा दुर्नमनीय शिवधनु, दूसरी हलके अग्रभागसे खुदी पृथ्वीमें उत्पन्ना पृथ्व समुद्भवा अयोनिजा कन्या ।

विश्वामित्र—और क्या ?

---

१ 'नक्तचरचक्र–' इति । २ 'येनाद्य' इति । ३. 'दुराधर्षम्' इ[ति] ।
४. 'उत्खातविश्वम्भराया ' इति । ५ 'मानुषी च' इति ।

राम—(सकौतुकम् ।) ततः किं तस्याम् ।

विश्वामित्रः—

[1]असौ सीरध्वजो राजा यो देवाद्द्युमणेरपि ।
अध्यैष्ट याज्ञवल्क्यस्य मुखेन ब्रह्मसंहिताम् ॥ ८७ ॥

[2]तस्य सन्न्यस्तशस्त्रस्य पुराणराजर्षेर्जनकवंशजन्मनो दीक्षाविलोपशङ्का पर्याकुलयति माम् । [3]तदेतमायुष्मन्तौ, विधिशेष[4]मस्मदीयं समाप्य सहैव मिथिलामुपतिष्ठामहे ।

रामः—(महर्षिमपवार्य ।) वत्स लक्ष्मण, [5]ममापि तस्मिन्नतरुणरोहिणीरमणचूडामणिपाणिप्रणयिनि [6]शरासने चिरस्य कौतुकमस्ति ।

असाविति । असौ राजा सीरध्वजः यः याज्ञवल्क्यस्य मुनेर्मुखेन याज्ञवल्क्यपरम्परया देवाद् द्युमणेः सूर्यात् ब्रह्मसंहिताम् वेदम् अध्यैष्ट अधिगतवान् , याज्ञवल्क्यः सूर्याद् वेदमधीत्य जनकमध्यापितवानिति मन्ये जनकः सूर्यादेव याज्ञवल्क्यमुखेन वेदमध्यैष्टेति भावः ॥ ८७ ॥

सन्न्यस्तशस्त्रस्य त्यक्तचापस्य । जनकवंशजन्मनः जनकगोत्रजस्य सीरध्वजनाम्नः । दीक्षाविलोपशङ्का यज्ञनाशभयम् ।

पर्याकुलयति—चिन्तां जनयति । विधिशेषम् कर्त्तव्यशिष्टम् । नरुणरोहिणीरमणचूडामणिपाणिप्रणयिनि तरुणो बालो यो रोहिणीरमणश्चन्द्रमाः स चूडामणि

राम—(कौतुकसे) वहाँ क्या हुआ है ।

वही सीरध्वज राजा हैं जिन्होंने याज्ञवल्क्यके मुखको माध्यम बनाकर भगवान् सूर्यसे ब्रह्मसंहिताका अध्ययन किया था ॥ ८७ ॥

जनकवंशज उस सीरध्वजने शस्त्रत्याग कर दिया है, अतः उनके यज्ञके लोपकी सम्भावना मुझे आकुल बनाये दे रही है । अतः हे चिरजीवियो, चलो, यहाँका कर्त्तव्य सम्पन्न करके मिथिला चलें ।

राम—(हर्षके साथ—लक्ष्मण मात्रसे) वत्स, मैं भी उस बालचन्द्रशेखरके हाथमें रहनेवाले धनुषको देखनेके लिए बहुत दिनोंसे उत्सुक हूँ ।

---

१. 'एष' इति । २ 'तस्य च न्यस्त–', 'तस्य विन्यस्त–' इति च ।
३ 'तदेतस्मादादायायुष्मन्तौ', 'तदेनमायु–' इति च ।
४. 'मखमस्मदीयं परिसमाप्य' इति । ५ 'ममाप्यतरुण–', 'ममापि तरुण' इति च ।
६ 'बाणासने' इति ।

लक्ष्मणः—(सपरिहासम् ।) आर्यायामयोनि[1]जन्मनि राजकन्यकायामपि ।

रामः—([2]सरोषस्मितम् ।) [3]कथमन्यदेव किमपि प्रहसनं सूत्रयति भवान् । (मुनिं प्रति ।) भगवन् इक्ष्वाकुवंश[4]गुरो, [5]यदभिरुचितं भवते ।

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति कौमारविक्रमो नाम द्वितीयोऽङ्कः ।



शिरोभूषणं यस्य स शिवस्तस्य पाणिप्रणयिनि महादेवकरलालिते शरासने चापे ।

अयोनिजन्मनि अगर्भजातायाम् ।

प्रहसनम् हाससाधनं रसान्तरम् । सूत्रयति अवतारयति ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते अनर्घराघवप्रकाशे द्वितीयाङ्कः प्रकाशः ॥



लक्ष्मण—(परिहासके साथ) अयोनिजा राजकन्याके विषयमें भी ?

राम—(रोषसे हँसकर) क्यों तुम कुछ दूसरी ही दिल्लगी प्रारम्भ करते हो । (मुनिके प्रति) महाराज इक्ष्वाकुवंशगुरो, आपकी जैसी इच्छा ।

[चलकर सभी जाते हैं]

द्वितीय अङ्क समाप्त ॥



---

१ 'जन्मनि च राजकन्यायाम्' इति । २ 'सासूयस्मितम्' इति ।

३ 'अन्यदेव प्रहसनं सूत्रयसि', 'सूचयति भगवान्' इति च ।

४ 'कुलगुरो', 'गोगुरो' इति च ।

५ 'यदभिरुचितं ते', 'यदभिरुचितं भवते तत्क्रियताम्' इति च ।

अथ तृतीयोऽङ्कः

(तत प्रविशति कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी—(जरावैक्लव्यविसस्थु[1]लानि कतिचित्पदानि [2]दत्त्वा आत्मान प्रति सखेदोपालम्भम् ।)

गात्रैर्गिरा च विकलश्चटुमीश्वराणां
कुर्वन्नयं प्रहसनस्य नट. कृतोऽस्मि ।
[3]तत्त्वां पुन. पलितवर्णकभाजमेनं
नाट्येन केन नटयिष्यति दीर्घमायुः ॥ १ ॥

जरावैक्लव्यविसस्थुलानि वार्द्धक्यकृताशक्तिस्खलितानि । कतिचित् पदानि दत्त्वा कियन्ति पदानि गत्वा । सखेदोपालम्भम् खेदेनात्मान निन्दन् । वृद्ध कञ्चुकी वार्द्धककृतेन दौर्बल्येन स्व निन्दन् वक्ष्यमाणप्रकारेणाहेत्याशय ।

गात्रैरिति । गात्रै शरीरावयवै गिरा स्पष्टभाषया च विकल अयुक्त रहित ईश्वराणा प्रभूणा चटुम् प्रियभाषित कुर्वन् अयम् मल्लक्षणो जनोऽहम् प्रहसनस्य हास्यसाधनस्य नट नर्त्तक कृतोऽस्मि । विकलानि मदङ्गानि स्खलन्ती मम वाच च श्रुत्वा मम प्रभवो हसन्तीति मन्ये जरावस्थयाऽह प्रभूणा प्रहासाय प्रहसननट. कृतोऽस्मीति भाव । एनम् पलितवर्णकभाजम् त्वाम् जराशौक्ल्यवन्त त्वाम् एतत् दीर्घम् आयु जीवितम् पुन केन नाट्येन नटयिष्यति, चिरञ्जीवन्नह केन केन प्रकारेण प्रभूणां मुद जनयितु चेष्टिताह इति नावगच्छामीत्यर्थ । अन्योऽपि प्रहसनप्रणेता नट वर्णकेन हरितालादिना वपुरालिप्य धवलीकृतकेश प्रभूणा प्रमोदाय नृत्यति, तद्वदहमपि दीर्घायुषा प्रवर्त्तितो बहूनि तानि तानि कार्याणि कर्त्तुं बाध्ये यै प्रभवो मुदमनुभवन्तीति मदायुर्मा प्रहसनपात्रमिव नटयतीति तात्पर्यम् । रूप-

---

(कञ्चुकीका प्रवेश)

कञ्चुकी—(वार्धक्यके कारण लटपटी चालमे कुछ पग चलकर अपने प्रति उलाहने के स्वरमें)

शरीर तथा वचनके द्वारा मालिकोंका मनोविनोद करता हुआ मै प्रहसनका नट बन गया हू । इस पके बालोंवाले मुझ बूढेको यह दीर्घ आयु न जाने कौन नाच और नचायेगा ? ॥ १ ॥

---

१ 'विसष्ठुलानि' इति । २ 'गत्वा' इति । ३ 'न त्वाम्', 'कृत्वा' इति ।

(पुरो विलोक्य[1] ।) अये [2]सीतापादमूलोपजीविनी कलहंसिका ।

(प्रविश्य ।)

कलहंसिका—अज्ज, पणमामि । [आर्य, प्रणमामि ।]

कञ्चुकी—वत्से, कल्याणिनी भूयाः ।

कलहंसिका—अज्ज, चिरेण कुदो तुह्मे । [आर्य, चिरेण कुतो यूयम् ।]

कञ्चुकी—([3]विमृश्य ।) तत्किं न कथ्यते । वत्से, विदितमेव भवत्या, [4]यथा तत्तादृगद्भुतं [5]दारकद्वयमादाय भगवान्कौशिको यजमानं महाराजं सीरध्वजमुपस्थितः ।

कलहंसिका—अथ इं । अज्ज, पहवं णामधेअं च ताणं सुणिदुं अत्थि मे कोदूहलम् । [अथ किम् । आर्य, प्रभवं नामधेयं च तयोः श्रोतुमस्ति मे कौतूहलम् ।]

केषु कञ्चुकी स्वां जरां निन्दतीति प्रसिद्धम् । कञ्चुकिलक्षणमुक्तं यथा—'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते । जरावैक्लव्ययुक्तेन विशेद् गात्रेण कञ्चुकी' इति ॥ १ ॥

सीतापादमूलोपजीविनी सीतासमीपवर्तिनी ।

कल्याणिनी कुशलिनी ।

तादृगद्भुतम् तादृशमद्भुतप्रभावरूपम् । दारकद्वयम् कुमारयुगलम् । आदाय सहकृत्वा कौशिकः विश्वामित्रः । महाराजं सीरध्वजम् जनकम् । उपस्थितः प्राप्तः । प्रभवम् उत्पत्तिस्थानं वंशमित्यर्थः । नामधेयम् नाम, कौतूहलम् उत्कण्ठा ।

(आगेकी ओर देखकर) अरे, यह तो सीताके पास रहनेवाली कलहंसिका है ।

(प्रवेश करके)

कलहंसिका—आर्य, प्रणाम ।

कञ्चुकी—वत्से तुम्हारा कल्याण हो ।

कलहंसिका—आर्य, बहुत दिनोंके बाद किधरसे भटक पड़े हो ?

कञ्चुकी—(विचारकर) क्यों न कह दूँ ? वत्से, तुम्हें मालूम ही होगा कि अद्भुत रूप गुणवाले दो बालकोंको साथ लेकर भगवान् कौशिक यजमान सीरध्वजके पास आये हैं ।

कलहंसिका—और क्या ? आर्य, मैं उन दोनोंका वंश तथा नाम सुनना चाहती हूँ ।

---

१ 'विभाव्य च' इति । २ 'सीतापादोपजीविनी', 'सीतापादोपसेविनी', 'सीतापादपद्मोपजीविनी' च । ३ '(विमृश्य ।) तत्' इति क्वचिन्नास्ति ।

४ 'यत्तादृगद्भुतम्' । ५. 'कुमारद्वयमादाय कौशिकः' ।

कञ्चुकी—वत्से, कथयामि ।

त्रयस्त्रिंशत्कोटित्रिदशमयमूर्तेर्भगवतः
सहस्रांशोर्वंशे जयति [1]जगतीशो दशरथः ।
यदस्त्रैरस्निग्धैरसुरयुवतिश्वासपवन-
प्रकोपे सिद्धे न स्पृशति शतकोटिं शतमखः ॥ २ ॥

इमौ तस्य विशांपत्युरात्मजौ रामलक्ष्मणौ ।
ययोर्भरतशत्रुघ्नावनुजौ द्वन्द्वचारिणौ ॥ ३ ॥

त्रयस्त्रिंशदिति । त्रयस्त्रिंशत्कोटयो ये त्रिदशा देवा तन्मयी मूर्त्तिः शरीरं यस्य तस्य सर्वदेवमयस्य भगवतः सर्वसामर्थ्यशालिनः सहस्रांशोः सूर्यस्य वंशे जगतीशः समग्रभुवनशासकः दशरथो नाम राजा जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । त्रयस्त्रिंशत्कोटिसमितदेवगणस्वरूपमूर्त्तेः सूर्यस्य वंशे दशरथो नाम चक्रवर्त्ती राजाऽस्तीति भावः । तमेव स्तौति—यदस्त्रैरिति । अस्निग्धैः कठोरैः यदस्त्रैः यस्य दशरथस्य अस्त्रैः असुरयुवतीनां देवाङ्गनानां श्वासपवनस्य प्रकोपे वृद्धौ सिद्धे जाते सति शतमखः इन्द्रः शतकोटिं वज्रं न स्पृशति । देवशत्रुषु राक्षसेषु हन्यमानेषु असुरयुवतयः श्वासं त्यजन्ति, तेनैव स्वस्माध्यसुरयुवतिबन्दीभावमोक्षणे शक्रो निजं वज्रं न परामृशतीति भावः । दशरथस्य इन्द्रकार्यसम्पादकतया देवोपकारकताऽतिसामर्थ्यशालिता च व्यक्ता देवमयशरीरस्य सूर्यस्य वंशे जायमानतया च महाकुलप्रसूतता व्यञ्जिता । अस्त्राणामस्निग्धत्वविशेषणेन वायुप्रकोपकारणत्वं समर्थितम्, स्निग्धवस्तुभिर्वायुशमनं तद्भिन्नैश्च वायुवृद्धिरिति वैद्यकविद्याप्रसिद्धम् ॥ २ ॥

इमाविति । रामलक्ष्मणयोः प्रभवं नामधेयं च श्रोतुमिच्छन्त्याः कलहंसिकायाः कौतूहलमपनोदयितुं पूर्वश्लोकेन प्रभव उक्तः, सम्प्रति नामनी आह—इमाविति । तस्य विशांपत्युः लोकपालस्य दशरथस्य आत्मजौ पुत्रौ रामलक्ष्मणौ नाम इमौ विद्येते इति सम्बन्धः । ययोः रामलक्ष्मणयोः द्वन्द्वचारिणौ नित्यसहचरौ अनुजौ

कञ्चुकी—वत्से, बताता हूँ । त्रयस्त्रिंशत(३३)कोटि देवमूर्त्तिधारी भगवान् सूर्यके वंशमे दशरथ नामके एक राजा हैं, जिनके खरे अस्त्रोंमे असुर युवतियोके दीर्घनिश्वास पवनके प्रवर्त्तित हो जानेपर इन्द्र अपने वज्रका स्पर्श तक नहीं करते है ॥ २ ॥

उन्हीं राजप्रवरके यह दोनों राम लक्ष्मण नामक पुत्र हैं, इनके छोटे भाइयोका नाम भरत और शत्रुघ्न है जो सदा साथ रहते हैं ॥ ३ ॥

---

१ 'जगदीश' ।

कलहंसिका—जधा अह्मघरे भट्टदारिआ सीदा उम्मिला अ मण्डवी सुदकित्ती अ । [यथास्मद्गृहे भर्तृदारिका सीता ऊर्मिला च माण्डवी श्रुतकीर्तिश्च ।] (विचिन्त्य । [1]हर्षं निरूपयन्ती ।) कध महाकुलप्पसूदा एदे वि कुमारआ । [कथ महाकुलप्रसूता एतेऽपि कुमारका ।] (मुहूर्तमिव स्थित्वा । दीर्घोष्ण च नि श्वस्य ।) कुदो अह्माण ईरिसो भाअधेओ । [कुतोऽस्माकमीदृश भागधेयम् ।]

कञ्चुकी—भवति, मा विषीद । सर्वं भविष्यति देवब्राह्मणा[2]नुग्रहात् ।

कलहंसिका—तदो तदो । [ततस्तत ।]

कञ्चुकी—ततश्च वृद्धान्त'पुराणामभ्यर्थनया तौ[3] विकर्तनकुल-

भरतशत्रुघ्नौ नाम । दशरथपुत्रौ रामलक्ष्मणावेतौ, तयोश्चानुजौ भरतशत्रुघ्नौ विद्येते इति सम्बन्ध । 'विशौ वैश्यमनुष्ययो.' इति विश्व ॥ ३ ॥

भर्त्तृदारिका राजपुत्री, 'राजा भट्टारको देवस्तत्सुता भर्त्तृदारिका' इत्यमर ।

कथमिति । इमे पूर्वं श्रुतनामानो रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाश्चत्वारोऽपीमे राजकुमारा महाकुलप्रसूता सन्ति, तद्यदि तै सह सीतोर्मिलामाण्डवीश्रुतकीर्त्तीना मदीयराजकुमारिकाणा परिणय सङ्घटेत, तदाऽतीव प्रमोद स्यादिति तद्धृदयम् । मा विषीद खेद मा कुरु । देवब्राह्मणानुग्रहात् देवतानां विप्राणा च प्रसादात् । वृद्धान्त पुराणाम् वयोवृद्धाना महादेवीनाम् । अभ्यर्थनया प्रेरणया । तौ रामलक्ष्मणौ । विकर्त्तनकुलकुमारौ सूर्यवंशीयौ राजपुत्रौ । निवर्त्तमान परावर्त्तमान ।

कलहंसिका—जैसे हमारे यहाँ राजकुमारी सीता, ऊर्मिला, माण्डवी और श्रुतकीर्त्ति है, (विचार करके—हर्षके साथ) यह राजकुमार भी महाकुल-प्रसून ही है । (थोडी देर सोचकर और लम्बी सी गरम साँस लेकर) हमारे ऐसे भाग्य कहाँ ? ।

कञ्चुकी—अरी, विषाद मतकर, देवों और ब्राह्मणोंकी कृपासे सब हो जायगा ।

कलहंसिका—उसके बाद क्या हुआ ?

कञ्चुकी—उसके बाद मैं अन्त पुरकी बूढी औरतोंके आदेशानुसार उन राजकुमारोंको

---

१ 'सहर्षम्' । २ 'अनुशासनात्' ।

३. 'समागतौ तौ विकर्त्तनकुलकुमारौ । तौ किल' ।

कुमारकौ दृष्ट्वा निवर्तमानः पुरोधसा गौतमेनाहमाहूय राजपुत्रीणां सौभाग्यदेवताराधनाय [1]संविहितोऽस्मि ।

कलहंसिका—([2]सहर्षम् ।) अज्ज, सव्वजणमणीसिदाणुऊलं विअ तत्थभवदो सदाणन्दस्स वअणम् । [आर्य, सर्वजनमनीषितानुकूलमिव तत्रभवतः शतानन्दस्य वचनम् ।]

कञ्चुकी—वत्से, एवमेतत् । [3]न खल्वतथ्यमगम्भीरमाङ्गिरसो ब्रवीति ।

कलहंसिका—ता किं मण्णेध सकरसरासणारोवणव्ववसाएण राएसिणो जणअस्स पडिण्णाहसं णिव्वाहेस्सदि राहवो । [तत्किं मन्यध्वे शंकरशरासनारोपणव्यवसायेन राजर्षेर्जनकस्य प्रतिज्ञासाहसं निर्वाहयिष्यति राघवः ।]

पुरोधसा पुरोहितेन । गौतमेन शतानन्देन । आहूय आकार्य । सौभाग्यदेवताराधनाय गौरीशच्यादिसौभाग्यप्रददेवताप्रसादनाय । संविहितः आज्ञापितः । सर्वजनमनीषितानुकूलम् सर्वलोकाभिलाषानुवर्त्ति । यथा सर्वे कामयन्ते तथैव शतानन्दो मन्त्रयत इत्यर्थः ।

अतथ्यगम्भीरम् असत्यमगम्भीरं च । आङ्गिरसः शतानन्दः । अङ्गिरोवंशोद्भवः शतानन्दो नालीकं भाषते नापि चागम्भीरमिति भावः ।

मन्यध्वे विश्वासं कुरुथ । शङ्करशरासनारोपणव्यवसायेन हरधनुरारोपणचेष्टया । प्रतिज्ञासाहसम् प्रतिज्ञाप्रवृत्तिम् । निर्वाहयिष्यति सफलयिष्यति । येन साहसेन

देखकर लौटा आ रहा था कि पुरोहित शतानन्दने बुलाकर राजपुत्रियोंकी गौरीपूजाके लिये आज्ञा दे दी ।

कलहंसिका—(सहर्ष) आर्य, सभी लोगोंके मनोरथके अनुकूल ही शतानन्दके वचन है ।

कञ्चुकी—वत्से, बात ऐसी ही है कि अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न शतानन्दजी झूठी तथा गम्भीरतासे रहित बातें नही कहते है ।

कलहंसिका—तो क्या समझते हो कि राम शिवधनुषको आरोपित करनेकी चेष्टासे राजर्षि जनककी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे ।

---

१ 'सम्प्रहितोऽस्मि' 'सम्प्रति प्रहितोऽस्मि' । २ 'हर्षं नाटयति' ।
३ 'न खल्वयमतथ्यं वदति', 'नखल्वगम्भीरमाङ्गिरसः' ।

कञ्चुकी—वत्से, अस्मानपि तर्कोऽयं तरलीकरोति । तथाहि ।

पूर्णेऽपि कर्मणि हतेष्वपि राक्षसेषु
विज्ञाय मैथिलसुतामपि वीर्यशुल्काम् ।
बालं पितुः प्रियममुं रघुराजपुत्र-
मेतावतीं भुवमृषिः कथमानिनाय ॥ ४ ॥

कलहंसिका—(स्मरणमभिनीय । सविषादम् ।) अज्ज, पउत्तिविसे-

जनक शिवशरासनारोपण पगतयाऽस्थापयत्तत्साहस राम शिवधनुरारोप्य सफलीकरिष्यतीति भवन्तो मन्यन्त इत्याशय ।

तर्कोऽय तरलीकरोति चिन्तेय व्याकुलयति । राम शिवधनुरारोपयिष्यति न वेति विषये वयमपि सन्दिहाना एव वर्त्तामहे इत्याशय ॥

पूर्णेऽपीति । कर्मणि यज्ञे पूर्णे सम्पन्ने अपि, राक्षसेषु यज्ञपरिपन्थिषु दैत्येषु हतेषु मारितेषु अपि मैथिलसुताम् सीताम् अपि वीर्यशुल्काम् शिवशरासनारोपण-रूपपराक्रमप्राप्याम् विज्ञाय ज्ञात्वा अपि ऋषि विश्वामित्र बालम् अल्पवयसम् पितु प्रियम् पित्रा सविशेष लाल्यमानम् अमुम् रघुराजपुत्रम् दशरथतनयम् रामम् एतावतीम् इयद्दूरवर्त्तिनीम् भुवम् मिथिलाभिधाना महीम् कथम् आनिनाय प्रापयामास । यज्ञे सम्पादिते राक्षसेषु हतेषु अपि सीताविवाहस्य पराक्रमसम्पाद्यताया विश्वास धारयन्नपि मुनिर्विश्वामित्रो दशरथस्य प्राणेभ्योऽपि प्रिय तनय राम यदियति दूरे स्थिता जनकराजधानीं प्रापितवानस्ति, तदत्र केनापि गूढेनाभिसन्धिना भवितव्य, तेनाह सीतापरिणयविषये रामस्य साफल्य प्रति जनिताशतया न नितान्त निराश कष्टसाध्यतया शिवधनुरारोपणस्य न निश्चित-विश्वास इति सन्दिहानमना एवास्मीति भाव ॥ ४ ॥

स्मरणमभिनीय स्मरतीतिसूचक चेष्टाविशेष कृत्वा । सविषादम् सखेदम् खेदश्च स्वस्वामिन्या खेदस्य स्मरणेन । प्रवृत्तिविशेषलम्भेन कस्यचित्समाचार

कञ्चुकी—वत्से, हम लोगोंको भी यह तर्क चञ्चल बना रहा है—क्योंकि यज्ञ पूर्ण हो जानेपर, राक्षसोंके मारे जानेपर, मैथिलीकी प्राप्ति पराक्रमाधीन है इस बातक जानकर भी बालक तथा अपने पिताके परमप्रिय इस राघवको विश्वामित्र इतने दूर त क्यों ले आये हैं ? ॥ ४ ॥

कलहंसिका—(स्मरणका अभिनय करके-सखेद) कुछ खास समाचारसे सी

सलम्भेण दुम्मणायमाणमत्ताण पञ्चालिआकेलिवावारेण विणोदअन्ती भट्टदारिअ पेक्खिअ उव्विण्णाए कारण परिवज्जिदु आगदाए अज्ज-स्स दसणेन मए विसुमरिद इमिणा उण दे रक्खसणामग्गहणेन सुमराविदह्मि। [आर्य, प्रवृत्तिविशेषलम्भेन दुर्मनायमानमात्मान पाञ्चालिकाके-लिव्यापारेण विनोदयन्ती भर्तृदारिका प्रेक्ष्य उद्विग्नया कारण प्रतिपत्तुमागतया आर्यस्य दर्शनेन मया विस्मृतमेतेन पुनस्ते राक्षसनामग्रहणेन स्मारितास्मि ।]

कञ्चुकी—(सविषादम् ।) वत्से, कीदृशी सा प्रवृत्ति, या तव भर्तृदारिकामपि दुर्मनाययति ।

कलहंसिका—सुणादु अज्जो । जधा किल सीदादेवी पत्थिदुं दसग्गीवपुरोहिदो आअदोत्ति । [यथा किल सीतादेवी प्रार्थयितु दशग्रीव-पुरोहित आगत इति ।]

कञ्चुकी—(तत्रावज्ञा नाटयन्सहर्षम् ।) कथमेतावदपि कार्य वत्सा

स्यावासथा। दुर्मनायमानम् खेदमनुभवन्तम् । पाञ्चालिकाकेलिव्यापारेण पाञ्चा-लिका'पुतलीति'ख्याता तत्केलि तया क्रीडा तेन व्यापारेण 'पाञ्चालिका पुत्रिका-स्याद्वस्त्रदन्तादिभि कृता' इत्यमर । विनोदयन्तीम् प्रसन्नता लम्भयन्तीम् । भर्तृदारिकाम् राजकुमारीम् सीताम् उद्विग्नया खिन्नया। कारणम् भर्तृदारि-कादुर्मनायमानताहेतुम्। प्रतिपत्तुम् ज्ञातुम्। आर्यस्य पूज्यस्य तव कञ्चुकिन । राक्षसनामग्रहणेन 'हतेष्वपि राक्षसेषु' इत्युक्तौ राक्षसपदप्रयोगेण ।

प्रवृत्ति वार्त्ता। 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त ' इत्यमर । दुर्मनाययति खेदयति । प्रार्थ-यितुम् दशग्रीव सीतां वरीतुमिच्छतीति बोधयितुम्।

तत्र दशग्रीवपुरोहितागमनवृत्तान्ते । अवज्ञा नाटयन् तिरस्कारबुद्धिमिव

उदास होकर कठपुतलीके खेल से दिल बहला रही थी, उसे देखकर मै कारण जानने चली थी, आपको देखकर मै यह बात भूल गई थी, आपने राक्षसका नाम लिया तो फिर याद हो आई है।

कञ्चुकी—(सखेद) वत्से, वह कौन सी खबर है? जिससे तुम्हारी राजकुमारी भी उदास हो गई हैं

कलहंसिका—आर्य, सुनिये, सीता देवीकी मगनीके लिए रावणका पुरोहित आया था।

कञ्चुकी—(उधर ध्यान न देकर) इन बातोंको भी सीता जानने लगी है कि इस

जानकी जानाति, यदनेनोदन्तेन [1]दुर्मनीभूयते । नूनमिदानीमस्या कृतावतरणमङ्गलान्य[2]ङ्गकानि यौवनस्य पन्थानमीक्षन्ते ।

कलहंसिका—अज्ज, एव ण्णेदम् । अज्जओसित्ति सिढिलीकिदलज्जा सपदि ज्जेव्व अणुहूद किंपि णिवेदेमि । [आर्य, एवमेतत् । अर्जकोऽसीति शिथिलीकृतलज्जा सम्प्रत्येवानुभूत किमपि निवेदयामि ।] (संस्कृतमाश्रित्य ।)

अनाकूतैरेव प्रियसहचरीणां शिशुतया
वचोभिः पाञ्चालीमिथुनमधुना संगमयितुम् ।
उपादत्ते नो वा विरमति न वा केवलमियं
कपोलौ कल्याणी पुलकमुकुलैर्दन्तुरयति ॥ ५ ॥

प्रकाशयन्। सहर्षम् हर्षश्चात्र सीताया अतिबालाया अपि तादृशज्ञानावगमकृतो बोध्य । उदन्तेन वृत्तेन । दुर्मनीभूयते विषद्यते । कृतावतरणमङ्गलानि यौवनागम-कालकर्त्तव्यमङ्गलक्रियासनाथानि । यौवनस्य पन्थानमीक्षन्ते यौवनाभिमुखानि जायन्त इत्यर्थ ।

अर्जक पितामह (पितामहतुल्य) शिथिलीकृतलज्जा अपगतत्रपा । सम्प्रत्येवानुभूतम् अनतिचिरदृष्टम् । संस्कृतमाश्रित्य विदग्धताबोधनाय संस्कृत-भाषाश्रयणम् , तदुक्तम्—'संस्कृतभाषाचारा प्रायो नाट्येषु न स्त्रिय श्लाघ्या । क्वचिदपि तप प्रभावाद्विदग्धताबोधनाच्च शस्यन्ते' ॥

अनाकूतैरेवेति । इयम् कल्याणी सर्वावयवानवद्या सीता प्रियसहचरीणा सखीना शिशुतया अप्राप्तयौवनतया हेतुना अनाकूतै भावशून्यै एव वचोभि अधुना पाञ्चालीमिथुनम् कृत्रिमपुत्रिकायुगलम् सङ्गमयितुम् सह स्थापयितुम् नो वा उपादत्ते गृह्णाति नवा विरमति तद्विषयाद् व्यापारात निवर्त्तते, केवलम् कपोलौ गण्डदेशौ पुलकमुकुलै रोमाञ्चकलिकाभि दन्तुरयति उन्नतानतौ करोति ।

समाचारसे वह उदासीन हो रही है। निश्चय अब इसके अङ्गोंमें यौवनका अवतार हो गया है, वह राह देख रही है यौवनके आनेकी।

कलहंसिका—आर्य यही बात है। तुम पितामहकी तरह हो इसीलिए लज्जाका त्याग करके अभी-अभी अनुभूत कुछ बातें बता रही हूँ ॥ (संस्कृतके माध्यमसे)

विना किसी खास अभिप्रायसे प्रिय सखी द्वारा कहे जानेपर यह सीता कठपुतलीके जोडेको मिलानेके लिये न उठाती है न उस व्यापारसे विरत होती है, केवल उसके कपोलपर रोमाञ्च उग आते हैं ॥ ५ ॥

---

१. 'दुर्मनीभवति'। २ 'अङ्गानि'।

कञ्चुकी—(सहर्षम् ।) दिष्ट्या चिरस्य जीवद्भिरस्माभियावनवती [1]वत्सा जानकी दृष्टा । (सस्मितम् ।) ततस्तत ।

कलहंसिका—तदो अ पुणो पुणो वि ताहि उज्जुआहि णिब्बन्धिज्जमाणा लज्जिदुं वि लज्जेदि । [ततश्च पुन पुनरपि ताभि ऋजुकाभिर्निर्बध्यमाना लज्जितुमपि लज्जते ।]

कञ्चुकी—(विहस्य ।) वत्से, सकीर्णे [2]वयसि खल्वियं वर्तते । अत्र हि

[3]**मनोऽपि शङ्कमानाभिर्बालाभिरुपजीव्यते ।**

अयमाशय —सीता सम्प्रति अज्ञातयौवना विद्यते, सखीना सरलेनानुरोधेनापि सा कृत्रिमपुत्रिकायुगल सङ्गमयन्ती स्त्रीपुयोग मनसि विभाव्य भाविन स्वविवाहस्य ध्यायन्ती कपोलयो सञ्जातरोमाञ्चता भजत इति । शिखरिणीवृत्तम् , 'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलाग शिखरिणी तिलक्षणात् ॥ ५ ॥

दिष्ट्या भाग्येन । चिरस्य जीवद्भि चिरजीविभि । यौवनवती युवती । यदि मया चिर न जीवित स्यात्तदा युवति राजपुत्रीं द्रष्टुमवसरो न लब्ध स्यादिति भाव ॥

ऋजुकाभि' सरलाभि , बालभावादनुपजातकौशलाभि , पुन पुन निब य-माना भूयो भूय आगृह्यमाणा । लज्जितुमपि लज्जते लज्जामपि प्रकटयितु लज्जामनुभवति ।

सङ्कीर्णे वय सन्धौ वयसि, बाल्ययौवनयो सङ्गमे । इय सीता ।

अत्र हीति । अत्र अस्मिन् वय सन्धिकाले मन स्वीय चित्तम् अपि शङ्कमानाभि मनो मदीय भाव जानाति चेदनुचित स्यादिति हृदयविषयेऽपि सतर्काभि बालाभि

कञ्चुकी—(सहर्ष) भाग्यवश बहुत दिनों तक जीवित रहनेके कारण मै इस अवस्थामें सीताको देख सका । (हसकर) उसके बाद ?

कलहसिका—तदनन्तर सरला सखियों द्वारा बार बार पूछी जानेपर सीता लज्जा करनेमें भी लज्जाका अनुभव करती है ।

कञ्चुकी—(हसकर) वत्से, यह सीता वय-सन्धिकी स्थितिमें है । इस अवस्थामें

---

१ 'वत्सा वैदेही', 'वत्सापि' ।   २ 'खल्वियं वयसि वर्तते', वर्तते बाला' ।

३ 'मनो विशङ्कमानाभि.' ।

अषडक्षीणषाड्गुण्यमन्त्री मकरकेतनः ॥ ६ ॥

कलहंसिका—(सलज्जम् ।) अज्ज, रमणीअं मन्तेसि । सव्वस्स वि अणुहवसंवादिणी दे वाआ । [आर्य, रमणीयं मन्त्रयसे । सर्वस्याप्यनुभवसंवादिनी ते वाक् ।]

कञ्चुकी—किं च[1] वत्से,

तदात्वप्रोन्मीलन्म्रदिमरमणीयात्कठिनतां
निचित्य[2] प्रत्यङ्गादिव तरुणभावेन घटितौ ।
स्तनौ संबिभ्राणाः क्षणविनयवैयात्यमसृण-

नवयौवनाभिः—अषडक्षीणषाड्गुण्यमन्त्री न सन्ति षट् अक्षीणि यत्र तत्तथोक्तम् अषडक्षीणम् , षड्गुणाः सन्ध्यादय एव षाड्गुण्यम् अषडक्षीणञ्च तत् षाड्गुण्यञ्चेति कर्मधारयः , अषडक्षीणषाड्गुण्यम् तदेव मन्त्री सचिवः कामः उपजीव्यते सेव्यते । अयमाशयः—मनसोऽपि भावप्रकाशभयाद् विभ्यत्यो बालाः काममपि गोपाययित्वा सेवन्ते, कामविषयेऽपि अषडक्षीणं षाड्गुण्यं मन्त्रिणं कुर्वन्ति, अषडक्षीणः तृतीयजननेत्राविषयः , 'अषडक्षीणो यस्तृतीयाद्यगोचरः' इति अमरः । सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाः षड्गुणाः । कामः सेव्यते परं तत्केनापि न लक्ष्यते इति तदर्थः ॥ ६ ॥

मन्त्रयसे कथयसि । अनुभवसंवादिनी अनुभवानुसारिणी । वाक् वचनम् ।

तदात्वेति । तदात्वे यौवनोदयसमये प्रोन्मीलन् प्रादुर्भवन् यः म्रदिमा कोमलता तेन रमणीयात् मनोज्ञात् प्रत्यङ्गात् अङ्गात् अङ्गात् कठिनताम् कठोरभावं निचित्य समाहृत्य तरुणभावेन यौवनेन कर्त्रा घटितौ निर्मितौ स्तनौ कुचौ संबिभ्राणाः धारयन्त्यः क्षणे अल्पकाल एव विनयः शान्तभावः वैयात्यं चापल्यञ्च ताभ्यां क्षणे

बालवनितायें मनसे भी शङ्कित रहा करती हैं—तथा इन्द्रियोंके सम्पर्कसे रहित षाड्गुण्य मन्त्री कामदेवकी मदद लिया करती हैं ॥ ६ ॥

कलहंसिका—(सलज्जभावसे) आर्य, आप ठीक कहते हैं, आपकी बात सभीके अनुभवोंसे मिलता है ।

कञ्चुकी—वत्से, यौवनमें उभरनेवाली रमणीयतासे भरे सारे अङ्गोंकी कठोरता एकत्रित करके यौवनद्वारा बनाये गये स्तनोंको धारण करनेवाली युवतियाँ नम्रता तथा

---

१ 'किं च' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'विचित्य' ।

स्मरोन्मेषा केषामुपरि न रसानां युवतय ॥ ७॥

कलहंसिका—(विहस्य ।) भोदु । ता ण किं पि तुह्मेहिं सुदम् । [भवतु । तन्न किमपि युष्माभि श्रुतम् ।]

कञ्चुकी—वत्से, न [1]तावदर्थोऽयमद्यापि राजगोचरीभवति । यदि च स्यात्किमेतावता ।

कलहंसिका—तदा हदासो रावणो देवीं परिणेदि । [तदा हताशो रावणो देवीं परिणयते ।]

कञ्चुकी—(विहस्य ।)

हस्ते करिष्यति जगत्त्रयजित्वरोऽपि
[2]कस्तादृशो दुहितरं जनकेश्वरस्य ।

नत्रत्व क्षणे चापलञ्चेति भावसाङ्कर्येणेत्यर्थ, मसृण मधुर स्मरोन्मेष कामविकारो यासा तादृश्यो युवतय केषाम् रसानाम् आस्वादविशेषाणाम् उपरि न वर्त्तन्ते ? सर्वेषामेवास्वादानामुपरि युवतयो वर्त्तन्ते यासा शरीरावयवगत काठिन्यमाहत्यैव रचितौ स्तनौ कठोरता भजत, सर्वाणि चेतराण्यङ्गानि काठिन्यापगमेनेव कोमलता भजन्तीत्यर्थ । प्रत्यङ्गात्कठिनता निचित्येवेत्युत्प्रेक्षा । 'तत्कालस्तु तदात्व स्यात्' इत्यमर । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ७ ॥

तन्न किमपि युष्माभि श्रुतम् ? अत्र 'दशग्रीवपुरोहित आगत ' प्रागुक्तेतिवृत्तविषये तदीयावगमजिज्ञासा ।

अर्थोऽयम् दशग्रीवपुरोहितागमवृत्तान्त । राजगोचरीभवति राज्ञा ज्ञायते। किमेतावता ज्ञात्वापि राजा किं करिष्यति इति तदाशय ।

हताश निन्दिताभिलाष । देवीम् सीताम् । परिणयते विवाहयति ।

हस्ते इति । जगत्त्रयजित्वर लोकत्रयजयशील क जनकेश्वरस्य विदेहराजस्य दुहितर कन्या हस्ते करिष्यति परिणीय स्ववश नेष्यति ? न कोपि लोकत्रितय-

---

धृष्टतासे मिले कन्दर्पसे युक्त होकर किन-किन रसोंकी सृष्टि नहीं करती है ॥ ७ ॥

कलहंसिका—(हंसकर) अच्छी बात है । तो क्या आपने कुछ नहीं सुना है ?

कञ्चुकी—वत्से, यह बात अभी राजा तक नहीं पहुँची है, यदि राजा सुन भी लें तो इससे क्या ?

कलहंसिका—तो अभागा रावण सीताको व्याह लेगा ।

कञ्चुकी—(हंसकर) तीनों लोकको जीतकर वीर बननेवाला ऐसा कौन है जो

---

१ 'तावदयमर्थ.' । २. 'यस्तादृशः', 'कस्तादृशीम्' ।

प्राणाधिकं विपुलबाहुभृतामपीदं
त्रैयम्बकं किमपि कार्मुकमन्तरायः ॥ ८ ॥

नापि दशकन्धरानुरोधेन स्वय प्रतिज्ञातमन्यथा करिष्यति महाक्षत्रियो विदेहराज । तन्न किंचिदेतत् ।

कलहंसिका—([1]विहस्य ।) एवं भोदु । अज्ज, सपदि कहिं ते रामलक्खणा । [एव भवतु । आर्य, सप्रति कुत्र तौ रामलक्ष्मणौ ।]

कञ्चुकी—नन्वेतावेव देवतागारवेदिकाया
मुनीन्कौशिकवैदेहगौतमानभिराध्यत. ।

विजयगर्वितोऽपि विदेहनृपपुत्री सीता वशीकर्त्तु समर्थ इत्यर्थ । सीतापरिणयस्यासाध्यता प्रकाशयति—प्राणाधिकमिति० । विपुलबाहुभृताम् महाभुजानाम् अपि प्राणाधिकम् समधिकसारम् इद त्रैयम्बकम् शिवसम्बन्धि धनु कार्मुकम् किमपि अनपनेयम् अन्तराय विघ्न अस्तीति शेष , महाभुजस्यापि राज्ञ बलापेक्षयाऽधिकबलमिद शैव धनुर्यावत् । विघ्नभावेनावस्थित तदा कोऽपि लोकविजयी सीता परिणेतु न क्षमते, ततश्च दशग्रीव सीता परिणेष्यतीति चिन्तयाऽलमिति भाव । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ८ ॥

दशकन्धरानुरोधेन रावणानुरोध मत्त्वा । स्वय प्रतिज्ञातम् आत्मना नियतम् । अन्यथा करिष्यति स्वय शिथिलीकरिष्यति । स्वप्रतिज्ञातार्थान्यथाकरणस्याशक्यत्वे कारणमाह—महाक्षत्रिय इति । तन्न किञ्चिदेतत् दशग्रीवपुरोहितागमन न चिन्ताविषय इत्यर्थ ॥

एतौ रामलक्ष्मणौ देवतागारवेदिकायाम् देवसदनासन्नपरिष्कृतभूमौ ।

मुनानिति । ज्ञानकर्मभ्या तत्त्वज्ञानयज्ञादिकर्मभ्याम् ढौकितौ प्रापितौ स्वयम्

जनकदुहिताका पाणिग्रहण कर ले, क्योंकि बाहुबलशाली वीरोके द्वारा दुर्नमनीय यह अतिदुर्वह शिवधनु जो बीचमें विघ्न बनकर खडा है ॥ ८ ॥

और यह भी बात है कि महाक्षत्रिय जनक रावणके अनुरोधसे स्वय की गई प्रतिज्ञाको भी नही बदलेंगे । इसलिए यह कोई चिन्ताकी बात नहीं है ।

कलहसिका—(हसकर) ऐसा ही होवे । आर्य, इस समय वह राम लक्ष्मण कहाँ हैं ?

कञ्चुकी—यही तो देवमण्डपवेदी पर ज्ञान-कर्मसे आवृत मोक्ष-स्वर्गकी तरह प्रतीत

---

१ '(नि.श्वस्य ।)'

ढौकितौ ज्ञानकर्मभ्यां मोक्षस्वर्गाविव स्वयम् ॥ ९ ॥

तदेहि । महच्चिर[1]मागतानामस्माकम् । कन्याऽन्त[2]पुरमेव गच्छाम ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भक ।

(तत प्रविशति जनको विश्वामित्रशतानन्दौ रामलक्ष्मणौ च ।)

जनक—(सहर्षम् ।) भगवन्विश्वामित्र,

लुम्पन्नदृष्टजामातृसंपदां शुचमद्य नः ।
त्वदागमनजन्माऽयमानन्दः सुदिनायते ॥ १० ॥

मूर्त्तिमन्तौ मोक्षस्वर्गाविव वर्त्तमानौ एतौ रामलक्ष्मणौ कौशिकवैदेहगौतमान् विश्वामित्रजनकशतानन्दनामकान् मुनीन् तत्त्वचिन्तकान् ऋषीन् अभिराध्यत निषेवेते । इमौ विश्वामित्रादिमुनिगणसेवासमासक्तावेतौ रामचन्द्रौ विश्वामित्रादिमुनिगणार्जितज्ञानकर्मोपनतमोक्षस्वर्गाविव प्रतीयेते इत्यर्थ । उपमालङ्कार ॥ नन्वत्र 'मुनीनभिराध्यत' इत्यनुपपन्नम् , राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेवेति नियतस्य श्यनोऽत्राप्रसक्ते' इति चेदत्रोच्यते 'अभिरभागे' इति कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञकोऽभिरयम् , तद्योग एव चात्र द्वितीया, कौशिकादीनभिलक्षीकृत्येति तदर्थ , यद्वा मुनीन् 'ढौकितावाराध्यत' ढौकितावित्यस्याभिवादनपरावित्यर्थ ॥ ९ ॥

महत् चिरम् अतिविलम्ब ।

विष्कम्भक वृत्तवर्त्तिष्यमाणकथांशनिर्देशकर ।

लुम्पन्निति । अद्य अदृष्टा नावलोकिता जामातृसम्पत् जामाता एव धन यै तेषाम् अदृष्टजामातृसम्पदाम् अप्राप्तजामातृधनानाम् न अस्माकम् शुचम् शोकम् लुम्पन् विनाशयन् अयम् अनुभूयमान त्वदागमनजन्मा त्वदागमनसम्भव आनन्द

होनेवाले यह राम लक्ष्मण कौशिक, जनक तथा गौतम प्रभृति मुनियोंकी सेवा कर रहे है ॥

चलो, हमको आये बहुत देर हो गई, कन्यान्त पुर की ओर चलें ।

(जाते है)

(विष्कम्भक)

(अनन्तर जनक, विश्वामित्र, शतानन्द तथा राम लक्ष्मणका प्रवेश)

जनक—(सहर्ष) भगवन् विश्वामित्र, जामाताके नही मिलनेसे दुखी रहनेवाले हमारे दुखको दूर करता हुआ यह आपके आगमनसे जायमान आनन्द सुदिन बन रहा है ॥ १० ॥

१ 'आगतयोरावयो' । २. 'पुर एव गच्छाव.' ।

अपि च—

अद्य प्रदक्षिणशिखावलयः कृशानु-
रश्नाति मे जनपदेषु वषट्कृतानि ।
त्वत्तेजसि स्फुरति शान्तिकपौष्टिकेषु
स्वां च स्रुचं शिथिलमाङ्गिरसो बिभर्ति ॥ ११ ॥

विश्वामित्रः—सखे सीरध्वज, चिरस्य शान्तः पुष्टश्च तवायं जनपदः ।

यत्र त्वं ब्रह्ममीमांसातत्त्वज्ञो दण्डधारकः ।

प्रहर्षं सुदिनायते सुदिनं करोति । त्वदागमनेन अलब्धजामातृकतयाऽन्तर्दुःखशालिनोऽपि वयं सम्प्रति सानन्दाः सञ्जाता इत्याशयः । 'सुदिनायते' इत्यत्र 'सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्च' इति क्यङ् ॥ १० ॥

अद्येति । अद्य त्वदागमनशुभदिने प्रदक्षिणशिखावलयः प्रदक्षिणार्चिः कृशानुः अग्निः मे मम जनपदेषु अधिकृतदेशेषु वषट्कृतानि हूयमानद्रव्यजातानि अश्नाति भुङ्क्ते । यज्ञवह्निः शुभसूचकं दक्षिणक्रमपरिवर्त्तनमाचरन् सानन्दं हुतमास्वादयतीत्यर्थः । त्वत्तेजसि त्वदीये तेजसि शान्तिकपौष्टिकेषु शान्तिकर्मसु पुष्टिकर्मसु च स्फुरति सति आङ्गिरसो गौतमः स्वां स्रुचं स्रुवभेदं शिथिलं निवृत्तव्यापारं बिभर्त्ति धारयति, त्वदीयेन तेजसैव शान्तिकर्मसु पुष्टिकर्मसु च सम्पाद्यमानेषु गौतमः शान्तये पुष्टये च न जुहोतीत्यर्थः । शान्तिः प्रयोजनमस्येति शान्तिकम्, पुष्टिः प्रयोजनमस्येति पौष्टिकम्, तेषु शान्तिकपौष्टिकेषु कर्मस्विति विशेष्यमध्याहार्यम् । 'अग्नौ तु हुतं त्रिषु वषट्कृतम्', 'स्रुवो भेदाः स्रुचः स्त्रियाम्' इत्युभयत्रामरः ॥ ११ ॥

'चिरस्य शान्तः' बहोः कालात्तवायं देशः शान्त्या पुष्ट्या चोपपन्नस्तन्न तत्र मदागमनं प्रशंसनीयमित्यर्थः । त्वदीयस्य देशस्य शान्तपुष्टत्वे हेतुं वदति—

यत्र त्वमिति । यत्र यस्मिन्देशे ब्रह्ममीमांसातत्त्वज्ञः वेदान्तविद्यासारवित् त्वं जनकः दण्डधारकः शासकः, यस्य च देशस्य त्वादृशो वीतरागः शासकः स्यात्तस्य

आज अग्निदेव हमारे देशमें प्रदक्षिणक्रमसे लपटें बढाकर हव्य-ग्रहण करते हैं, शान्ति-पुष्टिकर्ममें आपके प्रतापके व्याप्त रहनेपर शतानन्दका यज्ञ स्रुक् मन्द पड रहा है ॥ ११ ॥

विश्वामित्र—आपके इस देशमें शान्ति तथा पुष्टि चिरकालसे विद्यमान है । जहाँपर आपके समान वेदान्तशास्त्रतत्त्वज्ञ दण्डधारी है, जिनके पुरोहित अङ्गिराके

पुरोधाश्चैव यस्यासावङ्गिरःप्रपितामह ॥ १२ ॥

(स्मित कृत्वा ।) जामातुर[1]दर्शनजन्मा शोक पुनरस्माकमुपशमयितुमवशिष्यते । किं शोकहर्षौ नाम लोकयात्रेय भवत । तथाहि ।

यजूंषि तैत्तिरीयाणि मूर्तानि वमति स्म य ।
स योगी याज्ञवल्क्यस्त्वां वेदान्तानध्यजीगपत् ॥ १३ ॥

देशस्य शान्तिपुष्ट्यो का कथेतिभाव, नैतावदेव यत्त्व वेदान्तविद् भूत्वा शासक, अपितु विदुषा पुरोहितेन नियतोऽपीत्याह—पुरोधाश्चैवेति । यस्य तव अङ्गिर प्रपितामह अङ्गिरस पौत्र गौतम पुरोधा पुरोहित, एतेन स्वतो विज्ञस्य तादृशपुरोहितानुज्ञावर्त्तिनश्च तव शासने स्थितस्य देशस्य शान्तिपुष्ट्योश्चिन्तयाऽलमिति भाव ॥ १२ ॥

जामातुरदर्शनजन्मा जामातृप्राप्त्यभावकृत । शोक खेद । उपशमयितुम् दूरीकर्त्तुम् । शोकहर्षौ दु खानन्दौ । भवत जनकस्य । लोकयात्रा व्यवहारप्राप्तौ । अर्थात् वस्तुतो ज्ञानिनस्तव शोकाद्यसम्पृक्तत्वेऽपि लोकव्यवहारेण शोकाद्यभिमानित्वमिति भाव ।

यजूंषीति । तित्तिरिणा तदाकारधारिणा शाकल्यमुनिना धृतानि तैत्तिरीयाणि मूर्त्तानि शरीरधारीणि यजूंषि य याज्ञवल्क्य वमतिस्म उद्गीर्णवान्, स योगी याज्ञवल्क्य त्वा जनक वेदान्तान् उपनिषद अध्यजीगपत् अध्यापितवान् । शाकल्यमुनेर्याज्ञवल्क्य वेदमधीतवान्, अध्ययनान्ते शिष्येण गुरुर्दक्षिणार्थमनुयुक्त, स हि गुरुस्तदीयसेवादिना तुष्यन्न्यषेधत् पर शिष्येण बह्वागृहीत स स्वा विद्यामेव दातुमनुमेने, तदादेशाद्याज्ञवल्क्येनाधीतो यजुर्वेद एवोद्गीर्य दत्त, गुरुरपि तित्तिरिपक्षिरूपमादाय तमुद्गीर्णं वेद पीतवान्, तदवधि तस्य वेदभागस्य तित्तिरिपक्षिगृहीततया तैत्तिरीयशाखानाम्ना व्यवहार प्रवृत्त । पश्चाच्च याज्ञवल्क्य सूर्याद्यजुरध्यगीष्टेति कथाऽत्रानुसन्धेया ॥ १३ ॥

पौत्र शतानन्द हों ॥ १२ ॥

(हसकर) जामाताके अदर्शनसे होनेवाला अपका शोक हमें हटाना है । शोक और हर्ष तो ससारका धर्म है ।

तैत्तिरीय यजुर्वेदको मूर्त्तरूप देकर जिन्होंने- वान्त कर दिया था, वही योगी याज्ञवल्क्य आपके वेदान्त विद्यागुरु रहे हे ॥ १३ ॥

---

१ 'अदर्शनशोक.' ।

लक्ष्मणः—(जनान्तिकम् ।) आर्य, अयमयं स राजा वैदेहः ।
[1]पवित्रमपरिमेयाश्चर्यं यस्यावदानमु[2]पाध्यायादनुश्रूयते ।

रामः—(सप्रमोदानुरागम् ।) [3]वत्स, स एवायं शतपथकथाधिकारी पुरुषः प्रणाय्यायान्तेवासिने [4]यस्मै वाजसनेयो याज्ञवल्क्यः सूक्तानि यजूंषि प्रोवाच ।

विश्वामित्रः—(मुहूर्तं [5]निर्वर्ण्य च ।)

निजाय तस्मै गुरवे यतीनां जैत्राय विश्राणितगोसहस्रम् ।
तं गोसहस्राधिपतेः प्रशिष्यमुपास्महे मैथिलमातिथेयम् ॥ १४ ॥

जनान्तिकम् 'अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्' इति लक्षितम् , यस्य जनकस्य । पवित्रम् पावनम् । अपरिमेयाश्चर्यम् अतिविस्मयकरम् अवदानम् पूर्ववृत्तं कर्म । उपाध्यायात् गुरोः विश्वामित्रात् । अनुश्रूयते आकर्ण्यते ।

सप्रमोदानुरागम् हर्षेण स्नेहेन च सहितम् । शतपथकथाधिकारी शतपथाख्य-वेदभागोक्तकथापुरुषः, प्रणाय्यायान्तेवासिने वीतरागाय मुमुक्षवे शिष्याय । वाज-सनेयः यजुर्वेदशाखीयः । 'प्रणाय्योऽभिलाषशून्यः स्यात्' इति हारावली ।

निजायेति । यतीनां योगिनां जैत्राय विजयिने यतिश्रेष्ठाय तस्मै प्रसिद्धाय निजाय गुरवे स्वाचार्याय याज्ञवल्क्याय विश्राणितगोसहस्रम् दत्तदशशतसङ्ख्यक-धेनुकम् गोसहस्राधिपतेः दशशतकरधारिणः सूर्यस्य प्रशिष्यम् शिष्यशिष्यम् तम् स्वतपःख्यातम् आतिथेयम् अतिथिसेवाप्रसिद्धम् मैथिलम् मिथिलेशम् जन-कम् उपास्महे उपगच्छाम । सोऽयं जनकोऽस्माभिरातिथेयतया समासाद्यते यो योगिप्रवराय निजगुरवे याज्ञवल्क्याय गवां सहस्रमदात् , यो हि गुरुर्याज्ञवल्क्य

लक्ष्मण—(छिपाकर) आर्य, यही है वह राजा वैदेह, जिनका पवित्र तथा आश्चर्य-जनकवृत्त प्रसिद्ध है ।

राम—(आनन्दके साथ) यही है वह शतपथ कथाओंके अधिकारी पुरुष, जिन्हें वाजसनेय याज्ञवल्क्यने यजुर्वेदका उपदेश किया था ।

विश्वामित्र—(थोडी देर देखकर) जिन्होंने अपने गुरु यतिराज याज्ञवल्क्यको सहस्र गायें दक्षिणामें दी थीं, उसी सहस्र-किरण सूर्यके प्रशिष्य मैथिलराज जनकको मैं आतिथेयके रूपमें प्राप्त कर रहा हूं ॥ १४ ॥

---

१ 'पवित्रमाश्चर्यं च', 'पावित्र्यमपरिमेयमाश्चर्यम्' । २ 'उपाध्यायमुखात्' ।
३. 'स एवायं शतपथाधिकारी' । ४ 'यस्मै वाजसनेयाय वाजसनेयः' ।
५. 'च निर्वर्ण्य' ।

जनक—(सप्रश्रयम् ।) भगवन्, यदन्यत्किंचिदभिदधाति[1] तत्र प्रभविष्णुर्भवान् । तत्रभवत सहस्रमयूखान्तेवासिनो [2]योगीश्वरादध्ययनमिति [3]महीयसीयमस्माक यश.पताका ।

विश्वामित्र.—(विहस्य ।) भो महायोगिन्,

कि याज्ञवल्क्यो जनकः किमेवं न वः स्वरूपं कवयोऽपि विद्यु ।
प्रवाहनित्यानधिकृत्य युष्मान्सहस्रशाखा श्रुतय प्रथन्ते ॥ १५ ॥

सूर्यात् शास्त्राण्यध्येष्टेति भाव । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रिया पुंसि' इत्यमर । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १४ ॥

सप्रश्रयम् सविनयम् ।

यदन्यत् किञ्चित याज्ञवल्क्यशिष्यत्वातिरिक्तम् मद्विषय प्रशसावाक्यम् । प्रभविष्णु समर्थ । यथारुचि भवान् मा प्रशसितु स्वतन्त्र इत्यर्थ । तत्र भवतः पूजनीयात । सहस्रमयूखान्तेवासिन सूर्यशिष्यात याज्ञवल्क्यात् ।

महीयसी महत्तरा । यश पताका कीर्तिध्वज । सर्व भवान्यथेष्ट वक्तु क्षम, तत्तद्भवतोच्यमान प्रशसावाक्य मयि नापि सत्य स्यात्, अतिशयोक्तिरूपत्वात्, परमेकमिद सत्यान्न हीयते यदह याज्ञवल्क्यादधीतविद्य इति प्रसङ्गार्थ ।

कि याज्ञवल्क्य इति । याज्ञवल्क्य कि (किमभिधान वस्तु विद्यते) जनक कि किवस्तु एव व युष्माकम् स्वरूपम तत्त्वम् कवय विद्वांसोऽपि न विदु जानीयु, याज्ञवल्क्यस्य भवतश्च तत्त्व ज्ञातु विद्वांसोऽप्यशक्ता का कथा मादृशामित्याद्यपादद्वयार्थ, प्रवाहनित्यान् गुरुशिष्यपरम्परयाऽविनाशिन युष्मान् अधिकृत्य अवलम्ब्य सहस्रशाखा दशशतशाखाभेदभिन्ना श्रुतय वेदा प्रथन्ते प्रसिद्ध्यन्ति । गुरुशिष्यपरम्परया वेद बृहयता भवता तत्त्व वस्तुतो विद्वद्भिरप्यनवधार्यमिति स्तुतिरपि भवता भूतार्थव्याहृतिरेव नातिशयोक्तिरिति भाव ॥ १५ ॥

जनक—(नम्रताके साथ) भगवन्, आप और जो कुछ चाहे कह सकते हैं, परन्तु यह तो हमारी बडी यश पताका है कि हमने सूर्यशिष्य योगिराज याज्ञवल्क्यसे शिक्षा प्राप्त की है।

विश्वामित्र—(हसकर) हे महायोगिन्, क्या है याज्ञवल्क्य और जनक क्या है ? इस वस्तुके स्वरूपको कवि भी नहीं जान पासके है, प्रवाह–नित्य आप लोगोंके सबन्धसे अनेक शाखाओंमें श्रुतियाँ प्रथित होती रहती है ॥ १५ ॥

---

१ 'अभिदधासि' । २ 'योगीश्वराद्भगवतो याज्ञवल्क्यात्' ।
३. 'महतीयमस्माकम्', 'इयमस्माक महती' ।

शतानन्दः—भगवन्कौशिक, एवमीदृशा· खल्वमी त्रिभुवनमहनीयमहिमानो मनीषिण' ।

जनक·—(सवै[1]लक्ष्यस्मितम् ।)

निर्माय कार्मणमृचामघमर्षणीना-
मुन्मार्जनीर्जगदघानि तवाद्य वाच ।
श्रोतुं चिरप्रणयिकौतुकमस्ति चेतो
दु खाकरोति पुनरेष ममार्थवाद ॥ १६ ॥

तद्विरम । (इति शिरस्यञ्जलि घटयति ।)

एवमीदृशा –भवता यथोक्तास्तादृशा , अमी याज्ञवल्क्यजनकादय , त्रिभुवनमहनीयमहिमान –ससारप्रशसितप्रभावा । मनीषिण विद्वास , सन्तीति शेष· ।

सवैलक्ष्यस्मितम् सलज्जमन्दहासम् ।

निर्मायेति । अघमर्षिणीनाम् पापनाशिकानाम् ऋचाम् ऋग्वेदीयमन्त्राणाम् कार्मणम् कर्मकलापानुष्ठानजनित सस्कारविशेषम् निर्माय कृत्वा जगदघानि लोकप्रथितपापानि उन्मार्जनी शोधिका ससारपापशमनीरित्यर्थ । तव विश्वामित्रस्य वाच वचनानि श्रोतुम् आकर्णयितुम् अद्य अधुना मम चेत हृदयम् चिरप्रणयिकौतुकम् बहो कालादुत्कण्ठितम् अस्ति, पुन किन्तु मम एष अर्थवाद (माम्) दु खाकरोति । मदीया त्वया क्रियमाणा स्तुतिर्मम मनो व्यथयति, यद्यपि लोकप्रसृतपापापहारक्षमास्तव वाच श्रोतु मम चित्त चिरकालात् धृतोत्कण्ठमस्ति, तथापि कथाप्रसङ्गे· त्वया क्रियमाणया स्वस्तुत्या कष्ट प्रपद्ये तदल मम स्तुत्येति भाव । 'जगदघानि उन्मार्जनी ' इत्यत्र कृद्योगे कर्मणि षष्ठीप्रयोग उचित । 'उन्मार्जनीर्जगदस्ये'ति पाठस्तु निर्दोष । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ १६ ॥

तद् विरम मम स्तुत्या विरमेति भाव , मम त्वया कृताया स्तुतेरवास्तवतया मम व्यथकत्वेन तथाऽऽचरण तवानावश्यकमतो विरतो भव तस्मादिति । सस्मि-

---

शतानन्द—भगवन् कौशिक, त्रिभुवनके द्वारा कीर्त्तित महत्त्वशाली ऐसे ई यह ।

जनक—मै आज आपकी वह बातें सुनना चाहता हू जिन बातोंने जादू सा करके मन्त्रों द्वारा ससारका पाप धो बहाया है, उन बातोंको सुनने के लिये मेरा हृदय चिरकालसे उत्कण्ठित हो रहा है, आप जो हमारी स्तुति कर रहे हैं इससे मुझे दु ख होना है ॥ १६ ॥

इसलिये छोडिये इसे । (सिरपर हाथ जोडते हैं)

---

१ 'सविलक्ष–' ।

विश्वामित्र—(सस्मितमस्याञ्जलिमुद्घाटयन्।) सखे सीरध्वज, संह्रियतामञ्जलि.। अमी तूष्णीभूता स्म। कात्यायनीकामुककार्मुकारो[1]पणपणप्रणयप्रवीणेन तु दुहितु पत्या सप्रत्ययपर्युषितप्रतिज्ञो भूया.।

लक्ष्मणः—(अपवार्य।) आर्य, परस्परेषा पौरुषोत्कर्षप्रशंसारमणीय [2]पावनोऽयममीषां समवाय।

रामः—वत्स, यदात्थ।

स्मरन्ति लोकार्थममी किल श्रुतीरिति प्रतिष्ठामधिगन्तुमीश्महे।

तस् जनकस्य नम्रतादर्शनेन स्मितोदय। अञ्जलिमुद्घाटयन् तथाकरण च नदीयाग्रहस्यानावश्यकताद्योतनाय।

सस्मितम् सहासम्, हासश्चात्र तन्नम्रतादर्शनजन्मा बोध्य। उद्घाटयन् मोचयन् संह्रियताम् अपनीयताम्। तूष्णीभूता मौन श्रिता। कात्यायन्या पार्वत्या कामुक पति शिव तस्य यत् कार्मुकम् धनुस्तस्यारोपणम् सज्यीकरणम् एव पण. तत्र य प्रणय स्नेह तत्र प्रवीणेन निपुणेन दुहितु पत्या जामात्रा सम्प्रति अचिरेण अपर्युषितप्रतिज्ञ पूर्णप्रतिज्ञ भूया जायेथा। अनतिचिरेण हरकार्मुकमारोपितवता जामात्रा सत्यप्रतिज्ञो भवेति भाव।

परस्परषाम्–अन्योन्यम्। पौरुषोत्कर्षप्रशसायाम् पुरुषकारस्तुतौ हृद्य (अन्योन्यप्रशसावाक्यमनोज्ञ) पावन श्रोतृणाम् पापनाशन अमीषा जनकविश्वामित्रशतानन्दानाम् समवाय समुदाय (अयमत्र सङ्गम) अस्तीति शेष।

यदात्थ–त्व यद् ब्रवीषि।

स्मरन्तीति। अमी विश्वामित्राद्या लोकार्थम् लोककल्याणहिताय किल श्रुती वेदान् स्मरन्ति अभ्यस्य स्मृतिविषयान् रक्षन्ति, अथवा श्रुती स्मरन्ति स्मृतिरूपतया परिणमयन्ति इति प्रतिष्ठाम् एषा प्रसिद्धिम् अधिगन्तुम् ज्ञातुम् ईश्महे

विश्वामित्र—(उनकी अञ्जलिको विघटित करते हुए) सखे सीरध्वज, हाथ खोलें, मे चुप हो गया। अब आपके शिवधनुषको आरोपित करनेकी कलामें प्रवीण जामाता आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण करे।

लक्ष्मण—(छिपाकर) आर्य, एक दूसरेकी पौरुषोत्कर्ष-प्रशसा करते हैं इससे इनका यह सङ्गम नितान्त रमणीय तथा पावन बन जाता है।

राम—वत्स, ठीक कहते हो,

हम इनकी प्रतिष्ठा यहीं तक जाननेमें समर्थ हैं कि यह वेदके अर्थको तथा लोकाचारको

---

१ 'रोपणप्रवीणेन'। २ 'पावनोऽयमृषीणाम्'।

परं यदेषां पुनरस्ति वैभवं तदेत एव व्यतिविद्रते यदि ॥ १७ ॥

जनक —(सहर्षम् ।) भगवन्, परमनुगृहीतोऽस्मि । यत ।

समस्या वा साम्नां बहिरबहिरंहःपरिमृजा-
मृचां वा संवाद किमपि यजुषां वा परिपण ।
त्वदाशीर्वादोऽयं बहुविषयसाक्षात्कृतफलो
वरं मे वत्साया· [1]प्रथयति पुरोवर्तिनमिव ॥ १८ ॥

शक्नुम, वय हि ऋषिभिरेभि श्रुतयो रक्षिता याभिर्लोकानां हितानि सिद्ध्यन्ति इति ऋषीणा प्रतिष्ठा केवला ज्ञातु शक्नुम इत्यर्थ । परं किन्तु पुन एषाम् ऋषीणाम् यत् वैभवम् ज्ञानकृतसामर्थ्यातिशय अस्ति विद्यते, तत् ज्ञानवैभवं यदि एते ऋषय एव व्यतिविद्रते परस्पर जानन्तीत्यर्थ । एतेषा ज्ञानवैभव ज्ञातु नान्ये क्षमा एते परस्पर स्वयमेव तज्ज्ञातु शक्नुवन्तीति भाव । व्यतिपूर्वकात् 'विद ज्ञाने' इति धातो 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' इति तङ्, वेत्तेर्विभाषा इति रुट् ॥१७॥

अनुगृहीत अनुकम्पित । भवदीयेनाचिर शिवधनुर्भञ्जक जामातर लभस्वेति वचसा कृतार्थीकृतोऽस्मीत्यर्थ ।

समस्येति । बहिरबहिरह परिमृजाम् बाह्याभ्यन्तरसकलपापापनोदिकानाम् साम्नाम् सामवेदानाम् समस्या वा सक्षेप इव, ऋचाम् ऋग्वेदानाम् सवाद सम्भाषणम् इव, यजुषाम् यजुर्वेदाना परिपण मूलधनम् इव अयं त्वदाशीर्वाद त्वत्कृता मच्छुभाशसा (य प्राक्) बहुविषयसाक्षात्कृतफल बहुषु विषयेषु पूर्वं दृष्टसार्थक्य (अत एव) मे मम वत्साया जानक्या वरं भर्त्तार पुरोवर्त्तिनम् अग्रे सन्तमिव प्रथयति ख्यापयति । अयमाशय —बाह्याभ्यन्तरपापापहारिसामवेदसक्षेप इव ऋग्वेदसङ्कलितार्थ इव यजुर्वेदमूलभूत इव चाय नानाविषयपरीक्षितसत्यभावस्तवाशीर्वाद स्वसत्यताविश्वासनविधयाऽत्र प्रक्रान्त-

---

जानते हैं, इनके जो अन्तर्वैभव हैं उन्हे यही जानते है ॥ १७ ॥

जनक—(सहर्ष) भगवन्, अत्यन्त अनुगृहीत हुआ । क्योंकि—

सामवेदके रहस्यके सदृश, आभ्यन्तर तथा बाह्यमलोंको दूर करनेवाले ऋग्वेदके सभाषणके सदृश, यजुर्वेदके मूलधनके सदृश आपका यह आशीर्वाद—जिसका फल अन्यत्र अनेको स्थानोंपर देखा गया है, मेरी कन्याके वरको पुरोवर्त्तीकी तरह प्रदर्शित कर रहा है ॥ १८ ॥

---

१ 'कथयति' ।

विश्वामित्र.—(साकूतस्मितम् ।) सखे सीरध्वज, एवमेतत् ।

दवीयस्यो दूरादपथमिह चामुत्र च शुचां
त्रिवेदीवाक्यानामनतिचिरभग्ना इव खिलाः ।
श्रुतिग्राह्यं ज्योति किमपि बहिरन्तर्मलमुषो
मृजाया मज्जान क्व नु विपरियन्ति द्विजगिर ॥ १९ ॥

शतानन्द.—(स्वगतम् ।) नूनं [1]रामभद्रमेव जामातरमभिसधाय भगवानय [2]पुन पुनर्वक्रोक्तिभि सीरध्वज [3]परिमोहयते । भवतु । अह-

प्रसङ्ग मत्कन्यकावरमपि प्राप्तमिव प्रमापयतीति । 'समस्या तु समासार्था', 'नीवी परिपणो मूलधनम्' इत्युभयत्राप्यमर । अत्र सर्वत्र वा शब्द इवार्थ । शिखरिणी-वृत्तम् , तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ १८ ॥

साकूतस्मितम् मनोभावप्रकाशकहासयुक्तम् । एवमेतत् त्वदुक्त सत्यम् ।

दवीयस्य इति । दवीयस्य महत्तरा , इह अत्र लोके अमुत्र परलोके च शुचाम् शोकानाम् दूरात् अत्यर्थेन अपथम् अविषया , त्रिवेदीवाक्यानाम् वेदत्रितयोक्तार्थानाम् खिला अप्रहतभूमय इव, किमपि श्रुतिग्राह्य ज्योति तेजोमया , बहिरन्तर्मलमुष बाह्याभ्यन्तरमलापहारिण्य , मृजाया शुद्धे मज्जान. सारभागा इव द्विजगिर क्वनु विपरियन्ति विपरीता सत्याच्च्युता भवन्ति ? महत्त्वशालिन्योऽत्र लोके परत्र चात्यन्त शोकस्यास्थानभूतास्त्रिवेदीवाक्यानामप्रहतभूमय इवोर्वरताजुषो ज्योतिर्मय्य शुद्धिसारभागाभा बाह्याभ्यन्तरपापापहाश्च द्विजवाच क्वनु विपरीता भवन्ति, नहि क्वापि विपरीतार्था असत्या जायन्त इति । 'खिलमप्रहतेऽपि स्यात्' इति मेदिनी, 'सारो मज्जा नरि' इति अमर । अपथमिति 'पथ सङ्ख्याऽव्ययादे.' इति क्लीबत्वम् । वृत्त पूर्वोक्तम् ॥ १९ ॥

अभिसन्धाय मनसिकृत्य । वक्रोक्तिभि कुटिलभाषितै । परिमोहयते

विश्वामित्र—(साभिप्राय हसकर) सखे सीरध्वज, ऐसी ही बात है—

महान् , इहलोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाले, वेदत्रयोक्त वचनोंके खिलस्वरूप, बाह्य तथा आभ्यन्तर मलको दूर करनेवाले, शुद्धिके सारभूत ब्राह्मणोंके वचन कब कहाँ विपरीतार्थक होते है ? ॥ १९ ॥

शतानन्द—(स्वगत) निश्चय ही यह कौशिक रामभद्रको ही जामाताके रूपमें मनमे रखकर बार-बार अनेक प्रकारकी उक्तियों द्वारा सीरध्वजको मोहमे डाल रहे हैं ।

१ 'रामचन्द्रमेव' । २ 'पुनवक्रोक्तिभि' । ३ 'मोहयत' ।

मस्य प्ररोचनार्थमनविदान इव पृच्छामि । (प्रकाशम् ।) भगवन्, कस्येदं शकुन्तराजकेतोरिव कौस्तुभश्रीवत्सौ [1]रत्नद्वयम् ।

विश्वामित्रः—(विहस्य[2] स्वगतम् ।) साधु वत्स शतानन्द, साधु । यदेतत्कृतं [3]तीर्थं विवक्षितस्य वस्तुनः सुखावताराय । (प्रकाशम् ।) वत्स [4]गौतम, ककुत्स्थकुलसम्भवौ कुमारावेतौ ।

शतानन्दः—(सप्रत्यभिज्ञमिव ।)

पुत्रार्थे जगदेकजाङ्घिकययूद्दामभ्रमत्कीर्तिना
चातुर्होत्रवितीर्णविश्ववसुधाचक्रेण चक्रे मखः ।

वशीकुरुते प्रलोभयति वा । प्ररोचनार्थम् प्रलोभनोद्देश्यम् । अनविदान—अज्ञ इव । शकुन्तराजकेतोः गरुडध्वजस्य । कौस्तुभश्रीवत्सौ तन्नामकौ । गरुडध्वजस्य यथा कौस्तुभश्रीवत्सौ नाम रत्नद्वयमस्ति तथा कस्येमौ पुत्रौ नाम रत्नद्वयमिति प्रश्नार्थः ।

तीर्थम् अवतरणवर्त्म 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्वः, 'तीर्थं सोपानपङ्क्तौ स्यात्' इति च धरणिः ॥

एतेन शतानन्दप्रश्नेन विश्वामित्रो रामलक्ष्मणयोः परिचयं प्रदातुमवसरं प्राप्स्यतीति तदवसरलाभाय विश्वामित्रो धन्यवादमर्पयति शतानन्दायेति ग्रन्थहृदयम् । ककुत्स्थकुलसम्भवौ—सूर्यवंशस्य कश्चन राजा ककुत्स्थो रामचन्द्रपूर्वजः, तद्वंशभवौ । रामलक्ष्मणौ कुमारौ ॥

सप्रत्यभिज्ञम् पूर्वानुभूतस्य वस्तुनस्तत्तदेन्ताविशिष्टतया ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा तया सह, सोऽयमित्याकारकज्ञानमिव लब्ध्वा ।

पुत्रार्थे इति जगति संसारे एकः श्रेष्ठः जाङ्घिकः अतिवेगवान् यः ययुः अश्वमेधीयोऽश्वः स एव उद्दामा उद्भटा भ्रमन्ती च कीर्त्तिर्यस्य तेन तथोक्तेन,

---

अस्तु । मैं भी इनके प्ररोचनार्थ अनजानकी तरह पूछता हूँ । (प्रकट) भगवन्, भगवान् विष्णुके कौस्तुभ श्रीवत्सके समान यह दोनों लडके किसके हैं ?

विश्वामित्र—(हँसकर स्वगत) साधु वत्स शतानन्द, साधु, तुमने विवक्षित अर्थको कहनेका अवसर बना दिया । (प्रकट) वत्स, यह दोनों कुमार ककुत्स्थवंशमें उत्पन्न हुए हैं ।

शतानन्द—(स्मरण करके) पुत्रार्थ संसारके लंघनमें समर्थ अद्वितीय कान्तिशाली तथा चातुश्चरणयागमें समस्त भूमण्डल दान कर देनेवाले राजा दशरथने यज्ञ किया था,

---

१ 'कुमाररत्नद्वयम्' ।　　२ 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति ।
३ 'तीर्थमिव' ।　　४ 'शतानन्द' ।

राज्ञा पङ्क्तिरथेन यत्र सकलस्वर्वासिसर्वातिथौ
स स्वेनैव फलप्रदः फलमपि स्वेनैव नारायण ॥ २० ॥

तत्किमेतावव तौ दाशरथी यौ किल रामलक्ष्मणौ ताडकामथन[1]मङ्गलोद्घातवितीर्णदिव्यास्त्रमन्त्रपारायणेन [2]भगवतैव विनीतौ वैतानिकस्य कर्मणश्छिद्रापिधानदक्षिणया [3]भगवन्तमुपासाबभूवतु ।

चातुर्होत्रे चातुश्चरणयागे वितीर्णं पात्रेभ्यो दत्त विश्व सकल वसुधाचक्रं येन, तादृशेन च राज्ञा भूपालेन पङ्क्तिरथेन दशरथेन पुत्रार्थे पुत्रप्राप्तये मख याग चक्रे कृत, यत्र सकला समस्ता स्वर्वासिन देवा एव सर्वातिथयो नवागन्तुका यत्र तादृशे दशरथकृतयागे स विश्वप्रसिद्धवैभव नारायण स्वेन स्वयम् एव फलप्रद यज्ञफलदायी स्वेन आत्मना एव च फलम् अपि अभूत्। राजा दशरथोऽश्वमेधीयमश्व भ्रमयित्वा स्वा कीर्त्तिमिव नटयामास, चातुश्चरणनामके यागे समस्तमेव धरावलय पात्रेभ्यो वितीर्णवान्, तदीये यागे च सर्व एव देवा निमन्त्रिता सन्तोऽतिथिभावमभजन्त, किञ्च सर्वलोकानुष्ठितयागाना फलदायी भगवान्नारायण स्वयमेव तदीयपुत्रभावमापद्य तद्यागफलत्वमपि प्रपन्ना इत्यर्थ । 'ययुरश्वोऽश्वमेधीय.' इत्यमर । चत्वारो होतार एव चातुर्होत्रा, स्वार्थिकोऽण्। वेदभेदेन वेदिभेदात् होतृभेद । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २० ॥

दाशरथी दशरथतनयौ रामलक्ष्मणौ । ताडकामथनम् ताडकानामराक्षसीमरणम् मङ्गल शुभकर्म तस्योद्घाते उपक्रमे वितीर्णं दत्त दिव्यास्त्राणाम् मन्त्रपारायणम् येन तथाभूतेन ताडकावधमारभ्य दत्तदिव्यास्त्रमन्त्रपारायणेन भगवता विश्वामित्रेण । वैतानिकस्य यागसम्बन्धिन । छिद्रापिधानदक्षिणया अन्तरायशमनरूपदक्षिणाद्रव्येण । भगवन्तम् विश्वामित्रम् । उपासाबभूवतु आराधयामासतु । एतावेव तौ नाम रामलक्ष्मणौ दशरथसुतौ याभ्या भगवान् विश्वामित्रस्ताडकावधमारभ्य दिव्यास्त्रमन्त्रसम्प्रदायमाचख्यौ, तस्य मन्त्रोपदेशस्य च दक्षिणारूपेण रामलक्ष्मणौ यज्ञ ररक्षतुरिति भाव. ॥

जिस यज्ञमे स्वर्गके सभी देवगण पधारे थे, और उस यज्ञमें स्वय सभी यज्ञोंके फलदाता भगवान् विष्णु खुद फल बन गये थे ॥ २० ॥

तो क्या यही है दशरथके पुत्र राम-लक्ष्मण जिन्हे ताडकावधरूप मङ्गलमय अवसर पर आपने दिव्यास्त्र मन्त्रका पारायण किया है, आपने जिन्हें धनुर्वेदकी शिक्षा दी है, और जो यज्ञकर्मकी निर्विघ्न समाप्तिरूप गुरुदक्षिणासे आपकी आराधना कर चुके है ॥

१ 'मङ्गलोपोद्घात-'। २ 'भवतेव'। ३ 'भवन्तम्'।

विश्वामित्रः—([1]सकौतुकम् ।) अथ किम् ।

(जनकस्तौ [2]सस्नेहबहुमानं पश्यति ।)

शतानन्दः—तदनयोः कतरो [3]रामभद्रः कतरश्च लक्ष्मणः ।

विश्वामित्रः—(रामं निर्दिश्य[4] ।) वत्स आङ्गिरस,

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसंतानमल्ली-
मालाम्लानस्तबकमधुरा[5] जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥ २१ ॥

ये चत्वार इति । दिनकरकुले सूर्यवंशे ये क्षत्रसन्तानाः क्षत्रियसमूहास्त एव मल्लीमाला मल्लिकापुष्पस्रजः तासाम् अम्लानस्तवकाः सदाविकासिगुच्छा इव मधुरा मनोज्ञा ये चत्वारः रामादयो राजपुत्रा जज्ञिरे दशरथानुष्ठितपुत्रेष्टियज्ञप्रभावतोऽजायन्त, तेषाम् दशरथसुतानाम् अचरमभवः सर्वतो ज्येष्ठः ताडका एव कालरात्रिः प्रलयनिशा तस्याः प्रत्यूषः प्रभातकाल इव अयम् निर्दिश्यमानः रामः अस्ति, योऽयं रामः सुचरितकथा पुण्यवार्त्ता एव कन्दली वृक्षजातिभेदस्तस्या मूलकन्दः प्रधानमूलमिवास्तीति, अयमेवासौ रामो यमाश्रित्य सुचरितकथाः प्रवर्तन्ते, यश्च ताडकारूपायाः कालनिशाया विनाशायाकल्पत, यश्च दशरथानुष्ठितपुत्रेष्टियागप्रभावात् प्रथममुत्पन्नः, यश्च सूर्यवंश्यराजगणरूपमल्लीमालायामम्लानस्तवकतां भजत्सु दशरथसुतेषु ज्येष्ठोऽस्तीत्यर्थः । उपमारूपकातिशयोक्त्योऽत्रालङ्काराः, मन्दाक्रान्तावृत्तं, तल्लक्षणं यथा 'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति ॥ २१ ॥

विश्वामित्र—(कौतुकसे) और क्या ?

(जनक स्नेह तथा आदरसे उनकी ओर देखते हैं)

शतानन्द—तो इनमें राम कौन है और लक्ष्मण कौन है ?

विश्वामित्र—(रामकी ओर इशारा करके) वत्स आङ्गिरस,

सूर्यवंशी क्षत्रियोंका वंशपरम्परारूप मल्लिकामाल्यके अम्लान स्तवकरूप जो चार पुत्र दशरथ राजाके उत्पन्न हुए थे, उनमें सबसे ज्येष्ठ तथा ताडकारूप रात्रिके प्रातःकाल समान एवं सच्चरित कथारूप अङ्कुरके मूलकन्द तुल्य रामचन्द्र यही हैं ॥ २१ ॥

१ 'सकौतुकम्' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'सस्नेहं पश्यति' । ३ 'रामः' ।
४ 'निदिशन्', 'निदर्शयन्' । ५. 'रुचयः' ।

शतानन्दः—(लक्ष्मणं निर्दिश्य ।) अयं चापरो लक्ष्मणः । दिष्ट्या भगवद्वसिष्ठप्रसूतं क्षत्रकुलमृद्ध्यते[1] ।

जनकः—(विहस्य ।) साधु भगवन्, अस्मादृशीषु प्रजासु प्रविश्य क्रीडसि ।

क्रोधाग्नौ पुरुहूतहुङ्कृतिपराभूतत्रिशङ्कुत्रपा-
संपातज्वलिते जगत्त्रयमयीं त्वय्याहुतिं जुह्वति ।
संभ्रान्तोपनतस्य नाटितजरावैक्लव्यशीर्णाक्षरा
प्रत्यूहाय बभूवुरम्बुजभुवो देवस्य चाटूक्तयः ॥ २२ ॥

अयं चापरः—यो मयाऽधुना निर्दिश्यते । दिष्ट्या लोकानां भाग्येन । भगवद्वसिष्ठप्रसूतम् भगवता वसिष्ठेन कृतसंस्कारम् । ऋध्यते समृद्धिं भजते ॥

प्रजासु प्रविश्य प्रजा इव व्यवहृत्य । क्रीडसि ता इव लोकव्यवहारं प्रदर्श्य खेलसि । अलौकिकप्रभावभागपि लोकसामान्यवदाचरतीत्यर्थः ।

क्रोधाग्नाविति । पुरुहूतस्य इन्द्रस्य हुङ्कृत्या हुङ्कारशब्देन पराभूतः सदेहस्वर्गगमनान्निवर्त्तितो यः त्रिशङ्कुर्नाम राजा तस्य त्रपाया मनोरथभङ्गजन्मनो लज्जायाः सम्पातेन समूहेन ज्वलिते समिद्धे क्रोधाग्नौ स्वकोपवह्नौ जगत्त्रयमयीम् लोकत्रयस्वरूपाम् आहुतिं जुह्वति प्रक्षेप्तुमिच्छति सति त्वयि (त्रिशङ्कोस्त्वया स्वर्गं प्रति प्रेष्यमाणस्येन्द्रेण कृते निवारणे क्रुद्धेन त्वया संसारमेव दग्धुं प्रवृत्ते सतीत्यर्थः) सम्भ्रान्तोपनतस्य भयचकितभावेनायातस्य देवस्याम्बुजभुवो ब्रह्मणः नाटितेन प्रकटीभूतेन जरावैक्लव्येन वार्धकजनिताशक्त्या शीर्णाक्षराः स्खलद्वर्णाः चाटूक्तयः प्रियभाषणानि प्रत्यूहाय बभूवुः विघ्नभावमभजन्, संसारं विनाशयितुमुपक्रममाणस्य तव प्रसादनाय सम्भ्रमागतो ब्रह्मा यज्जरसा श्लथगद्गदगिरा तव चाटूनि

शतानन्द—(लक्ष्मणकी ओर दिखाकर) और यह दूसरे लक्ष्मण हैं ? सौभाग्यसे भगवान् वसिष्ठ द्वारा प्रसून यह राजवंश समृद्धिशाली बना हुआ है ॥

जनक—(हँसकर) साधु, महाराज, साधु, आप मुझ सदृश प्रजाजनोंमे हिलमिलकर क्रीडायें किया करते हैं ।

इन्द्रके हुंकारसे पराभूत त्रिशङ्कुकी लज्जासे प्रज्वलित अपनी कोपाग्निमे आपने जब लोकत्रयरूप आहुति छोडना चाहा था तब घबडाकर बुढापेके कारण अस्पष्ट अक्षरोंमें ब्रह्माके द्वारा की गई आपकी स्तुतियाँ विघ्न बन गई थीं ॥ २२ ॥

---

१. 'वर्धते', 'ऋद्ध्यति' । २ 'वैकल्यशीर्णाक्षरा ', 'वैक्लव्यजीर्णाक्षराः' ।

तमपि नाम [1]भगवन्त यजमानमन्ये गोपायितार ।

शतानन्द—राजर्षे, एवमेतन् । किं पुनर्न [2]दीक्षिष्यमाणा क्रुध्यन्तीति रक्षितार क्षत्रियमुपाददते ।

जनक—(महर्षे रामलक्ष्मणौ निर्वर्ण्य जनान्तिकम् ।) भगवञ्शतानन्द

भवति न तथा भानो· शिष्ये गुरौ रसतो न च
स्वयमपि मुनौ विश्वामित्रे गृहानधितिष्ठति ।

व्याहृतवान् तानि तव कोप शमयन्ति स्मन्ति, तव जगद्विनाशप्रवृत्तेर्विघ्नभाव भजन्तिस्मेति हृदयम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम ॥ २२ ॥

तमपि नाम भगवन्त यजमानमन्ये गोपायितार —एतादृशप्रभावशालिन्यपि त्वयि विश्वामित्रे यज्ञप्रवृत्ते रक्षकान्तरान्वेषणापेक्षेति सत्य भवान् प्रजासु प्रविश्य क्रीडतीत्यर्थ ।

एवमेतत् त्वदुक्त सत्यम् । दीक्षिष्यमाणा यज्ञाधिकृता , यद्यप्यहं यथा त्वदुक्त-प्रभावस्तथापि यज्ञे दीक्षितस्य मम कोपो नोचित इति कृत्वा मया यज्ञरक्षार्थं क्षत्रियो रामो न्ययुज्यतेति तात्पर्यम् ॥

भवतीति एतौ पुरोऽवस्थितौ रामलक्ष्मणौ नाम दशरथसुतौ दृष्ट्वा वीक्ष्य उच्छ्वसितम् उल्लसितम् मे मम मन यथा प्रत्यगज्योतिष परमात्मन प्रबोधे ज्ञाने सुखासिकाम् सुखावस्थानम् ब्रह्मज्ञानदशाया जायमाना निरतिशयानन्द-स्थितिम् शिथिलयति न आद्रियते, तथा भानो सूर्यस्य शिष्ये मम गुरौ याज्ञवल्क्ये रसत शिष्येऽनुरागात् गृहान् मदीय भवनमधितिष्ठति तथा स्वयम् विश्वामित्रेऽपि गृहानधितिष्ठति सति च मे मन उच्छ्वसित प्रत्यगब्रह्मप्रबोधसुखासिका न

वहा आप जब यज्ञ करें, तब दूसरे उस यज्ञकी रक्षा करें ॥

शतानन्द—राजर्षे, आप ठीक कहते हैं, किन्तु दीक्षितोंको कोप नहीं करना रहता है इसीसे दूसरे क्षत्रियोंके द्वारा रक्षा करवाई जाती है ।

जनक—(हर्षसे राम लक्ष्मणकी ओर देखकर—छिपाकर) भगवन् शतानन्द,

मेरा मन मेरे गुरु सूर्यशिष्य याज्ञवल्क्यके तथा स्वय विश्वामित्रके भी मेरे घर पधारनेपर प्रेमसे उतना उच्छ्वसित नहीं हो उठता है । आज इन दशरथ कुमारोंको

---

१. 'भवन्तम्' । २ 'दीक्षमाणा' ।

दशरथसुतावेतौ दृष्ट्वा यथोच्छ्वसितं मन
शिथिलयति मे प्रत्यग्ज्योति प्रबोधसुखासिकाम् ॥ २३ ॥

शतानन्द—राजर्षे वैदेह, एवमेतत् । ममापि राजपुत्राविमौ साक्षात्कुर्वतो वत्से सीतोर्मिले न हृदयादवरोहत ।

जनक—(विश्वामित्रं प्रति ।) भगवन्,

इदं वयो मूर्तिरियं मनोज्ञा वीराद्भुतोऽयं चरितप्ररोह ।
इमौ कुमारौ बत पश्यतो मे कृतार्थमन्तर्नटतीव चेतः ॥ २४ ॥

शिथिलयतीत्यर्थः । यथाऽनयो रामलक्ष्मणयोर्दर्शनेनोच्छ्वसित सन्मम मनो ब्रह्मज्ञानजन्मानमपि प्रमोदमनादरभावेन पश्यति, इमौ वीक्ष्य ब्रह्मास्वादसुखादपि भूयान्प्रमोदो मम यथा जायते तथा न गुरौ याज्ञवल्क्ये गृहस्थिते सति न वा मुनौ विश्वामित्रे गृहस्थिते सति तावपि निरीक्ष्य मम मन उच्छ्वसित भवतीति । हरिणी वृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ २३ ॥

राजपुत्राविमौ—दशरथसुतौ रामलक्ष्मणौ । साक्षात्कुर्वत –पश्यत । न हृदयादवरोहत न विस्मृति भजत । एतौ पश्यन्नहमनवरत सीतोर्मिले हृदयस्थे इव भावयामि, सदृशवस्तुदर्शनस्य स्मरणोद्दीपकत्वादिति ॥

इद वय इति । इदं शैशवयौवनसन्धिरूप वय अवस्था, इय सर्वजनहृद्या मनोज्ञा मूर्त्ति तनु, अय च वीराद्भुत वीरतयाऽऽश्चर्यजनककर्मभिश्च पूर्ण चरितप्ररोह चरितप्रारम्भ, सर्वमेवानयोर्हृद्यतरमित्यर्थ, तत् इमौ रामलक्ष्मणौ नाम कुमारौ राजसुतौ पश्यत वीक्षमाणस्य मे चेत हृदयम् कृतार्थम् सिद्धमनोरथ सत् अन्त अभ्यन्तरभागे नटतीव नृत्यतीव अनयोर्दर्शनेन मम हृदय प्राप्तमनोरथसाफल्यमिव नृत्यतीत्यर्थ । उपजातिर्वृत्तम् ॥ २४ ॥

देखकर मेरा मन उच्छ्वसित हो उठा है, आज मेरा मन ब्रह्मज्ञानकी सुखासीनताको शिथिल कर रहा है ॥ २३ ॥

शतानन्द—राजर्षे वैदेह, यही बात है, मैं भी जब इन राजकुमारोंको देखता हू तब हमारे हृदयसे वत्सा सीता तथा ऊर्मिला नहीं उतरती है ॥

जनक—(विश्वामित्रसे) भगवन्,

यह वय, यह सुन्दर मूर्त्ति, यह वीर तथा अद्भुत चरिताङ्कुर, इन दोनो कुमारोंको देखकर कृतार्थ बना यह मेरा हृदय वस्तुत नाच उठता है ॥ २४ ॥

विश्वामित्र—([1]सोत्प्रासम् ।) सखे सीरध्वज, हृदयमेवामन्त्रयस्व किमर्थं कृतार्थमसीति ।

जनक—(सखेदस्मितम् ।)

यद्गोत्रस्य प्रथमपुरुषस्तेजसामीश्वरोऽयं
　　येषां धर्मप्रवचनगुरुर्ब्रह्मवादी वसिष्ठः ।
ये वर्तन्ते तव च हृदये सुष्ठु सम्बन्धयोग्या-
　　स्ते राजानो मम पुनरसौ दारुणः शुल्कसेतुः ॥ २५ ॥

रामलक्ष्मणौ—([2]सविमर्शम् ।) कथमस्मदीया कथाः प्रस्तूयन्ते ।

सोत्प्रासम् मन्दस्मितपूर्वकम् , 'उत्प्रासः स मनाक् स्मितम्' इत्यमरः । हृदयमेवामन्त्रयस्व हृदयमेव पृच्छ, प्रष्टव्यमर्थमाह—किमर्थमित्यादि ।

यद्गोत्रस्येति । यद्गोत्रस्य येषां मनुवंश्यनृपाणां प्रथमपुरुषः कुलमूलपुरुषः अयम् सर्वप्रसिद्धः प्रत्यक्षदृश्यश्च तेजसामीश्वरः सूर्यः अस्तीति शेषः, येषां च धर्मप्रवचनगुरुः धर्मकर्मोपदेशकः ब्रह्मवादी ब्रह्मज्ञानवान् वसिष्ठो नाम मुनिः, ये च तव हृदये वर्त्तन्ते येषां हितं त्वमपि कामयसे, ते राजानः सर्वथैव सम्बन्धयोग्याः वैवाहिकसम्बन्धोपयुक्ताः वर्त्तन्त इति भावः, पुनः किन्तु असौ सर्वविदितः मम शुल्कसेतुः पणबन्धः हरचापारोपणरूपो नियमः दारुणः कठिनः, सूर्यवंश्यानां वसिष्ठशिक्षितानां भवताऽनुध्यायमानानाञ्च राज्ञां दशरथादीनां सर्वथा वैवाहिकसम्बन्धार्हतायां विद्यमानायामपि मम पणबन्ध एवात्र प्रतिबन्धभूत इति भावः ॥२५॥

सविमर्शम् विचारपूर्वकम् । अस्मदीयाः कथाः प्रस्तूयन्ते अस्मद्विषये विचार्यंते ।

विश्वामित्र—(विनोदके स्वरमें) सखे सीरध्वज, अपने हृदयमें ही पूछिये कि क्यों कृतार्थ हो रहे हो ?

जनक—(खेदकी हँसी हँसकर) जिस वंशके आदिपुरुष यह तेजःप्रभु सूर्य हैं, जिन्हें ब्रह्मवादी वसिष्ठ धर्मका प्रवचन सुनाया करते हैं, जो आपके हृदयमें हैं, जो सर्वथा सम्बन्धके योग्य हैं, वह हैं यह दशरथवंशके कुमार, परन्तु हमारा यह पणरूप सेतु बड़ा भयानक है ॥ २५ ॥

राम-लक्ष्मण—(कुछ विचार करके) हमारे ही सम्बन्धमें बातें कर रहे हैं ।

---

१ 'सोत्प्रासहासम्' ।　　२ '(सविस्मयम् ।) कथमाभिरस्मदीया' ।

विश्वामित्रः—(सस्मितम् ।) राजर्षे, यदि शुल्कसंस्थैव केवलमन्तरायस्तन्न किंचिदेतत् ।

जनकः—(सखेद [1]विमृशन्नपवार्य ।) [2]भगवन्नाङ्गिरस,

यद्विदन्नपि विदेहनन्दिनीपाणिपीडनविधेर्महार्घताम् ।
एवमाह मुनिरेष कौशिकस्तेन मुह्यति चिराय मे मनः ॥ २६ ॥
तदेव स्थाणवीयं वा धनुः स्यादिदमीदृशम् ।
एतदारोपणं नाम पणो वा मम जर्जरः ॥ २७ ॥

शुल्कसंस्था पणबन्धः । अन्तरायः–विघ्नः । न किञ्चित्–अगणनीयमेतत् ॥

आङ्गिरस–अङ्गिरसो नाम मुनेः वंशे जातः शतानन्दः ।

यद्विदन्निति । विदेहनन्दिन्याः सीतायाः पाणिपीडनविधेः विवाहकर्मणः महार्घताम् बहुमूल्यताम् कष्टसम्पाद्यत्वं हरचापारोपणरूपकष्टप्रतिज्ञापूर्त्तिसमनन्तरसम्पाद्यत्वमित्यर्थः, विदन् जानन्नपि एष मुनिः कौशिको विश्वामित्रः एवम् यदि शुल्कसंस्थैवान्तरायस्तदा न किञ्चिदेतदित्येवंरूपम् वचनम् आह, तेन मे मम मनः चिराय मुह्यति, किमपि निश्चेतुं मूढमिव सम्पद्यते, कठोरे पणवन्धे सत्यपि मुनेर्वचसो मिथ्यात्वस्यासम्भाव्यतया किमत्र भावीति निश्चेतुं न पारयति मम हृदयमिति भावः । रथोद्धतावृत्तम्, 'स्यान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति तल्लक्षणात् ॥२६॥

तदेवेति । तदेव इदं शाम्भवम् धनुः ईदृशम् राघवशिशुना आरोपयितुं शक्यं स्यात्, वा अथवा एतदारोपणम् हरचापारोपणं नाम पणो वा जर्जरः अनादरणीयः स्यात्, विश्वामित्रस्य वचनं सत्यमवश्यं भावि, तत्र द्वय्येव गतिः, कदाचिदस्य मुनेः प्रभावेण बालकोऽपि रामो धनुरिदमारोपयेत्, अथवा विश्वामित्राग्रहो मम पणं शिथिलयेत्, इदं प्रकारद्वयमध्येऽन्यतरत् परित्यज्य विश्वामित्रवचसः सत्यापकं प्रकारान्तरं नावैमि इति ॥ २७ ॥

विश्वामित्र—(हँसकर) राजर्षे, यदि आप पणको ही विघ्न मानते हैं तब यह कोई बात नहीं है ।

जनक—(सखेद विचारते हुए छिपाकर) भगवन् आङ्गिरस,

जब कि सीता की विवाह विधिकी कठिनाई को जानते हुए भी यह मुनिवर विश्वामित्र इस तरह कहते हैं तब मेरा मन मोहमें पड जाता है ॥ २६ ॥

वह महादेवका धनुष ही कुछ ऐसा हो जाय, अथवा उसके आरोपण वाला मेरा पण ही शिथिल हो ॥ २८ ॥

---

१ 'सखेद विमृश्यापवार्य च' । २ 'शतानन्द' ।

शतानन्द — [1]शान्तं शान्तम् ।

दुर्लङ्घ्यमैश्वरशरासनमप्रमोच्य-
　　शुल्कग्रहस्त्वमसि सर्वमिदं तथैव ।
किं त्वस्य राघवशिशोः सहजानुभाव-
　　गम्भीरभीषणमतिस्फुटमेव वृत्तम् ॥ २८ ॥

जनक —(मुनिं प्रति ।) भगवन्कौशिक, चिरमपि [2]विकल्पयन्न भवद्गिरामभिधेयमद्यापि निश्चिनोमि ।

शान्तम् शान्तम्—'पणो वा मम जर्जर ' इति मा वादी , त्वादृशस्य सत्यवादिनस्तथा कथनस्यातिनिन्दनीयत्वादित्यर्थ ।

दुर्लङ्घ्यमिति । ईश्वरशरासनम् हरधनु दुर्लङ्घ्यम् दुरारोपम् , त्वम् अप्रमोच्यशुल्कग्रह अपरिहार्यपण असि, न महादेवधनुषो नमन सुकरम् , न वा तव पण बन्धो विहातव्य , उभयमपि यथावस्थितमेव स्थायीति भाव , नन्वेव विश्वामित्र किमिति तथा कथयतीत्यत्राह—किन्त्वस्येति । किन्तु अस्य राघवशिशो रामस्य वृत्तम् वृत्तान्त सहजानुभावगम्भीरभीषणम् अतिस्फुटम् एव, सहजन स्वाभाविकेन अणुभावेन प्रभावातिशयेन गभीर दुर्ज्ञेयम् भीषण च ताडकावधादिरूपम् अतिस्फुटम् एव, अय रामो यत् स्वाभाविकविक्रमेण ताडकादिकान् राक्षसगणानवधीत्तदप्यतिरोहितमेव समेषामतो मुनिकथनमपि शक्यं सत्यता गन्तुमिति भाव । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २८ ॥

चिरमपि विकल्पयन्—बहुकालपर्यन्त विचारयन् । अभिधेयम्—आशयम् वक्तव्यार्थम् । निश्चिनोमि—निर्णयेनावधारयामि । ऐन्दुशेखरम्—शिवसम्बन्धि । कार्मुकम्—चापम् । व्याकरोतु व्याख्याय बोधयतु, मदीयस्य वचस आशय प्रतिपाद्य बोधयतु, रामेण हरचापे कृष्टे मदाशय सुखमवसितो जायेतेत्यर्थ ।

शतानन्द—नहीं, आप ऐसा न कहें, यह महादेवका धनुष इसी तरह दुर्नमनीय बना रहेगा, आपने जो पण प्रकट किया है वह भी ज्यों का त्यों बना रहेगा । जो जैसा है , वह वैसे ही रहेगा यह तो अति स्पष्ट बात है कि इस राघवकुमारमें स्वाभाविक प्रताप तथा गाम्भीर्य विद्यमान है ॥ २८ ॥

जनक—(मुनिके प्रति) भगवन् कौशिक, बहुत देर तक विचारनेके बाद भी मै आपके कथनका अभिप्राय नहीं समझ पा रहा हू ।

---

१ 'शान्तम्' ।　　२ 'विमृशन्न भवद्गिरामद्यापि' ।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) [1]तदुपदर्शय कार्मुकमैन्दुशेखरं रामभद्र एव व्याकरोतु ।

जनकः—([2]सहर्षं स्वगतम् ।) कथमलीकविकल्पैरात्मानं [3]प्रमोहयामि । नन्वयं ममैव [4]कौतुकं पूरयितुमैश्वरं धनुरभ्यर्थयते भगवान् । (जनकं च दृष्ट्वा सविमर्शम् ।) अहह ।

[5]बालेन सम्भाव्यमिदं च[6] कर्म ब्रवीति च प्रत्ययितो महर्षिः ।
इति ध्रुवं मन्त्रयते नृपोऽयं दत्ते किमत्रोत्तरमाकुलोऽस्मि ॥ २९ ॥

जनकः—(मुहूर्तमिव स्थित्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) भगवन्, क्व तादृशं भागधेयमस्माकं येन भगवता विश्वामित्रेण नाथवन्तो वयं

अलीकविकल्पैः—मिथ्यासम्भावनाभिः । प्रमोहयसि संशयं नयसि । कौतुकम्—औत्सुक्यम् । पूरयितुम्—अपनेतुम् । अभ्यर्थयते—आज्ञापयति ॥

बालेनेति । प्रत्ययितः विश्वस्तः महर्षिः इदं हरधनुरारोपणात्मकं च कर्म कार्यं बालेन मया सभाव्यम् ब्रवीति कथयति ? कथमयं विश्वामित्रो हरधनुर्नमनरूपं कार्यममुना बालेन रामेण सम्भाव्यमिति विश्वासमन्तर्निधायेव वक्तीति अयं नृपः ध्रुवं निश्चितं मन्त्रयते विचारयति, तत्प्रसङ्गे नृपोऽयं किमुत्तरं दत्ते ददातीति तत् श्रोतुम् आकुलोऽस्मि । अस्मिन् प्रसङ्गे जनकस्योत्तरं श्रोतुमहमुत्कण्ठे, किमसौ मुनिवचनमनुरुध्य धनुरानेतुमनुमस्यतेऽथवाऽसम्भवं तदारोपणं प्रतीत्य किमप्यन्यदुक्त्वा मुनेर्ध्यानमन्यतो नेष्यतीति ज्ञातुमुत्कोऽस्मि संवृत्त इत्याशयः ॥ २९ ॥

भागधेयम्—भाग्यम् । नाथवन्तः—सनाथाः, तदनुगृहीता इत्यर्थः ।

विश्वामित्र—(हसकर) तब दिखलाइये शिवधनु, रामभद्र ही मेरे कथन की व्याख्या कर देंगे ।

राम—(सहर्ष स्वगत) क्यों मैं व्यर्थके तर्कोंसे अपनेको भुलाता रहूं । यह भगवान् विश्वामित्र स्वयं मेरे कौतुकको पूर्ण करनेके लिये शिवधनु की अभ्यर्थना कर रहे हैं । (जनकको देखकर विचारपूर्वक)

क्या बालकके द्वारा इस कार्यका किया जाना सभावित है ? और यह महर्षि विश्वास पूर्वक कह रहे हैं, निश्चय यह राजा जनक यही बात सोचते हैं, यह इस सबन्धमें क्या उत्तर देते हैं यह जाननेको मैं आकुल हो रहा हूं ॥ २९ ॥

जनक—(थोडी देर रुक कर तथा लम्बी सांस लेकर) भगवन्, हमारे ऐसे भाग्य

---

१ 'तदुपसर्पय कार्मुकं', 'कार्मुकमैन्दुशेखरं दर्शय' । २ 'स्वगतम्', 'स्वगतं सहर्षम्' । ३ 'मोहयामि', 'प्रमोदयामि' । ४ 'कौतूहलम्' । ५ 'वत्सेन' । ६. 'तु' ।

[1]मैथिलीमेतस्मै रघुकुलकुमाराय प्रतिपाद्य चिराय [2]कृतार्थीभवाम ।

(रामो लज्जते ।)

जनकः—कि[3] च भगवन्,

येषां चापसमर्पितत्रिभुवनच्छिद्रापिधानं व्रतं
जातं रोहितमेव केवलमपज्यावन्धमैन्द्रं धनुः ।
तेऽपि प्रेक्ष्य पुरा शरासनमिदं मौर्वीकिणश्यामिका-
कस्तूरीसुरभीकृतानबिभरुर्व्यर्थं भुजान्भूभुजः ॥ ३० ॥

रघुकुलकुमाराय-राघवाय रामाय । प्रतिपाद्य-दत्त्वा । कृतार्थीभवाम -सफलाभिलाषा सम्पद्यामहे ॥

येषामिति । येषां भूभुजाम् चापेषु धनुष्षु समर्पित न्यस्त त्रिभुवनस्य लोकत्रयस्य छिद्रापिधानम् आपत्तिनिराकरणम् एव व्रतम् नियम, (अत एव च) ऐन्द्रं धनु शक्रशरासनम् अपज्यावन्धम् विगतमौर्वीकम् सत् रोहितम् सदा सरलम् एवम् जातम्, ये राजान सर्वदा स्वचापैरव जगत्त्रय प्ररक्ष्य इन्द्रचापाय विश्रान्ति दत्तवन्त इत्यर्थ, तेऽपि भूभुजो राजान पुरा इत पूर्वकाले इदं शाम्भव शरासन प्रेक्ष्य मौर्वीकिणानाम् ज्याघर्षणचिह्नानाम् या श्यामिका कालिमा सैव कस्तूरी मृगमदस्तया सुरभीकृतान् सुगन्धि नीतान् ज्याघातचिह्नप्रख्यातान् अपि भुजान् निजबाहुदण्डान् व्यर्थं निरर्थकम् अबिभरु, इन्द्र स्वसहायतया चिन्तामुक्त कृतवन्तोऽपि राजानोऽत्र शरासने वन्ध्यप्रयासा अजायन्तेति किमर्थं भवानत्र कर्मणि रामं नियोक्तुमिच्छतीति नावगच्छामीति तात्पर्यम् ॥ शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ३० ॥

कहाँ जो आपके आश्रित हम इस राजकुमारके हाथोंमें मैथिलीको सौंपकर चिरकालके लिये कृतार्थता प्राप्त करलें ।

(राम लज्जित होते हैं)

जनक—और देखिये भगवन्, जिनके चापोंपर त्रिभुवनकी रक्षाका भार सौंपकर इन्द्र अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा नहीं चढाते हैं उसे सरल ही रखते है, वह राजागण भी इस हरधनुषको देखकर प्रत्यञ्चा-सवर्षणजनित श्यामिकास्वरूप कस्तूरीसे सुरभित अपने भुजोंको व्यर्थ साबित कर चुके हैं ॥ ३० ॥

---

१ 'एतस्मै रघुकुलकुमाराय सीताम्' । २ 'चारितार्थी-' ।
३ 'किं च' इति क्वचिन्नास्ति ।

विश्वामित्रः—(विहस्य[1] ।) सखे, सीरध्वज, कथं महापुण्यराशिमात्मानमवमन्यसे ।

त्वद्भागधेयमपि नादृशमुत्सवाना-
मेतादृशां वयमपि प्रसमीक्षितारः ।
सन्त्येव [2]विश्वभुवनाभयदानशौण्डाः
क्षोणीभुजः परममी तु न रामभद्रः[3] ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणः—(स्वगतम् ।) कथमुपाध्यायेनैतदभिहितं यदस्मि वक्तुकामः ।

कथं महापुण्यराशिमपि आत्मानमवमन्यसे-पुण्यप्रकर्षशालिनमात्मानं किमर्थं तुच्छं प्रत्येषि, किमिति त्वया रामस्य शम्भुशरासनभङ्गविषये भूयो भूयः सन्देहं प्रकाशयताऽऽत्माऽवमन्यते, पुण्यवानसि यदिह राम आयातो योऽसंशयं धनुरिदं नमयित्वा सीताकरग्रहं च कृत्वा त्वामुदितगौरवं करिष्यतीति भावः ।

त्वद्भागधेयमिति-। त्वद्भागधेयम् तव सौभाग्यम् तादृशम् अस्तीति शेषः वयमपि एतादृशाम् उत्सवानाम् सीताविवाहरूपाणाम् उत्सवानाम् प्रसमीक्षितारो द्रष्टारः समुपस्थिता इति शेषः, (यद्यपि) विश्वभुवनाभयदानशौण्डाः सकललोकभयदूरीकरणसामर्थ्यशालिनः क्षोणीभुजः राजानः सन्त्येव, परं किन्तु अमी भूभुजः तु रामो न, नामीषां भूभुजां पराक्रमो रामपराक्रमसमोऽतो यदि ते राजानो व्यर्थश्रमा अत्र धनुषि समजायन्त तदा रामोऽपि तथा भावीति संशय्यालम्, अतस्तव सौभाग्यमिदं यदेतादृशो जामाता त्वया लभ्योऽस्माकं चेद् सौभाग्यं यदीदृशमुत्सवं साक्षात्कृत्य लोचनं सफलीकरिष्याम इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

उपाध्यायेन गुरुणा विश्वामित्रेण । एतत् अभिहितम्-न सर्वे राजानो रामः इत्युक्तम् । अचिन्त्य -तर्कयितुमशक्यः । मणिमन्त्रौषधीनाम्-यथा लघुकाये मणौ,

---

विश्वामित्र—(हसकर) सखे सीरध्वज, क्यों महापुण्यशाली अपनी आत्माका अपमान करते हो ?

तुम्हारे भाग्य हैं, और हम ऐसे उत्सवके देखने वाले हैं, संसारमें विश्वको अभयदान देने वाले नृप हैं क्यों नहीं, परन्तु वे रामभद्र नहीं हैं ॥ ३१ ॥

लक्ष्मण—(स्वगत) क्यों, जो मैं कहना चाहता था उसे आचार्यने ही कह दिया ।

---

१ 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'भुवनत्रय-' । ३. 'न तु' ।

जनक—भगवन्, सत्यमचिन्त्यो मणिमन्त्रौषधीनामिव रघुकुल-[1]कुटुम्बकानामनुभाव.। परमेतद् ब्रवीमि।

गिरीशेनाराद्धस्त्रिजगदवजैत्रं दिविषदा-
मुपादाय ज्योतिः सरसिरुहजन्मा यदसृजत्।
हृषीकेशो यस्मिन्निषुरजनि मौर्वी फणिपति.
पुरस्तिस्रो लक्ष्यं धनुरिति किमप्यद्भुतमिदम्॥ ३२॥

शतानन्द—आ किमनया पुन पुन पिनाकप्रशस्तिपञ्जिकया। [2]तदेतत्कौशिकमेव प्रमाणयन्तो बहु मन्यामहे। अपि च किमशक्यं रामभद्रस्य।

स्वल्पाक्षरे मन्त्रे, स्वल्पपरिणामे चौषधौ महान् अनुभावस्तिष्ठति, तथैव बाल्यवयस्यि रघुवंश्येऽपि महान् प्रभाव स्थातुमर्हति, इति भाव।

गिरीशेनेति। गिरीशेन शिवेन आराद्ध प्रार्थित सरसिरुहजन्मा कमलयोनि ब्रह्मा दिविषदाम् देवानाम् ज्योति तेज उपादाय समाहृत्य त्रिजगदवजैत्रम् लोकत्रयध्वंसकरम् यत् धनु असृजत निर्मितवान्, यस्मिन् धनुषि हृषीकेशो भगवान् विष्णु इषु शर, फणिपति अनन्तनाग मौर्वी प्रत्यञ्चा, तथा तिस्र पुर असुरनगर्य लक्ष्यम् अजनि, इद धनु तत किमप्यद्भुतम् आश्चर्यंकर वस्तु विद्यत इति शेष। तदेवेदमाश्चर्यंकर धनुर्यस्य स्रष्टा स्वयंस्रष्टा, उपादान सकलदेवतेज, शरो विष्णु, मौर्वी फणिपति, त्रिपुरनगर्यो लक्ष्य विद्यते, अत एवास्य नमन कष्टसाध्यमत एव च मम मन प्रत्ययो न जायत इति भाव, शिखरिणीवृत्तम्॥ ३२॥

आ इति अनास्थाकृते रागे। पिनाकप्रशस्तिपञ्जिकया हरधनु प्रशसापद्धत्या। कौशिक प्रमाणयन्त विश्वामित्रवचने श्रद्धाशालिन। बहु मन्यामहे आदरं कुर्म।

जनक—भगवन्, मणि-मन्त्र तथा ओषधिके प्रभावकी तरह रघुवंशियोंका प्रभाव भी वास्तवमें अचिन्तनीय है, परन्तु मै यह कहता हू—

महादेव की प्रार्थनापर ब्रह्माने त्रिभुवन-विजयी देवोंके तेजको एकत्रित करके जिस धनुषको बनाया, जिसके बाण भगवान् विष्णु, मौर्वी शेषनाग, एव लक्ष्य त्रिपुर बन चुके हैं, ऐसा है यह अद्भुत धनुष॥ ३२॥

शतानन्द—आ, बार बार पिनाककी प्रशसाकी पिटारी खोलनेसे क्या लाभ, हम तो कौशिककी बातको प्रमाण मानकर उसका आदर करते हैं और रामके लिये असभव क्या है?

---

१. 'कडम्बकानाम्'।　　२ 'तदेन कौशिकमेव'।

उत्पादयन्कमपि कौणपकोटिहोमं
तेजोहुताशनसमिन्धनसामिधेनीम् ।
यस्ताडकामकृत [1]बालसखैः पृषत्कै-
रीषज्जय. स्फुटमनेन दशाननोऽपि ।। ३३ ।।

(नेपथ्येऽर्धप्रविष्ट ।)

[2]पुरुष —दशाननपुरोहित [3]शौष्कलो महाराज दिदृक्षते ।

शतानन्दः—(सोद्वेगम् ।) [4]आ , आगच्छतु ।

(पुरुषो निष्क्रान्त ।)

उत्पादयन्निति । य राम किमपि वर्णयितुमशक्यम् कौणपकोटिहोमम् राक्षसकोटिवधहोमम् उत्पादयन् कुर्वन् बालसखे बाल्यावस्थोपयुक्तै पृषत्के बाणै ताडकाम् तेजोहुताशनस्य प्रतापाग्ने समिन्धने प्रज्वालनकर्मणि सामिधेनीम् अग्निप्रज्वालनोपयोगिनीमृचम् अकृत, राक्षसवधहोमे प्रकृते ताडका नाम राक्षसी बाल्यावस्थोचितैर्बाणैरेव हत्वा तयैव स्वप्रतापाग्नि प्रज्वलितमकृतेति भाव , तेन तथाभूतेन रामेणानेन दशानन रावणोऽपि ईषज्जय सुख जेतव्य इत्यर्थ । 'राक्षस कौणप क्रव्यात्', 'पृषत्कबाणविशिखा ', 'ऋक् सामिधेनी धाय्या सा या स्यादग्निसमेधने' इति सर्वत्रामर । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ३३ ॥

दशाननपुरोहित रावणपुरोधा । महाराजम् जनकम् । दिदृक्षते द्रष्टुमिच्छति । तदनुजानन्तु भवन्तस्तत्प्रवेशमिति भाव ।

तेजरूप अग्निको उत्तेजित करनेमे सामधेनी ऋचाके समान इस राक्षस-कोटिहोम रूप कार्यको करके रामने अपने बालकोचित बाणोंसे ताडकाको समाप्त कर दिया, नब राम रावणको आसानीसे जीत लेंगे ॥ ३३ ॥

(नेपथ्यमें अर्धप्रविष्ट होकर)

पुरुष—दशाननके पुरोहित शौष्कल महाराजसे मिलना चाहते हैं ।

शतानन्द—(उद्विग्न होकर) आ , आवें ।

(पुरुष जाता है)

---

१ 'कालसखै' । २ 'पुरुष । पुरुष' ।
३. 'शौष्कलो नाम' । ४ 'आ' इति क्वचिन्नास्ति ।

राम—([1]सव्यथ जनान्तिकम् ।) वत्स लक्ष्मण, कथमन्तरितोऽयमनेन दुरात्मना राक्षसेन [2]कामारिकार्मुकपरिचर्यामहोत्सव ।

लक्ष्मण—आर्य, न केवलमयम्—(इत्यर्धोक्ते हसति ।)

(राम सप्रणयरोषस्मित तमपाङ्गेन पश्यति ।)

(प्रविश्य ।)

[3]**शौष्कल**—(प्रत्येकमवलोक्यात्मगतम् ।) कथमत्रैव जनकशतानन्दाभ्या पुरस्कृतो विश्वेषामस्माकममित्रो[4] विश्वामित्र । (विचिन्त्य ।) तिष्ठतु । कोऽय हस्तदक्षिणेन । (दृष्ट्वा ।) अये, कावेतौ क्षत्त्रियब्रह्मचारिणौ ।

सव्यथम् व्यथा चात्र शौर्यप्रकाशनावसरलाभप्रत्यूहोपस्थित्या बोध्या । अन्तरित व्यवधापित विघ्नितो वा । कामारिकार्मुकपरिचर्यामहोत्सव हरचापारोपणावसरलाभरूपोऽभ्युदयकाल ।

न केवलम्—न केवल महादेवधनुरारोपणमपि प्रत्यूहित पर सीताविवाहावसरोऽपि विलम्बित इति लक्ष्मणस्य परिहासपूर्णो भाषितावशेष ।

अपाङ्गेन पश्यति—कूणितत्रिभागया दृशा वक्ष्यमाणोक्तेर्निवारयितु दृष्ट्या तयेक्षते, पुरस्कृत आदृतो युक्तश्च । विश्वेषाम् अस्माकम् सर्वेषामपि रक्षसाम् । अमित्र शत्रु । कोऽयम्—अयं विश्वामित्र कि कर्त्तुमीशोऽतस्तिष्ठत्वयं किं तया चिन्तयेत्यर्थ । क्षत्त्रिब्रह्मचारिणौ—प्रथमे वयसि स्थितौ क्षत्त्रियकुमारौ एतौ कौ ?

राम—(खेदके साथ, छिपाकर) क्यों इस दुरात्मा राक्षसने शिवकार्मुक-परिचर्या-महोत्सवमें विघ्न कर डाला ।

लक्ष्मण—आर्य, केवल इसीमें नहीं—(आधा कहकर हसते हैं)

(राम रोषसे हसकर इशारे से उन्हें चुप करते हैं)

(प्रवेश करके)

शौष्कल—(प्रत्येकको देखकर स्वगत) क्यों, यहींपर जनक शतानन्दके साथ हम सभोका शत्रु विश्वामित्र भी वर्त्तमान हैं । (सोचकर) रह, यह दाईं ओर कौन है ? (देखकर) अरे, यह दोनों क्षत्रिय-ब्रह्मचारी कौन है ?

---

१. सरोषव्यथम्' ।　　२ त्र्यक्षकाण्डासन–' ।

३ 'शौष्कल' । शौष्कल.' ।　　४ 'अमित्रम्' ।

पुण्यलक्ष्मीकयोः [1]कोऽयमनयो प्रतिभासने।
मौञ्ज्यादिव्यञ्जन शान्तो वीरोपकरणो[2] रसः ॥ ३४ ॥

निसर्गोदग्रमिद[3] च कुमारद्वयम्।

पार्श्वे त्रयाणामेतेषामृक्सामयजुषामिव।
रूपाभ्यां विधिमन्त्राभ्यामथर्वेव प्रदीप्यते ॥ ३५ ॥

(विमृश्य।) आ, ननू स [4]एव लक्ष्मणद्वितीयो रामहतक कौशिकमृषिमनुप्लवमानो [5]मिथिलामुपस्थित। (सक्रोधशोकम्।) हा वत्से

पुण्यलक्ष्मीकयोरिति। पुण्यलक्ष्मीकयो प्रशस्तपावनश्रीसम्पदुपेतयो. अनयो. पुरोदृश्ययो क्षत्रियकुमारयो क अयम् मौञ्ज्यादिव्यञ्जन मौञ्जमेखलावटदण्डादिब्रह्मचारिचिह्नै प्रकाश्यमान वीरोपकरण वीररसपरिपोषित शान्तो रस अस्तीतिशेष, क्षत्रियकुमारयोरनयोर्मौञ्ज्यादिब्रह्मचारिचिह्नै कोऽप्यद्भुत एव वीररसाविष्ट शान्तो रस प्रकाशत इत्यर्थ ॥ अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ ३४ ॥

निसर्गोदग्रम् स्वभावत एव तेजस्वि।

पार्श्वे इति। ऋक्सामयजुषाम् इव ऋग्वेदसामवेदयजुर्वेदकल्पानाञ्च इव एषाम् जनकशतानन्दविश्वामित्राणा त्रयाणाम् पार्श्वे समीपदेशे विधिमन्त्राभ्याम् रूपाभ्या विधि अनुष्ठानम् मन्त्रश्चेति ताभ्या स्वरूपभेदाभ्याम् अथर्वा इव अथर्ववेद इव प्रदीप्यते विद्योतते। कुमारद्वयमिति कर्त्तृपदमध्याहार्यम् ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणद्वितीयो लक्ष्मणेन सहित। रामहतक दुष्टो राम। अनुप्लवमानः अनुगच्छन्। सुकेतुनन्दिनि सुकेतुनामकराक्षसतनये। ईदृशात् शान्तसौम्याकृते।

पवित्र शोभा धारण करनेवाले इन ब्रह्मचारियोंका यह वीरोचित भावना इन मौञ्जा मेखलादि चिह्नोंसे अभिव्यक्त हो रही है ॥ ३४ ॥

यह दोनों कुमार स्वभावत तेजस्वी प्रतीत हो रहे है।

यह दोनों कुमार ऋक्, साम तथा यजुके समान तीनों ऋषियोंके बगलमें विधि मन्त्ररूप दो भागोंमें विभक्त अथर्ववेदकी तरह दीपित हो रहे हैं ॥ ३५ ॥

(विचार करके) आ! निश्चय ही यह लक्ष्मणके साथ अभागा राम होगा, जो कौशिकऋषिके साथ मिथिलामें उपस्थित हुआ है। (क्रोध तथा शोकके साथ) हा वत्से

---

१ 'सोऽयम्'। २ 'वीरोपकरणम्'। ३ 'चेदम्'।
४ 'एष'। ५ मिथिलायाम्'।

सुकेतुनन्दिनि ताडके, कथमीदृशान्मनुष्यडिम्भात्तादृशो दैवदुर्विपाकस्ते[1] संवृत्त । [2]कष्टमनरण्यवशजन्मन' क्षत्रियशिशो[3]रनात्मवेदिता ।

सुन्दासुरेन्द्रसुतशोणितसीधुपान-
दुर्मत्तमार्गणनिरर्गलवीर[4]शब्द ।
द्रोहं चकार दशकण्ठकुटुम्बकेऽपि
सोऽयं वटुः कुशिकनन्दनयज्ञबन्धुः ॥ ३६ ॥

भवतु । द्रष्टव्यमस्य [5]भुजाशौण्डीर्यम् । (उपसृत्य ।) अपि सुखिनो यूय जनकमिश्रा ।

मनुष्यडिम्भात् मानवशिशो । दैवदुर्विपाक दशाविपर्यय (मृत्युरूप) सवृत्त जात । अनरण्यवशजन्मन अनरण्यो नाम रामपूर्वजो राजा, स हि रावणेन पराभूत इति विशिष्य तन्नामोपादानम् । अनात्मवेदिता स्वरूपपरिचय-विरह, यस्य पूर्वजो रावणेन पराभूतस्तस्य तद्वश्यजनवधप्रवृत्तिरनात्मवदिता व्यञ्जयति, स एवात्र खेदविषय ।

सुन्दासुरन्द्रान स अयम् कुशिकनन्दनस्य विश्वामित्रस्य यज्ञबन्धु यज्ञरक्षा-सम्पादनसहाय. वटु बालको राम सुन्दो नामासुरेन्द्रो राक्षसराजस्तस्य सुत सुबाहुर्नाम तस्य शोणितम् सीधु मद्य तत्पानेन (सुबाहुशोणितपानेन) दुर्मत्त अतिमत्ता ये मार्गणा बाणा तै निरर्गल अप्रतिबद्ध वीरशब्द विजयप्रशस्ति-यस्य तादृश सन् सुबाहुवधेन वीरगणना प्राप्त सन् दशकण्ठकुटुम्बके रावण-परिवारजनेऽपि द्रोह वधप्रवृत्ति चकार । सुबाहुवधदृसेनानेन वटुना रावणबन्धवोऽपि व्यापादिता इत्यहो साहसिक्यमिति भाव' । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ३६ ॥

भुजाशौण्डीर्यम् बाहुपराक्रम ।

'जनकमिश्रा ' अत्र मिश्रपदं बहुवचन चादराभिव्यञ्जनाय ।

सुकेतुतनये ताडके, इस मनुष्यके बच्चेसे तुम्हारी यह दशा कैसे हो गई ? अनरण्यके वशमें उत्पन्न क्षत्रियकुमारकी इतनी अनात्मज्ञता !!

सुन्द नामक राक्षसराजके पुत्र सुबाहुके शोणितपानसे अप्रतिहत वीरशब्दका भाजन इस बटुकने विश्वामित्रकी यज्ञरक्षा-प्रसङ्गमें दशकण्ठके परिवारके ऊपरभी द्रोह प्रारम्भ कर दिया ॥ ३६ ॥

अस्तु—इसके बाहुवीर्यको देखेंगे । (समीप आकर) आप जनक तो सानन्द है ?

---

१ 'विपाकोऽय त वृत्त ' । २ 'अनरण्यजन्मन.' । ३ 'बटो.' ।
४ 'गर्व.' । ५ 'भुजाशौटीर्यम्' ।

जनक—स्वागतं पौलस्त्यपुरोहितस्य । इत आस्यताम् ।

(शौष्कलस्तथा करोति ।)

जनकः—[1]अपि कुशलं ते[2] राज्ञो रावणस्य । अथवा ।

विपदां प्रतिकर्तारो यस्योपायैरथर्वभिः ।
त्वादृशाः सन्ति किं तस्य कल्याणमनुयुज्यते ॥ ३७ ॥

शौष्कलः—(विहस्य ।) श्रोत्रिय[3] सीरध्वज, [4]प्रत्याकरिष्यामैव वयं यदि स्वभुजमण्डलीमत्तवार[5]णावलीवलयितोरःप्रासादसुस्थितचतुर्दश[6]लोकलक्ष्मीमहान्तःपुरे [7]लङ्कापतौ किमपि [8]प्रतिकार्यमभविष्यत् । पश्य ।

विपदामिति । त्वादृशाः त्वत्समानाः पुरोधसो यस्य रावणस्य विपदाम् अथर्वभिः अथर्ववेदप्रदर्शितैः मारणवशीकरणादिभिः उपायैः प्रतिकर्त्तारः प्रतिकारपरायणाः सन्ति, तस्य कल्याणं कुशलं किम् अनुयुज्यते पृच्छ्यते ? नित्यकुशला एव तादृशा जना येषां त्वादृशा अथर्ववेदोक्तोपचारविद्याकुशलाः पुरोहिताः स्युरतस्तत्कुशलप्रश्नो वृथेति भावः ॥ ३७ ॥

श्रोत्रिय वेदाध्यायिन्, राज्ञ इदं सम्बोधनं वीरत्वाभावव्यञ्जनयोपहासपरम्, प्रत्यकरिष्याम प्रतिकारं सम्पादयिष्याम स्वभुजमण्डली निजबाहुपरम्परा एव मत्तवारणावली गजसमूहस्तया वलयितं वेष्टितं यदुरःस्थलं हृदयं तत्र प्रासादे सुस्थिता या चतुर्दशलोकलक्ष्मीर्विश्वविजयसम्पत्तस्या महान्तःपुरे निवासे किमपि

जनक—पौलस्त्यवंशके पुरोहितका स्वागत है, इधर बैठिये ।

(शौष्कल वैसा करता है)

जनक—आपके राजा रावण प्रसन्न है तो ? अथवा—

जिनकी विपत्तियोंके लिए अथर्वोक्त-प्रकारोंसे आपके समान विद्वान् प्रतिकर्ता सुलभ हों उनके कल्याणके सम्बन्धमें क्या पूछना है ? ॥ ३७ ॥

शौष्कल—क्षत्रिय सीरध्वज, हम तो प्रतिकार करते ही यदि अपने बाहुगणरूप मत्तवारणोंसे वेष्टित प्रासादरूप अन्तःपुरमें चतुर्दश लोककी लक्ष्मीको स्थिर भावसे निवासित करनेवाले रावणके सम्बन्धमें कुछ प्रतिकारके योग्य होता ।

---

१ 'कच्चित्' । २. 'राज्ञस्ते' । ३. 'महाक्षत्रिय श्रोत्रिय', 'महाक्षत्रिय' ।
४. 'प्रत्यकरिष्याम' । ५. वारणवलयितोर –' । ६ 'भुवन' ।
७. 'लङ्काधिपतौ' । ८. 'प्रतिकर्तव्यम्' ।

यच्चेष्टा [1]समनीकसीमनि परित्रस्तः पराञ्चन्नपि
　　प्रत्यक्षीकुरुते सहस्रनयनः पृष्ठोद्भवैरक्षिभिः ।
चक्रे वर्त्म च नागलोकजयिनीं यात्रामिव प्रस्तुव-
　　न्यः कैलासमुदस्य कीदृशम[2]पादानं तु तस्यापदाम् ॥३८॥

लक्ष्मणः—(सामर्षं जनान्तिकम् ।) आर्य, [3]कथमसौ सहस्रार्जुन-वालिभ्यामवलीढशौर्यसारो दुरात्मा रावणः प्रस्तूयते ।

रामः—वत्स, न वक्तव्यमिदम्[4] । महान्तो हि[5] तादृशाः । किं च ।

प्रतिकार्यम् अनिष्टम् । अनिष्टोदयाभावेन प्रतिकारविधिं विनैव रावणो नित्यकुशल इति भावः ।

यच्चेष्टा इति । समनीकसीमनि युद्धक्षेत्रे परित्रस्तः भीतः अत एव च पराञ्चन् पराङ्मुखत्वं गतः अपि सहस्रनयनः इन्द्रः यच्चेष्टा यस्य रावणस्य सङ्ग्रामव्यापारान् पृष्ठोद्भवैः पृष्ठदेशस्थितैः अक्षिभिः प्रत्यक्षीकुरुते विलोकयति, यस्य युद्धे इन्द्रोऽपि पराजयं प्रपद्यत इत्यर्थः । यश्च नागलोकजयिनीम् पातालविजयसाधनीम् यात्राम् प्रयाणमिव प्रस्तुवन् कर्त्तुमुद्दिशन् कैलासं नाम पर्वतम् उदस्य उत्खाय वर्त्म नागलोकमार्गं चक्रे, तस्य आपदाम् अपादानं किम् ? कुतस्तस्य भयसम्भावना यो देवाधिपमपि विजिग्ये कैलासं चोदतोलयदित्यर्थः । एवं च भयकारणानुपलब्ध्या तत्प्रतिकारस्यावश्यकतैव नोपस्थिता भवति, 'यदि न च भयमभविष्यत्तदा प्रत्यकरिष्यामेवेति पूर्णमुत्तरम् 'अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३८ ॥

सहस्रार्जुनवालिभ्याम् कार्त्तवीर्येण वालिना च । अवलीढशौर्यसारः शमितबलगर्वः । तौ हि रावणम् विजित्यावमत्य च तद्भुजवीर्यं चुलुकीचक्रतुः, न वक्तव्यमिदम् रावणनिन्दा न कार्या ।

लडाईके मैदानमें जिसकी चेष्टाओंको भागते हुए इन्द्र पृष्ठदेशवर्त्ती नयनोंसे देखा करते हैं, जिसने कैलास पर्वत उठाकर मानों नागलोककी विजययात्रा सी कर दी थी, उस रावणको कहाँसे भय हो सकता है ? ॥ ३८ ॥

लक्ष्मण—(क्रोधपूर्वक, छिपाकर) सहस्रार्जुन तथा वालिद्वारा जिसका भुजबल खर्व कर दिया उस रावणका प्रसङ्ग क्यों लाया जा रहा है ?

---

१ 'स समीक-' ।　　२ 'उपादानम्' ।
३. 'अपि कथमसौ बलिसहस्रभुजार्जुनाभ्याम्' ।　　४. 'एवम्' ।　　५ 'अपि' ।

स्यातां नाम कपीन्द्रहैहयपती तस्यावगाढान्तर-
स्थामानौ दशकन्धरस्य महती स्कन्धप्रतिष्ठा पुनः।
सद्य पाटितकण्ठकीकसकणाकीर्णा यदंसस्थलीः
स्वेनेभाजिनपल्लवेन मुदितः प्रास्फोटयद् धूर्जटिः ॥३९॥

अपि च—

मघोनस्तद् घोरं कुलिशमलसीकृत्य समरे
भुनक्ति स्वाराज्यं त्रिभुवनभटोऽयं दशमुखः।

स्यातामिति। कपीन्द्रो वानरराजो बाली हैहयपति कार्त्तवीर्यश्च तस्य रावणस्य अवगाढम् अवगतम् अन्तरस्थाम आन्तर बल याभ्या तथाभूतौ स्यातान्नाम, पुन किन्तु दशकन्धरस्य रावणस्य स्कन्धप्रतिष्ठा कायिकबलस्तुति महती भूयसी। ज्ञायता रावणस्यान्तर बल बालिसहस्रार्जुनाभ्या तथापि रावणस्य कायिक बलमतितरां प्रसिद्धमस्तीति भाव। तत्र कारणमाह—सद्य इति। मुदित रावणस्य भक्त्या प्रसन्न सन् धूर्जटि शिव स्वेन आत्मसबन्धिना इभाजिनपल्लवेन गज-चर्माञ्चलेन सद्य पाटितानाम् तत्क्षणकृत्तसमर्पितानाम् कण्ठाना नवाना शिर-स्थानानाम् कीकसकणै क्षुद्रास्थिखण्डै आकीर्णा व्याप्ता यदसस्थलीर्यस्य रावणस्य स्कन्धदेशान् प्रास्फोटयत् वीजयतिस्म। कपीन्द्रहैहयपती रावणस्य पराक्रम पराबभूवतुरिति पुराणी कथा स्यान्नाम, तथापि रावणस्य कायबलप्रतिष्ठा न क्षोदीयसी यतो रावणेन छित्त्वा समर्पितेषु स्वेषु नवसु शिरस्सु कीकसकणाकीर्णास्तदसदेशान् प्रमुदित शिव स्वोत्तरीयभूतगजचर्माञ्चलेन वीजयतिस्म, एतादृशे वीरे भक्ते च रावणे कदाचित्ताभ्या जितेऽपि तस्य न किमपि हीयते इति भाव। 'रूपादिपञ्चके स्कन्ध कायेऽसे भूपतावपी'ति, 'कीकस कुल्यमस्थि च' इत्युभयत्र विश्वामरौ। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३९ ॥

मघोन इति। त्रिभुवनभट त्रिलोकैकवीरोऽय दशमुख समरे युद्धे तत् प्रसिद्ध-

---

राम—वत्स, ऐसा नही कहना चाहिये। वह महान् है, और वालि तथा सहस्रार्जुन रावणके भुजवीर्यके ज्ञाता भले ही रहे हों, किन्तु फिर भी दशकन्धरके स्कन्धकी बडी प्रतिष्ठा है। तत्काल छिन्न रावणके शिरको जिनपर रुधिर तथा अस्थिखण्ड बिखरे पडे थे, भगवान् शङ्करने स्वय अपने गजचर्मसे वीजित कर दिया था ॥ ३९ ॥

इन्द्रके भयङ्कर वज्रको युद्धक्षेत्रमें मन्द बनाकर यह रावण त्रिभुवन-वीर कहाकर

श्रियो नानास्थानभ्रमणरमणीयां चपलता-
मवच्छिद्य स्वस्मिन्नपि भुजवने पूरयति य. ॥ ४० ॥

[1]जनकः—(शौष्कल प्रति ।) ब्रह्मन्, सत्यमीदृशो[2] राक्षसराज ।

शौष्कल —राजर्षे जनक,

संतुष्टे तिसृणां पुरामपि रिपौ कण्डूलदोर्मण्डली-
[3]क्रीडाकृत्तपुन.प्ररूढशिरसो वीरस्य लिप्सोर्वरम् ।
याच्ञादैन्यपराञ्चि यस्य कलहायन्ते मिथस्त्वं वृणु
त्वं वृणिवत्यभितो मुखानि स दशग्रीव कथ [4]वर्ण्यताम् ॥४१॥

पराक्रम घोर भीषणञ्च मघोन इन्द्रस्य कुलिश वज्रम् अलर्मीकृत्य निश्चेष्टता प्रापय्य स्वाराज्यं स्वर्गराज्य भुनक्ति भुङ्क्ते पालयति । अपि च य रावण श्रियो लक्ष्म्या नानास्थानेषु भिन्नभिन्नस्थलेषु भ्रमणेन सचरणेन रमणीया चपलता चञ्चलताम् अवच्छिद्य दूरीकृत्य स्वस्मिन् निजे भुजवने बाहुसमुदाय पूरयति स्थापयति । अय हि रावणो मघोनो वज्र व्यर्थीकृत्य स्वर्गाधिपत्वमाप्य च लक्ष्म्याश्चञ्चलता दूरीकृत्य ता भुजवने स्वकीये स्थिरीकरोतीत्यर्थ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४० ॥

सन्तुष्ट इति । तिसृणा पुराम् त्रयाणा राक्षसनगराणा रिपौ सहर्त्तरि शिवे सन्तुष्टेऽपि आराधनप्रसन्नेऽपि कण्डूला रणकण्डूशालिनी या दोर्मण्डली भुजसमुदायस्तस्या क्रीडया विलासेन कृत्तानि छिन्नानि पुन प्ररूढानि च शिरासि च यस्य तथाभूतस्य वर प्रार्थनीयम् लिप्सो लब्धुमिच्छोर्यस्य रावणस्य मुखानि दशाप्याननानि याच्ञादैन्येन याचनाकृतलाघवभयेन पराञ्चि याचनाविमुखानि भूत्वा 'त्व वृणु त्व वृणु' इति प्रकारेण परस्पर कलहायन्ते विवाद कुर्वते, स रावण

स्वर्गराज्यका भोग करता है, और लक्ष्मीकी नानास्थल-भ्रमण चपलता-दोषको दूर करके उसे अपने बाहुओंमें स्थिर रूपमें निवामित करता है ॥ ४० ॥

जनक—(शौष्कलसे) ब्राह्मण, सत्य ही रावण ऐसे हैं ।

शौष्कल—राजर्षे जनक, त्रिपुरारि शिवके प्रसन्न हो जानेपर भी खुजलाहटधारी भुजोंने जब अनायास सभी सिर काट दिये, रावण वर प्राप्त करना चाहता भी था, परन्तु याचनादैन्य-विमुख उसके सभी मुख 'तुम माँगो तुम माँगो' कहकर आपसमें झगडने लगे, उस रावणका क्या वर्णन किया जाय ? ॥ ४१ ॥

---

१ 'शतानन्द.' । २ 'ईदृशोऽयम्' ।
३ 'लीलालून–' । ४ 'कथ्यताम्' ।

सोऽपि ।

कन्यामयोनिजन्मानं वरीतुं प्रजिघाय माम् ।
पुरोधसा गौतमेन गुप्तस्य भवतो गृहान् ॥ ४२ ॥

विश्वामित्रः—सखे सीरध्वज, [1]पश्य पिनाकदर्शनोल्लासिकाविसष्ठुलचित्तवृत्तिरिव वत्सो रामभद्र ।

जनक—(विहस्य ।)

किमेतदेव[2] भगवन्नभिधीयें पुनस्तराम् ।

कथ केन प्रकारेण वर्ण्यताम् स्तूयताम् ? यस्य प्रसन्नेऽपि वरिवस्यया हरं भुजवनक्रीडया च्छिन्नप्ररूढशिरसो रावणस्य मुखानि याचितुमनीहमानानि सन्ति 'त्व वृणु त्व वृणु' इत्येव परस्पर नियुञ्जानानि कलहायन्ते, स रावण कै· शब्दै प्रशस्यताम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४१ ॥

कन्यामिति । यस्य रावणस्य मुखानि शिवादपि सन्तुष्टाद्वर याचितु पराञ्चि समजनिषत, स रावणोऽपि गौतमेन तदाख्येन पुरोधसा पुरोहितेन गुप्तस्य कृतरक्षस्य भवतो जनकस्य गृहान् अयोनिजन्मानम् अगर्भसम्भवा सीता नाम कन्या वरीतु याचितु माम स्वपुरोहित प्रजिघाय प्रेषयत् । यस्य हि रावणस्य वरप्रदानोद्यताच्छिवादपि याचनाया सङ्कोचस्तस्यैव त्वद्गृह प्रति कन्या याचितु मम प्रेषण तदिच्छापूर्त्तेरविचार्य कर्त्तव्यत्वमाहेति तदाशय ॥ ४२ ॥

पिनाकस्य हरधनुष दर्शनाय या उल्लासिका उत्सुकता तया विसष्ठुला चला चित्तवृत्ति मनोभावो यस्य तथाभूत, चाप द्रष्टु चलन्मना राम इति पश्येति– क्रियाया वाक्यार्थ कर्म ।

किमेतदेवेति । हे भगवन् सर्वसामर्थ्ययुक्त, एतदेव पूर्वोक्तमेव वचन पुनस्तराम् भूयोभूय· किम् किमर्थम् अभिधीये, एकमेव वचन पुन पुन किमर्थं त्व मामात्थेति-

---

उस रावणने भी—

आपसे आपकी अयोनिजा कन्या सीताकी याचना करनेके लिए मुझे खुद भेजा है पुरोधा गौतमसे परिपालित आपके घरपर ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र—सखे सीरध्वज, पिनाक दर्शनकी उत्सुकतासे वत्स रामभद्रकी मनोवृत्ति चञ्चल हो रहा है ।

जनक—(हसकर) भगवन् , वारम्बार मुझे यह आप क्यो कह रहे हैं, हम तथा

---

१ पश्य पश्य' । २. 'एवम्' ।

इक्ष्वाकवो विदेहाश्च परवन्तस्त्वया वयम् ॥ ४३ ॥

शौष्कलः—भोः सीरध्वज, [1]किमिदमस्माकमाकाशवचनम्, उत दुष्परिच्छेद्य एवायमर्थः। यदुत्तरमपि न प्रतिपद्यसे। [2]पश्य।

दातव्येयमवश्यमेव दुहिता कस्मैचिदेनामसौ
[3]दोर्लीलामसृणीकृतत्रिभुवनो [4]लङ्कापतिर्याचते।
तत्किं मूढवदीक्षसे ननु [5]कथागोष्ठीषु नः शासति
त्वद्वृत्तानि परोरजांसि मुनयः प्राच्या मरीच्यादयः ॥४४॥

भावः, तथा कथनस्यायुक्तत्वं प्रमाणयति—इक्ष्वाकव इति। इक्ष्वाकवो रघुवंश्या विदेहा जनकाश्च त्वया परवन्तः त्वदधीनाः तथा च त्वदादेशस्यावश्यपालनीयत्वे पुनरभिधानं निष्फलमिति ॥ ४३ ॥

आकाशभाषितम् शून्यदेशे कथनम्, यस्य कोऽपि श्रोता न स्यात्, किमिति कोऽपि मदुक्तं नाकर्णयतीत्यर्थः। दुष्परिच्छेद्यः क्लेशबोध्यः। प्रतिपद्यसे ददासि।

दातव्येति। इदम् प्रक्रान्तपाणिग्रहणा कन्या कस्मैचित् वराय अवश्यम् एव देया वैवाहिकविधिनाऽर्पणीया, नतु स्वगृहे रक्षणीया, एनाम् कन्या दोः क्रीडया भुजविलसितेन मसृणीकृतत्रिभुवनः सरलीकृतत्रिलोकः लङ्कापतिः रावणो याचते प्रार्थयते, तत् तदा अवश्यदातव्यवस्तुप्रार्थितया त्रिभुवनैकवीरे रावणे समुपस्थिते मूढवत् किङ्कर्त्तव्यविमूढलोक इव ईक्षसे इतस्ततः पश्यसि? ईदृशे प्रसङ्गे सौभाग्योपनतेन किमपि विचारणीयं किन्तु सद्यः कर्त्तव्यमवधारणीयमिति तदाशयः। ननु बुद्धिमानेव सद्यः कर्त्तव्यं स्थिरयति न साधारणो लोकस्तत्कथमहं झटिति कर्त्तव्यमवधारयेयं तत्राह—नः अस्माकं कथागोष्ठीषु विश्वस्तकथाप्रसङ्गेषु प्राच्या

इक्ष्वाकु दोनों ही आपके वशवर्त्ती हैं ॥ ४३ ॥

शौष्कल—अजी सीरध्वज, क्या यह मेरा वचन आकाशभाषित है, अथवा यह विषय नितान्त अविचारणीय ही है कि आप कुछ उत्तर नहीं देते। देखिये—

यह कन्या निश्चय किसीको दान करनी है, फिर इसे अपने भुजवीर्यसे त्रिभुवनको मशक समान सिद्ध कर देनेवाले रावण जब माँग रहे हैं, तब आप किङ्कर्त्तव्यविमूढकी तरह क्या देख रहे हैं? हम लोगोंकी कथा-गोष्ठीमें प्राचीन मरीचि आदि ऋषिगण आपके रजस्तमोऽतिवर्त्ती वृत्तान्तोंकी चर्चा किया करते हैं ॥ ४४ ॥

१. 'किमस्माकम्'। २ 'पश्य पश्य'।
३ 'दोः क्रीडा', 'दोः क्रीडामशकीकृत–'। ४ 'लङ्काधिप'। ५ 'तथा'।

शतानन्द·—ब्रह्मन्, चिराय दत्तमेवोत्तरमस्माभि ।

शौष्कल·—[1]हन्त, राजपुत्रीसमर्पणादन्यत्कीदृश तत् ।

शतानन्दः—शृणु ।

शाम्भवं चापमारोप्य योऽस्मानानन्दयिष्यति ।
पूर्णपात्रमियं तस्मै मैथिली [2]कल्पयिष्यते ॥ ४५ ॥

शौष्कल —(विहस्य ।) [3]शान्तम् । अहह युष्माकमप्यमून्यक्षराणि ।

आद्या मुनयो मरीच्यादयो नाम परोरजासि रजोगुणमतीत्य समवस्थितानि त्वद्वृत्तानि तवाख्यानानि शासति कथयन्ति । प्राच्यमुनिमरीच्यादिस्तुतवृत्ततया तव प्रसिद्ध एव विवेकस्तदविलम्बमुत्तर प्रतिपद्यस्व स्वीकारात्मकमलं मूढवदवस्थायेति भाव ॥ ४४ ॥

चिराय बहुकालात्पूर्वम् ।

राजपुत्रीसमर्पणात् सीताप्रदानात् । नात्र वाक्यात्मकमुत्तरमपेक्ष्यते, किन्तु सीताप्रदानात्मकक्रियारूपमेवोत्तरमपेक्ष्यते इति तदाशय ।

शाम्भवमिति य शाम्भव हरसम्बन्धि चापम् धनु आरोप्य सज्य कृत्वा अस्मान् कन्यापक्षगतान् पित्रादीन् आनन्दयिष्यति प्रतिज्ञापूर्त्तिसम्भवानन्दभाज करिष्यति, इय मैथिली सीता तस्मै हरचापारोपणयशस्विने पुरुषाय पूर्णपात्र पारितोषिकदक्षिणारूप कल्पयिष्यते समर्पयिष्यते । इदमेव निश्चितमुत्तरमिति भाव ॥ ४५ ॥

अहह ! इति असम्भावितोत्तरश्रवणजन्योपहासे । युष्माकमप्यमून्यक्षराणि यूयं सर्वविषयकज्ञानवन्तोऽपीत्थ ब्रूथ, न भवद्भिरिद वाच्यमित्यर्थ· ।

शतानन्द—ब्रह्मन्, सदाके लिए हमने उत्तर दे दिया है ।

शौष्कल—हाय, राजपुत्रीके समर्पणके अतिरिक्त क्या उत्तर हो ही सकता है ?

शतानन्द—सुनिये—

महादेवके धनुषको आरोपित करके जो हमें आनन्दित करेगा, पूर्णपात्र स्वरूप यह मैथिली उसीकी दक्षिणा बनेगी ॥ ४५ ॥

शौष्कल—(हसकर) शान्त रहिये अहा ! आप भी इस तरहकी बात करते हैं ?

१· 'हुम्' । २ 'कल्पयिष्यति' । ३ 'शान्त शान्तम्' ।

तेनाङ्गुलीशतनिघृष्टकुबेरशैल-
कण्ठोक्तदो कुलिशकन्दलविक्रमेण ।
माहेश्वरेण महता दशकन्धरेण
[1]कर्मेदृशं कथमनार्यमधिक्रियेत ॥ ४६ ॥

शतानन्दः—(विहस्य ।) ब्रह्मन्,

अयं महाक्षत्रियगोत्रजन्मा दृढप्रतिज्ञो जनकाधिराजः ।
न चापमारोपयिता दशास्यस्तथापि जानासि यदुत्तरं नः ॥ ४७ ॥

तेनाङ्गुलीशतेति । अङ्गुलीना शतेन विशतिहस्तैस्तावतीभिरङ्गुलीभिर्निघृष्ट· चालित य कुबेरशैल कैलास तेन कण्ठोक्त स्पष्टमाख्यात कुलिशकन्दलविक्रम वज्रपराक्रमो यस्य तेन तथोक्तेन अङ्गुलीशतसचालितकैलासप्रख्यापितपराक्रमातिशयेन तेन महता प्रसिद्धेन माहेश्वरेण शिवभक्तेन दशकन्धरेण रावणेन ईदृश कर्म स्वाराध्यशिवधनुर्भञ्जनात्मक कुकृत्य कथ केन प्रकारेण अधिक्रियेत सम्पादयितुमारभ्येत इष्येत वा ? नहि रावण स्वाराध्यस्य हरस्य चापमारोपयितुमुद्यतो भविष्यति, वीरता तु तस्य कैलासचालनप्रख्याता एव, अतस्तस्य वीरताख्यापनबुद्ध्याऽप्यत्र कर्मणि प्रवृत्तिर्न सम्भविनीति भाव ॥ ४६ ॥

अयमिति । अय जनकाधिराज महाक्षत्रियगोत्रजन्मा महति क्षत्रियवशे समुत्पन्न , दृढप्रतिज्ञश्च अमिथ्याभाषी च, तथा चास्य पक्षे विचारपरिवर्त्तनमशक्यमिति । एव दशास्यो रावणोऽपि महामाहेश्वरतया चाप हरधनुर्नारोपयिता नारोपयिष्यति, सोऽपि स्वसिद्धान्तात् च्यावयितु न शक्यते, तथा सति न अस्माकम् अत्र प्रसङ्गे यदुत्तर तत् जानासि अपि । चापारोपणमात्रलभ्याया सीतायास्तदुपायमात्रलभ्यत्वमिति भाव ॥ ४७ ॥

अपनी सौ अङ्गुलियासे सञ्चालित कैलास पर्वतके द्वारा जिस रावणने अपने वज्रोपम भुजोंके पराक्रमको स्पष्ट बता दिया है, वह महामाहेश्वर दशकण्ठ भला इस तरहका जघन्य कार्य किस प्रकार कर सकेगा ? ॥ ४६ ॥

शतानन्द—(हसकर) ब्रह्मन्,

यह महाक्षत्रिय वश-सजात जनकराज की दृढप्रतिज्ञा है, और माहेश्वर होनेके कारण रावण चापारोपण नहीं करेंगे, फिर आपही समझ सकते हैं कि इस विषयमें हमारा क्या उत्तर हो सकता है ? ॥ ४७ ॥

१ कर्मेदमीदृशमनार्य–'।

शौष्कल —(सहासम् ।)

अङ्गिराश्च पुलस्त्यश्च प्रसवौ परमेष्ठिनः ।
पौलस्त्ये [1]ज्ञातिधर्मोऽयं तत्किमाङ्गिरसस्य ते ॥ ४८ ॥

([2]सामर्षम् ।)

माहेश्वरो दशग्रीव क्षुद्राश्चान्ये महीभुज ।
पिनाकारोपणं शुल्कं हा सीते किं भविष्यसि ॥ ४९ ॥

शतानन्द —([3]सरोषव्यथम् ।) ब्रह्मन्, [4]एवमनेन धनुषा किमपि विनयाधि[5]कारिकमध्याप्यते । यदद्य [6]परममाहेश्वरस्ते रावणोऽपि संवृत्त ।

अङ्गिरा इति । अङ्गिरा नाम मुनि गौतमस्य पिता शतानन्दस्य पितामह, पुलस्त्य रावणस्य पितामहश्च तावेतौ परमेष्ठिन ब्रह्मण प्रसवौ पुत्रौ, तत् तस्मात् पौलस्त्ये रावणे ते तव शतानन्दस्य अयं ज्ञातिधर्म विद्वेष किम् ? समानकुलयोर्वैरस्य प्रसिद्धतया त्वमपि स्वगोत्रे रावणे विद्वेषमाचरसीति भाव ॥ ४८ ॥

माहेश्वर इति । दशग्रीवो रावण माहेश्वर शिवभक्त (अत एवासौ हरचापारोपण कृत्वा त्वा न वरीष्यति) अन्ये च महीभुज नृपतय क्षुद्रा, तुच्छा, (अत एव तेषामपि हरचापारोपणे साफल्यमसम्भवम्) ननु विनैव चापारोपणं सीता यस्मै कस्मै चिद्वराय दास्यत इति चेत्तत्राह—पिनाकेति पिनाकारोपण हरचापनमन शुल्क सीतापरिणये पण अस्या स्थितौ हा सीते, किं भविष्यसि ? का तव दशा भविष्यतीति न जाने इत्यर्थ ॥ ४९ ॥

विनयाधिकारिकम् नम्रत्वम् । अध्याप्यते शिक्ष्यते । परममाहेश्वर अतिशिवभक्त । अस्य नमनमसम्भव सम्भाव्य स्वाशक्तिगोपनायैव रावणस्यायमुद्यमो न वास्तवमेवासौ शिवभक्त इति काकु ।

शौष्कल—(हसकर) अङ्गिरा और पुलस्त्य ब्रह्माके पुत्र हैं, क्या आङ्गिरस होनेके कारण आप रावणसे दायादका धर्म निभा रहे हैं ? ॥ ४८ ॥

(क्रोधसे) रावण माहेश्वर है, अन्य राजगण क्षुद्र ही है, पिनाकका आरोपण पण बना ही है, हाय, सीते न जाने तुम्हारा क्या होगा ? ॥ ४९ ॥

शतानन्द—(क्रोध तथा खेदके साथ) ब्रह्मन्, इस प्रकार यह धनुष लोगोंको विनयकी शिक्षा दे रहा है । जिससे तुम्हारे रावण भी आज माहेश्वर बन गये हैं ।

---

१ 'जाति-' । २ 'सामर्षमाकाशे कर्णं दत्त्वा सहासम्' । ३. 'सरोषावहित्थम्' । ४ किमनेन' । ५. 'कारिका कारिकामध्या-' । ६. 'ते रावणोऽपि परममाहेश्वर' ।

शम्भोराधारमचलमुत्क्षेप्तुं भुजकौतुकी।
माहेश्वरो धनुः कष्टमहो ते दशकन्धरः॥ ५०॥

(शौष्कलवर्जमन्ये[१] स्मयन्ते।)

शतानन्दः—(सरोषावहित्थम्।) [२]रामभद्र,

तदेतदारोपय [३]चापमीशप्रकोष्ठभस्मप्रतिरूषितज्यम्।
शौर्योष्मभाजां भजतां मुखानि स्वबाहुमौर्वीकिणकालिकैव॥ ५१॥

शम्भोरिति शम्भोः शिवस्याधारमचलं निवासभूतं पर्वतं कैलासमुत्क्षेप्तुं सर्वात्मनोत्पाट्य चालयितुं भुजकौतुकी बाहूत्कण्ठाशाली ते दशकन्धरो रावणः अहो आश्चर्यम् धनुः कष्टुम् माहेश्वरः धनुर्नमयितुं माहेश्वरः माहेश्वरः शिवभक्तः जातः इति शेषः। यो हि तव रावणः शिवस्यावासभूतं कैलासाचलं चालयितुमुत्कण्ठितेऽस्म, तस्य शैवधनुर्नमने भक्त्या पराङ्मुखत्वम याश्चर्यकरमिति। तद्विय तदीया प्रतारणाऽत्र न सम्भवदवकाशेति भावः॥ ५०॥

तदेतदिति। ततः तस्मात् अवसरप्रतीक्षाया व्यर्थत्वात् ईशस्य शिवस्य प्रकोष्ठे मणिबन्धोपरितनहस्तभागे यद् भस्म विभूतिः तेन प्रतिरूपिता मलिनीकृता रञ्जिता ज्या मौर्वी यस्य तादृशम् एतत् चापम् धनुरारोपय नमय। शौर्योष्मभाजाम् बाहुबलगर्वशालिनाम् स्वबाहुमौर्वीकिणकालिका निजकरस्थज्याघातचिह्नकालिमा मुखानि तदीयवदनानि भजताम् प्राप्नोति। ज्याघातकालिमा मुखे प्रतिभासताम्, त्वयि धनुर्नमितवति व्यर्थमेव भुजवीर्यगर्वेण विकत्थमाना मलिनमुखा जायन्तामिति भावः॥ ५१॥

आपके जिस रावणने महादेवके निवास पर्वत कैलासको चला दिया और अपने भुजोंकी उत्सुकता निवृत्त की, वही रावण आज शिवचापारोपणमें माहेश्वर बन रहा है॥ ५०॥

(शौष्कलके अतिरिक्त सभी मुस्कुराते हैं)

शतानन्द—(कोप तथा अवहित्थाके साथ) रामभद्र,

महादेवके बाहुका भस्म जिसकी प्रत्यञ्चाको रूपित बना चुका है ऐसे इसको आरोपित करो, बाहुकी पराक्रमशीलताके कारण गर्व रखनेवालोंके मुखको उनके बाहुमें वर्तमान मौर्वी किणका कालिमा प्राप्त करले॥ ५१॥

---

१ 'इतरे'।	२ 'रामभद्र रामभद्र'।	३ 'ऐश—भूषितज्यम्'।

शौष्कलः—(सक्रोधम् ।) अरे रे, शतानन्द, किमुद्भ्रान्तोऽसि। यदेवमस्मदग्रे पौलस्त्य महाराजमधिक्षिपसि। कथमयं ते [1]माणिक्यपरिहाणेन गैरिकपरिग्रह। यदेव [2]दशग्रीवमवमन्यमानस्य मनुष्यपोतेऽनुराग। [3]यदि वा तत्रभवन्न गौतममपहाय डुलिचक्षुपि सहस्राक्षे [4]भवतो [5]मातुरहल्याया।

शतानन्द—([6]सरोपहासम् ।) किमात्थ रे, किमात्थ अस्मदग्र इति।

विश्वामित्रः—([7]सप्रणयरोषमिव ।) वत्स गौतम, विरम विरम शुष्ककलहात्। अतिथिरयमस्माकमुपाध्यायो [8]दशकण्ठस्य। (व्यथमानौ

उद्भ्रान्त मूढ, कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकविधुर इत्यर्थ। पौलस्त्यम् रावणम्। अधिक्षिपसि निन्दसि। माणिक्यपरिहाणेन रत्न विहाय। गैरिकपरिग्रह, गैरिकधातुशिलाखण्डस्वीकार, रावण विहाय रामस्यादरो रत्न विहाय गैरिकस्वीकार इव मूर्खताप्रमापक, अतस्तथा मा कार्षीरिति भाव। अवमन्यमानस्य तिरस्कुर्वत, मनुष्यपोते मानवशिशौ। डुलिचक्षुपि डुले कच्छप्याश्चक्षुरिव चक्षुर्यस्य तस्मिन् पीतनयने सहस्राक्षे। यथा तव माताऽहल्या गौतम नाम मुनि स्वपतिमपहाय पीताभनयनतथा कुरूपे शक्रेऽनुरागस्तथैवाय तव रावण लोकैकवीरमपहाय मानवशिशौ रामचन्द्रेऽनुरागस्तदय तव कौलिको रोगो न शक्यते झटिति शमयितुमिति भाव।

विरम निवर्त्तस्व। शुष्ककलहात् वृथाविवादात्। उपाध्याय गुरुपुरोहित,

---

शौष्कल—अरे, शतानन्द, क्या तुम पागल हो गये हो कि हमारे सामने ही तुम महाराज रावणपर आक्षेप कर रहे हो। क्यों तुम यह माणिक्य छोडकर गैरिक स्वीकार कर रहे हो, जो कि दशग्रीवका अपमान करके मनुष्यके बच्चेका अनुराग कर रहे हो। अथवा उचित है तुम्हारी माताने भी तो गौतमको छोडकर कछुआकी तरह आँखोंवाले इन्द्रपर प्रेम किया था।

शतानन्द—(रोषसे हसकर) क्या कहा ? हमारे आगे क्या कहा रे ?

विश्वामित्र—(प्रेम तथा कोपके साथ) शतानन्द, छोडो इस शुष्क कलहको, यह दशकण्ठके आचार्य हमारे अतिथि हैं। (व्यथित होते हुए राम लक्ष्मणकी ओर देखकर

---

१ 'परिहारेण'। २ 'दशाननमवमत्य', 'दशग्रीवमप्यवमन्यमानस्य ते'।
३ 'यदिव', 'अथवा'। ४. 'तव'। ५ मातुरपि कथमहल्याया।
६. 'सरोषाहकारम्'। ७ 'सप्रणयमिव'। ८ 'दशकन्धरस्य'।

रामलक्ष्मणौ च दृष्ट्वा विहस्य ।) वत्स रामभद्र, [1]धनुर्गृहोपसर्पणमभ्यनुजानाति ते जनकान्वयपुरोधाः ।

रामः—यदादिशन्ति गुरवः । (इति सविनयलज्जाकौतुकं परिक्रम्य लक्ष्मणेन सह निष्क्रान्तः ।)

शौष्कलः—राजर्षे सीरध्वज, धन्योऽसि । पुरा किल परमेश्वरपरिचर्यावदाने निकृत्तेषु नवमूर्धसु

वरं तादृक्कर्माद्भुतसदृशमप्रेक्ष्य किमपि
प्ररोहद्वैलक्ष्यं पुरविजयिनो येन ददृशे ।
तदुन्मार्ष्टुं येन त्रिभुवनमपि प्रार्थितमिदं
तदेव त्वय्यर्थीभवति दशमं रावणमुखम् ॥ ५२ ॥

धनुर्गृहोपसर्पणम् धनुर्गृहगमनम् । **अभ्यनुजानाति** आदिशति । **जनकान्वयपुरोधाः** विदेहवंशपुरोहितः शतानन्दः ॥

वरमिति । **येन तादृक्कर्माद्भुतसदृशम्** तादृशाद्भुतकार्यानुरूपम् नवशिरःकर्त्तनरूपातिभयानककार्यानुरूपम् **किमपि वरम्** देयं वस्तु **अप्रेक्ष्य** अदृष्ट्वा **पुरविजयिनः** त्रिपुरारेः शिवस्य **प्ररोहद्वैलक्ष्यं** जायमाना त्रपा **ददृशे**, तत् पुरविजयिनः वैलक्ष्यं **प्रमार्ष्टुं** च **इदं त्रिभुवनम्** लोकत्रयं (भुवनत्रितयस्वामित्वं) **प्रार्थितम्**, **तदेव दशमं रावणमुखं त्वयि** जनके **अर्थीभवति** याचकत्वं लभते । रावणे दशसु शिरस्सु नवशिरांसि च्छित्वा प्रसादितवति वरप्रदानायागते शिवे च तादृशाद्भुतकार्यानुकूलवरालाभेनोदयत्त्रपे संवृत्ते सति शिवस्य तादृशीमवस्थामालोक्य दशममवशिष्टं रावणस्य शिरो भुवनत्रयाधिपत्यरूपं लघुमपि वरं याचमानं शिवस्य त्रपा-

---

हसते हुए) वत्स रामभद्र, तुमको धनुर्गृहमें जानेकी आज्ञा जनकवंशके पुरोहित दे रहे हैं ।

राम—गुरुजनोंकी जैसी आज्ञा । (विनय, लज्जा, कौतुकसे लक्ष्मणके साथ जाते हैं)

शौष्कल—राजर्षे सीरध्वज, तुम धन्य हो, पूर्वकालमें शिवकी आराधनाके अवसरपर, नव मस्तकोंके काट दिये जानेके बाद,

उस अद्भुत कार्यके योग्य वरको नहीं देखकर रावणका दशममुख लज्जाका अनुभव करने लगा, महादेवने उसकी यह दशा देख ली, तब उस मुखने लज्जा गोपनके लिए इस त्रिभुवनको ही माँग लिया, आज रावणका वही मुख तुम्हारे सामने याचक बन रहा है ॥ ५२ ॥

---

१ 'धनुर्ग्रहोप—' ।

शतानन्दः—(उत्थाय । [1]नेपथ्यावलोकितकेन सहर्षाद्भुतम् ।) [2]पश्यन्तु भवन्त. ।

यस्मिन्नेकधनुष्मतो भगवतः खट्वाङ्गपाणेरसा-
वाकृष्टो गुणतां गतोऽप्यहिपतिः कर्णावतंसायते ।
[3]उन्मुक्त पुनरेव भूषणपदं याति प्रकोष्ठान्तरे

(जनक औत्सुक्य नाटयति ।)

शतानन्द·—
काकुत्स्थेन तदेव भार्गवगुरो कोदण्डमाकृष्यते ॥ ५३ ॥

(नेपथ्ये ।)

मपाकरोत्, तदेव रावणस्य मुखमद्य त्वामर्थयत इति मा अन्यथा चिन्ति, पालनीय एव च तदनुरोध इति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

यस्मिन्निति । एकधनुष्मत अद्वितीयधनुर्धरस्य भगवत सर्वसामर्थ्यशालिन खट्वाङ्गपाणे शिवस्य यस्मिन् धनुषि असौ आकृष्ट गुणता प्रत्यञ्चारूपत्व गतोऽपि अहिपति अनन्तनाग कर्णावतसायते कर्णाभरणरूपता प्रपद्यते, उन्मुक्त त्यक्तश्च सन् पुन एव प्रकोष्ठान्तरे मणिबन्धोपरितनभागे भूषणपद कङ्कणरूपत्व याति, तदेव भार्गवगुरो परशुरामाचार्यस्य शिवस्य कोदण्डम् धनु काकुत्स्थकुलोत्पन्नेन रामेण आकृष्यते नम्यते । महादेवस्य तद्धनू रामेणाकृष्यते यत्र नाग प्रत्यञ्चाभावेनावस्थित, स ह्याकर्षणकाले कर्णपर्यन्ताकृष्टतया कर्णभूषणभाव, विकर्षणकाले च प्रकोष्ठससक्ततया हस्ताभरणभावं भजत इत्याशय । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥५३॥

शतानन्द—(उठकर नेपथ्यकी ओर देखकर) (सहर्ष) आप लोग देखें-

जिस धनुषपर अद्वितीय धनुर्धर भगवान् शङ्करने जब प्रत्यन्चा चढाकर आकृष्ट किया तब नागराज उनके कर्णावतस बन गये, फिर प्रत्यञ्चा छोड देनेपर वही नागराज कर्णभूषण बन गये थे,

(जनक उत्कण्ठा प्रकट करते हैं)

शतानन्द—ककुत्स्थकुलभूषण राम वही धनुष आकृष्ट कर रहे है ॥ ५३ ॥

---

१ 'नेपथ्याभिमुखमवलोकयन्' । २. 'पश्यन्तु पश्यन्तु' ।
३ 'उन्मुक्तश्च पुरेव' ।

लक्ष्मण —

रुन्धन्नष्ट विधे· श्रुतीर्मुखरयन्नष्टौ दिशः क्रोडय-
न्मूर्तीरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलक्ष्माभृत ।
नान्यक्ष्णा बधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च सपादय-
न्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्वल[1]दलत्कोदण्डकोलाहल ॥ ५५ ॥

जनक·—([2]सहर्षविषादाद्भुतम् ।) कथ भग्नमपि ।

शतानन्द —

वैदेहीकरबन्धमङ्गलयजुःसूक्तं द्विजानां मुखे
नारीणां च [3]कपोलकन्दलतले श्रेयानुलूलुध्वनिः ।

रुन्धन्निति । अयम् सर्वश्राव्यतया प्रत्यक्षरूप आर्यस्य रामस्य दोर्बलेन बाहुवीर्येण दलत भज्यमानस्य कोदण्डस्य हरचापस्य कोलाहल भयङ्कर शब्द विधेश्चतुर्मुखस्य ब्रह्मण अष्टश्रुती कर्णविवराणि रुन्धन् बधिरता नयन् अष्टौ दिश प्राच्याद्यष्टदिग्विभागान् मुखरयन् शब्दै पूरयन् , महेश्वरस्य अष्टमूर्ती पृथिव्याद्यस्वरूपाणि क्रोडयन् क्रोडीकुर्वन् व्याप्नुवन् अष्टौ कुलक्ष्माभृत दलयन् विदारयन् तानि प्रसिद्धानि अष्टौ पन्नगकुलानि तक्षकादीनि अक्ष्णा बधिराणि शब्दग्रहणासमर्थानि सम्पादयन् उन्मीलति सर्वत प्रसरति । रामेण हरचापे भज्यमाने विधेरष्टापि श्रुतय शब्दपूर्णतया रुद्धा , दिशोपि सर्वास्तच्छब्दव्याप्ता , शिवस्य वारिवह्निधराऽऽकाशवायुरविचन्द्रयजमानरूपा अष्टावपि मूर्तयोऽपि तदीयध्वनिना क्रोडीकृता , सर्पाणा चक्षु श्रवस्तया चक्षुष्येव शब्दग्रहणाक्षमाण्यजायन्त, तदेव सर्वत प्रसृतस्तत्कोलाहल इति भाव ॥ ५४ ॥

वैदहीति । द्विजाना ब्राह्मणाना मुखे वैदेह्या सीताया करबन्धाय पाणिग्रहाय यत् मङ्गल शुभाशसनम् तदर्थं यजु सूक्तम् यजुर्वेदीयमन्त्रविशेष , नारीणा स्त्रीणा

लक्ष्मण—ब्रह्माके आठ कानोंका भरता हुआ, दिशाओंको व्याप्त करता हुआ, महादेवकी पृथिव्यादि आठ मूर्त्तियोंको एव कुलपर्वतोंका दलित करताहुआ, आठ नागोंको बधिर बनाता हुआ यह रामके द्वारा खण्डित धनुषका शब्द प्रकट हो रहा है ॥ ५४ ॥

जनक—(हर्ष विषाद तथा आश्चर्यके साथ) क्या तोड भी दिया ?

शतानन्द—ब्राह्मणोंके मुखोंमें सीता विवाह-मङ्गलसूक्तोंके रूपमें, नारियोंके कपोल

---

१ 'ललत्' ।　२ 'सहर्षाद्भुतम्' ।　३ 'कन्दर–' ।

पेष्टु च द्विषतामुपश्रुतिशतं मध्येनभो जृम्भते
रामक्षुण्णमहोक्षलाञ्छनधनुर्दम्भोलिजन्मा रव ॥ ५५ ॥

शौष्कलः—([1]सविषादाद्भुतमात्मगतम् ।) अहो दुरात्मन क्षत्रियस्फुलिङ्गस्य सर्वकर्मीणमूष्मायितम् ।

जनक —(सहर्षं पादयोर्निपत्य ।) [2]भगवन्कुशिकनन्दन,

इयमात्मगुणेनैव क्रीता रामेण मैथिली ।
स्वगृहव्यवहारस्तु लक्ष्मणायोर्मिलाऽस्तु न· ॥ ५६ ॥

कपोलकन्दलतले गण्डसमूहप्रदेशे श्रेयान् माङ्गलिक उलूलुध्वनि शब्दभेद, द्विषतां शत्रूणा च उपश्रुतिशतम् श्रवणेन्द्रियशतसमीपेषु पेष्टुम् तान् द्विषतो दलयितु रामेण क्षुण्णस्य रामेण कृष्टस्य महोक्षलाञ्छनस्य वृषकेतनस्य शिवस्य धनुर्दम्भोले चापरूपवज्रस्य रव शब्द जृम्भते प्रसरति, रामेण हरचापे दलिते सति तदुत्थितो रव सर्वत्र प्रसरति, स हि ब्राह्मणमुखेषु सीताविवाहमङ्गलमन्त्रात्मना परिणमते, वनिताना कपोलतलेषु च माङ्गलिकोलूलुशब्दात्मना, शत्रूणा श्रवणेषु च दारकशब्दतयेति भाव· । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५५ ॥

दुरात्मन दुष्टस्य । क्षत्रियस्फुलिङ्गस्य क्षत्रियरूपाग्निकणस्य । सर्वकर्मीणम् सर्वकार्यसमर्थम् । ऊष्मायितम् तेजस्वित्वम ।

इयमिति । रामेण इयम् मैथिली आत्मगुणेन स्वपराक्रमेण एव (हरचापारोपणद्वारा) क्रीता अर्जिता । न अस्माकम् स्वगृहव्यवहार गृहस्थव्यवहार कन्यादानरूपस्तु लक्ष्मणाय ऊर्मिला नाम कन्यान्तरमस्तु । रामेण सीताया लब्धा यामपि मम कन्यादानपुण्य नोत्पद्यते, तस्यास्तत्पराक्रमलब्धतया मम कर्त्तव्यता-

---

नलमें 'उलूलु' शब्दके रूपमें रामके द्वारा तोडे गये शिवके धनुषसे उत्पन्न शब्द शत्रुओंके कानको फाड डालनेके लिए आकाशमें फैल रहा है ॥ ५५ ॥

शौष्कल—(विषादके साथ स्वगत) अहो, इस दुष्ट क्षत्रियकुमारका पराक्रम सर्वतोमुख है ।

जनक—(सहर्ष चरणोंपर पडकर) भगवन् कौशिक,

रामने सीताको अपने गुणसे ही खरीद लिया है, अपने गृहका व्यवहार मैं ऊर्मिला देकर लक्ष्मणके साथ करना चाहता हूँ ॥ ५६ ॥

---

१ 'सविषादमात्मगतम' । २ 'कौशिकवंशवर्धन' ।

विश्वामित्रः—(सस्मितम् ।) सखे सीरध्वज, यदभिरुचितं भवते ।

शतानन्दः—([1]जनककर्णे एवमेव कथयित्वा ।) भगवन्विश्वामित्र, ममापि चन्द्रशेखरशरासनारोपणप्रथमप्रियवादिनः पारितोषिकं धारयसि ।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) वत्स, दीयते । किमभिप्रैषि ।

शतानन्दः—कुशध्वजदुहितृभ्यां माण्डवीश्रुतकीर्तिभ्यां भरतशत्रुघ्नावभ्यर्थये ।

विश्वामित्रः—एवमस्तु । (शतानन्दं हस्ते गृहीत्वा सस्मितम् ।) वत्स सर्वमस्माभिर्विधातव्यम् । आगमयस्व तावद्दशरथम् ।

राहित्यात्, गृहस्थैश्च कन्यादानपुण्यमर्जनीयमतः कृपया मां लक्ष्मणायोर्मिला नाम स्वकन्यां दातुमनुमन्यन्तां भवन्त इति भावः ॥ ५६ ॥

चन्द्रशेखरस्य शिवस्य यत् शरासनम् तस्य आरोपणम् रामेण सज्जीकरणम्, तदेव प्रथमं प्रियम् नवश्रुतिकतया कर्णरसायनीभूतं तस्य वादिनः कथयितुः रामेण हरचापमारोपितमिति कर्णरसायनं सर्वप्रथमं सूचयत इत्यर्थः । पारितोषिकं धारयसि पुरस्कारं दातुं बाध्यसे इत्याशयः ॥

कुशध्वजदुहितृभ्याम् कुशध्वजो नाम सीरध्वजानुजस्तत्कन्याभ्याम् । अभ्यर्थये याचे भरताय माण्डवीं श्रुतकीर्त्तिं च शत्रुघ्नाय दातुं भवन्तोऽस्माननुजानन्त्वित्यर्थः । आगमयस्व आनेतुं यतस्व ।

विश्वामित्र—(मुस्कुराकर) सखे सीरध्वज, जैसी तुम्हारी इच्छा ।

शतानन्द—(जनकके कानमें कुछ कहकर) भगवन् ! विश्वामित्र, मैंने ही महादेवके धनुषके आरोपणका समाचार पहले सुनाया है, अतः मेरे लिए आप पारितोषिकके ऋणी हैं ।

विश्वामित्र—(हँसकर) वत्स, देता हूँ, क्या चाहते हो ?

शतानन्द—कुशध्वजकी कन्याओं माण्डवी तथा श्रुतकीर्त्तिके लिए भरत तथा शत्रुघ्नकी प्रार्थना करता हूँ ।

विश्वामित्र—ऐसा ही हो । (शतानन्दका हाथ पकडकर हँसते हुए) वत्स, सब हमको करना है, ठहरो तो तब तक ।

---

१ 'जनकस्य कर्णे एवमेवमिति' ।

जनक—तर्हि प्रहीयतामेष एव भगवानाङ्गिरस प्रियसुहृदमुत्तरकोसलेश्वरमानेतुम् ।

विश्वामित्र—एवमस्तु ।

शतानन्दः—(उत्थाय ।) भगवन्, किमन्यदधिकमस्ति वाचिकम् ?

विश्वामित्र—वत्स, निसृष्टार्थोऽसि । गम्यताम् ।

(इति शतानन्दो निष्क्रान्त ।)

विश्वामित्र—(हर्ष नाटयन्नात्मगतम् ।)

दोर्लीलादलितेन्दुशेखरधनुर्विख्यातविक्रान्तिना
काकुत्स्थेन कृतो विदेहनृपति पूर्णप्रतिज्ञाभर ।

प्रहीयताम् प्रेष्यताम् प्रियसुहृदम् प्रियमित्रम् उत्तरकोसलेश्वरम् दशरथम् आनेतुम् मिथिलामानेतुम् ॥

वाचिकम् सन्देशवाक् । इह दशरथानयनापेक्षयाऽधिकमपि किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीति तत्प्रश्नाशय ।

निसृष्टार्थं दूतप्रकारविशेषो य स्वयमप्यूहापोहाभ्यामर्थमनुसन्धत्ते, तादृशोऽसि, अतो यद् वाचिकमाख्यातव्य तत्त्वया स्वय विचारणीयमिति भाव, निसृष्टार्थदूतलक्षणमुक्त यथा साहित्यदर्पणे—'उभयोर्भावमुन्नीय स्वय वदति चोत्तरम् । सुश्लिष्ट कुरुते कार्य निसृष्टार्थस्तु स स्मृत ॥

दोर्लीलेति । दोर्लीलया भुजविलासेन दलितम् आकृष्टम् यत् इन्दुशेखरस्य शिवस्य धनु तेन विख्याता प्रसिद्धा विक्रान्ति पराक्रमो यस्य तादृशेन काकुत्स्थेन रामचन्द्रेण विदेहनृपति जनक पूर्णप्रतिज्ञाभर पूरितपण कृत विहित, स्वबाहुलीलयैव शाम्भव चापमारोप्य रामो विदेहस्य प्रतिज्ञामपूरयदिति प्रथमपाद-

---

जनक—तो भगवान् आङ्गिरसको प्रियमित्र दशरथको लानेके लिए भेज दें,

विश्वामित्र—एवमस्तु ।

शतानन्द—(उठकर) भगवन्, कुछ और भी सन्देश है ?

विश्वामित्र—वत्स, सब तुम्हे ज्ञात है, जाओ ।

(शतानन्द जाते हैं)

विश्वामित्र—(हर्ष प्रकट करते हुए स्वगत)

भुजपराक्रमसे शिवके धनुषको दलित करके कीर्तिविस्तार करनेवाले रामने विदेह-

पश्यामश्च सुहृद्गृहान्नवनवोन्मीलद्विवाहोत्सवा-
नैक्ष्वाकेषु च मैथिलेषु च फलन्त्यस्माकमद्याशिषः ॥५७॥

शौष्कलः—(वैलक्ष्यरोषाभ्यां स्मयमानः ।) भो सीरध्वज, पुरुषप्रकर्षाधाने हि [1]विद्यावृद्धसंयोगाद् बहिरङ्गानि वयांसि । यदनया प्रहीणलब्धकन्यया [2]यौनसम्बन्धोपस्थितं पुलस्त्यकुलमुपेक्षमाणो वर्षीयानपि [3]कोमलप्रज्ञोऽसि । (मुनिं प्रति ।) [4]कौशिक, नाद्यापि किंचिदतिक्रामति ।

द्वयार्थः । सुहृद्गृहान् सुहृदो मित्रस्य जनकस्य भवनानि च नवनवोन्मीलद्विवाहोत्सवान् सद्योजायमानपरिणयमङ्गलान् पश्यामः, तदित्थम्—अद्य सम्प्रति ऐक्ष्वाकेषु दशरथादिषु वैदेहेषु च राजसु अस्माकम् आशिषः शुभाशंसाः फलन्ति सफलीभवन्ति दशरथस्य पुत्रवत्ता, तत्पुत्रस्य च प्रख्यातविक्रमता, जनकस्य गृहे प्रतिज्ञापूर्त्तिजन्यं यशो विवाहमङ्गलं चेति सर्वमप्यभीष्टं न फलितमिति भावः ॥ ५७ ॥

पुरुषप्रकर्षाधाने पुरुषोत्कर्षज्ञाने, विद्यावृद्धसंयोगात् विद्यावृद्धपुरुषसंयोगमपेक्ष्य, बहिरङ्गाणि दुर्बलानि वयोऽपेक्षया विद्यावृद्धत्वमेव प्रबलम्, केवलवृद्धजनापेक्षया विद्यावृद्धोऽल्पवया अपि पुरुषप्रकर्षं ज्ञातुमधिकं शक्नोति इत्यर्थः । त्वं केवलं वृद्धोऽसि, तव विद्या नास्ति, अतएव त्वं रावणस्य प्रकर्षं नावगच्छसि, अतएव प्रार्थ्यमानोऽपि तस्मै स्वां कन्यां नार्पयसीति भावः । प्रहीणलब्धकन्यया हलपद्धतौ प्राप्तया कन्यया । यौनसम्बन्धोपस्थितम् विवाहोद्यतम् । उपेक्षमाणः अवमन्यमानः, वर्षीयान् वृद्धोऽपि, कोमलप्रज्ञः अप्रौढमतिः, अनया हि अयोनिजयाऽतएवाल्पममता-

---

नृपतिकी प्रतिज्ञा पूरी कर दी, मित्र जनकके गृहोंमें नवीन नवीन विवाहोत्सव हो रहे हैं, इस तरह इक्ष्वाकुवंश तथा मैथिलवंशमें हमारे आशीर्वाद आज फलित हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

शौष्कल—(लज्जा तथा रोषसे) अजी सीरध्वज, पुरुषकी श्रेष्ठतामें विद्याकी अपेक्षया वयको बहिरङ्ग माना जाता है, मैं समझता हूं यौन सम्बन्धके लिए उपस्थित पुलस्त्यको छोडकर वृद्ध होनेपर भी तुम कोमलमति ही रहे । (मुनिसे) कौशिक, अभी भी कुछ बिगडा नहीं है, आपके लिए भी ताडकावधरूप अपने अपराधको धो देनेका यही अवसर है ।

---

१ 'वृद्धस्व–' । २ 'यौवन–' ।
३ 'प्रतिज्ञोऽसि' । ४ 'राजर्षे कौशिक', 'ऋषे कौशिक' ।

तवापि लङ्कापतौ [1]ताडकावधापराधमपमार्ष्टुमयमेवावसर। ([2]कौशिकस्तत्रावज्ञां नाटयति।)

जनकः—भगवन्, एहि। 'स्वयमुपेत्य [3]रामचन्द्रवदनचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहेण [4]निर्वापयामि तावदलीकधनुर्धर[5]सहस्रप्रार्थ्यमानमैथिलीकदर्थितमात्मानम्। नहि मिहिरमरीचिनिचयपचेलिमस्य [6]तुहिनकरबिम्ब-सवादादपरोऽपि[7] कश्चिदगदङ्कार [8]कैरवाकरस्य।

(इत्युत्थाय परिक्रामत ।)

स्थानभूतया कन्यया सम्बन्धोद्यतस्य रावणस्य परित्यागस्तव वार्द्धकेऽपि बाल्य प्रमापयतीति तात्पर्यम्॥ अतिक्रामति अतिवर्त्तते, नाधुनापि किमपि हीन, सीतापरिणयस्याजातत्वेन किमपि नातिक्रान्तमिति यावत्। ताडकावधापराधम् ताडकावधस्वरूप स्वकृत दोषम्। प्रमार्ष्टुम् क्षालयितुम्। त्वयापि सीताया रावणाय दाप्यमानाया तेन प्रसन्नो रावणस्तुभ्य कोप न करिष्यति, त्वया कृतमपराध विस्मरिष्यतीत्यर्थ।

रामचन्द्रवदनचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहेण राममुखशशिज्योत्स्नाधारया निर्वापयामि शीतलीकरोमि। अलीका मिथ्याभूता ये धनुर्धरा वीरा तेषां सहस्रेण बहुभिर्मिथ्यावीरै प्रार्थ्यमाना या मैथिली सीता तत कदर्थितम् खिन्नम्। बहवो हि मिथ्यावीरत्वाभिमानवन्तो मैथिली प्रार्थयमाना मा बहुक्लेशितवन्तस्तदधुना हरचापारोपणपूरितसत्प्रतिज्ञ राममालोक्यात्मनो हृदय शीतलयामीति भाव। मिहिरस्य सूर्यस्य ये मरीचिनिचया किरणसमुदया, तै॰ पचेलिमस्य सन्तप्तस्य कैरवाकरस्य कुमुदसमूहस्य तुहिनकरबिम्बसवादात् चन्द्रकरसम्पर्कात्। अपर

(कौशिक उसपर अवज्ञा प्रकट करते है)

जनक—भगवन्, आइये, खुद चलकर रामचन्द्रके वदन-चन्द्रकी चन्द्रिकासे मिथ्या धनुर्धरों द्वारा की गई सीताकी प्रार्थनासे खिन्न अपने हृदयको शीतल करूँ। कैरवाकरके लिए सूर्यकिरण सम्पर्कसे परिपक्व चन्द्र-करके अतिरिक्त दूसरा वैद्य नहीं होता है।

(उठकर जाते हैं)

---

१ 'वधमपि मार्ष्टुम्'। २ 'जनक—(तत्रावज्ञां नाटयन्।) भगवन्, एहि'।
३ 'रामभद्रमुखचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहे', 'रामभद्र—प्रवाहे'। ४॰ 'निर्वापयाम॰'।
५ 'सहस्रार्थ्य—'। ६ 'परिचय-'।
७॰ 'हिमकर-'। ८ 'कैरवकेदारस्य'।

शौष्कल —(सखेदमाकाशे ।) हा तपस्विनि सीते, हतासि । पौलस्त्यप्रार्थितापि विचार्यसे ।

त्रिभुवनविजयश्रिय सपत्नीं जनयतु को भवतीमनात्मतन्त्राम् ।
स्वजनमपि न ते निरूपयाम किमपि विपाट्य भुवं विनिर्गतासि ॥५८॥

(सरोष जनक प्रति ।) सीरध्वज,

पौराणीभिरनेकविक्रमकथागाथाभिरर्थापिता-
स्ते वीरस्य जयन्ति राक्षसपतेर्दो स्तम्भदम्भोलय ।

अन्य । अगदङ्कार चिकित्सक , क्लेशापहर्त्ता । यथा कैरवकुलस्य सूर्यकरक्लिष्टस्य केवल चन्द्रकरसम्पर्क एव क्लेशापहो नान्यस्तथैव राजगणकृतसीताप्रार्थनाकदर्थ्यमानस्य मम रामभद्रमुखावलोक एव तापशमनोपाय इति भाव ॥

तपस्विनि वराकिनि, निरपराधे । विचार्यसे दानविधौ इतस्ततश्चिन्त्यसे ।

त्रिभुवनविजयश्रिय इति । क. अनात्मतन्त्राम् पराधीनाम् भवतीम् त्रिभुवनविजयश्रिय भुवनत्रयविजयलक्ष्म्या सपत्नीं करोतु ? लोकत्रयविजयिना रावणेन विवाह्य त्रिभुवनजयलक्ष्मीसपत्नीं कस्त्वा करोतु यतस्त्व परतन्त्रासि, आत्मना तथा कर्त्तुमक्षमा भवसि, न वाऽस्ति कश्चन ते स्वजनो यस्तव हितमनुध्यायेत्तदाह-भुव विपाट्य पृथिवीं भित्त्वा विनिर्गता आविर्भूताऽसि, अतश्च तव कमपि स्वजनम् आत्मीय जनमपि पित्रादिकं न निरूपयाम पश्याम । य आत्मना किमपि स्वहित कर्त्तुमक्षमस्तस्य स्वजने हितसाधनमायत्त, तस्यापि चाभावेऽवश्यभाविन्यनिष्टसङ्क्रान्तिरिति शोच्यता तवेति भाव. ॥ ५८ ॥

पौराणीभिरिति । पौराणीभि पुरातनीभि अनेकाभि विपुलाभि विक्रमकथागाथाभि पराक्रमस्तुतिभि अर्थापिता व्याख्याता राक्षसपते रावणस्य ते दो-स्तम्भदम्भोलय. वज्रसमाना बाहुस्तम्भा जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते, ऐरावण

शौष्कल—(सखेद आकाशकी ओर) हा सीते, हा, तुम्हारा भाग्य खराब है, जिससे रावण प्रार्थिता होनेपर विचारका विषय बनी हो ।

कौन आदमी तुमको त्रिभुवन-विजयश्रीकी सपत्नी बनावे ? तुम्हारा कोई आत्मीय जन भी नहीं दीख पडता है क्योंकि तुम पृथ्वी फाडकर बाहर निकली हो ॥ ५८ ॥

(सरोष जनकके प्रति) सीरध्वज,

रावणके बाहुरूप वज्र जिनकी प्रशसा पुरानी अनेक कथाओ द्वारा की जाती है,

यानुत्प्रेक्ष्य विशोषयन्मदमयं मैरेयमैरावणो
भूषास्रग्भिरभूदमात्यमधुपश्रेणीषु साधारण ॥ ५९ ॥

तेषु [1]च सत्सु—

वृथा सज्जनसंबन्धसत्कारेणासि वञ्चित ।
पौलस्त्य[2]हस्तवर्तिन्या सीतया तु भविष्यते । ६० ॥

(साक्षेप च[3] नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।)

इन्द्रहस्ती यान् दो स्तम्भदम्भोलीन् उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा मदमय गर्वस्वरूप मैरेयम् मदवारि विशोषयन् अपनयन् भूषास्रग्भि अलङ्कारमाल्यै अमात्यमधुपश्रेणीषु सहचरभ्रमरसमुदयेषु साधारण अन्यगजसदृश अभूत् । पुराणवीरताकथा-विख्यातबाहुस्तम्भशाली रावणो जयति यस्य बाहुस्तम्भान् दृष्ट्वा ऐरावतस्य दानवारि शुष्यति, शुष्के च दानवारिणि साधारणगजापेक्षया कोपि विशेषस्तत्र सहचरभ्रमरैर्नोपलभ्यते स्म, सति दानवारिणि प्रवहमाने भूपास्रजि दानवारिणि चोभयत्रालीना विनोदायैरावतोऽशक्नोत् , परे च गजा केवल भूपास्रजि, सम्प्रति रावणभयात् शुष्के दानवारिणि ऐरावतोऽपि साधारणहस्तीव भूपास्रङ्मात्रे भ्रमर-सन्तोषप्रदो जात इति तात्पर्यम् ॥ शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५९ ॥

तेषु च सत्सु रावणे याचितरि सतीत्यर्थ ।

वृथासज्जनेति । वृथा व्यर्थमेव सज्जनसम्बन्धो रावणरूपोत्तमपात्रेण सह, यौनसम्बन्धस्ततो य सत्कार गौरवम् तेन वञ्चित रहित असि व्यर्थैव तवेय-मवसरच्युतिरित्यर्थ, नन्वनेन व्यापारेण लङ्कापते सीतादौवारिक सुखमपहृत-मित्येव फलमभिप्रेत, तत्सिद्ध्यति, तत्राह —पौलस्त्येति । सीतया तु पौलस्त्यहस्त-गामिन्या भवितव्यमेवेति । उभयथापि सीताया रावणहस्तगामित्वे व्यर्थ एव तव सज्जनसम्बन्धत्यागजन्यायशोलाभ इति भाव ॥ ६० ॥

सर्वोत्कृष्ट हैं, जिनकी सम्भावनासे ही ऐरावतके दान-वारि सूख जाते हैं और भ्रमरके लिये वह भूषास्रकमात्र धारणकर्त्ता साधारण हस्ती रह जाता है ॥ ५९ ॥

उनके रहते ही व्यर्थ ही तुम सज्जन-सम्बन्धलभ्य गौरवसे वञ्चित हो रहे हो। आखिर सीताको रावणके हाथमें आना होगा ही ॥ ६० ॥

(आक्षेपके साथ नेपथ्यकी ओर देखकर)

---

१. 'च' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २ 'वशवर्तिन्या' ।
३ 'च' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

समन्तादुत्ताले सुरसहचरीचामरमरु-
त्तरङ्गैरुत्कीलद्भुजपरिघसौरभ्यशुचिना ।
स्वयं पौलस्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृता-
मरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपयथा ॥ ६१ ॥

([1]सविमर्शमात्मगतम् ।) अहो गम्भीरमिदं[2]मुपस्थितं वस्तु । तन्मन्त्रिणं माल्यवन्तमेव पुरस्कृत्य लङ्केश्वरस्य निवेदयामि ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति पिनाकभङ्गो नाम तृतीयोऽङ्कः ।



समन्तादिति । अरे राम, समन्तात् सर्वासु दिक्षु उत्ताले प्रवहद्भिः महद्भिः सुरसहचरीणां देवाङ्गनानां चामरमरुताम् व्यजनपवनानाम् तरङ्गैः प्रवाहैः उन्मीलत् प्रसरत् यत् भुजपरिघानाम् बाहुरूपार्गलानाम् सौरभ्यम् सुगन्धः तेन शुचिना सपरिमलेन त्रिभुवनजिता लोकत्रितयविजयिना पौलस्त्येन स्वयं चेतसि कृताम् मनसि धृतां जनकनृपपुत्रीं सीतां त्वं मा उपयथा परिणैषीः । अरे राम, यां सीतां रावणः परिणेतुमिच्छति, यो हि रावणो वन्दीकृतदेवाङ्गनाचालितचामरवायुविकीर्णसौरभसुरभिर्लोकत्रयविजयी च, तां त्वं मा उपयथा, तया तव विवाहो न शुभोदर्को घटेतेति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ६१ ॥

गम्भीरम्—अतिमहत्, हरचापभङ्गरूपं, सीताविवाहरूपं वा ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रकृतायामनर्घराघवस्य 'प्रकाश' व्याख्यायां तृतीयाङ्क-प्रकाशः ।



चारों ओर जोरसे बहनेवाला देवाङ्गनाधृत चमरवायु जिसके भुजाओंकी सुगन्धिको विस्तारित किया करती है, ऐसे रावणने जिस सीताको अपने हृदयमें बिठा लिया है, अरे राम, तुम उस सीताके साथ व्याह मत करना ॥ ६१ ॥

(विचारकर स्वगत) यह गम्भीरवस्तु उपस्थित हो गया है, इसलिये मन्त्री माल्यवान्को साथ ले करके रावणसे निवेदन कर दूं ॥

(सबका प्रस्थान)

तृतीय अङ्क समाप्त ॥



१ 'सविस्मयमात्मगतम्' । २. 'इदम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

अथ चतुर्थोऽङ्कः

(तत प्रविशति माल्यवान ।)

माल्यवान्—([1]जृम्भमाणश्चक्षुषी परिमृज्य ।) अये, [2]विभातैव विभावरी । तथाहि ।

स्तोकोन्निद्रनिदाघदीधितिमहस्तन्द्रालुचन्द्रातपा-
[3]स्तायन्ते ककुभो रथाङ्गगृहिणीगार्हस्थ्यगर्हाभिद ।
अद्यापि स्वकुलायशाखिशिरसि[4] स्थित्वा रुवन्तो मुहु-
स्तूष्णीं प्रत्यभिजानते बलिभुजो भीताः स्वयूथ्यस्वरान् ॥१॥

विभाता प्रात कालिक प्रकाशं प्राप्ता समाप्तेत्यर्थ । विभावरी रात्रि ।

स्तोकोन्निद्रेति । स्तोकोन्निद्रम् ईषद्विकस्वरं यत् निदाघदीधितिमह. सूर्यतेज तेन तन्द्रालव निष्प्रभत्वं गता चन्द्रातपा चन्द्रकिरणा यासु तथोक्ता., रथाङ्गगृहिणीना चक्रवाकवधूना गार्हस्थ्ये गृहस्थधर्मे समारे या गर्हा रात्रिविरहजनिता दुरवस्था तद्भिद तदपनोदिका ककुभो दिश तायन्ते विस्तृता भवन्ति । किञ्चिद्विकासिसूर्यप्रभानिष्प्रभीभूतचन्द्रकरा सति सूर्यप्रकाशे चक्रवाकीविरहव्यथापनोदिकाश्च दिश क्रमश प्रकाशमासादयन्ति । अद्यापि सम्प्रत्यपि बलिभुज काका स्वकुलायशाखिशिरसि निजावासनीडाश्रयतरुशिखरदेशे स्थित्वा मुहु पुन पुना रुवन्त शब्दायमाना पुनश्च भीता अतश्च तूष्णीम् मूकीभूय स्वयूथ्यस्वरान् स्ववर्गीयशब्दान् प्रत्यभिजानते परिचिन्वन्ति । 'रथाङ्गगृहिणीगार्हस्थ्यगर्हाभिद.' इत्यस्यायमाशय —रात्रावेकत्रस्थितयोरपि चक्रवाकमिथुनयो. सङ्गमा-

---

(माल्यवान्का प्रवेश)

माल्यवान्—(जमाई लेता हुआ आँखें मलकर) अरे, रात समाप्त हो गई, क्योंकि—थोडा थोडा प्रकट होनेवाले सूर्यके तेजसे दिशाओंमें चन्द्रमाकी किरणें अस्तोन्मुख हो रही है, और चक्रवाकियोंके हृदयसे गृहस्थधर्मके प्रति उत्पन्न निन्दा समाप्त होती जा रही है, अभी भी अपने नीडद्रुमके शिखरपर बैठकर काकगण शब्द करते हुए अपने साथियोंके स्वरोंको डर-डरकर पहचान रहे हैं ॥१॥

---

१ 'विजृम्भ—प्रमृज्य' ।   २ 'विभातप्रायैव विभावरीयम्' ।
३ 'स्त्यायन्ते' ।   ४ 'शिखरे' ।

अपि च—

प्राचीं वासकसज्जिकामुपगते भानौ दिशां वल्लभे
पश्यैता रुचयः पतङ्गदृषदामाग्नेयनाडिन्धमाः ।
लोकस्य क्षणदानिरङ्कुशरसौ संभोगनिद्रागमौ
[1]कोकस्तोमकुमुद्वतीविपिनयोर्निक्षेपमातन्वते ॥ २ ॥

(सर्वतो [2]निरूप्य ।) हन्त [3]समन्तादामोदमानपौरसंभोगमयी खल्वियं दशग्रीव[4]भुजार्गलापरिपालिता राजधानी ।

भावाद् व्यर्थोऽयं संसारः, कृतं गार्हस्थ्येनेत्यादिरूपा या मतिरुदेति सैव गर्हा, तां च ढिशो दूरीकुर्वन्ति, उदिते सूर्ये तयोरेवान्योन्यसंगतयोः सतोस्तत्रैव संसारे साफल्यबुद्धिजननादिति । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठाः', 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्', 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः' इति सर्वत्रामरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

प्राचीमिति । दिशां वल्लभे पत्यौ भानौ वासकसज्जिकाम् 'कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि । सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा' इति लक्षण-लक्षिता नायिकाम् उपगते प्राप्ते सति पतङ्गसुहृदां सूर्यकान्तानाम् आग्नेयनाडि-न्धमाः आग्नेयनाडीप्रज्वालिकाः (यत्सम्पर्केण सूर्यकान्ताः प्रज्वलन्ति ते तन्नाडि-न्धमत्वेनात्रोक्ताः) एताः रुचयः सूर्यमयूखाः लोकस्य क्षणदायां रात्रौ निरङ्कुशरसौ अबाधभावेनास्वाद्यमानौ सम्भोगनिद्रागमौ रमणस्वापौ कोकानां चक्रवाकाणां स्तोमः समूहः कुमुद्वतीविपिनं कुमुदवनं च तयोः निक्षेपं न्यासम् आतन्वते कुर्वन्ते, एताः प्राभातिक्यो रुचयस्सूर्यकान्तमणिं दीपयन्त्य एव लोकानां निशि निरर्गलरसौ सम्भोगस्वापौ चक्रवाककुमुदयोर्न्यस्यतः, लोकाश्च सम्भोगं जहति स चक्रवाके, यं च स्वापं जहति स कुमुदेषु सङ्क्रामतीति तात्पर्यम् । पूर्वोक्ताविपरीतं वृत्तम् ॥ २ ॥

दिशाओंके वल्लभ सूर्य देवके प्राचीदिशा रूप वासकसज्जा नायिकाके पास पहुँच जानेपर उनकी वह किरणें–जो सूर्यकान्तमणिकी आग्नेय नाडीको दीपित करती हैं— रात्रिमें सम्भावित संभोग तथा निद्रारसको कोकसमुदाय तथा कुमुद्वतीवनमें निक्षेपके रूपमें रख रही हैं ॥ २ ॥

(चारों ओर देखकर) अहा, चारों ओर प्रसन्न पुरवासिगणके सम्भोगसे पूर्ण हो रही है यह दशकण्ठभुजपालिता राजधानी ।

---

१. 'कोकद्वन्द्व–' । २ 'निरूप्य सहर्षम्' ।
३. 'मोदमान' । ४ 'भुजार्गलपालिता' ।

इत पौरस्त्यायां ककुभि विवृणोति क्रमदल-
त्तमिस्रामर्माणं किरणकलिकामम्बरमणि ।
इतो निष्क्रामन्ती नवरतिगुरो. प्रोञ्छति वधू
स्वकस्तूरीपत्त्राङ्कुरमकरिकामुद्रितमुर ॥ ३ ॥

[1]अपि च—

अयं मृदुमृणालिनीवनविलासवैहासिक-
स्त्विषां वितपते पति सपदि दृश्यमाना निजाः ।
स्तनौ पुलकयन्ति चोत्पलदृशां प्रियोर स्थले

समन्तत सर्वत, आमोदमानाना हृष्यता पौराणा स्सम्भोगमयी तत्प्रचुरा दशग्रीवस्य भुजा एवार्गला परिघास्तै पालिता, रावणरक्षितेऽत्र नगरे पौरा सर्वत सम्भोगभाजोऽत्यामोदमानाश्च सन्तीति भाव ।

इत इति । इत अस्या पौरस्त्याया प्राच्या ककुभि दिशि अम्बरमणि क्रमेण पर्यायेण दलत विदीर्यमाण तमिस्राया रजन्या मर्म यया ता तथाभूतां किरण-कलिका मयूखाङ्कुर विवृणोति प्रकाशयति, इत अस्या च दिशि नगर्यां वा वधू नायिका नवरतिगुरो नूतनसुरताचार्यस्य नायकस्य स्वकस्तूरीपत्राङ्कुरमकरिका-मुद्रितम् स्ववक्ष स्थलास्थितमृगमदरचितपत्राङ्कुरकृतमकराकृत्या मुद्रितम उर हृदय प्रोञ्छति नायकस्य गुर्वादिसमीपे सम्भोगचिह्नप्रकटवद्वारा लज्जा मा जनीति नायिका स्ववक्ष स्थलस्थितमृगमदरचितमकराकृतिचिह्न तत्कृतगाढालिङ्गनसमये तदुरसि लग्न प्रभाते प्रमार्जयतीति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३ ॥

अयमिति । मृदु कोमल यत् मृणालीवन कमलिनीकानन तस्य विलासे विकासे वैहासिको विदूषकस्वरूप ('वैहासिक केलिकर प्रहासी च विदूषक' इत्यमर) कमलवनविकासक कमलवनविलासी च, सूर्य त्विषापति वितपते प्रकाशते । सपदि सम्प्रति च उत्पलदृशा कमलसमाननयनाना प्रियोर स्थले प्रियवक्षसि

इधर पूर्व दिशामे क्रमसे अन्धकारके मर्मको विदलित करनेवाली अपनी किरणको सूर्य फैला रहा है, और इधर नवरतिगुरु प्रियतमके उरोदेशपर लगे अपने स्तनस्थित कस्तूरीपत्रमे सक्रान्त श्यामिकाको रहस्य भेदनके भयसे युवती पोछ रही है ॥ ३ ॥

कोमल मृणालिनीवनके विकासमे विदूषकके कार्य करने सूर्य अपनी किरणें फैला

---

१ 'अपि च' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

विपर्ययितवृत्तयो घुसृणपङ्कपत्त्राङ्कुराः ॥ ४ ॥

इतश्च—

प्रियवसतेरपयान्त्यो मिथः करम्बितकराम्बुजन्मानः ।
करजव्रणविरलस्तनपुलकममूः किमपि विवदन्ते ॥ ५ ॥

(अन्यतश्च दृष्ट्वा ।) [1]इतो रम्यतरं वर्तते ।

प्रभाते पृच्छन्तीरनुरहसवृत्तं सहचरी-
र्नवोढा न व्रीडामुकुलितमुखीयं सुखयति ।

विपर्ययितवृत्तयः विपरीतभावेनास्थिताः (वामस्तनस्था दक्षिणस्तनभागे दक्षिण-स्तनस्था वामस्तनभागे दृश्यन्ते पुरुषायिते गाढालिङ्गने च तथा सम्भवात्) निजाः स्वीयाः घुसृणपङ्कपत्त्राङ्कुराः कुङ्कुमद्रवविरचितपत्त्रावलयः स्तनौ पुलकयन्ति सम्भोगस्मरणेन रोमाञ्चितौ कुर्वन्ति । इतः कमलिनीवनविलासी सूर्यः उत्तपते इतश्च प्रियगृहान्निर्गतानां वधूनां विपर्ययितवृत्तयः पत्त्रावलयः सम्भोगस्मरण-जननद्वारा स्तनयोः रोमाञ्चं सृजन्तीति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४ ॥

प्रियवसतेरिति । प्रियवसतेः कान्तगृहात् अपयान्त्यो बहिर्गच्छन्त्यः अमूः वारस्त्रियः करम्बितानि परस्परावलम्बितानि कराम्बुजन्मानि करकमलानि याभिः तथाभूताः सत्यः परस्परधृतकरा इति भावः, करजव्रणैः नखक्षतैः विरलः स्वल्पदृश्यः पुलकः रोमाञ्चो यत्र तद्यथा स्यात्तथा किमपि परस्परं विवदन्ते काचिद् वदति पश्य स्वस्तनयोर्बहुलीभवन्नखक्षतं येन सम्भोगस्मरणजन्मा रोमाञ्चोऽपि गोपाय्यते, अन्या च नैव मम तवैव तथेति वदन्ती तदपलपतीति परस्परं कलहायन्ते वारवनिता इत्यहो सम्भोगमयता रावणराजधान्या इत्यर्थः । सामान्यनायिका-वर्णनमिदम् । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ५ ॥

प्रभात इति । इयं नवोढा नवपरिणीता वधूर्नायिका व्रीडया लज्जया मुकुलित-मुखी नमितवदना सती अनुरहसवृत्तम् नायकेन सह कृतं निधुवनविलासमाधारी-

---

रहे है, और इधर युवतियाँ अपने प्रियतमोंके उरोदेशोंमें संलग्न अपने स्तनस्थित कस्तूरी पत्रोंको देखकर पुलकित हो रही है ॥ ४ ॥

प्रियतमके आवाससे जाती हुई परस्परालम्बित-हस्त ये ललनायें नखक्षत चिह्नोंसे व्याप्त स्तन-रोमाञ्चपूर्वक कुछ वादविवाद करती जा रही हैं ॥ ५ ॥

(दूसरी ओर देखकर) इधर और सुन्दर है—

---

१ 'इतः' इत्यादि पुस्तकान्तरे नास्ति ।

लिखन्तीनां पत्त्राङ्कुरमनिशमस्यास्तु कुचयो-
श्चमत्कारो गूढं करजपदमासां कथयति ॥ ६ ॥

(मुहूर्तमनुध्याय ।) अहो यत'प्रभृति वैदेहीवरणाय प्रहितेन पुरोधसा कथ्यमान ककुत्स्थकुलकुमारस्य [1]मानुष्यकातिशयमश्रृणवम् , तत प्रभृति कष्टा दशामनुभवामि । तथाहि ।

तत्तादृशं कथमुदेति मनुष्यलोके
तेजोऽद्भुतं निरभिसन्धि न तावदेतत् ।

कृत्य रहस्यवृत्तान्त पृच्छन्ती जिज्ञासमाना सहचरी स्वा सखी न सुखयति मुखत स्वरहस्यमाख्याय नानन्दयति, तु किन्तु अस्या वध्वा कुचयो. स्तनयो चमत्कार विचित्रता अनिश सर्वदा पत्राङ्कुर पत्त्रावली लिखन्तीना विन्यासपूर्वक विरचयन्तीनाम् आसा सहचरीणाम् गूढ तिरोहित करजपदं नखक्षत कथयति प्रकटीकरोति । लज्जावशान्मुखतोऽनिवेद्यमानेऽपि रहोवृत्ते स्तनयो पत्त्रावलीविरचनकाले तत्र वैचित्र्यदर्शनात्सहचर्यस्तासा नववधूना गूढ नखक्षतमनुमिमत इत्याशय । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६ ॥

वैदेहीवरणाय जनक सीता याचितुम् । प्रहितेन प्रेषितेन । पुरोधसा शौष्कलनाम्ना स्वपुरोहितेन । ककुत्स्थकुलकुमारस्य ककुत्स्थवशबालकस्य रामस्य । मानुष्यकातिशयम् अमानुषचरितप्रकर्षम् ।·कष्टाम् कष्टप्रदाम् । रामस्यालौकिक वृत्त श्रुत्वा व्यथामनुभवामीति भाव ॥

तत्तादृशमिति । मनुष्यलोके मर्त्यभुवने तत्तादृशम् अत्याश्चर्यकरम् तेज रामाभिधानं ज्योति' कथम् उदेति केन प्रकारेण जन्म लभते? एतत् तावत् रामसदृशस्य तेजसो मर्त्यलोकेऽवतरण निरभिसन्धिगूढाभिप्रायशून्य न, अवश्यमेव

प्रात कालमें सखियाँ रहस्यवृत्तान्त पूछती है परन्तु नवोढा कुछ बताती नहीं है केवल लज्जामे मुख झुका लेती है, परन्तु जब सखियाँ उनके स्तनोंपर पत्रावली लिखने बैठती है तब नखक्षतोंको देखकर उनका सारा रहस्य समझ जाती है ॥ ६ ॥

(थोडी देर सोचकर) जबसे मैंने वैदेहीकी मगनीके लिए भेजे गये पुरोहितके मुखसे ककुत्स्थकुल-कुमारका मानुष्यकातिशायी वृत्तान्त सुना है तबसे मेरी बुरी दशा हो रही है, क्योंकि—

मनुष्य-लोकमे इस प्रकारका अद्भुत तेज क्यों उत्पन्न हो गया है? यह बिना

१ 'मनुष्याति-'।

तान्येव चास्य चरितानि दशाननस्य
धिक्चिन्तया रजनिरक्षिषु नः [1]प्रभाति ॥ ७ ॥

अपि च—

श्रुत्वा दुःश्रवमद्भुतं च मिथिलावृत्तान्तमन्तः पत-
च्चिन्तापह्नवसावहित्थवदनत्वग्विप्रकीर्णस्मितः ।
[2]हेलाकृष्टसुरावरोधरमणीसीमन्तसंतानक-
स्रग्वासोज्ज्वलपाणिरप्यवति मां वत्सो न लङ्केश्वरः ॥८॥

रामसमानस्य तेजस्विनो मर्त्यलोकेऽवतारः कमपि गूढमभिसन्धिं कुक्षौ करोतीति भावः । (जातेऽपि दुरभिसन्धिपूर्णे रामे) दशाननस्य तान्येव पूर्वाविपरीतानि चरितानि व्यापाराः, देवैर्दुरभिसन्धिना रामे भुवं प्रहितेऽपि रावणो न चेतयते, धिक्, इदं रावणस्य मूर्खत्वं धिक्, इति चिन्तया एतद्गतया चिन्तया नः अस्माकम् अक्षिषु रजनिः प्रभाति वयं जागरेणैव निखिलां निशां यापयामः, रात्रौ निद्रां न लभामहे इत्यर्थः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७ ॥

श्रुत्वेति दुःश्रवम् श्रोतुमनर्हम् अद्भुतम् आश्चर्यजनकं च मिथिलावृत्तान्तं विदेहनगरीसमाचारं रामकर्तृकशिवधनुर्भङ्गजनककर्तृकरावणप्रार्थनाप्रत्याख्यानादिरूपं श्रुत्वा आकर्ण्य अन्तः पतन्ती मनसि समुद्भवन्ती या चिन्ता तस्याः अपह्नवेन बलान्निगूहनेन सावहित्थानि आकारगोपनचिह्नशालीनि यानि वदनानि दशापि रावणमुखानि तेषां त्वचि चर्मण्युपरितने भागे विकीर्णं विस्तृतं स्मितं हसितं यस्य तथाभूतः रावणो नाम वत्सो लङ्केश्वरः हेलया अनायासेन आकृष्टानां हृतानां सुरावरोधरमणीनां देवाङ्गनानां सीमन्तेषु केशपाशेषु याः सन्तानकस्रजो देवतरुपुष्पमालाः तासां वासेन सौरभेण उज्ज्वलः सुरभीकृतः पाणिर्यस्य तथाभूतः सन्नपि माम् न अवति न प्रीणयति । मिथिलावृत्तान्तश्रवणजन्यचिन्तागोपनप्रयासकृतशुष्कहसितपूर्णमुखो भूत्वा रावणो यद्बन्दीभूतसुराङ्गनाकचपाशाकर्षणात्तत्सीमन्तस्थितदेवपुष्पस्रक्सुगन्धेन स्वपाणीन् सुरभीकरोति, तदीयेन तेनाकारगोपन-

किसी गूढ रहस्यके हो नहीं सकता है। इधर दशाननके वही पुराने चरित हैं ? इसी चिन्ताके कारण मैं रातभर जगकर सबेरा करता हूं ॥ ७ ॥

दुःश्रव तथा अद्भुत मिथिला-वृत्तान्तको सुनकर हृदयमें पैदा होनेवाली चिन्तासे आकार-गोपनपूर्वक वदनपर जिसके हास बिखर रहे हैं, अनायास आकृष्ट देवबाला रूप बन्दिनियोंके शिरोमाल्योंसे जिसके हाथ प्रकाशित हो रहे हैं ऐसा होकर भी रावण मुझे आज आनन्दित नहीं कर रहा है ॥ ८ ॥

१ 'प्रयाति'। २ 'सुरावरायनवधू–', 'सुराधिराजरमणी–'।

(विमृश्य आकाशे ।) अहह, दारुणेयमस्माकं चिरजीविता ।

प्रीते विधातरि पुरा परिभूय मर्त्या-
न्वव्रेऽन्यतो यदभयं स भवानहंयु ।
तन्मर्मणि स्पृशति मामतिमात्रमद्य
हा वत्स शान्तमथवा दशकन्धरोऽसि ॥ ९ ॥

(सविमर्शम् ।) अहो मैथिलस्य नृपतेरकार्यज्ञता ।

विश्वामित्रवशीकृते हृदि वयं मा भूम सम्बन्धिन-
स्ते दृष्टा न कथं पुराणमुनयो मान्या पुलस्त्यादय ।

व्यापारेणापि मम न सन्तोष, चिन्ताबीजस्य तावताऽनपनीतत्वादिति भाव । 'अवहित्थाऽऽकारगुप्ति' इत्यमर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ८ ॥

दारुणा क्लेशजननी । चिरजीविता दीर्घायुष्ट्वम् । यद्यहं न चिरजीव्यभविष्य तदा प्राङ्मृतत्वादिमा दशा नाद्रक्ष्यम् , तद्धिङ्मम चिरजीवित्वमित्यर्थ ।

प्रीत इति स भवान् अहयु अहङ्कारवान् भूत्वा पुरा विधातरि ब्रह्मणि प्रीते तपसा तोषिते सति मर्त्यान् परिभूय मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखो भूत्वा अन्यत मनुष्यातिरिक्तेभ्य यत् अभय निर्भयभावं वव्रे वृतवान् , तत् तव मानवाननादृत्य देवेभ्योऽभयवरणम् अद्य सम्प्रति माम् अतिमात्रम् अत्यन्त मर्मणि स्पृशति हृदये व्यथयति, अथवा शान्त प्रतिहतममङ्गलमस्तु, दशकन्धरोऽसि तव दशकन्धरतया नास्ति भयमित्यर्थ । ब्रह्माण पुरा तपसा प्रसाद्य यद्भवान् दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखो याचितवान् , तदधुना मा स्मर्यमाण सद् व्यथयति, यदि प्रागेव मनुष्यादप्यभय ब्रह्मणो याचितमभविष्यत्तदा सम्प्रति भय नाभविष्यदिति कष्ट भवति । अथवाऽलमनया चिन्तया, त्व दशकन्धरो रामेणैककन्धरेण कथकारं जित स्यास्तदनवसरचिन्तयाऽनयाऽलमिति तात्पर्यम् । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥

विश्वामित्रेति । विश्वामित्रेण वशीकृते स्ववशनीते हृदि वय सम्बन्धिन सम्बन्धयोग्या मा भूम न स्याम नाम, ते प्रसिद्धा मान्या आदरपात्राणि पुराणमुनय प्राचीनर्षय पुलस्त्यादयो रावणपूर्वपुरुषा· कथ न दृष्टा किमिति न गणिता·, विश्वा-

---

(विचार करके आकाशकी ओर) अहह ! हमारी यह चिरजीविता बडी दारुण है, ब्रह्माके प्रसन्न होनेपर मर्त्योंके प्रति आस्था नहीं रखनेवाले उस अहङ्कारी रावणने जो मर्त्येतर जनसे अभय याचनाकी वह बात आज हमारे हृदयमें चुभ रही है, अथवा जाने दो इस बातको, तुम रावण हो ॥ ९ ॥

(विचार करके) मैथिलराजकी अकार्यज्ञता तो देखिए—

विश्वामित्रने उनके हृदयको वशमें कर लिया है अत वह हमें सम्बन्धके योग्य

जामातापि महेन्द्रमौलिवलभीपर्यङ्करत्नाङ्कुर-
ज्योत्स्नापुष्टनखेन्दुदीधितिरयं [1]नापेक्षितो रावण ॥ १० ॥

(पुरोऽवलोक्य ।) कथ मिथिलाचरितानि चरितुमनुप्रहिता चिरयति [2]वत्सा शूर्पणखा ।

(प्रविश्य शूर्पणखा ।)

शूर्पणखा—(सहर्षम् ।) अम्महे. सोम्मसुन्दरविआहणेवच्छल-च्छीविच्छरिढकान्तिपब्भाराइ रहुउलकुमाराणं मुहपुण्डरीआइं पेक्ख-

मित्राधीने हृदि यद्यस्माक विषये सम्बन्धार्हताज्ञान न जात न जायतान्नाम, परन्तु विश्वामित्रापेक्षयाऽप्यधिकतप शालिन पुलस्त्यादयो रावणपूर्वपुरुषा किमिति न मनसि विभाविता इत्याद्यपादद्वयस्यार्थ । महेन्द्रस्य शक्रस्य मौलि. शिर एव वलभी प्रासादोपरितनगृहम् तत्र ये रत्नाङ्कुरा मणिप्ररोहा तेषा ज्योत्स्नाभि किरणै पुष्टा वृद्धि नीता नखेन्दूना नखरूपचन्द्राणा दीधिति कान्तिर्यस्य तथाभूत शक्रशिरसि पाद न्यस्य तत्रत्यरत्नप्रभासमेधितनखमयूखो रावण अपि जामाता न अपेक्षित. जामातृभावेन न वरीतुमभिलषित , आश्चर्यमिदम् , यज्जनक एतावदपि ज्ञानं न रक्षतीति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १० ॥

मिथिलाचरितानि मिथिलावृत्तान्तान् । चरितुम् चरभावेन ज्ञातुम् । प्रहिता प्रेषिता । चिरयति विलम्ब करोति ।

अम्महे आश्चर्यव्यञ्जकमव्ययम् । सौम्यम् अनुद्धत सुन्दरं रमणीय च यद् विवाहनेपथ्यम् वैवाहिको वेष तस्य लक्ष्म्या शोभया विच्छर्दित समेधित कान्तिप्राग्भार शोभातिशयो येषा तथोक्तानि । रघुकुलकुमाराणाम् रघुवंशोत्प-

भले न समझें, परन्तु पुराणमुनि पुलस्त्य आदिको उन्होंने क्यों नहीं देखा ? इन्द्रके मस्तकरूप पर्यङ्कपर वर्त्तमान रत्नकी किरणोंमे जिसके नखचन्द्रकी द्युति समृद्ध हुआ करती है उस रावणरूप जामाताकी भी अपेक्षा न की ॥ १० ॥

(आगे देखकर) मिथिलाके वृत्तान्तको जाननेके लिए भेजी गई शूर्पणखा क्यों देर कर रही है ?

(शूर्पणखाका प्रवेश)

शूर्पणखा—(सहर्ष) मैंने यद्यपि कपटसे यह मानुषरूप धारण किया है जो मेरे लिए घृणित है, फिर भी इससे मुझे यह बडा लाभ हुआ है कि सुन्दर विवाह-वेषसे

१. 'नावेक्षित ' ।　　२, 'वत्सा' मे ।

न्ती जुउच्छिदेणावि माआमाणुसीभावेण कदत्थीकिदह्मि। अम्मो, सा तारिसी गुणाण पकिदी जा विपक्खहत्थपडिदावि सुहावेदि। [अम्महे, सौम्यसुन्दरविवाहनेपथ्यलक्ष्मीविच्छादितकान्तिप्राग्भाराणि रघुकुलकुमाराणा मुखपुण्डरीकाणि प्रेक्षमाणा जुगुप्सितेनापि मायामानुषीभावेन कृतार्थीकृतास्मि। अहो सा तादृशी गुणाना प्रकृतिर्या विपक्षहस्तपतितापि सुखयति।]

माल्यवान्—(दृष्ट्वा सस्नेहम्।) कथ वत्सा मे शूर्पणखा। वत्से, अयमहम्। इत इतो भवती।

शूर्पणखा—कधं इह ज्जेव्व अट्टालअसिहरपग्गीवे मादामहो। अहो दुस्सिलिट्ठता दड्ढकज्जाणम्। ज दाणि पजागरकिलिअन्तलोअणो

न्नानाम् बालकाना रामादीनाम्। मुखपुण्डरीकाणि वदनकमलानि। प्रेक्षमाणा पश्यन्ती। जुगुप्सितेन निन्दनीयेन मायामानुषीभावेन कपटवनिताभावेन। कृतार्थीकृतास्मि धन्यता प्रापितास्मि। यद्यपि अस्माकं राक्षसीनां दृष्टौ मानुष्यकमतिघृणित तथापि यद्यह मानुष रूपं नाग्रहीष्य तदा कथं तादृशं रघुकुमाराणां सुन्दरं वैवाहिक वेषमालोक्यात्मानमकृतार्थयिष्यमिति धन्यो मम मायामानुषीरूपपरिग्रह इत्यर्थः। तादृशी गुणाना प्रकृति एतादृशो गुणाना स्वभावो (यत्) विपक्षहस्तपतिता शत्रुषु स्थिता। गुणानामय स्वभावो यत्ते शत्रुषु स्थिता अपि दर्शकानामानन्दमेव जनयन्तीत्यर्थः।

अयमहम् अहमत्र देशेऽस्मि। इत इतो भवती त्वमत्रागच्छेत्यर्थः।

अट्टालकशिखरप्रग्रीवे धनधारणस्थानशिखरे। मातामहो माल्यवान्। दु श्लिष्टता कष्टप्रदता दग्धकार्याणाम् निन्दितानामेषा कार्याणाम्। प्रजागरक्लान्तलोचन चिरजागरणवशात्क्लिष्टनयन। प्रतिक्षणं सततं जृम्भया मुखव्यादानेन प्रसारितं व्यात्त यन्मुख कुहर गह्वर तत्र दृष्ट हृदयस्थित कार्यभारो यस्य तादृश.

वर्धित कान्ति समुदायवाले इन रघुकुमारमुख-पुण्डरीकोंके दर्शनोंसे मैं धन्य हो गई, गुणोका यह स्वभाव होता है कि वह शत्रुनिष्ठ होकर भी सुखप्रद होते हैं।

माल्यवान्—(देखकर सस्नेह) क्यो मेरी वत्सा शूर्पणखा, वत्से, मैं यह हूँ, तुम इधर आओ।

शूर्पणखा—क्यों इसी अट्टालिकाके शिखरपर मातामह उपस्थित हैं?

इन अभागे कार्यों की बुरी स्थिति होती है, जिससे सदा जागते रहनेके कारण इनकी

पढिक्खणजिम्भिआपसारिदमुहकुहरदिट्ठहिअअट्ठिदकठिणकज्जभारो अ-ण्णो विअ को वि दीसदि। अहवा सामण्णो वि गुरुओ मन्तिभावो विसेसेण साहसेक्करसव्ववसाअस्स चण्डचरिदस्स अह्मसामिणो रावणस्स। जाणामि मं जेव्व पडिपालअन्तो चिट्ठदि। जाव ण उवसप्पामि। (सविषादमुपसृत्य।) अज्ज, वन्दे। [कथमिहैवाट्टालकशिखरप्रग्रीवे मातामहः। अहो दुःश्लिष्टता दग्धकार्याणाम्। यदिदानीं प्रजागरक्लान्तलोचनः प्रतिक्षणजृम्भाप्रसारितमुखकुहरदृष्टहृदयस्थितकठिनकार्यभारोऽन्य इव कोऽपि दृश्यते। अथवा सामान्योऽपि गुरुको मन्त्रिभावो विशेषेण साहसैकरसव्यवसायस्य चण्डचरितस्यास्माकं स्वामिनो रावणस्य। जानामि मामेव प्रतिपालयंस्तिष्ठति। यावदेनमुपसर्पामि। आर्य, वन्दे।]

माल्यवान्— [1]वत्से, कल्याणिनी भूयाः। इहास्यताम्। अपि भरतशत्रुघ्नाभ्यां [2]मिथिलामुपस्थितो दशरथः।

शूर्पणखा—(उपविश्य।) अज्ज, दसरहे आअदे कुमाराणं गोदा-

चिरजागरजनिताभिरनवरतप्रवर्त्तमानाभिर्जृम्भाभिर्मुखकुहरे व्यादीयमाने सति तत्र काले तद्हृदयस्थितस्य महतः कार्यभारस्य प्रत्यक्षं भवतीति। अन्य इवायं माल्यवान् प्रतीयते। गुरुकः महान्। साहसैकव्यवसायस्य सततं साहसेन व्याप्रियमाणस्य। चण्डचरितस्य कोपनस्वभावस्य। प्रतिपालयन् प्रतीक्षमाणः॥

कल्याणिनी कुशलिनी। भरतशत्रुघ्नाभ्याम् इत्यत्र सहेति शेषः।

कुमाराणाम् रामादीनाम्। गोदानमङ्गले विवाहात्पूर्वसम्पाद्ये धार्मिककृत्य-

---

आँखें क्लान्त हो रहा है, प्रतिक्षण जभाई लेते रहनेसे फैलाये गये मुखके मार्गसे हृदयगत कार्योंके बाहुल्यके दर्शन होते हैं, इस तरह यह मातामह दूसरे ही प्रतीत होते हैं, अथवा—सामान्य मन्त्री होना ही महागौरवपूर्ण कार्य है, विशेषतः सततसाहसकर्त्ता तथा प्रचण्डचरित रावणका मन्त्री होना। मालूम पड़ता है—वह मेरीही प्रतीक्षामें बैठे हुए हैं। जब तक उनके पास चलूँ। (सखेद समीप जाकर) आर्य, प्रणाम करती हूँ।

माल्यवान्—वत्से, तुम्हारा कल्याण हो। इधर बैठो। क्या भरत तथा शत्रुघ्नके साथ दशरथ मिथिला पहुँच गये ?

शूर्पणखा—(बैठकर) दशरथके आ जाने और कुमारोंके गोदानमङ्गलके हो

---

१. 'कल्याणिनि, इहास्यताम्'। २ 'सह वैदेहमुपस्थितः', 'शत्रुघ्नाभ्यामुपस्थितः'।

णसङ्गले अ सवुत्ते दाव मए पत्त मिहिलाणअरम् । [आर्य, दशरथे आगते कुमाराणा गोदानमङ्गले च सवृत्ते तावन्मया प्राप्त मिथिला नगरम् ।]

माल्यवान्—(नि श्वस्य ।) [1]अतिप्रकाशोऽयमर्थो यथा निवृत्तस्वीकरणा जानकीति ।

शूर्पणखा—अव इ । [अथ किम् ।]

माल्यवान्—(विमृश्य ।) अहो दुरात्मन क्षत्रियब्राह्मणस्य कुशिकजन्मनो दुर्नाटकम् ।

यज्ञोपप्लवशान्तये परिणतो राजा सुतं याचित-
स्तं चानीय विनीय चायुधविधौ ते जघ्निरे राक्षसा ।
त्रैयक्षं विदलय्य कार्मुकमथ स्वीकार्य सीतामितो

विशेषे, क्षत्रियाणामयमाचारो यत्ते विवाहात्पूर्व पुत्रस्य गोदानमङ्गल सम्पादयन्ति, तथा च कालिदास 'अथास्य गोदानविधेरनन्तर विवाहदीक्षा निरवर्तयद् गुरु' इति प्राप्त गतम् , मद्गमनात् पूर्वमेव दशरथस्तत्र गत इत्याशय ॥

अतिप्रकाश ख्यात । निवृत्तस्वीकरणा सञ्जातविवाहा । 'उपायम स्वीकरणे' इति पाणिनि , तत्रोपयमन विवाह इति भट्टोजिदीक्षित ।

दुरात्मन दुष्टस्य । क्षत्रियब्राह्मणस्य जन्मत क्षत्रियस्यापि तपसा ब्राह्मणत्वमभिमन्यमानस्य । कुशिकजन्मन कुशिकात्मजस्य विश्वामित्रस्य । दुर्नाटकम् दुश्चेष्टा ।

यज्ञोपप्लवेति । यज्ञोपप्लवशान्तये मखविघ्नोपशमनाय परिणत वृद्धो राजा-दशरथ सुत राम नाम पुत्र याचित', त पुत्र राममानीय तपोवन प्रापय्य आयुधविधौ शस्त्रप्रयोगे विनीय शिक्षयित्वा च ते प्रसिद्धा ताडकासुबाहुप्रभृतयो राक्षसा जघ्निरे निहता , अथ एतदनन्तर त्र्यक्षस्य त्रिलोचनस्येद त्रैयक्ष शैव धनु-

---

जानेपर ही म मिथिला पहुची ।

माल्यवान्-(साँस लेकर) अब यह बात अतिप्रकट है कि सीताका विवाह हो गया ।

शूर्पणखा--और क्या ?

माल्यवान्--(विचारकर) अहा, दुरात्मा तथा क्षत्रिय-ब्राह्मण विश्वामित्र का दुर्नाटक तो देखो ।

यज्ञविघ्नशमनके लिए राजासे उनके पुत्रकी याचना की, लाकर उन्हे धनुर्वेदकी शिक्षा देकर उनके द्वारा हमारे वीर राक्षसोंका वध करवाया । शिवके धनुषको तुडवाकर सीताका

१ 'प्रतिपदप्रकाश.' ।

नो विद्मः कुहनाविटेन बटुना किं तेन कारिष्यते ॥ ११ ॥

शूर्पणखा—अज्ज, एव्वं णेदम्। सो मए तत्थ बह्मणो वसिट्ठ-महेसिणो वि फुरन्तो दिट्ठो। [आर्य, एवमेतत्। स मया तत्र ब्रह्मणो वसिष्ठमहर्षेरपि स्फुरन्दृष्टः।]

माल्यवान्—(विहस्य।) वत्से, तपोभिरस्य ब्राह्मणादेशोऽपि स्थानिवद्भावेन क्षत्रकार्यं न जहाति। किं च स्वभावमधुरोऽपि काकुत्स्थबटुरौत्पत्तिकेन क्षात्रेण ब्राह्मण्येन च जन्मना त्रिजातकादस्मान्मुनेर[1]धीयानोऽवरीणः परिणस्यते। तथाहि।

विंदलय्य भञ्जयित्वा सीतां स्वीकार्य रामेण विवाह्य इतः परम् कुहनाविटेन दम्भकर्मणि निपुणधूर्त्तेन तेन बटुना ब्राह्मणशिशुना विश्वामित्रेण किं कारिष्यते विधास्यत इति नो विद्म न जानीमः। चिन्ताऽत्र व्यज्यते, स्पष्टमन्यत ॥ ११ ॥

वसिष्ठमहर्षेः वसिष्ठापेक्षया। स्फुरन् दीप्यमानः, वसिष्ठतोऽप्यधिकतेजस्वी। ब्राह्मणादेशः ब्राह्मणत्वबुद्धिः। क्षत्रकार्यं न जहाति क्षत्रियसम्पाद्यं हिंसादि न त्यजति। यथा 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्रेण हन्तेः स्थाने जायमानः कोऽप्यन्य आदेशः स्थानिप्रयुक्तमपि कार्यं करोति तद्वत् तपस्यया ब्राह्मणत्वं प्राप्तोऽप्ययं प्राक्तनं क्षत्रियसंस्कारं तत्प्रयुक्तां हिंसादिप्रवृत्तिं च न जहातीत्यर्थः।

स्वभावमधुरः निसर्गकोमलस्वभावः। ककुत्स्थकुलोद्भवो ब्रह्मचारी। औत्पत्तिकेन स्वाभाविकेन, क्षात्रेण क्षत्रियोचितेन ब्राह्मण्येन विप्रभावेन जन्मना परिवर्त्तनेन त्रिजातकात् त्रिधा गृहीतजन्मनः, प्रथममेकं जन्म मातुर्गर्भतः, द्वितीयं क्षत्रियोचितोपनयनेन, तृतीयं च तपोलब्धेन ब्राह्मणत्वाभिमानेनेति बोध्यम्। (अत्र त्रिभिर्जातस्त्रिजातक इति विश्वामित्रस्यानेकपितृकत्वध्वनिर्निन्दार्थः) अस्मात् मुने

विवाह सम्पन्न करवाया, नहीं जानते हैं इसके बाद यह धूर्त्त बटुक क्या करेगा ? ॥११॥

शूर्पणखा—आर्य, ऐसी ही बात है, विश्वामित्रको मैंने वसिष्ठके आगे भी अपनी बात चलाते देखा था।

माल्यवान्—(हसकर) तपस्यासे वह ब्राह्मण बन गया है परन्तु उसका क्षत्रिय-कार्य अभी नहीं छूट सका है। स्वभावतः सुकुमार होनेपर भी यह ककुत्स्थकुमार जन्मना क्षत्रिय, कर्मणा ब्राह्मण इस विश्वामित्रसे अस्त्रविद्या ग्रहण करनेके कारण स्वयं धिक्कारका पात्र हो जायगा। क्योंकि—

---

१ 'अधीयन्नधरीणशील'।

अविनयभुवामज्ञानानां शमाय भवन्नपि
प्रकृतिकुटिलाद्विद्याभ्यास खलत्वविवृद्धये ।
फणिभयभृता[1]मस्तूच्छेदक्षमस्तमसामसौ
विषधरफणारत्नालोको भयं तु भृशायते ॥ १२ ॥

भवतु । किमतिक्रान्तोपवर्णनेन[2] । [3]कथ त्विदानी स्वयग्रहीतुमुत्तिष्ठमानो राक्षसपति प्रतिकर्तव्य. स्यात् ।

विश्वामित्रात् । अधीयान विद्यामभ्यस्यन् । अवरीण धिक्कारपात्रम् । निन्दिताचारात् निन्दितकुलाच्चाध्ययन धिक्कार्यतामूलम् । परिणंस्यते भविष्यति ।

अविनयभुवामिति । अविनयभुवाम् दुर्णयजनकानाम् अज्ञानानाम् शमाय प्रशमनाय भवन् समर्थोऽपि अज्ञानोच्छेदक्षमोऽपि प्रकृतिकुटिलात् स्वभावक्रूराज्जनात् विद्याभ्यास· विद्याध्ययन खलत्वविवृद्धये दौर्जन्यस्य वर्धनाय जायत इत्यर्थ· । अज्ञानापनोदक्षमोऽपि दुर्जनादध्यापकाद्विद्याभ्यासोऽध्येतुर्दुर्जनता समेधयतीत्यर्थ , तत्र दृष्टान्तमाह–फणिभयेति । फणिभयभृता सर्पोऽत्र स्यादिति भयजनकानाम् तमसाम् अन्धकाराणाम् असौ विषधरफणालोक सर्पमणिप्रकाश उच्छेदक्षम विनाशकर अस्तु पर भय भृशायते सर्पमणिवारणे तदन्विष्यत सर्पाद् भय वर्धते । तस्मात् तमोनाशकस्यापि सर्पमणेर्यथा भयसपृक्ततयाऽनुपादेयत्व तथाऽज्ञानविनाशकस्यापि दुर्जनादध्ययनस्येति रामलक्ष्मणयोर्विश्वामित्रादध्ययन न हितमिति भाव· । हरिणीवृत्तम् ॥ १२ ॥

अतिक्रान्तोपवर्णनेन व्यतीतवस्तूपनिबन्धनेन । स्वय ग्रहीतुम् आत्मनैव सीता हर्त्तुम् । उत्तिष्ठमान उद्यत । प्रतिकर्त्तव्य शान्ति नेय ।

अविनयसे अज्ञानको दूर करनेवाला होकर भी प्रकृत्या दुष्टजनसे किया गया विद्याभ्यास खलत्वकी वृद्धि किया करता है, जिन्हे सर्पोंसे भय मालूम पडता है उन्हें फणिमणिसे अन्धकारका भय भले दूर हो जाय किन्तु फणि-मणिके देखनेसे सर्प भय तो बना ही रह जाता है ॥ १२ ॥

अस्तु अतीतवस्तुकी चर्चासे क्या लाभ ? अब सीताको स्वय हरनेकी चिन्तामें पडे रावणको किस तरह रोका जाय ?

---

१. 'अस्तुच्छेद-' । २. 'वर्णितेन' । ३ 'कथ वेत्थमिदानीम्' ।

शूर्पणखा—अज्ज, ण खु मोट्टिमं परिहरन्तो अण्णो उआओ लक्खीअदि। [आर्य, न खलु मोट्टिमं परिहरतोऽन्य उपायो लक्ष्यते।]

माल्यवान्—वत्से, मा मैवम्। महादोषो हि तादृशेन [1]धर्मविजयिना वीरप्रवालेन परिगृहीताया वैदेह्याः प्रसह्यापहारः। पश्य।

दोःस्तम्भद्वयदर्पडम्बरमिति स्पष्टं न विस्पन्दते
वैदेहीकरबन्धसूचनमिति प्रस्तौति न व्रीडया।
इत्यालोच्य कृतस्मितैर्मुनिभिरादिष्टेन येन क्षणा-
दात्तं वन्दितमाञ्चितं[2] च सहसा भग्नं च तादृग्धनुः॥१३॥

मोट्टिमम् बलात्कारम्। परिहरन् त्यक्त्वा। लक्ष्यते प्रतीयते, रावणो बलप्रयोगं परिहृत्य नान्येनोपायेन शमयितुं शक्य इत्यर्थः।

महादोषः बहुदोषपूर्णः। धर्मविजयिना धर्ममाश्रित्य विजयप्रवृत्तेन। वीरप्रवालेन नवोदयेन वीरेण। परिगृहीतायाः परिणीतायाः। प्रसह्यापहारः बलाद्धरणम्। सीतायाः रामेण परिणीतायाः तस्या बलाद्धरणं महतेऽनर्थाय जायेतेति तात्पर्यम्।

दोःस्तम्भद्वयेति। दोःस्तम्भद्वयदर्पडम्बरम्। बाहुरूपयोः स्तम्भयोर्दर्पस्याहङ्कारस्य डम्बरम् प्रकाशनं स्यादिति (सर्वेषु नृपेषु परस्परस्पर्धया धनुर्नमयितुं प्रवर्त्तमानेष्वपि तथाकरणे स्तम्भोपमयोर्बाह्वोर्दर्पः प्रकाशितो भवतीति तत्प्रकाशनं नम्रतयाऽनिच्छन्) न विस्पन्दते इतरनृपवत् न स्पर्धते, किञ्च तथाकरणे वैदेहीकरबन्धसूचनम् सीतापाणिग्रहविषयकाभिलाषप्रकाशनं स्यादिति व्रीडया लज्जया न प्रस्तौति धनुर्नमनप्रस्तावं न करोति। इति एवं रामस्य शालीनताम् आलोच्य विभाव्य कृतस्मितैः हसितमुखैः मुनिभिः तत्कालसन्निहितैः शतानन्दादिभिः आदिष्टेन आज्ञप्तेन येन रामेण तादृक् स्वनामविख्यातम् ऐशं धनुः क्षणात् अल्प-

शूर्पणखा—बलात्कारके अतिरिक्त तो कोई उपाय नहीं दीखता है।

माल्यवान्—वत्से, ऐसा मत कहो, धर्मविजयी उस वीर कुमारके द्वारा विवाहिता सीताके बलात् हरणमें बड़ी आपदा हो सकती है। देखो—

शिवधनुषके उठानेमें बाहुओंके गर्वका प्रकाशन होगा ऐसा समझकर उसकी इच्छा नहीं प्रकट करता है, और वैदेहीके विवाहकी सूचना होगी इसलिए लज्जासे धनुषके विषयमें प्रस्तावभी नहीं करता है, ऐसा देखकर मुस्कुराते हुए मुनियोंके आदेशसे उसने तत्क्षण धनुष उठाया, वन्दनाकी, नवाया, और उस विशाल धनुषको तोड दिया॥ १३॥

१ 'निजधर्मविजयिना', 'धर्मविजयिना'। २ 'अञ्चितम्'।

[1]तत्कथं च तस्मिन्निशाचरनाथमाततायिनमनुजानीमः ।

शूर्पणखा—([2]निःश्वस्य ।) जधा णिरूविदं मादामहेण । अहो कालस्स माहप्पं, जं दाणिं तिहुअणजअलच्छीलीलावन्दिआरे महाराअरावणेवि एव्वं मन्तीअदि । [यथा निरूपितं मातामहेन । अहो कालस्य माहात्म्यम्, यदिदानीं त्रिभुवनजयलक्ष्मीलीलावन्दीकारे महाराजरावणेऽप्येवं मन्त्र्यते ।]

माल्यवान्—वत्से,

मुनिरपि गुरुर्दिव्यास्त्राणां बभूव दिवौकसा-
मजगवधनुर्भङ्गे तावानहो स महोत्सवः ।

कालेनैव आत्तं गृहीतं वन्दितं नमस्कृतम् आञ्छितम् नमितम् सहसा हठात् भग्नं खण्डितञ्च । अतस्तादृशवीरवधूहरणे रावणस्य हठात् प्रवृत्तिर्न श्रेयसे स्यादिति भावः ॥ १२ ॥

तस्मिन् रामे । निशाचरनाथम् राक्षसराजं रावणम् । आततायिनम् दारापहारिणम्, 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः' ॥
अनुजानीमः अनुमन्यामहे ।

यथानिरूपितं मातामहेन साधु विचारितम् भवता । त्रिभुवनजयलक्ष्मीलीलावन्दीकारे—अनायासासादितलोकत्रयजयलक्ष्मीके । रावणो यदि रामस्य दारानपहरिष्यति तदा नोचितं करिष्यतीति चिन्ता रावणस्यापि विधीयमाना कालस्य बलवत्तरत्वं प्रकाशयति ।

मुनिरपीति । मुनिर्विश्वामित्रोऽपि दिव्यास्त्राणां जृम्भकादीनां गुरुरुपदेष्टा बभूव, अजगवधनुर्भङ्गे दिवौकसां देवानां स तावान् अतुलितः महोत्सवः बभूवेति

इसलिये हम राक्षसराजको बलप्रयोग करनेकी अनुमति कैसे दें ?

शूर्पणखा—(साँस लेकर) मातामहका सोचना ठीक है । समयका माहात्म्य है, कि इस समय त्रिभुवन विजयलक्ष्मीको वन्दी बनानेवाले महाराज रावणके सम्बन्धमें भी इस तरह विचार किया जा रहा है ।

माल्यवान्—वत्से ! मुनिने दिव्यास्त्रोंका प्रदान किया है, पिनाक-भञ्जनके अवसरपर

---

१ 'कथं तस्मिन्' । २. 'दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य' ।

रघुपतिगुणक्रीतामेनामवेहि जगत्त्रयीं
विपरिणमने दौर्जन्यं तु प्रभुत्वपदेन नः ॥ १४ ॥

शूर्पणखा—को सन्देहो। तस्सि विवाहमहूसवे स-व मए पच्चक्खीकिदम्। [क सन्देह । तस्मिन्विवाहमहोत्सवे सर्वं मया प्रत्यक्षीकृतम्।]

माल्यवान्—तदेवमेकलोष्टवध स्यात्। तथाहि। [1]मिथिला प्रविश्य बलादाकृष्यमाणे कलत्रे कथ तितिक्षेत[2] [3]रघुराजपुत्र। न चोत्तिष्ठमान [4]पौरजानपदप्रकृतयोऽप्यनूत्तिष्ठेरन्। [5]किमङ्ग, सबन्धिबान्ध-

शेष। तदेवम् एता जगत्त्रयीम् लोकत्रयम् रघुपतिगुणक्रीताम् राघवगुणवशीकृताम् अवेहि विद्धि न अस्माक प्रभुत्वमदेन बलदर्पेण दौर्जन्य दुष्टत्व विपरिणमते पर्यवस्यति विश्वामित्र स्वय तौ नीत्वा दिव्यास्त्राणि दत्तवान् इति दुरवधर्षौ तौ नैतावदेव, देवा अपि तत्पक्षपातिन, अतएव तत्कृते शिवधनुर्भङ्गे ते महान्तमुत्सव मन्यन्ते स्म। तदेव रामस्य लोकप्रियत्वे प्रमाणितेऽपि यदि वयं प्रभुत्वमद प्रकटयामस्तदा नो दौर्जन्यप्रकाशनमात्रं फल भविष्यति नान्यदिति तथाकृत्वाऽलमिति भाव ॥ १४ ॥

तस्मिन् विवाहमहोत्सवे सीतारामयो विवाहरूपे महोत्सवे। प्रत्यक्षीकृतम् दृष्टम्। एकलोष्टवध. लोष्टं मृत्तिकाखण्डम्। यथा लोष्टद्वयास्फालनेनान्यतरस्फुटन भवति तादृशो वधो लोष्टवध, मिथिलातो रावणेन सीतायामपहृतायां रामरावणयो सङ्घर्षे सञ्जाते रामो रावणो वा न भवेदित्यर्थ। कलत्रे स्त्रियाम्, तितिक्षेत मर्षयेत्। उत्तिष्ठमान युद्धोद्यतम्। पौरा जानपदा प्रकृतयश्चेति पौरजानपदप्रकृतय, पौरा नगरवासिन जानपदा देशवासिन प्रकृतय प्रजाश्च। अनूत्तिष्ठेरन् अनुवर्त्तेरन्, सहायका भवेयुरित्यर्थ। किमङ्ग, सम्बन्धिबान्धवाः सर्वासां प्रजानामेव सहायकत्वे सम्भविनि सम्बन्धिनो बान्धवाश्च सहाया

देवोन उतना बडा उत्सव मनाया, इस तरह समस्त विश्व ही रघुपतिके गुणोंसे उसका क्रीतदास बन रहा है, हमारे प्रभुत्व-मदका परिणाम केवल दौर्जन्य रह जायगा ॥ १४ ॥

शूर्पणखा—इसमें क्या सन्देह? उस विवाह-समयमें मैने सब कुछ आँखों देखा था।

माल्यवान्—इस समय लडना ढेलेकी लडाईकी तरह व्यर्थ होगा, क्योंकि मिथिला जाकर यदि हम उसकी स्त्रीका बलात् हरण करेंगे, तो भला रघुराजपुत्र किस प्रकार सहन

१ 'मिथिलायाम्'।   २ 'तितिक्षेत'।   ३ 'राजपुत्र.'।
४ 'जानपदा'।   ५ 'किमुताङ्ग'।

वा । [1]यथोक्तम्—आरण्योऽग्निरिव[2] दु सहदु खामर्षज तेजो विक्रमयति, मण्डलस्य चानुग्राह्यो भवति इति ।

शूर्पणखा—(दीर्घमुष्ण च नि श्वस्य ।) अज्ज, किं दाणिं जुत्तम् । [आर्य, किमिदानीं युक्तम् ।]

माल्यवान्—[3]शृणु वत्से, कार्यज्ञासि । अस्ति वनौकसा मन्त्री जाम्बवान् । स मतङ्गाश्रमवास्तव्यामुपसृत्य [4]श्रमणा नाम सिद्धशबरीमभ्यर्थितवान् । यथास्य वालिनो द्वैराज्येन क्षीणा [5]लुब्धापवारिता

भविष्यन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थ , आरण्योऽग्नि वनवह्नि । दु सहेन दु.ख सोढु शक्येन अमर्षण कोपेन जायते तादृश तेज पराक्रमम् विक्रमयति प्रकाशयति । मण्डलस्य राजसमूहस्य । अनुग्राह्य प्रीतिपात्रमनुसरणीय इत्याशय ।

इदानीम् एतादृश्या स्थितौ ।

कार्यज्ञा कर्त्तव्यज्ञानशालिनी । वनौकसाम् वानराणाम् । मन्त्री मन्त्रवित् स जाम्बवान् । मतङ्गाश्रमवास्तव्याम् मतङ्गाख्यमुनिकुटीरवासिनीम् । सिद्धशवरीम् सिद्धाम् तपस्याप्राप्तसिद्धिम् शवरी किरातजातीया रामायणकथाप्रसिद्धा वनिताम् । द्वैराज्येन सुग्रीवस्य राज्य बाली हरति, तदिह कदाचिद् बाली राजाज्ञा प्रवर्त्तयति कदाचिच्च गूढं स्थित सुग्रीव, तदिद द्वैराज्यम्, द्वैराज्यमनिश्चितस्थितिक शासनम्, तत्र प्रकृतीना दशा न साधुस्तिष्ठति, तथा च प्रयुक्त नैषधीये 'चरचिर शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि खेदमेति ।' क्षीणा अपहृतधना । लुब्धापवारिता धनलुब्धैस्तैस्तैरपकृता. प्रकृतय प्रजामुख्यपुरुषा । अभिषेच्य-

करेगा ? वह जब खड़ा होगा तब गाँव तथा देशके लोग भी उसके साथ खड़े हो उठेंगे, सम्बन्धियोंकी बात ही क्या ? कहते है—वनवह्निकी तरह लोग दु सह दु खजन्य तेजको विक्रमके रूपमें प्रकट करते ह, और लोग उनका साथ देते है ।

शूर्पणखा—(लम्बी गरम साँस लेकर) आर्य, इस समय क्या करना चाहिये ?

माल्यवान्—सुनो वत्से, तुम सब समझती हो, वनवासियोंका मन्त्री है जाम्बवान्, मतङ्गाश्रमवासिनी श्रमणाके पास जाकर सिद्ध शवरीसे उसने प्रार्थना की है कि इस बालिके द्वैराज्यसे क्षीण बनी हुई लुब्ध तथा अपकृत प्रजायें किष्किन्ध्यामें कुमार सुग्रीवको अभिषिक्त करनेमें रामकी सहायता चाहते है ।

१ 'तथोक्तम्' । २ 'अग्निरिव दु खा-' । ३ '(चिन्ता नाटयति ।) शृणु वत्से' ।
४. 'श्रवणाम्' । ५. 'अपचिता' ।

प्रकृतयः किष्किन्धायां [1]कुमारसुग्रीवमभिषेक्ष्यमाणाः सामवायिकं रामभद्रमपेक्षन्ते ।

शूर्पणखा—(सातङ्कम् ।) कधं खत्तिअपोदओ वालिणिग्गहे वि सहाओ समीहीअदि । तदो तदो । [कथं क्षत्रियपोतको वालिनिग्रहेऽपि सहायः समीह्यते । ततस्ततः ।]

माल्यवान्—ततश्चायोध्यातः कैकेय्या भरतवार्ताहरणाय प्रेषिता मन्थरा नाम [2]स्थविरदासी [3]कठोरतरणिताप[4]वज्रानलज्वालावलीढजीविता मिथिलाप्रान्तरे[5] तिष्ठतीति [6]निदाघकिरणान्तेवासी सतीर्थ्यमृषिं याज्ञवल्क्यमुपस्थाय [7]सम्प्रत्येव निमेषमात्रान्निवृत्तो हनूमान्कथयति ।

माणाः अभिषेक्तुं कामयमानाः, सामवायिकम् सम्भूय योद्धारम् , मिलित्वा वालिनिग्रहाय प्रयतितारम् । क्षत्रियपोतकः क्षत्रियशिशुः रामः । समीह्यते इष्यते, एतेन रामस्य महाबलशालित्वसम्भावना कृता वक्तृनिष्ठचिन्ता ध्वनिता ।

कैकेय्या भरतस्य मात्रा । भरतवार्त्ताहरणाय भरतसमाचारानयनाय । स्थविरदासी वृद्धा चेटी । कठोरस्य परिणतस्य तीव्रस्य तरणेः सूर्यस्य तापेन किरणसन्तापेनैव वज्रानलेन भयङ्कराग्निना अवलीढम् भक्षितं गृहीतं जीवितं यस्यास्तथोक्ता । मिथिलाप्रान्तरे मिथिलाभिमुखे दूरगामिनि शून्यवर्त्मनि कैकेय्या भरतवृत्तज्ञानाय प्रहिता मन्थरा मध्ये मार्गमत्युग्रभास्करकरसन्ताप्यमाना वर्त्तते इत्यर्थः । निदाघकिरणस्य सूर्यस्य अन्तेवासी व्याकरणविद्याच्छात्रः । सतीर्थ्यम् एकगुरुकम् । याज्ञवल्क्यः सूर्याद्वेदमधीतवान् हनूमांश्च सूर्याद् व्याकरणमिति तयोः सतीर्थ्यता । उपस्थाय अभिवाद्य । निमेषमात्रात् अल्पकालविलम्बेन । एतेन

शूर्पणखा—(सभय) क्यों बालिके निग्रहमें भी उस क्षत्रियशिशुकी सहायता मांगी जा रही है, इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद अयोध्यासे कैकेयी द्वारा भरतके समाचार जाननेके लिये भेजी गई मन्थरा नामकी बूढी दासी सूर्यके तापरूप वज्रसे समस्त अङ्गोंकी शक्तिके लुप्त हो जानेसे मिथिला समीप प्रान्तरमें वर्त्तमान है यह बात सूर्यके शिष्य तथा अपने सतीर्थ्य महर्षि याज्ञवल्क्यकी वन्दना करके मिथिलासे लौटे हुए हनूमान्ने अभी अभी

१ 'कुमारम्' । २. 'स्थविरतरा' । ३. 'कठोरतरतरणि' ।
४ 'वज्रानलावलीढ–' । ५ 'प्रान्ते' ।
६ 'निदाघकिरणव्याकरणान्तेवासी' । ७ 'सम्प्रत्येव' ।

अतस्त्वमप्यस्मदनुरोधेन [1]हनूमत्प्रत्यवेक्षितस्वशरीरा परपुरप्रवेशविद्यया मन्थराशरीरमधितिष्ठन्ती[2] मिथिलामुपेत्य प्रत्ययिता संविधानकमिदं दशरथगोचरीकरिष्यसि[3]। [4]इत्थम्भाविना गुरुनिदेशचर्याप्रसङ्गेन पङ्क-पाषाणविषमकण्टक[5]व्यालकुलबहुलामरण्यानीमनुप्रविष्ट सर्वथा वैदेशिको राजपुत्र कार्यगौरवान्नियतमेव वालिवधपूर्वकेण प्रतीकारसन्धिना[6] सम्बन्धेन सुग्रीवमुपगृह्णीयादिति।

शूर्पणखा—(सकौतुकम्।) अज्ज, किं तं सविहाणअम्। [आर्य, किं तत्सविधानकम्।]

मन्थराया मार्गस्थत्वमुक्तम्। अस्मदनुरोधेन मदीयविचारमनुसृत्य। हनुमत्प्रत्यवेक्षितस्वशरीरा हनुमता रक्ष्यमाणनिजतनुः, सुग्रीवकार्यसाधकतया हनुमानस्या रक्षा करिष्यति। परपुरप्रवेशविद्यया परकायप्रवेशकलया। अधितिष्ठन्ती प्रविशन्ती। प्रत्ययिता मन्थराशरीरप्रविष्टतयाऽशङ्कनीया। सविधानकम् कैकेय्या मन्त्रितम् रामभद्रवनप्रेषणभरतराज्यप्रदानरूपम्। गोचरीकरिष्यसि बोधयिष्यसि। गुरुनिदेशचर्याप्रसङ्गेन पित्राज्ञापालनप्रसङ्गेन। इत्थभाविना अनेन प्रकारेण प्राप्तेन। पङ्केन कर्दमेन, पाषाणेन शिलाशकलेन, विषमाम् नतोन्नताम्, कण्टका व्याला सर्पा व्याघ्रादयश्च तैर्बहुलाम् व्याप्ताञ्च। अरण्यानीम् महावनम् अनुप्रविष्ट प्राप्त। वैदेशिक अन्यदेशादागत। राजपुत्र राम, कार्यगौरवात् कर्त्तव्यस्य सीतोद्धरणस्य गौरवमपेक्ष्य। बालिवधपूर्वकेण बालिवधद्वारकेण। प्रतिकारसन्धिना परस्परोपकारकत्वसैत्र्या प्रतीकारसन्धिलक्षणमुक्त चाणक्ये 'मयाऽस्योपकृत पूर्वमय मामुपकरिष्यति। इति य क्रियते सन्धि स प्रतीकार उच्यते। उपकार करोम्यस्य

बताई है। अत तुम हमारे अनुरोधसे अपनी देहको हनुमान्की देख-रेखमें रखकर परकाय प्रवेश विद्याके द्वारा मन्थराके शरीरमें प्रवेश करके मिथिला चली जा, सबका विश्वास प्राप्त कर ले, और यह सारी बात दशरथसे बता दे। ऐसा होनेसे गुरुवचन पालनप्रसङ्गसे पङ्क, पाषाण, कण्टक, सर्पसे व्याप्त अरण्यमें आये हुये रामचन्द्र वैदेशिक होनेके कारण निश्चय ही वालिवधपूर्वक सुग्रीवकी सन्धिको स्वीकार कर लेंगे।

शूर्पणखा—(कुतूहलसे) वह सविधानक क्या है ?

---

१ 'हनूमदवेक्षित'। २ 'उपातिष्ठन्ती'। ३ 'कुरुष्व'।
४ 'भाविना च'। ५ 'व्यालबहुलाम्'। ६. 'सन्धिना सुग्रीवम्'।

माल्यवान्—(कर्णे ।) एवमेवम् । (इति कथयति ।)

शूर्पणखा—(हसन्ती ।) अहो बुड्ढरिच्छस्स कुडिलदा । तदो तदो ।
[अहो वृद्धऋक्षस्य कुटिलता ।]

माल्यवान्—[1]ततश्च सापि शबरयोगिनी 'सुग्रीवगुणानुरोधेन सर्व-मोमित्युरसिकृत्य तदैव विदेहाभिमुखी प्रस्थितेति मे जनस्थानविहारि-भिर्निशाचरैरागत्य निवेदितम् । [3]तदमुना च जाम्बवत्प्रयोगेण [4]फलता विराधप्रभृतिभिरधिष्ठितेषु विन्ध्यगिरिगह्वरेषु [5]विहरतो रामस्य सुकर कलत्रापहरणम । अस्मदीयास्तु माया [6]सुरासुरप्रथमरेखयोधस्य युद्ध-मुदितविबुधपतिना[7] वितीर्णमायाहरणमन्त्रधारिणो दशरथस्य संनिधौ न प्रभवन्ति ।

ममाप्येष करिष्यति । अथ वापि प्रतिकारो रामसुग्रीवयोरिव' । सम्बन्धेन मैत्र्या, उपगृह्णीयात् आश्रयेत् ।

वृद्धऋक्षस्य स्थविरभल्लूकस्य जाम्बवत । कुटिलता वक्रनीतिशालिता । शबर-योगिनी सिद्धा शबरजातीया श्रमणा नाम । सुग्रीवगुणानुरोधेन सुग्रीवस्य गुणान-नुरुद्ध्य । उरसिकृत्य स्वीकृत्य । विदेहाभिमुखी मिथिलामुद्दिश्य । जनस्थान-विहारिभि वनवासिभि । असुना सुग्रीवसख्यफलकेन । जाम्बवत्प्रयोगे जाम्बवत कुटिलनीत्या प्रयुक्तेन व्यवहारेण । अधिष्ठितेषु अध्युषितेषु । विन्ध्यगिरिगह्वरेषु विन्ध्याचलकन्दरासु । विहरत भ्रमत । सुकरम् अनायाससाध्यम् । अस्मदीया राक्षसकृता । माया छलनाव्यापारा । सुरासुरप्रथमरेखयोधस्य देवासुराग्रगण्य-

---

माल्यवान्—(कानमें) इस तरह है (कहता है)

शूर्पणखा—(हसती हुई) बूढे वानरकी कुटिलता तो देखें । इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद वह शबर तपस्विनी सुग्रीवके गुणानुरोधसे सब कुछ स्वीकार करके उसी समय मिथिलाकी ओर चली, यह बात निशाचर राक्षसोंने आकर तत्काल मुझसे बता दी थी । इस जाम्बवान्के प्रयोगसे विराध-प्रभृतिसे अधिष्ठित विन्ध्य-गिरि गह्वरोंमें भ्रमण करनेवाले रामकी स्त्रीका अपहरण सुकर हो जायगा । हमारी माया दशरथके समीप नहीं चल सकती है क्योंकि दशरथने सुरासुर युद्धमें प्रथम पङ्क्तिमें रहकर इन्द्रको प्रसन्न करके मायाहरणमन्त्र सीख लिया है ।

---

१ 'ततः सापि' । २ अनुरागेण सर्वं तथत्युररीकृत्य तथैव' ।
३ 'अमुना जाम्बवत' । ४ 'फलवता' । ५ 'विहरत- सुकरम्' ।
६ 'सुरासुरसमरप्रथमरेखा' । ७ 'विबुधपतिवितीर्ण' ।

शूर्पणखा—(सविचिकित्सम् ।) अज्ज, उवणदस्स एव्व करीअदि । [आर्य, उपनतस्यैव क्रियते ।]

माल्यवान्—(विहस्य ।) [1]वत्से, साधु । वृद्धसवादिनी ते [2]दृष्टि । यदाहु'—'यो ह्युपनतस्य पुत्रदारानतिमन्यते[3] तस्योद्विग्न मण्डलमभावायोपतिष्ठते' इति । कि पुनरस्मासु नैष निसर्गतेजस्वी सश्रयप्रवृत्तिमातिष्ठते ।

शूर्पणखा—हूं । अण्णं भणामि । अवि एव्व करिस्सदि रामभद्दो । [अन्यद्भणामि । अप्येव करिष्यति रामभद्र ।]

वीरस्य । युद्धमुदितविबुधपातिना सग्रामकौशलप्रसन्नशक्रेण । वितीर्णमायाहरणमन्त्रधारिण दत्तमायाप्रशममन्त्रविद । दशरथो हि युद्धे प्रसन्नेन्द्रेण दत्तां मायाहरणशक्ति रक्षतीति न शक्यतेऽस्माभिर्माया काञ्चिदुपपाद्य दशरथो वन प्रेषयितुं राममादिशन्वारयितुमित्थ च रामे वन गतेऽवश्य भावि सीताहरण तन्मूलकश्च रावणपराभव इति चिन्ताबीजमुन्नेयम् ॥

उपनतस्य वनसमीप गतस्य । एव क्रियते कलत्रमपह्रियते ।

वृद्धसवादिनी वृद्धजनदृष्टितुलिता, यथा वृद्धा विचारयन्ति तथा त्वमपीति भाव । अतिमन्यते हरति । उद्विग्नम् शङ्काकुलम् । एकस्यास्य समीपागतस्य पुत्रदारानय हृतवानेवमस्माकमपि हरिष्यतीति शङ्काकुलम् । मण्डल राष्ट्रम् , अभावाय विनाशाय । उपतिष्ठेत उद्यत स्यात् । निसर्गतेजस्वी स्वभावत तीक्ष्णदृष्टि । सश्रयप्रवृत्तिम् आश्रयेण वर्त्तनम् , आतिष्ठते अङ्गीकरोति । राम कदापि नास्मानाश्रयिष्यति, यन तदीय दारापहरण शक्यमर्षण स्याद् यतोऽसौ निसर्गतस्तेजस्वी वर्त्तत इत्याशय ।

एव करिष्यति पित्रादेशं मानयन्वन प्राप्स्यति ?

शूर्पणखा—आर्य, आ पहनपर ऐसा किया जाता है ।

माल्यवान्—(हसकर) वत्से, तुम बूढ़ोंकी तरह देखनी हो । कहते हैं—जो व्यक्ति उपनतजनका स्त्री-पुत्रका अपहरण करता है उसके अभावके लिए सारा मण्डल उठ खड़ा होता है । क्या वह निसर्ग तेजस्वी रामभद्र हमपर सशय नहीं करने लगगा ।

शूर्पणखा—हु, मै कुछ दूसरी बात कह रही थी, क्या रामभद्र ऐसा करेंगे ।

---

१ 'साधु वत्से' । २. 'बुद्धि' । ३. 'अभिमन्यते' ।

माल्यवान्—[1]कः संशयः। लोकोत्तरं हि किमप्युन्मीलयन्तो जगति राज्योपभोगेभ्योऽपि बीभत्सन्ते महानुभावाः।

शूर्पणखा—[2]अण्णं वि किं वि अणत्थन्तरं अत्थ पडिदमिति तक्केमि। [अन्यदपि किमप्यनर्थान्तरमत्र पतितमिति तर्कयामि।]

माल्यवान्—(सहर्षम्।) किं[3] तत्।

शूर्पणखा—मए जणअणअरादो णिक्कन्तीए सुदं, जधा खुडिदसिरिकण्ठसरासणस्स दासरहिणो मच्छरेण सअलखत्तिअकिदन्तो परसुरामो परागदोत्ति। [मया जनकनगरान्निष्क्रान्तया श्रुतम्, यथा क्षुण्णश्रीकण्ठशरासनस्य दाशरथेर्मात्सर्येण सकलक्षत्रियकृतान्तः परशुरामः परागत इति।]

माल्यवान्—([4]सहर्षम्।) सर्वमुपपन्नम्।

लोकोत्तरम् सकललोकविलक्षणम्। उन्मीलयन्तः अलौकिकं चरितं प्रकाशयन्तः। बीभत्सन्ते, अलौकिकचरितं प्रकटीकुर्वन्तो महानुभावाः राज्योपभोगमपि परित्यज्य गच्छन्तीति शक्यते रामो वनं गन्तुमिति भावः। अनर्थान्तरम् अनिष्टविशेषः।

जनकनगरात् मिथिलातः। निष्क्रान्तया बहिर्भूतया। क्षुण्णश्रीकण्ठशरासनस्य खण्डितशिवधनुषः। दाशरथेः रामस्य। मात्सर्येण कोपेन। सकलक्षत्रियकृतान्तः समस्तराजकसंहर्त्ता।

सर्वमुपपद्यते निखिलमस्मदर्थितं सिद्धयति, परशुरामागमनमस्मद्धितसिद्धिव्यञ्जकमित्यर्थः।

माल्यवान्—इसमें क्या सन्देह? कुछ लोकोत्तर कर्म करनेकी इच्छा रखनेवाले राज्योपभोगसे भी घृणा करते हैं।

शूर्पणखा—इसमें कुछ दूसरा भी अनर्थ मिल गया है, मैं ऐसा सोचती हूं।

माल्यवान्—(सहर्ष) वह क्या बात है?

शूर्पणखा—जनक नगरसे निकलती हुई मैंने सुना था कि शिवधनुष-भञ्जक रामसे कुपित होकर सकलक्षत्रसंहारी परशुराम वहाँ आ गये हैं।

माल्यवान्—(सहर्ष) सब हो सकता है।

---

१. 'वत्से, कः संशयः। लोकोत्तरं किमपि रूपमुन्मीलयन्तः'।

२. 'किं च अण्णं वि'। ३. 'कीदृशं तत्'।

४. 'सहर्षम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।

भुजार्गलितनर्मदामकरचक्रदंष्ट्राङ्कुर-
व्रणप्रकरकर्कशं किमपि बिभ्रदुग्रं वपुः ।
स येन परशौ हुतो नृपतिरर्जुनः कौतुका-
दसौ कथमुपेक्षते गुरुधनुर्व्यलीकं मुनिः ॥ १५ ॥

[1]परं त्वनेनापि सकलमूर्धाभिषिक्त[2]कण्ठकाण्डरुधिरावसेकपङ्किल-कुठारेण दुरभिभवो दाशरथिः ।

भुजार्गलितेति । येन भुजाभिर्बाहुसहस्रेण अर्गलितायाः प्रतिरुद्धप्रवाहायाः नर्मदायाः नदीभेदस्य यानि मकरचक्राणि जलजन्तुनिवहाः तेषां दंष्ट्राङ्कुरैः दशनाग्रभागैः यः व्रणप्रकरः क्षतसमुदयस्तैः कर्कशम् कठोरम् किमपि अवर्णनीयम् उग्रं भीषणं वपुः शरीरं बिभ्रत् धारयन् अर्जुनः कार्त्तवीर्यार्जुनो नाम नृपतिः परशौ निजपरश्वधेऽस्त्रभेदे हुतः क्षयं नीतः असौ मुनिः परशुरामः गुरुधनुर्व्यलीकम् निजाचार्यस्य शिवस्य धनुषो भङ्गं कथमुपेक्षते मृष्यति, नेदं सम्भवति यत् नर्मदां भुजैर्बद्ध्वा तत्रत्यजलजन्तुदन्तक्षतकठोरीकृतमुग्रं वपुर्दधानस्य कार्त्तवीर्यार्जुनस्य नृपतेर्वधाय समर्थस्य परशोर्धर्त्ता परशुरामो निजगुरुचापावमानिनं रामं मर्षयेदिति भावः । पुरा किल बाहुभिर्नर्मदाप्रवाहमवरुध्य स्त्रीभिः सह जलक्रीडां कुर्वतः सहस्रार्जुनस्याङ्गानि जलचरचक्रं क्षतानीति पुराणवार्त्ता प्रथते । पृथिवीवृत्तम् ॥ १५ ॥

अनेन परशुरामेण । सकलानां समस्तानां मूर्धाभिषिक्तानां राजन्यानां यानि कण्ठकाण्डानि गलनालानि तेषां रुधिरैः शोणितैरवसेकेन सेचनेन पङ्किलः पङ्कदिग्धः कुठारः परशुर्यस्य तादृशेन । समस्तक्षत्रियसंहारकपरशुनाऽपीत्यर्थः । दुरभिभवः दुर्जयः ।

अपने बाहुओंसे बांधी गई नर्मदाके मकर समुदाय द्वारा उत्पादित दन्तक्षत-चिह्नयुत भुजशाली उग्र शरीरको धारण करनेवाले कार्त्तवीर्यको जिस परशुरामने अपने कुठाररूप अग्निमें होम कर दिया था, वह परशुराम अपने गुरुदेवके धनुषका अपमान कैसे सहन करेगा ? ॥ १५ ॥

परन्तु सकलक्षत्रिय-कण्ठसमुदायके रुधिरसे पङ्किल इस कुठारसे भी दशरथपुत्रका अभिभव संभव नहीं है ।

---

१. 'परमनेन' । २. 'कण्ठकन्दरा' ।

शूर्पणखा—(साभ्यसूयम् ।) अहो दुद्धमुहे तस्सि खत्तिअवटुए एव्व सम्भावेदि मादामहो । [अहो दुग्धमुखे तस्मिन्क्षत्रियवटुक एव सम्भावयति मातामहः ।]

माल्यवान्—[1]वत्से, नैतज्जानासि ।

> **सर्वराजकदुर्धर्षं सर्वदेवमयं धनुः ।**
> **भञ्जता रामभद्रेण [2]विजिग्ये भुवनत्रयम् ॥ १६ ॥**

इदानीं तु—

> **राजन्यरुधिराम्भोधिकृतत्रिषवणो मुनिः ।**
> **प्राप्तः परशुरामोऽयं न विद्मः किं करिष्यति ॥ १७ ॥**

तदेहि । राजकुलमेव गच्छाव ।

साभ्यसूयम् सकोपम्, स चात्र रामस्य पराक्रमातिशयद्योतनजन्मा । दुग्धमुखे-बालवयस्ये । क्षत्रियवटुके राजकुमारे । सम्भावयति उत्प्रेक्षते ।

एतत् रामस्य पराक्रमातिशयम् ।

सर्वराजकेति । सर्वैः राजकैः राजसमूहैः दुर्धर्षं दुराकर्षम् नमयितुमशक्यम्, सर्वदेवमयम् सकलदेवांशसमुद्भवम् धनुः शैवं चापं भञ्जता खण्डयता रामभद्रेण भुवनत्रयं लोकत्रितयं विजिग्ये जितम् । यद्देवांशसम्भवं धनुः सकलैः राजभिर्नमयितुं नाशाकि तत्खण्डयित्रा रामस्य प्रमापितं सकललोकविजयित्वमिति युक्तमेव रामे परशुरामदुरभिभवत्वमिति भावः ॥ १६ ॥

राजन्येति । राजन्यानां क्षत्रियाणां रुधिराम्भोधौ शोणितसागरे क्षत्रियरुधिरमये समुद्रे कृतत्रिषवणः कृतत्रिसन्ध्यस्नानोऽयं मुनिः परशुरामः प्राप्तः, किं करिष्यति रामं जेष्यति न वा इति न विद्मः न जानीमः ॥ १७ ॥

शूर्पणखा—(असूयाके साथ) उस दुधमुहे क्षत्रियकुमारके विषयमें मातामह ऐसी बात कहते हैं,

माल्यवान्—वत्से, तुम नहीं जानती हो, सकल राजवर्गमें दुर्नमनीय सर्वदेवमय उस धनुषका भञ्जन करके रामने त्रिलोकको जीत लिया है ॥ १६ ॥

इस समय तो —राजन्यरुधिर रूप समुद्रमें त्रिकालसन्ध्या सम्पन्न करनेवाले मुनि परशुराम आये हैं, न जाने वह क्या करते हैं ? ॥ १७ ॥

चलो, राजकुलकी ओर चलें ।

---

१. '(विहस्य ।) नैव तावज्जानासि' । २. 'वेजितम्' ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(नेपथ्ये ।)

भो भो जनकाग्निहोत्रपरिचारकाः पाद्यं पाद्यम् । अर्घोऽर्घः ।

आजन्मब्रह्मचारी पृथुलभुजशिलास्तम्भविभ्राजमान-
ज्याघातश्रेणिसंज्ञान्तरितवसुमतीचक्रजैत्रप्रशस्तिः ।
वक्षःपीठे घनास्त्रव्रणकिणकठिने संदधानः पृषत्कान्
प्राप्तो राजन्यगोष्ठीवनगजमृगयाकौतुकी जामदग्न्यः ॥१८॥

जनकाग्निहोत्रपरिचारका —जनकस्य यदग्निहोत्रम् अग्नौ नित्यहोमविधि, तत्र परिचारका सामग्रीसम्पादननियुक्ता भृत्या । पाद्यम् पादार्थमुदकम्, अर्घ पूजा च प्रस्तूयताम्, आगतस्य परशुरामस्य पूजायै पाद्यादि समुपस्थाप्यतामित्यर्थ ।

आजन्मेति । आजन्म जन्मकालादारभ्य ब्रह्मचारी समाश्रितब्रह्मचर्य, पृथुलौ दीर्घपीनौ भुजौ एव शिलास्तम्भौ तयोर्विभ्राजमाना शोभमाना या ज्याघातश्रेणि मौर्वीसमाकर्षणजन्मा किणराजि तत्संज्ञया तदाख्यया अन्तरिता आच्छन्ना वसुमतीचक्रस्य क्षोणीवलयस्य जैत्रप्रशस्ति जयप्रशसा यस्य स तथोक्त, घनाना कठिनानाम् अस्त्राणा व्रणे क्षते ये किणा शुष्कव्रणचिह्नानि तै कठिने कर्कशे वक्ष-पीठे उरोदेशे पृषत्कान् बाणान् सन्दधान समुत्तेजयन् राजन्यगोष्ठी राजसमूह एव वनगजा आरण्यका करिणस्तेषा मृगयायामाखेटके कौतुकी धृतस्नेह जामदग्न्य परशुराम प्राप्त, अत पाद्यादि तत्पूजासाधनमुपस्थाप्यतामिति भाव । जन्मकालावधि सुलभसासारिकसुखविमुख पृथुलयोर्भुजयो स्तम्भयोरिव विभ्राजमानाना ज्याघातश्रेणीना व्याजेन समस्तवसुधाविजयप्रशस्तिं बिभ्राण अस्त्रक्षत-कठोरे वक्षसि बाणान् निशितानिव कर्तुमामृशन्नयं परशुराम क्षत्रियगजमृगया-विहारी प्राप्त इति बोध्यम् । 'पृषत्कबाणपृषता' इत्यमर । स्रग्धरावृत्तम् ॥ १८ ॥

(दोनों जाते हैं)

(विष्कम्भक)

(नेपथ्यमें)

हे जनकके अग्निहोत्रके परिचारको, पाद्य लाओ पाद्य, अर्घ लाओ लाओ, आजन्म ब्रह्मचारी, विशाल बाहु पर वर्त्तमान ज्याघात-परम्पराके रूपमें विश्वविजय-प्रशस्तिको धारण करनेवाले, अस्त्र-व्रणचिह्नसे युक्त वक्षःस्थलमें बाणोंको धारण करनेवाले, तथा क्षत्रिय-समुदाय रूप मृगवर्गकी मृगयाके कौतुकी परशुराम आरहे हैं ॥ १८ ॥

अपि च—

[1]एष स्त्रैणकपोलकुङ्कुमलिपिस्तेयातिभीरौ[2] भुजे
बिभ्राणश्चतुरन्तगजविजयि ज्यानादरौद्रं धनुः ।
तूणावेष पुनस्तरां द्रढयति स्वादन्तरस्मात्पटा-
दाकृष्टैः कुशचीरतन्तुभिरभिक्रुद्धो मुनिर्भार्गवः ॥ १९ ॥

(ततः प्रविशति शरचापहस्तः क्रोधोद्धतो[3] जामदग्न्यः ।)

जामदग्न्यः—(सखेदम् ।) अहह यथा [4]मृष्टभोजिना कृतान्तेन प्रत्यवसितास्ते सांयुगीनाः । वर्तमाने तु

एष स्त्रैणेति एष भार्गवः अभिक्रुद्धः अतिशयकुपितः सन् (हरचापभञ्जनक्रुद्धो भूत्वा) स्त्रैणाः स्त्रीसम्बन्धिनो ये कपोलाः गण्डस्थलानि तेषां कपोलानां या कुङ्कुमलिपयः काश्मीरद्रवलेखविशेषास्तेषां स्तेयः चौर्यं सम्भोगद्वारा तदपनयनेऽतिभीरौ साशङ्के स्त्रीसम्भोगसुखानभिज्ञे आबाल्यब्रह्मचारिणि भुजे चतुरन्तस्य चतुरुदधिवलयितस्य जगतो राज्ञां विजयि पराभवकारि ज्यानादरौद्रम् धनुष्टङ्कारभीषणं धनुः बिभ्राणः धारयन्, अभिक्रुद्धो भार्गवो नाम मुनिः स्वात् निजात् अन्तरस्मात् पटात् उत्तरीयवस्त्रात् कुशचीरतन्तुभिः सूक्ष्मवल्कलसूत्रैः तूणौ एव पुनस्तरां भूयोऽपि द्रढयति दृढीकरोति । अयमतिकोपनः आजन्मब्रह्मचारी च परशुरामः स्वहस्ते भीषणं सकलराजन्यकविजयि च धनुर्धारयन् स्वोत्तरीयवल्कलसूत्राण्याकृष्य तैः स्वतूणौ द्रढयति, एतेन तस्य युद्धोद्यतत्वं द्योतितम्, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १९ ॥

मृष्टभोजिना स्वादुभोजनशीलेन । कृतान्तेन यमेन । प्रत्यवसिताः भुक्ताः सांयुगीनाः युद्धरसिकाः, सर्वेऽपि राजानो यमेन भक्षिताः ।

ब्रह्मचारी होनेसे स्त्रियोंके कपोल पर वर्त्तमान कुङ्कुमलिपिके स्तेयमें डरनेवाले अपने बाहु पर सागर पर्यन्त राजमण्डलके विजयी धनुषको धारण करनेवाले तथा अति कुपित यह परशुराम अपने उत्तरीय वस्त्रके कुश-चीरात्मक सूत्रों द्वारा अपने तूणीरोंको दृढ कर रहे हैं ॥ १९ ॥

(शरचापधारी कुपित परशुरामका प्रवेश)

जामदग्न्य—(खेदके साथ) अहा, सभीको समाप्त कर देनेवाला यमराजने लडनेवाले वीरोंको खा लिया,

१ 'क्षत्रस्त्रैण' । २. 'अतिभामे', 'अतिरौद्रे' ।
३ 'क्रुद्धोद्धत.' । ४. 'मिष्ट' ।

शस्त्राशस्त्रिकथैव का नवभवद्गीर्वाणपाणिंधमा
पन्थानो दिवि संकुचन्ति वसुधा वन्ध्या न सूते भटान्।
लक्ष्मीरप्यरविन्दसौधवलभीनि[1]र्व्यूहपर्यङ्किका-
विश्रान्तैरलिभिर्न कुञ्जरघटागण्डोद्गतैर्मोदते[2] ॥ २० ॥

(सविमर्शाश्चर्यम्।)

[3]शंभुर्यद्गुणवल्लरीमुपनयत्याकृष्य कर्णान्तिकं

शस्त्राशस्त्रीति। शस्त्राशस्त्रि यद्युद्धं शस्त्रैश्च अस्त्रैश्च प्रवृत्तं तद्युद्धम्, तस्य कथा वार्त्ता एव का कीदृशी, सम्प्रति युद्धस्य वार्त्ताऽपि जगति न विद्यते सर्वेषामपि राजन्यकानां परशुरामेण हतत्वादित्यर्थः, नवभवन्तो युद्धे प्राणान् विमुच्य सद्यो जायमाना ये गीर्वाणाः देवास्तेषां पाणीन्धमन्ति ये ते तथोक्ताः (युद्धहतानां देवत्वं प्राप्तानामसङ्ख्यतया स्वर्गेऽहमहमिकया सञ्चरतां तेषां परस्परसङ्घर्षे पाणयः पीड्यन्ते इत्याशयेनेदं पथो विशेषणम् पन्थानः स्वर्गमार्गाः सङ्कुचन्ति अविस्तृताः प्रतिभासन्ते, वन्ध्या जननसामर्थ्यशून्या वसुधा भटान् वीरान् न सूते न जनयति। लक्ष्मीः जयश्रीरपि कुञ्जरघटानां साङ्ग्रामिकगजानां गण्डेभ्यः कपोलदेशेभ्यः उद्गतैः निर्गतैः अरविन्दमेव सौधवलभी हर्म्यशिरोगृहम् सैव निर्व्यूहपर्यङ्किका हस्तिदन्तनिर्मितपर्यङ्कः तत्र विश्रान्तैः लब्धस्थानैः अलिभिः भ्रमरैः न मोदते न प्रीतिमामादयति, लक्ष्मीर्हि गजदानवारिलुब्धानां भ्रमराणां समूहो गजकपोलदेशा-दुत्पत्य कमलानि यावन्नाश्रयतिस्म, करिकपोलयोरेव दानलुब्धतया तिष्ठति स्म तावत् कमलकुलवासिनी लक्ष्मीरानन्देन कमलेषु वसति स्म, सम्प्रति युद्धकथा-समाप्तौ साङ्ग्रामिकगजानुपलब्ध्या सर्वेऽपि भ्रमराः करिकपोलमपहाय कमलमेवा-श्रिता इति लक्ष्म्याः परितोषाभावे कारणं बोध्यम्। 'निर्व्यूहः शेखरे द्वारे निर्व्यूहो नागदन्तके' इति धरणिः। 'पर्यङ्किका तु खट्वा स्यात्' इति मेदिनी। शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

शम्भुरिति। शम्भुः शिवः यस्य धनुषः गुणवल्लरीं मौर्वीलताम् आकृष्य कर्णा-

अब लड़ाई की तो बात ही नहीं रही, नये-नये देव बननेवाले लोगोंसे आवृत स्वर्गका मार्ग बन्द हो गया, पृथ्वी पर वीरोंके जन्म होते ही नहीं, वह बन्ध्या हो रही है, लक्ष्मी भी अब गजघटाके कपोल-स्थलवर्त्ती भ्रमरोंसे नहीं किन्तु कमल रूप भवनकी पर्यङ्किका पर विश्राम करनेवाले भ्रमरोंसे अपना दिल बहलाया करती है ॥ २० ॥

(विचार करके साश्चर्य) महादेव जिसकी प्रत्यञ्चाको आकृष्ट करके कानों तक ले

१ 'निर्यूह'। २ 'उत्कटै'। ३. 'शम्भौ'।

भ्रश्यन्ति त्रिपुरावरोधसुदृशां कर्णोत्पलग्रन्थयः ।
स्वं चास्फालयति प्रकोष्ठकमिमामुत्सृज्य तासामहो
भिद्यन्ते वलयानि दाशरथिना तद्भग्नमैशं धनुः ॥ २१ ॥

(सरोषमवितस्त परिक्रामन ।) भो भो विदेहाः, क रामो दाशरथिः ।

यस्मिन्नर्जुनदोःसहस्रमलकप्रोद्गच्छदस्रच्छटा-

न्तिकं स्वश्रवणसामीप्यम् उपनयति प्रापयति, (तावत्) त्रिपुरावरोधसुदृशाम् त्रिपुरान्तःपुरस्त्रीणाम् कर्णोत्पलग्रन्थिबन्धनानि भ्रश्यन्ति विगलन्ति (शम्भुना यस्मिन्धनुषि कर्णान्तिकोपनीतमौर्वीके कृते सति त्रिपुरावरोधा भाविस्वामिवधाशङ्कयाऽलङ्कारभूतं कर्णोत्पलं शिथिलबन्धनतां नयन्ति) शम्भुः च स्वं निजं प्रकोष्ठकम् बाहुभागम् आस्फालयति ताडयति सति तासां त्रिपुरावरोधसुदृशाम् वलयानि कङ्कणानि भिद्यन्ते त्रुटयन्ति, पत्यपायस्य निश्चितत्वेन समाप्यन्ते, तद् ऐशं धनुः दाशरथिना रामेण भग्नम् त्रोटितम् । अयमाशयः—रामस्तस्य शिवधनुषो भङ्गं कृतवान् यस्मिन्धनुषि ज्यामाधाय हरेण कर्णान्तिकमानीयमाने स्वस्वामिविनाशसम्भावनया त्रिपुरावरोधसुदृशो निजमलङ्कारभूतं कर्णोत्पलं शिथिलबन्धनं कुर्वते, किञ्च तेन धनुषा करघ्ने यदा शम्भुः स्वं प्रकोष्ठकमास्पृशति तदा त्रिपुरावरोधसुदृशां वलयानि पतन्ति भाविपतिविरहकृतदौर्बल्येन स्खलन्ति, तन्महदनुचितं कृतं तेनेति । अत्र यस्य कर्णान्तिकं धनुरागच्छति तस्यैव कर्णोत्पलभ्रंशः, यस्य च प्रकोष्ठकास्फालनं तस्यैव वलयभेद उचितस्तथाप्यत्र शिवस्य धनुषि तत्कर्णान्तिकमुपागच्छति त्रिपुरावरोधसुदृशाम् कर्णोत्पलभ्रंशस्य, शिवप्रकोष्ठकास्फालने सति त्रिपुरावरोधसुदृशांवलयभेदस्य चोपनिबन्धनात् कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतयाऽसङ्गतिर्नामालङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

यस्मिन्निति । अर्जुनस्य तदाख्यया प्रसिद्धस्य दोःसहस्रं सहस्रसङ्ख्याका भुजास्त एव नलकानि प्रवाहास्तेभ्यः प्रोद्गच्छन्ती निस्सरन्ती या अस्रच्छटा रुधिरधारा

जाते हैं, जिससे त्रिपुरासुरकी स्त्रियोंके कर्णोत्पलोंकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, और जब महादेव इस धनुषको तानकर अपने प्रकोष्ठको आकृष्ट करते हैं तब त्रिपुरासुरकी स्त्रियोंके हस्ताभरण टूटने लगते हैं, उसी धनुषको दशरथके पुत्रने तोड दिया ॥ २१ ॥

(सरोष भ्रमण करते हुए) अरे ओ विदेहगण, दशरथ-पुत्र राम कहाँ है ?

सहस्रार्जुनके सहस्रभुज-कमलोंसे निकलती हुई रुधिर-धारासे भीषण जिस कुठारमें

१ 'कृपण नदीदृग्धत्'।

जिह्वाले जुहवांबभूविम रुषा राजन्यसत्तामपि ।
सोऽयं[1] प्राक्कवलग्रहस्य विघसीभूतेष्वपि क्षत्रिय-
क्षुद्रेषु क्षुधितश्चिरेण परशुस्तेनायमन्विष्यते ॥ २२ ॥

(ततः प्रविशति [2]सधैर्यप्रमोदो दाशरथी रामः ।)

राम —

साकं शक्तिधरेण तत्रभवतो देवाद्भवानीपते-
र्यः सम्यञ्चमवाप चापनिगमं सम्यञ्चि सामानि च ।
शूराणां च तपस्विनां च परमां [3]काष्ठामधिष्ठास्नुभि-
स्तेजोभिर्भगवानसौ भृगुपतिर्दिष्ट्याऽद्य दर्शिष्यते ॥ २३ ॥

तया जिह्वाले रसनाशालिनि यस्मिन् निजपरशौ रुषा कोपेन राजन्यसत्ताम् सकलक्षत्रियास्तित्व जुहवाम्बभूविम हुतवन्तो वयमिति शेषः । कार्त्तवीर्यार्जुन-भुजभारनलकनिर्यद्रुधिरधाराप्रकटितरसने यस्मिन् परशौ वयं सकलक्षत्रकुलं हुतवन्त इत्यर्थकं परशुपराक्रमबोधकमेकं वाक्यम् । सोऽयं परशुः प्राक्कवल-ग्रहस्य पूर्वं कवलीकृतस्य विघसीभूतेषु भुक्तावशिष्टोच्छिष्टरूपेषु अपि क्षत्रियक्षुद्रेषु राजन्यापसदेषु चिरेण क्षुधितः बहोः कालाद् बुभुक्षितः विद्यते, तेन मम परशुना ऽयं हरधनुर्भङ्गसाहसी रामोऽन्विष्यते मृग्यते । येन परशुना पूर्वं सर्वे राजानो हताः स एवायं मम परशुः निहतावशेषान् क्षत्रियाञ्जिघांसुर्भूत्वा सम्प्रति हरचाप-भञ्जकं राममन्विष्यतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

साकमिति । यः परशुरामः शक्तिधरेण कुमारकार्त्तिकेयेन साकं सह तत्र भवतः पूजनीयात् देवात् भवानीपतेः शिवात् सम्यञ्चं साधुरूपम् चापनिगमं धनुर्वेदं सम्यञ्चि साधुस्वरूपाणि सामानि सामवेदशाखाश्च अवाप अधीतवान् शूराणाम् तपस्विनाञ्च परमां काष्ठाम् चरमां कोटिम् अधिष्ठास्नुभिः आश्रितवद्भिः तेजोभिः प्रभावैः (उपलक्षितः) असौ भगवान् सर्वसामर्थ्ययुक्तः भृगुपतिः अद्य सम्प्रति

मैने सकल क्षत्रियकुलकी सत्ताका होम कर दिया, वही यह मेरा कुठार आज पूर्वभक्षितसे शेष क्षुद्र क्षत्रियों पर कुपित हो उठा है और वह रामको ढूंढ रहा है ॥ २२ ॥

(धैर्य तथा आनन्दसे युक्त रामका प्रवेश)

कार्त्तिकेयके साथ जिन्होंने शिवजीके चरणोंमें चापविद्या तथा सामवेदका यथावत् अध्ययन किया, पराकाष्ठाको पहुँचनेवाले अपने प्रतापसे वीरों तथा तपस्वियोंके अग्रगण्य वही परशुराम सौभाग्यवश हमारे सामने होंगे ॥ २३ ॥

१. 'अद्य' । २ 'सधैर्यसम्भ्रमो रामः' । ३ 'अधिष्ठातृभिः' ।

जामदग्न्य — (सखेदोपालम्भमात्मानं प्रति ।)

भस्माङ्कुरेति खुरलीकलहे कुमार-
　मप्याक्षिपन्परुषरोषरसान्धचेता ।
दृष्टोऽस्मि यः कृतमिथोहसितं शिवाभ्यां
　तच्चापभङ्गमपि हा सघृणः शृणोमि ॥ २४ ॥

([1]विमृश्य च ।) अहो मामरण्यनिवासिनमुपश्रुत्य दुरात्मना रघुकुटुम्बकेन दूरमुच्छ्वसितम् । (किंचिदुच्चैः ।)

दिष्ट्या मत्सौभाग्येन दशास्येन स्मादानं करिष्यते । यो भगवान् परशुरामः शिवेन मुनिनिर्विशेषं धनुर्वेदं सामवेदं च शिक्षितः, यश्च वीरतपस्वित्वप्रभावेण परां प्रतिष्ठां प्राप्तस्तमधुना प्रत्यर्थीकरिष्यामीत्यहो मम सौभाग्यमिति भावः । 'शक्तिधरः कुमारः क्रौञ्चदारणः' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २३ ॥

भस्माङ्कुरेति । परुषः कठोरो यो रोषरसः कोपरसस्तेन अन्धं विचारशून्यं चेतो यस्य तथोक्तः यः अहम् खुरलीकलहे धनुर्वेदाभ्यासपाटवस्पर्धाविवादे कुमारम् कार्त्तिकेयम् अपि भस्माङ्कुर नष्टतापसपुत्र इत्याक्षिपन् निन्दावाक्येन भर्त्सयन् शिवाभ्याम् हरपार्वतीभ्याम् कृतमिथोहसितम् अन्योन्यस्मितपूर्वकम् दृष्टः, सोऽहम् शिवयोः सुतापत्यतयाऽत्यतिप्रीतिभाजनं भूत्वाऽपि सघृणः स्वकर्त्तव्यभावनाविरहितः सन् तच्चापभङ्गम् हरचापखण्डनकथाम् शृणोमि, नतन्मम योग्यमिति भावः । 'अभ्यासः खुरली योग्या' इति हारावली ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २४ ॥

माम् परशुरामम् । अरण्यवासिनम् वने वसन्तं तपस्यासमासक्तम् । उपश्रुत्य आकर्ण्य । रघुकुटुम्बकेन रघुकुलोत्पन्नेन राजसमूहेन । दूरम् अत्यर्थम् । उच्छ्वसितम् साहसं कृतम् । मदीयारण्यवासं श्रुत्वा रघुकुलं नितरां साहसिक्यं धृतवदित्यर्थः ॥

जामदग्न्य—(खेद तथा उलाहनेके साथ स्वगत) शस्त्राभ्यास-कलहकालमें जब मैं कुमारको 'भस्माङ्कुर' कहकर ललकारता था और क्रोधसे हमारा हृदय अन्धा हो उठता था, तब मुझे शिव पार्वती परस्पर हासपूर्वक देखती थीं, वही मैं आज निर्दयभावसे उनके चापके टूटनेकी बात सुन रहा हूँ ॥ २४ ॥

(विमर्श करके) हाय, मुझे वनवासी समझकर दुरात्मा दशरथपरिवारने बहुत

---

१ '(विमृश्य ।) अहो नु खलु मामरण्यवासिनम्' ।

रे काकुत्स्था कथं व श्रुतिविषयमय नागमद्भार्गवीयो
दु सामन्तापचारप्रचितपितृवधामर्षनिस्तारबन्धु ।
वारानासन्नविशान्विशसितविषमक्षत्रजातिप्ररोह
क्रोधादुत्कृत्तगर्भामिषरुधिरवसाविस्रगन्धिः कुठारः ॥ २५ ॥

राम —(दृष्ट्वा सहर्षबहुमानम ।)
जेतारं दशकंधरस्य रभसाद्दो श्रेणिनि श्रेणिका-
तुल्यारूढसमस्तलोकविजयश्रीपूर्यमाणोरसम् ।

रे काकुत्स्था इति । रे काकुत्स्था ककुत्स्थकुलोत्पन्ना क्षत्रिया, दु सामन्ताना दुष्टक्षत्रियाणाम अपचारेण अत्याचारेण प्रचित कृतो य पितृवध मदीयपितृहत्या, तेन य अमर्ष शत्रुत्वनिर्यातनेच्छा तस्य निस्तारे पूर्तौ बन्धु सहायभूत, आसन्नविशान् वारान् एकविंशतिवारान् विशसित निहत विषमक्षत्रजातिप्ररोह दुष्टराजन्यकुलाङ्कुरो येन स तथोक्त, क्रोधात उत्कृत्ता खण्डिता ये (क्षत्रियस्त्रीणाम्) गर्भा तेषा यत् आमिषम् मांसम् रुधिर शोणितम् वसा मेदा च तै विस्रगन्धि आमगन्धि भार्गवीय परशुरामसम्बन्धी कुठार कथ व युष्माकम् श्रुतिविषय न अगमत् न श्रुत. । यो मम कुठार दुष्टै राजभिरत्याचारेण मम पितरि निहते जातेन कोपेन एकविंशतिवारान् क्षत्रजातिप्ररोहानलुनात्, यश्च तावताऽप्यशान्तकोप क्षत्रियस्त्रीणा गर्भानपि छित्त्वा तदीयमांसासृङ्मेदोभिरामगन्धितामभजत् तदीय नाम किं यूय न श्रुतवन्तो येनैतावत हरचापभञ्जनसाहसिक्य प्रकाशितवन्त इति भाव । 'विस्रस्यादामगन्धि यत्' इत्यमर । पूर्वं सहस्रार्जुनेन जमदग्निर्हत, तदनन्तर पितृवधामर्षात्परशुरामेण क्षत्रिया हता इति कथाऽत्र पृष्ठभूमि । स्रग्धरावृत्तम् ॥ २५ ॥

जेतारमिति । य भार्गव दशकन्धरस्य दशग्रीवस्य रावणस्य जेतारम् परिभवितारम्, तथा दो श्रेणि सहस्रसख्यकभुजपरम्परा एव नि श्रेणिका अधिरोहणी तत्र तुल्यारूढा एककालमारूढा या समस्तलोकविजयश्री सकलभुवनजयलक्ष्मी-

---

साहस कर लिये (कुछ उच्च स्वरसे) अरे ककुत्स्थवंशके लोगो, दुष्टक्षत्रियोंके अपचारसे उत्पन्न पितृवधजन्य कोपसे मुक्ति दिलानेवाले इक्कीसबार क्षत्रियजातिके अङ्कुरोंको खण्डित करनेवाले, तथा क्रोधसे खण्डित क्षत्रिय-गर्भके रुधिर-मांस-वसादिके सम्पर्कसे आमगन्धि इस भार्गवकुठारके सम्बन्धमें तुम लोगोंने कुछ नहीं सुना है ॥ २५ ॥

राम—(देखकर हर्ष तथा आदरसे) रावणको जीतनेवाले तथा भुजमण्डलरूप पर्यङ्कपर एक साथ समस्त विश्वविजय-लक्ष्मियोंको बैठाकर हृदयमें धारण करनेवाले,

यः सङ्ख्ये निजघान हैहयपतिं शत्रोर्मुखं दृष्टवा-
न्यः पृष्ठं ददतोऽपि षण्मुखजये सोऽयं कृती भार्गवः ॥२६॥

(क्षणं च निर्वर्ण्य सस्मितम् ।) अहो सङ्कीर्यमाणानेकरसानुभावगम्भीर-मधुरोऽयमस्याभोगः । तथाहि ।

जटां धत्ते मूर्धा परशुधनुषी बाहुशिखरं
प्रकोष्ठो रौद्राक्षं वलयमिषुदण्डानपि करः ।
प्ररूढप्रौढास्त्रव्रणविकटरौद्राद्भुतमिदं

स्तया पूर्यमाणम् भूत सनाथमुरो वक्षो देशो यस्य तथाभूतम् , हैहयपतिं कार्त्त-वीर्यार्जुनं सङ्ख्ये युद्धे निजघान हतवान् , यश्च षण्मुखजये कार्त्तिकेयपराजयकाले पृष्ठं ददतः पराङमुखीभूतस्य पलायमानस्यापि शत्रोः षण्मुखस्य मुखं दृष्टवान् षण्मुखस्य पृष्ठदेशेऽपि मुखशालितया वदनं साक्षात्कृतवान्, सोऽयं कृती रणकुशलो भार्गवः अस्तीति शेषः । अयमर्थः—यः कार्त्तवीर्यो रावणमपि जिगाय, यस्य भुजगसमुदायरूपनिःश्रेणिकाद्वारा ऽऽरूढा सकलभुवनजयलक्ष्मीर्वक्षोदेशमधितिष्ठति स्म, तमपि जितवांस्तथा षण्मुखमपि युद्धे विजितं कृत्वा तदीयपृष्ठस्थं मुखं साक्षात्कृतवानयं भगवान्परशुराम इति । 'निःश्रेणिस्त्वधिरोहणी' इत्यमरः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

सङ्कीर्यमाणेति । सङ्कीर्यमाणाः एकत्राश्रये मिलिता ये अनेके रसाः वीरशान्त्या-दयः, तेषामनुभावेन सम्बन्धप्रभावेण गम्भीरः दुरवगाहः मधुरः रमणीयः । अस्य परशुरामस्य । आभोगः शरीरावयवविस्तारः । परशुरामशरीरस्यानेकरससामग्री-पूर्णत्वमुक्तं, तदेवोपपादयिष्यति 'जटां धत्ते' इत्यादिना वक्ष्यमाणश्लोकेन ॥

जटां धत्ते इति । (अस्य भार्गवस्य) मूर्धा शिरोदेशः जटां धत्ते धारयति, बाहुशिखरम् भुजाग्रदेशः परशुधनुषी कुठारं धनुश्च धत्ते, प्रकोष्ठः हस्तभागः रौद्राक्षं वलयं रुद्राक्षमालाम् , करः हस्तश्च इषुदण्डान् शरान् धत्ते, प्ररूढेन जातेन प्रौढेन महता अस्त्रव्रणेन अस्त्रक्षतेन विकटं भीषणं रौद्राद्भुतम् रौद्ररसेन विस्मय-

---

कार्त्तवीर्यार्जुनको जिन्होंने युद्धमें निहत किया, और जिन्होंने युद्धसे भागते हुए कार्तिकेय-का मुख देखा, यद्यपि वह पीठ दिखला रहे थे, वही हैं यह कुशलकर्मा भार्गव ॥ २६ ॥

(थोडी देर देखकर सहास) अहो, इनके आकारमें अनेक रसोंका सम्मिश्रण है जिससे यह प्रभावशाली तथा रमणीय प्रतीत होते हैं, क्योंकि —

इनके सिर पर जटा है और बाहुमें कुठार तथा धनुष हैं, प्रकोष्ठमें रुद्राक्ष है और

प्रशान्तामैणेयीं त्वचमपि च वक्ष कलयति ॥ २७ ॥

(इत्युपसर्पति ।)

जामदग्न्य —(विलोक्य ।) [1]कथमयमसौ [2]श्रूयमाणगुणानुकल्पिताकारसवादी दाशरथि । साधु रे राजन्यपोत, साधु ।

सविधमुपसरन्समूलकाषं कषितनृपान्वयमद्य मां धिनोषि ।
हरिमिव करिकुम्भकूटकोटिप्रकटकठोरनखाङ्कुरं कुरङ्ग ॥ २८ ॥

जनक च वक्ष उर चापि प्रशान्ता सौम्याम् ऐणेयीम् मृगसम्बन्धिनीम् त्वच कृत्ति कलयति धारयति । जटया शान्ति , परशुधनुर्भ्यां वीरता, रुद्राक्षवलयेन शान्ति , इषुदण्डै पुनर्वीरभाव , उरसि स्थितैरस्त्रक्षतचिह्नैर्वीरता रौद्रता अद्भुतता च, पुनरैणेयत्वचि शान्तिरित्यस्य वपुरनेकरससामग्रीसवलिततयाऽद्भुतमितिभाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २७ ॥

श्रूयमाणानुकल्पिताकारसवादी श्रूयमाणो लोकैं कथितो मया श्रुतश्च अनुकल्पितस्तेन मनसि स्थिरीकृतो य आकारस्तत्सवादी तदनुहारी । दाशरथि राम । राजन्यपोत क्षत्रियशिशो ।

सविधमुपसरान्निति सविधमुपसरन् मदन्तिकमागच्छन् त्वम् समूलकाषम् आमूलचूलम् कषितनृपान्वयम् निहतराजकुलम् माम् परशुरामम् अद्य अधुना कुरङ्गो मृग करिणा गजाना ये कुम्भा मस्तकदेशास्तेषा कूटानि शिखराणि तेषा कोटौ तत्सङ्ख्यायाम् प्रकट प्रसिद्ध कठोर तीक्ष्णो नखाङ्कुरो नखाग्रभागो यस्य तथाविध हरि सिंहमिव धिनोषि प्रीणयसि । यथा करिकुम्भकूटकोटिपाटन विदधत सिंहस्य तृप्तये समीपमुपसरन् कुरङ्गो जायते तथैव समूलक्षपितक्षत्रकुलस्य मम

हाथ मे वलय तथा बाण विद्यमान हैं, वक्ष स्थल पर अस्त्र-व्रणक चिह्नोंकी रौद्रता स्थित हे और शान्तिव्यञ्जक मृगचर्म भी है ॥ २७ ॥

(समीप जाते हैं)

जामदग्न्य—(देखकर) क्या यह वही दशरथपुत्र है जिसके सुने गये गुण आकारसे मिल जुल रहे हैं, साधु रे क्षत्रियकुमार, साधु,

समूल क्षत्रिय वशके सहार करनेवाले परशुरामके पास आता हुआ तुम उसे उसी तरह आनन्दित कर रहा है जेसे गजकुम्भ-समुदाय पर नख-कोटिको प्रकट करनेवाले सिंहके पास आता हुआ हरिण उसे आनन्दित करता है ॥ २८ ॥

---

१ 'आ॰, कथमसौ'। २ 'गुणानुरूपकल्पिताकार—'।

रामः—(सस्मितम् ।) भगवन्भार्गव, [1]गुरुगर्भरूपयोरेतावदेवान्तरम् । किं च[2] ।

आदेष्टा भगवान्भृगुर्जननयोरौत्पत्तिकब्राह्मयो-
र्देवो धूर्जटिरस्त्रकर्मणि गुरुर्वीर्यं च दूरेगिराम् ।
सप्तद्वीपवतीं ददद्भुवमभिप्रैषि द्विजान्कश्यप-
प्रायान[3]प्रतिमानुभाव भवते कस्मैचिदस्मै नमः ॥ २९ ॥

समीपमुपसरंस्त्वं मां प्रीणयसीत्युपमया यथासौ कुरङ्गो हरिणा तेनानानायं व्यापाद्यते तथैव त्वमपि मया व्यापादयिष्यसे इति वस्तुनो ध्वनिः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ २८ ॥

गुरुः महान् , गर्भरूपः अतिक्षुद्रो बालकः, तयोरेतावदेव अन्तरं भेदः, यथा कुरङ्गसिंहयोरन्तरं तथैव मम भवतश्च तत्त्वदुक्तं सत्यमेवेति भावः ॥

आदेष्टेति अप्रतिमानुभाव हे अनुपमप्रभाव, भगवान् भृगुः औत्पत्तिकब्राह्मयोः मातृकुक्षिजन्मसावित्रजन्मनोः जननयोः आदेष्टा उपदेशकः जन्मदातोपनेता च, देवः धूर्जटिः शिवः अस्त्रकर्मणि धनुर्वेदशिक्षायाम् आचार्यः शिक्षकः, वीर्यं पराक्रमश्च गिरां दूरे अवर्णनीयम् इत्यर्थः । सप्तद्वीपवतीम् सप्तद्वीपशालिनीम् भुवं पृथिवीं ददत् कश्यपप्रायान् कश्यपादीन् द्विजान् ब्राह्मणान् अभिप्रैषि स्वदानक्रियाकर्मणा सप्तद्वीपया वसुमत्या योजयितुमिच्छसि कश्यपादिभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरां वितरसी-त्यर्थः, कस्मैचित् अचिन्त्यसर्वगुणाय अस्मै भगवते परशुरामाय नमः । औत्पत्तिक-ब्राह्मजन्मनोर्भृगुरादेष्टेतिकथनेन बीजशुद्धिः संस्कारशुद्धिश्चोक्ता, किञ्च धूर्जटिरस्त्रोप-देष्टेत्यनेन सम्प्रदायशुद्धिरुच्यते, वीर्यं गिरां दूरे इत्यनेन च पात्रशुद्धिकृत उत्कर्षः प्रकाश्यते, कश्यपादिभ्यो धरादानेन सत्त्वशुद्धिश्चेति सर्वशुद्धिनिधये भवते प्रणताः स्मेति भावः । 'जम्बुप्लक्षकुशक्रौञ्चशाकशाल्मलिपुष्कराः । द्वीपाः सप्तेति' । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ २९ ॥

राम—भगवन् , गुरुओं तथा बालकोंमें इतना ही अन्तर होता है ।

आपको औत्पत्तिक तथा सांस्कारिक जन्म भगवान् भृगुने दिया, अस्त्रकी शिक्षा महादेवने दी, आपके पराक्रमका वर्णन अशक्य है, सप्तसमुद्रवेष्टिता पृथ्वीको देते हुए आप सभी ब्राह्मणोंको कश्यपके समान समझते हैं, आपका प्रभाव अतुल है, आपको नमस्कार है ॥ २९ ॥

---

१. 'गुरुगर्भयोः'; 'गुरुभर्गयोः' ।   २. 'तु' ।   ३. 'अप्रतिमप्रभाव' ।

जामदग्न्य —अरे क्षत्रियडिम्भ, तवानेन सत्त्वसौजन्यपौरुषोत्कर्षेण किमप्यन्तराप्यायितोऽस्मि । किं तु ।

नाराचैः कृतवीर्यनन्दनवधूबाष्पप्रियंभावुकै-
रुत्पाद्य [1]क्षतजोदमर्णवमथ न्युप्तं पितृभ्यां पयः ।
संप्रत्यस्य समस्तबाहुजभुजः क्रोधस्य निर्वास्यत
क्षुन्दानो धनुरैन्दुशेखरमहो जातो भवानिन्धनम् ॥ ३० ॥

क्षत्रियडिम्भ राजन्यशिशो । सत्त्वं महानुभावत्वं, सौजन्यं साधुभावः, पौरुषं पराक्रमश्च तेषामुत्कर्षेण आधिक्येन । किमपि कियताऽंशेन । आप्यायिता सन्तोषिता ॥

नाराचैरिति । कृतवीर्यो नाम नृपभेदस्तस्य नन्दनः पुत्रः कार्त्तवीर्यः तस्य वधूनां नारीणां बाष्पस्याश्रुणः प्रियं भावुकैः प्रियकारिभिर्हितैर्वृद्धिकारिभिः, कार्त्तवीर्याङ्गनानयनबाष्पाणि परशुरामबाणैस्तत्कृतवधद्वारा वृद्धिं नीयन्त इति तद्बाणानां तत्प्रियम्भावुकत्वमुक्तम्) नाराचैर्बाणैः क्षतजोदम् रुधिरजलपूर्णम् अर्णवम् उत्पाद्य निर्माय अथ पितृभ्यां स्वजननीजनकाभ्यां पयः निवापजलम् न्युप्तं दत्तम् तोयाञ्जलिर्दत्तः, सम्प्रति अस्य समस्तबाहुजभुजः सकलक्षत्रियसंहारकरस्य निर्वास्यतः समाप्तिं गमिष्यतः अस्य क्रोधस्य ऐन्दुशेखरं शैवं धनुः चापं क्षुन्दानः खण्डयन् भवान् इन्धनम् प्रज्वलनसाधनं काष्ठं जातः । अहो इत्याश्चर्ये । यो मम कोपाग्निः कार्त्तवीर्यार्जुनाङ्गनाजननयनेषु बाष्पमवर्धयत्, यत्प्रभावान्मया शोणितसागरमुत्पाद्य पितृभ्यां तोयाञ्जलिदानमक्रियत, सम्प्रत्यसौ मम कोपाग्निर्दाह्याभावान्निर्वाणोन्मुख इवासीत्, परं शाम्भवं धनुः खण्डयित्वा त्वं तदिन्धनभावं भजसे इत्याश्चर्यं तवाविवेकित्वमिति भावः । 'क्षुदिर् संपेषणे' इति रुधादेः शानचि क्षुन्दान इति रूपम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३० ॥

जामदग्न्य—अरे क्षत्रियकुमार, तुम्हारे इस सत्त्व तथा सौजन्यके उत्कर्षसे कुछ आनन्दित हो उठा हूं । किन्तु—

कार्त्तवीर्यकी स्त्रियोंके नयनोंमें अश्रुप्रवाहको बढानेवाले अपने बाणोंसे क्षत्रिय-रुधिरमय समुद्र उत्पन्न करके उसमें मैने पितृतर्पण सम्पादित किया है, इस समय हमारा क्षत्रियों पर यह कोप रूप अनल बुझने ही जारहा था कि शिवधनुषका भङ्ग करनेवाला तुम उसका इन्धन बन गये ॥ ३० ॥

---

१ 'क्षतजोत्थ' ।

रामः—(स्मित्वा ।) [1]भगवन्,

बालस्वभावसुलभेन कुतूहलेन
कृष्टं धनुर्भगवतो वृषभध्वजस्य ।
तत्रानुषङ्गिकममङ्गलमीदृशं तु
संवृत्तमत्र न मया गणितस्त्वमासीः ॥ ३१ ॥

जामदग्न्यः—(सरोषम् ।) आः [2]क्षुद्रक्षत्रियडिम्भ, कथं प्रमथनाथ-प्रथमान्तेवासिनं परशुराममपि भवान्नाजीगणत् ।

महासेनो यस्य प्रमदयमदंष्ट्रासहचरैः
शरैर्मुक्तो जीवन्द्विरिव शरजन्मा समभवत् ।

बालस्वभावेति । बालस्य शिशोः स्वभावः प्रकृतिः तेन सुलभं स्वतः सञ्जातं तेन तादृशेन कुतूहलेन औत्सुक्येन भगवतो वृषभध्वजस्य शिवस्य धनुः कृष्टं नमितम्, तत्र नमने ईदृशम् मनसाऽप्यचिन्तितपूर्वम् अमङ्गलम् तद्भङ्गरूपम-शुभं तु आनुषङ्गिकम् अनभिप्रायकृतम् अतर्कितम् संवृत्तम् जातम्, अत्र विषये त्वं मया न गणितः न विभावितः, एतस्मिन् विषये तवापि सम्पर्कः, एतेन तवाप्य-प्रीतिः सम्भविष्यति मया न चिन्तितम् । बालसुलभकुतुकेनात्र धनुषि नमित-मात्रेऽकस्मादेवेदमभज्यत, न मया तदर्थं यतितं, न वा भवदप्रीतिरेव सम्भाविता, तदयमपराधः सर्वथाऽज्ञानकृत एव बोध्यः ॥ ३१ ॥

क्षुद्रक्षत्रियडिम्भ क्षत्रियापसदशिशो, प्रमथनाथस्य शिवस्य प्रथमान्तेवासिनं प्रधानमादिमं च छात्रम् । अजीगणत् न मनसि विभावितवान् ।

महासेन इति । रे प्रमद प्रकृष्टगर्वधर, महासेनः कार्त्तिकेयो यस्य मम यमदंष्ट्रा-सहचरैः यमराजदन्तसदृशैः शरैः मुक्तः पराङ्मुखतया परित्यक्तः जीवन् सन् द्विरिव द्विधेव शरजन्मा शरेषु शरवणेषु जन्म यस्य तथोक्तस्तथा शराद्विमुक्ततया

राम—(हंसकर) भगवन्, बालस्वभाव-सुलभ कुतूहलवश मैंने शिवधनुष चढ़ा दिया, उसीसे यह अमङ्गल अनायास उपस्थित हो गया, मैंने इस प्रसङ्गमें आपका विचार ही नहीं किया ॥ ३१ ॥

जामदग्न्य—(सरोष) आः क्षुद्र क्षत्रियकुमार, क्या तुमने महादेवके प्रथम शिष्य परशुरामको भी नहीं गिना, जिसके मदमत्त-यमराजदंष्ट्रा-समान शरोंसे मुक्त होने पर

---

१. 'भगवन्भार्गव' । २. 'क्षुद्र' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

इमां च क्षत्राणां भुजवनमहादुर्गविषमा-
मयं वीरो वारानजयदुपविंशान्वसुमतीम् ॥ ३२ ॥

राम—शान्त शान्तम् । [1]प्रसीद भगवन्, अविमृश्यकारितया न गणितोऽसि । न पुनरवलेपात् ।

स्त्रीषु प्रवीरजननी जननी तवैव
देवी स्वयं भगवती गिरिजापि यस्यै ।
त्वद्दोर्वशीकृतविशाखमुखावलोक-
व्रीडाविदीर्णहृदया स्पृहयांबभूव ॥ ३३ ॥

जन्म रक्षा यस्य तथोक्तश्च समभवत् सञ्जात । अय मल्लक्षणो वीरश्च उपविंशान वारान् एकविंशतिधा क्षत्राणा क्षत्रियाणा भुजवनानि एव महादुर्गाणि तै विषमाम् दारुणाम् वसुमतीञ्च पृथ्वीम् अजयत् जितवान् । मया सह युध्यमानो महासेन पलाय्य प्राणानरक्षीत, किञ्चाह क्षत्रियभुजवनरूपदुर्गशालिनीमिमा पृथ्वीमेक विंशतिवारानजैषम्, तदीदृशोऽप्यहं त्वया न गणित इत्यहो तव साहसिकत्वम् इत्याशय । 'कार्त्तिकेयो महासेन शरजन्मा षडानन इत्यमर ॥ ३२ ॥

प्रसीद क्षमस्व । अविमृश्यकारितया अविवेकितया । न पुनरवलेपात् गर्वात् न केवल ममाविवेकित्वमेव तवागणनाया कारण न पुनर्मम दर्प, मयि तस्या भावादिति भाव ॥

स्त्रीषु प्रवीरेति । स्त्रीषु स्त्रीणा मध्ये तवैव जननी माता रेणुका प्रवीरजननी प्रकृष्टवीरप्रसविनी, स्वय भगवती गिरिजा पार्वती अपि तव दोष्णा भुजेन त्वदीय-बाहुबलेन वशीकृतस्य निर्जितस्य विशाखस्य कार्त्तिकेयस्य मुखावलोकेन वदन-दर्शनेन या व्रीडा लज्जा तया विदीर्णहृदया दु खितहृदया यस्यै तव जनन्यै स्पृह-

---

कार्त्तिकेयने अपनेको दो-बार शरजन्मा समझा, उस वीर परशुरामने क्षत्रियोंके भुजवन विषमा इस पृथ्वीको इक्कीस बार जीता ॥ ३२ ॥

राम—शान्त शान्त ! कृपा कीजिये महाराज, अविचारके कारण ही आपको नहीं गिना, गर्वसे नहीं गिना यह बात नहीं है ।

स्त्रियोंमें वीरजननी आपकी ही माता है, आपके द्वारा पराजित कार्त्तिकेय के मुखको देखकर लज्जासे विदीर्णहृदया होकर स्वय देवी पार्वतीने आपकी माताके प्रति अपनी स्पृहा प्रकट की थी ॥ ३३ ॥

---

१. 'प्रसीद' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

जामदग्न्यः—(विहस्य ।) रे राजन्यपोत,

अनुभवपुनरुक्तां मुञ्च नः स्तोत्रचर्या-
मुपनमय तदेतत्कौशिकोपज्ञमस्त्रम् ।
क्षिपति न खलु कालं वीरगोष्ठीविनोद-
प्रियपरशुरयं मे बाहुरुद्यच्छमानः ॥ ३४ ॥

रामः—(स्वगतम् ।) अये, भगवन्तं विश्वामित्रमपि स्पृशति । भवत्वेवं तावत् । (प्रकाशम् । सधैर्यस्मितम् ।)

याम्बभूव स्पृहाञ्चकार । धन्या भार्गवजननी यस्याः पुत्रो ममापि पुत्रमजयत्, इति मनसि विभावयन्ती स्वापेक्षया यां गरीयसीं मनुतेस्म भगवती गिरिजा, तादृशी तव जननी धन्येति भावः । 'विशाखः शिखिवाहनः' इत्यमरः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

अनुभवेति । अनुभवपुनरुक्तां प्रत्यक्षसिद्धाम् नः अस्माकं स्तोत्रचर्याम् मुञ्च-स्तुतिवार्त्तां परित्यज । तदेतत् कौशिकोपज्ञम् विश्वामित्रशिक्षितम् अस्त्रम् उपनमय उपनमय उद्यच्छ, वीरगोष्ठी शूरजनसभा संग्रामः तत्र विनोदप्रियः तद्रसिकः परशुः कुठारो यत्र तादृशः उद्यच्छमानः युद्धोद्यतो मम बाहुः कालं समयं न खलु क्षिपति नैव प्रतीक्षते, मदीयं समस्तमपि वीरत्वमनुभवप्रमापितमित्यलं तत्स्तुत्या त्वत्कृतया, युद्धाय सज्जो भव विश्वामित्रवितीर्णं च स्वमस्त्रमुपनमय, युद्धरसिको ममायं कुठारो मदीये बाहौ स्थितस्तं युद्धाय प्रेरयति, तदसौ समयप्रतीक्षानर्हं इति भावः । कौशिक उपज्ञा आद्योपदेष्टा यस्य तत्कौशिकोपज्ञम्, 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादि'ति कोषः । मालिनीवृत्तम्, 'ननमभययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणम् ॥ ३४ ॥

विश्वामित्रमपि स्पृशति निन्दयेति शेषः, मदीयनिन्दाद्वारा मद्गुरुमपि निन्दतीत्यर्थः ।

जामदग्न्य—(हंसकर) अरे क्षत्रियकुमार, अनुभवों द्वारा सत्यापित हमारी प्रशंसाकी बात छोड़ दे, तुमने कौशिकसे जिस अस्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है उसे प्रकटकर, यह प्रियपरशु तथा फड़कता हुआ हमारा बाहु इस वीरगोष्ठी-विनोदको नहीं पसन्द करता है ॥ ३४ ॥

राम—(स्वगत) अरे, यह तो भगवान् विश्वामित्रको भी समेटे जा रहा है, रहे तब

---

१. 'रे राजन्यपोत' इति क्वचिन्नोपलभ्यते ।

भूमात्रं कियदेतदर्णवमयं[1] तत्साधितं हार्यते
यद्वीरेण भवादृशेन वदति त्रि सप्तकृत्वो जय ।
[2]डिम्भोऽयं नवबाहुरीदृशमिदं घोरं च वीरव्रतं
[3]तत्कोपाद्विरम प्रसीद भगवञ्जात्यैव पूज्योऽसि न. ॥३५॥

जामदग्न्य.—(सक्रोधकम्प स्वगतम् ।) अहो दुरात्मनोऽस्य राजन्य-पोतस्य [4]वीरप्रहताया पद्धतेरस्खलितमुक्तिवैदग्ध्यम् । ([5]प्रकाशम् ।) आ पाप, जात्यैव केवलया [6]पूज्यते परशुराम' । कथमद्यापि निरायुधोऽसि ।

भूमात्रमिति । एतत् भूमात्र कियत् अत्यल्पमिद भूमण्डलम् , तदपि अर्णवमय सागरव्याप्त साधितम् जित सत् भवादृशेन वीरेण हार्यते पुन परवश नीयते यत् भवता जितस्य सागरव्याप्तस्य भूमण्डलस्य परैर्हरणम् त्रि सप्तकृत्व एकविंशति-वारान् क्रियमाणो विजय वदति कथयति, एकधा जितस्य पुनर्जयायोगात् पुन पुनर्जयोद्योग जिताया भुव परैर्हरण प्रमापयति, तथा सत्येव पुनर्जयोद्योगसम्भवात् । अयम् डिम्भ बाल अहम् नवबाहु नवप्राप्तभुज कोमलबाहु , इदञ्च वीरव्रतम् युद्धम् ईदृश घोरम् भीषणम् , तत् तस्मात् हे भगवन् जामदग्न्य प्रसीद प्रसाद भज, कोपाद्विरम निवृत्तो भव, जात्या एव न अस्माक पूज्य असि ब्राह्मण्यादेव वय तव पूजापरा अतोऽलमस्मासु कोपेनेति भाव । अत्र नवोद्यतभुजेन बालकेन मया यदि तव पराजयो जायेत तदाऽतीवापमान स्यादिति कोप निगृहाणेति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३५ ॥

दुरात्मन. दुष्टस्य । वीरपोतस्य वीरबालकस्य । वीरप्रहताया वीरजनपरि शीलिताया । पद्धते मार्गात् । अस्खलितम् अच्युतम् । उक्तिप्रत्युक्तिवैदग्ध्यम्

नक [प्रकट] (धैर्यसे मुस्कुराते हुए) समुद्रवेष्टित इस पृथ्वीको प्राप्त करके आपने दानमें दे दिया, यह कौन-सी बडी बात है, आपने तो पृथ्वीको इक्कीस बार जीता हैं। मैं नवबाहुशाली बालक हूँ और यह वीरव्रत बडा भयङ्कर है, क्रोध छोडिये, आप मेरे लिये जन्मत आदरणीय हैं ॥ ३५ ॥

जामदग्न्य—(क्रोधसे काँपते हुए स्वगत) अहो, यह दुरात्मा क्षत्रियकुमार वीर-जनक्षुण्णपद्धतिसे विना हटे कैसी चतुराईसे बातें कर रहा है, (प्रकट) आ. पाप, क्या परशुराम केवल जातिसे पूज्य है ? क्यों अब तक तुमने अस्त्रग्रहण नहीं किया ?

---

१ 'भितम्'। २ 'अहम्'। ३ 'क्रोधात्'।
४ 'महावीर'। ५. 'प्रकाश सरोषम्'। ६ 'पूजनीय '।

विनयनिचुलितैर्भवद्वचोभिः किमपि नवं विवृणद्भिरङ्कमन्तः।
अयमजनि करः कृतान्तदंष्ट्राक्रकचकठोरकुठारदुर्निरीक्ष्यः ॥ ३६ ॥

(उच्चैश्च ।) अहो नु खलु भोः,

त्रैलोक्यत्राणशौण्डः [1]सरसिजवसतेर्यः प्रसूतो भुजाभ्यां
स क्षत्रं नाम वर्णः कुलिशकठिनयोर्यस्य दोष्णोर्विलीनः ।
ज्वालाजिह्वालकालानलकवलभयभ्रान्तदेवासुराणि
व्यातन्वानो जगन्ति ज्वलति मुनिरयं पार्वतीधर्मपुत्रः ॥३७॥

कथोपकथनचातुर्यम् । निरायुधः अधृतास्त्रः । पुनः पुनरागृहीतोऽपि किमपि सम्प्रत्यपि युद्धोद्यतो न भवसीति भावः ॥

विनयेति । विनयनिचुलितैः शिष्टाचारपिहितैः किमपि रहस्यम् अन्तः मनसि स्थितम् नवम् अङ्कम् पापं कलङ्कम् विवृणद्भिः व्यञ्जयद्भिः उपरि विनीतत्वेऽपि मनसि स्थितं कौटिल्यं प्रकटीकुर्वद्भिः 'साधितं हार्यते' इत्यादिपूर्वोक्तरूपैः अयं मम करः कृतान्तस्य यमस्य दंष्ट्रा दन्ता एव क्रकचः तद्वत् कठोरेण परशुना दुर्निरीक्ष्यः दुर्दर्शः अजनि कृतः । कुटिलैस्तव वचनैः प्रेरितो ममायं करो युद्धोद्यमं प्रापित इत्यर्थः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३६ ॥

त्रैलोक्येति । यः सरसिजवसतेः कमलवसतेर्ब्रह्मणः भुजाभ्यां प्रसूतः जन्माग्रहीत्, 'बाहू राजन्यः कृतः' इति श्रुत्या क्षत्रियजातेर्बाहुजत्वं प्रमाणितम्, सः ताहशः त्रैलोक्यत्राणशौण्डः लोकत्रयरक्षाक्षमताहक्षः क्षत्रं नाम वर्णः क्षत्रियजातिः यस्य मम दोष्णोः भुजयोर्विलीनः समाप्तिं गतः, अयं सः मुनिः पार्वतीधर्मपुत्रः पार्वत्या पुत्रवदनुगृहीतः जगति सर्वान् लोकान् ज्वालाभिः शिखाभिः जिह्वालः जिह्वावान् यः कालानलः प्रलयाग्निः तस्य कवलात् ग्रासात् भयेन भ्रान्ताः मूढभावं गमिताः देवा असुराश्च येषु तानि तथोक्तानि व्यातन्वानः कुर्वन् ज्वलति दीप्यते । ब्राह्मणो-

---

विनयमें आवृत तथा भीतरमें घाव भरे तुम्हारे इन वचनोंसे प्रेरित होकर यह हमारा यमराजकी दंष्ट्राके समान कठोर कुठारसे दुर्निरीक्ष्य हो रहा है ॥ ३६ ॥

(जोरोंसे) अहो, अरे ओ दुष्टो,

त्रैलोक्यकी रक्षामें दक्ष तथा ब्रह्माके बाहुओंसे उत्पन्न जो क्षत्रिय जाति मेरे जिन कुलिश कठोर बाहुओंमें विलीन हो गयी, वही ज्वाला भीषण प्रलयानलके भयसे देवासुरोंको त्रस्त बनानेवाला तथा पार्वतीका धर्मपुत्र मैं परशुराम कोपसे प्रज्वलित हो रहा हूँ ॥३७॥

---

१. 'संप्रसूतः'।

(नेपथ्ये ।)

[1]भगवन्भार्गव,

[2]अप्रवृत्तिविषयं वितन्वत क्षत्रशब्दमियमेव मेदिनी ।
दक्षिणा तव बभूव यज्वनो मुञ्च संप्रति तु शुष्कमायुधम् ॥ ३८ ॥

जामदग्न्यः—अये [3]प्रशान्तगम्भीर क एष । तर्हि जनकेन भवितव्यम् । (तदभिमुखमवलोक्य ।) [4]राजर्षे सीरध्वज, भगवत सूर्यशिष्यात्पुराणवाजसनेयिनो याज्ञवल्क्याध्धीतब्रह्मसिद्धान्तो गृहीतवाक्य[5] एवास्मि । कि तु नायमवसर शिष्टानुरोधस्य ।

हस्ताभ्या गृहीतजन्मा त्रैलोक्यरक्षादक्षश्च क्षत्रियवर्णो यस्य बाहुभ्या समापित, ज्वालाजालजटिलकालानलभ्रमवशाद्यतो देवा, असुराश्च बिभ्यति, तादृशोऽह मुनिस्तदल कटूक्तिभिर्ननु सज्जो भव युद्धायेति भाव । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३७ ॥

अप्रवत्तिविषयमिति क्षत्रशब्दम् क्षत्रियेतिसज्ञाम् अप्रवृत्तिविषयम् प्रवृत्तिविषयशून्यम् क्षत्रशब्दशक्यतावच्छेदकक्षत्रत्वरूपजातिविरहितम् अप्रसिद्धवाच्यम् वितन्वत कुर्वत सर्वानेव क्षत्रियान्विपाद्य क्षत्रशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं क्षत्रियत्व लुम्पत तव यज्वन कृतयज्ञस्य इयमेव मेदिनी ब्राह्मणाय देया बभूव जाता, सम्प्रति तु शुष्कम् नीरसमप्रयोजनञ्च आयुध शस्त्र मुञ्च । तव प्रतिपन्थिविरहादायुधग्रहण नितान्तविफलमित्यल तद्ग्रहणेनेति भाव । रथोद्धतावृत्तम् , 'रात्परैर्नरलगैरथोद्धता' इति तल्लक्षणात् ॥ ३८ ॥

पुराणवाजसनेयिन पुरातनयजुर्वेदविद्याविद । अधीतब्रह्मसिद्धान्त· अधिगतब्रह्मविद्य , गृहीतवाक्य मान्यवचन । पुरा तव वाक्य मया, मन्यतेस्मैव, किन्तु नाय

(नेपथ्यमें)

भगवन् भार्गव,

आपने इस पृथिवीपरसे क्षत्रिय जातिके प्रवृत्ति-निमित्त क्षत्रियत्वको उठा दिया, और उस यज्ञकी दक्षिणामें यह पृथिवी ही प्राप्त हुई, अब आप इस शुष्क आयुधका त्याग कर दें ॥ ३८ ॥

जामदग्न्य—अरे, यह प्रशान्त गम्भीर कौन है, तो यह जनक हो सकता है ? (उधर देखकर) राजर्षे सीरध्वज, आपने सूर्यके शिष्य पुराणवाजसनेयी याज्ञवल्क्यसे ब्रह्मविद्या सीखी है, आपकी बात मैं मान चुका हू, परन्तु यह शिष्टाचारका समय नहीं है ।

---

१ 'भार्गव भार्गव' । २ 'अप्रवृत्त' । ३. 'प्रशान्तगम्भीरस्वरेण जनकेन' ।
४ 'राजर्षे' इति क्वचिन्नास्ति । ५ 'वागेवास्मि' ।

अवनिमधिकविंशानभ्यवस्कन्द्य वारा-
नवभृथभृतकेभ्यः संप्रदाय द्विजेभ्यः ।
विरमति रमणीयाद् द्वन्द्वयुद्धात्कथं मे
निखिलनृपतिहत्यादृष्टसारः कुठारः ॥ ३९ ॥

(पुनर्नेपथ्ये ।)

भृगुतिलक नमस्ते मुञ्च वैमत्यमेत-
त्कुरु करुणमिदानीं मानसं मानशौण्ड ।
वहति बत किमस्त्रं पुत्रभाण्डेऽपि रामे
त्रिजगदभयदानस्थूललक्ष्यो भुजस्ते ॥ ४० ॥

कालः शिष्टानुरोधस्य महाजनवचनपालनस्य, युद्धकाले महाजनवचनात्ततो निवृत्तौ कातर्यव्यञ्जनादिति भावः।

अवनिमिति। अधिकविंशान् विंशतेरधिकान् एकविंशतिवारान् अवनिं पृथ्वीम् अवस्कन्द्य विजित्य अवभृथभृतकेभ्यः यज्ञान्तस्नानर्त्विग्भ्यः द्विजेभ्यः अवनिं प्रदाय च (स्थितस्य) मे मम निखिलानां नृपतीनां हत्यायां वधे दृष्टः सारो बलं यस्य तादृशोऽयं कुठारः परशुः रमणीयात् अनधिकप्रयाससम्पाद्यात् द्वन्द्वयुद्धात् द्वयोरेवावयोर्मध्ये भाविनः संग्रामात् कथं विरमति निवर्त्तते। योऽहमखिलां धरां विजित्य यज्ञे ऋत्विग्भ्यः प्रतिपादितवाँस्तस्य ममायं सकलराजन्यकवधदृष्टसामर्थ्योऽयं कुठारः परस्परयुद्धादस्मात्कथंकारं निवर्त्तेत, तदलं तव वचनेनेति भावः। मालिनीवृत्तम् ॥३९॥

भृगुतिलकेति। भृगुतिलक हे भार्गवकुलभूषण, ते तुभ्यं नमः, एतत् सम्प्रति प्रकाश्यमानम् वैमत्यं विरुद्धबुद्धिं मुञ्च त्यज, हे मानशौण्ड अभिमानशालिन्, इदानीं स्वं मानसं करुणं दयायुक्तं कुरु, त्रिजगतः लोकत्रयस्य अभयदाने निर्भयभावप्रदाने स्थूललक्षः वदान्यः 'स्युर्वदान्यस्थूललक्षदानशौण्डाबहुप्रदे' इत्यमरः। ते भुजः बाहुः

इक्कीसवार जीतकर इस पृथिवीको जिसने यज्ञान्तमरणीय ब्राह्मणोंके अधीन कर दिया है, समस्त नृपतियोंकी हत्यामें जिसका बल देखा जा चुका है, वही यह मेरा कुठार इस रमणीय द्वन्द्वयुद्धसे किस प्रकार विरत होगा ? ॥ ३९ ॥

(फिर नेपथ्यमें)

हे भृगुतिलक, आपको नमस्कार, आप अपना यह हठ छोड़ दें, हे अभिमानिन्, आप अपने हृदयको दयालु बनाइये, क्यों आप पुत्रके समान रामपर अस्त्र उठा रहे हैं ? ॥४०॥

जामदग्न्यः—(राम प्रति ।) अये, धीरकर्कशस्वर क एष ।

राम—(सप्रश्रयम् ।) भगवन्, अय नस्तातो रघुपति ।

जामदग्न्य—(सव्यथम् ।) धिक्, सर्वत [1]क्षत्रकलम्बोद्भेद । ([2]नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) भो राजन्दशरथ, [3]अस्मन्नामधेयमात्रमित्रेण [4]पुत्रेणामुना मानार्हो भवान्। किं पुनरनभिज्ञोऽसि वीरव्यवहारस्य।

पुरमथनधनुर्विमर्दनोत्थं प्रदहदहर्दिवमस्ति तीव्रमर्चि ।
रघुजनककुटुम्बबाष्पपूरैः परमिह शान्तिमुशन्ति शस्त्रभाजः ॥४१॥

पुत्रभाण्डे पुत्ररूपे मूलधने किम् कथम् अस्त्र वहति धारयति? बतेति खेदे। मालिनीवृत्तम् ॥ ४० ॥

धीरकर्कशस्वर गम्भीरकठोरवाक्।

सप्रश्रयम् विनयपूर्वकम्। तातो जनक । रघुपति दशरथ ।

सव्यथम् ससन्तापम् ।

सर्वत सतन्तात्। क्षत्रकलम्बोद्भेद क्षत्रियाङ्कुरप्ररोह । अस्मन्नामधेयमात्रमित्रेण नामधेयसमतासखेन। मानार्ह पूज्य । तवापि पुत्रस्य तदेव नाम यन्ममेति मम पूज्योऽसि त्वमित्याशय, वीरव्यवहारस्य शूरकर्त्तव्यस्य, युद्धावसरे सान्त्व वचनं न व्याहरन्ति शूरास्तत्कथमेवमाह भवानिति भाव ।

पुरमथनेति । पुरमथनधनुर्विमर्दनोत्थम् हरशरासनभङ्गभवम् तीव्रम् उग्रम् अर्चि कोपरूपन्तेज अहर्दिव सततम् प्रदहत् जाज्वल्यमानम् अस्ति ममेति शेष, इह अस्मिन्नर्चिषि शस्त्रभाज मादृशा शस्त्रधारिण परं केवलम् रघूणां जनकानां च कुटुम्बयो वश्ययो बाष्पपूरै अश्रुप्रवाहै शान्तिमुशन्ति कामयन्ते, रामे

जामदग्न्य—(रामके प्रति) अजी, धीरकर्कश स्वरवाला यह कौन है ?

राम—(नम्रतासे) ये हैं हमारे पिता रघुपति ।

जामदग्न्य—(सखेद) धिक्, चारों ओर क्षत्रियोंके अङ्कुर उग आये । (नेपथ्यकी ओर देखकर) हे राजन् दशरथ, आपके पुत्रका भी वही नाम है जो मेरा नाम है, अत• वह मेरा मित्र हुआ, अत आप हमारे मान्य है, किन्तु आपको वीरजनके व्यवहार का ज्ञान नहीं है ।

महादेवके धनुषके भङ्गसे उत्पन्न यह तीव्र दाह अहर्निश हृदयको दग्ध कर रहा है,

---

१. 'कदम्बकोद्भेद.' । २ 'नेपथ्याभिमुख' ।
३ 'नामधेयमित्रेण' । ४ 'सूनुना मानार्हो' ।

(नेपथ्ये ।)

आः जामदग्न्य, किमेवमतिप्रसक्तः [1]संन्यस्तशस्त्रानस्मानपि बलाद्धनुर्ग्राहयसि ।

जामदग्न्यः—(सरोषम् ।) अरे विदेहप्रसवपांसन[2],

अयमधिपतिर्भासामेकान्तरो भवतो गुरु-
स्त्वमसि [3]तपसा यद्वर्षीयानिति स्म तितिक्ष्यसे ।
कथमसि धनुर्नामग्राही तदेष [4]समाप्स्यसे
मम हि सकलक्षत्रालम्भक्रतोरमृतं भवान् ॥ ४२ ॥

हते रघुकुटुम्बाः पुत्रशोकेन जनककुटुम्बाश्च जामातृशोकेन यदि रुदन्ति तदा तद्बाष्पैरेवास्याहर्निशं ज्वलतो मम कोपस्याग्नेः शान्तिर्भवेन्नान्यथेति भावः ॥४१॥

अतिप्रसक्तः—अत्युद्धतः । संन्यस्तशस्त्रान् चिरात्यक्तास्त्रान् । बलात् प्रसह्य । धनुर्ग्राहयसि युद्धे प्रवर्त्तयसि ॥

विदेहप्रसवपांसन विदेहवंशदूषक ।

अयमधिपतिरिति । अयं भासां त्विषाम् अधिपतिः सूर्यः भवतः एकान्तरः एकव्यवहितः गुरुः आचार्यः, (याज्ञवल्क्यः सूर्यात् याज्ञवल्क्याच्च भवानधीतवानिति सूर्यस्य याज्ञवल्क्यव्यवहितं भवदाचार्यत्वमिति) त्वं तपसा तपस्यया वर्षीयान् मदपेक्षया वृद्धतमः इति तितिक्ष्यसे मया क्षम्यसे । धनुर्नामग्राही कथमसि कथं धनुषो नाम गृहीतवानसि, तद् धनुर्नामग्रहणाद्युद्धोद्धततावुद्ध्या

शस्त्रग्राहिजन रघु तथा जनकके वंशजोंके अश्रुप्रवाहसे ही उसकी शान्तिकी कामना करते हैं ॥ ४१ ॥

(नेपथ्यमें)

आः जामदग्न्य, क्यों इस तरह धृष्टता प्रकाशित करके शस्त्र संन्यास लेनेवाले मुझको भी अस्त्रग्रहण करनेको बाधित कर रहे हो ?

जामदग्न्य—(क्रोधसे) अरे विदेहाधम,

ये सूर्य तुम्हारे परमगुरु हैं और तुम तपस्यामें मुझसे श्रेष्ठ हो अतः क्षमा कर रहा हूं, अगर तुम किसी तरह शस्त्रग्राही बने तो अभी समाप्त कर दिये जाओगे, मेरे द्वारा प्रक्रान्त इस सकल क्षत्रिय-संहार यज्ञका तुम ही यज्ञशेष बनोगे ॥ ४२ ॥

---

१. 'शस्त्रानपि' । २. 'पांसुल' । ३. 'तपसा त्वम्' । ४. 'समाप्यसे' ।

(नेपथ्ये ।)

[1]भार्गव भार्गव, च्यवनादिवृद्धवाक्यगौरवनिगृहीतसप्रहारक्रियासमभिहारस्य [2]तत्रभवत परमे ब्रह्मणि वर्तमानस्य पुनरुपप्लवन्ते बुद्धय । [3]तद्विरम, कियच्चिरमित [4] परमपि नाटयिष्यति [5]भवन्तमायुधपिशाची ।

जामदग्न्य —(विहस्य ।) अहो याज्यस्नेह शतानन्दमाकुलयति । भवतु, सान्त्वयामि तावदेनम् । (तदभिमुखम् ।) आङ्गिरस,

---

समाप्यसे हन्यसे त्वमिति शेष , भवान् जनक मम सकलाना क्षत्राणामालम्भो वध एव क्रतुर्यागस्तस्यामृत हुतशेषभूत । भवान्पूर्वं सर्वान् क्षत्रियान्मारयतापि न हत , सम्प्रति तमपि भवन्त मारयामीत्याशय । 'अमृत हुतशेषे स्यात्' इति विश्व । हरिणीवृत्तम् ॥ ४२ ॥

च्यवनादीनाम्–तन्नामप्रथितानाम् वृद्धाना स्वकुलश्रेष्ठाना वाक्येषु वचनेषु गौरवात् आदरातिशयात् निगृहीत मयत सप्रहारक्रियाया युद्धप्रवृत्तिरूपाया समभिहार सम्मिलन येन तादृशस्य, च्यवनादिवृद्धवचनात्यक्तयुद्धप्रवृत्तेरित्यर्थ । तत्र भवत पूज्यस्य परशुरामस्य । परमे ब्रह्मणि वर्त्तमानस्य ब्रह्मनिष्ठस्य तपस्विन । बुद्धय पुनरुपप्लवन्ते–पुनर्युद्धाभिमुखीभवन्ति । तत् विरम–त्यज युद्धमित्यर्थ । इत परमपि–इतोऽग्रेऽपि ब्रह्मज्ञानात् परमपि । भवन्तम्–परशुरामम् । आयुधपिशाची–अस्त्रग्रहणलालसारूपा पिशाचयोषित् । कियच्चिरं कियन्त काल यावत् , नाटयिष्यति नर्त्तयिष्यति ।

याज्यस्नेह यजमाने जनके प्रेमा । आकुलयति व्यथयति, यदसावेव मा भाषते । सान्त्वयामि–शान्ति गमयामि । आङ्गिरस शतानन्द ।

(नेपथ्यमें)

भार्गव, भार्गव, च्यवन आदि वृद्धजनोंके वचन मानकर जिन्होंने शस्त्रग्रहण करना छोड दिया है और जो सदा परब्रह्ममे लीन रहा करते हैं उनकी बुद्धि फिर शस्त्रग्रहण करनेको चपला हो रही है, अत रुक जाओ, इसके आगे भी न जाने कब तक यह आयुधपिशाची तुम्हें नचाती रहेगी ?

जामदग्न्य—(हसकर) अहो, यजमानका प्रेम शतानन्दको व्याकुल बना रहा है । अस्तु, मैं इनका मुह बन्द कर देता हूँ । (उसकी ओर) आङ्गिरस,

---

१ 'भगवन्भार्गव' । २ भवत' । ३. 'विरम विरम' ।
४ 'इयमपरमपि' । ५ 'परवन्तम्' ।

नृपस्ते पाल्योऽयं मम पशुपुरोडाशरसिकः
पृथिव्यामव्याजोद्भटभुजभृतः सन्ति रघव ।
अमीषामुत्सिक्तं किमपि कुलमुत्कृत्य लवशो
विधाता तत्सर्वं यदभिरुचितं ते भृगुपति. ॥ ४३ ॥

(नेपथ्ये ।)

आ' पाप [1]क्षत्रियाया पुत्र, क्षत्रियभ्रूणहत्यापातकिन् , निसर्गनिष्प्राण हि प्रहरणमिक्ष्वाकूणा ब्राह्मणेपु । तैर्यादृशस्तादृशो वा सोढव्योऽस्मि । [2]कथमेवमतिक्रामन्नस्माकमपि ब्रह्मवर्चसान्न बिभेषि ।

नृपस्त इति । ते तव शतानन्दस्य पशु यज्ञार्थो मृग छागो वा पुरोडाशो हव्यद्रव्यभेदस्तयो रसिक सस्नेह सततं पशुपुरोडाशसंलग्नो यज्ञप्रवृत्त अयं नृपो जनक मम पाल्य रक्षणीय , किन्तु पृथिव्याम् अव्याजम अकपट यथा स्यात्तथा उद्भटभुजभृत उद्दण्डदोर्दण्डशालिन रघव सन्ति रघुवंश्या प्रथन्ते, अमीषां रघूणा किमपि अत्यधिकम् उत्सिक्तम् गर्वोद्धत कुल वंशम् लवश उत्कृत्य खण्डशो विनाश्य भृगुपति परशुराम ते यद् अभिरुचितम् इष्टम् तत्सर्वं विधाता विधास्यति । यज्ञरसिकस्य तव यजमानस्य नवेन प्रवृत्तिर्मम, अतस्त्व जोपमास्स्व, सम्प्रति समुद्धत रघुकुल खण्डश कृत्वा त्वदभिमत सर्वमपि सम्पादयितु कर्त्तास्मीत्यर्थ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४३ ॥

क्षत्रियाया पुत्र क्षत्रियस्य गाधे कन्यका रेणुका तस्या पुत्र । क्षत्रियभ्रूणहत्यापातकिन् गर्भस्थानामपि क्षत्रियकुलाङ्कुराणा हन्ता । निसर्गनिष्प्राणम् स्वभावतोऽबलम् , यादृशस्तादृश अतिदुराचारोऽपि । सोढव्य क्षन्तव्य । इक्ष्वाकवो

पुरोडाशका प्रेमी तुम्हारा यह राजा मेरे लिये रक्षणीय है, किन्तु यह रघुवंश पृथ्वीपर बहादुरी प्रकाशित कर रहा है । इसके घमण्डी वंशको खण्डश करके पीछे जो तुम कहोगे वह सब कुछ भृगुपति करनेको उद्यत रहेगा ॥ ४३ ॥

(नेपथ्यमें)

आ पाप, क्षत्रियापुत्र, क्षत्रियोंके गर्भपातका पापी, इक्ष्वाकुओंके अस्त्र ब्राह्मणोंके विषयमें स्वभावत: निष्प्राण होते हैं, जिससे किसी भी स्थितिमें तुम्हें क्षमा करते जा रहे हैं, किन्तु इस तरह बढते हुए तुम क्यों हमारे ब्रह्मतेजसे भी नहीं डर रहे हो ?

---

१ 'क्षत्रियपुत्र' । २. 'अतिक्रमन्' ।

जामदग्न्य —(सरोपहासम् ।) अरे ब्रह्मबन्धो बान्धकिनेय गौतमगोत्रपासन,

कुर्युः शस्त्रकथाममी यदि मनोर्वंशे मनुष्याङ्कुराः
स्याच्चेद् ब्रह्मगणोऽयमाकृतिगणस्तत्रेष्यते चेद्भवान् ।
सम्राजां समिधां च साधकतमं धत्ते छिदाकारणं
धिङ्मौर्वीकुशकर्षणोल्वणकिणग्रन्थिर्ममायं करः ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणेषु न प्रगल्भन्तेऽतो दुराचारेऽपि त्वयि ते न शस्त्रग्रहण करिष्यन्ति । एवमतिक्रामन् इत्थ प्रगल्भमान अस्माकम्—आङ्गिरसानाम् । ब्रह्मवर्चसात्–ब्राह्मतेजस । राववान् ब्राह्मणेष्वशस्त्रग्राहिणो ज्ञात्वा काम मा भैषी , परमस्मद्ब्रह्मवर्चसस्तु त्वया भेतव्यमासीद्यदेकपदे एव त्वा दग्धु क्षममिति ।

ब्रह्मबन्धो ब्राह्मणाधम । बान्धकिनेय बन्धकी कुलटा, तदपत्य, शतानन्दमातुरहल्याया इन्द्रसङ्गमादित्थमुक्ति । 'ब्रह्मबन्धुरधिक्षेपे' इति, 'अथ बान्धकिनेय स्याद् बन्धुलश्चासतीसुत ' इति चामर । गौतमगोत्रपासन गौतमकुलकलङ्क । सर्वमेतत् शतानन्द-निन्दापर्यवसायि सबोधनजातम् ॥

कुर्यु शस्त्रकथामिति । यदि अमी मनोर्वंशे मनुष्याङ्कुरा मनुकुलजा मनुष्यशिशव शस्त्रकथा कुर्यु युद्धवार्त्ता प्रवर्त्तयेयु , चेद् ब्रह्मगण ब्राह्मणगणना आकृतिगण आकारमात्रग्राह्य स्यात् , तत्रापि चेत् ब्राह्मणगणेष्वपि यदि भवान् इष्यते भवतोऽपि यदि ब्राह्मणेषु गणना स्यात्, तदा मम मौर्वीकुशानाम् कुशनिर्मितमौर्वीगुणानाम् कर्षणेन मुहुरामर्शेन उल्वण उत्कट किणग्रन्थि शुष्कव्रणचिह्न यत्र तथाभूत अय कर हस्त॰ सम्राजां राजन्याना समिधा होमकाष्ठानां च समानभावेन च्छिदाकारण छेदकं साधकतम क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम् इम परशु धिक् व्यर्थं धत्ते । यद्यमी मनुवश्या शस्त्रगृह्णीयुर्यदि वा भवादृशा विप्राधमा आकारमात्रेण ब्राह्मणेषु गण्येरन् तदाऽनवरतप्रत्यञ्चाकुशाकर्षणरसिको ममाय करो वृथैव समभावेन क्षत्रियान्समिधश्च च्छिन्दन्तमिम कुठार धारयतीत्यर्थ । मयि परशुधरे नामीषा युद्धकथा न वा तव ब्राह्मणगणना सभविनीति भाव ॥ ४४ ॥

जामदग्न्य—(सरोषहास) अरे मिथ्या-ब्राह्मण, व्यभिचारिणीके पुत्र, गौतम वशाधम,

यदि यह मनुष्यके अकुर भी शस्त्रकी बातें करने लगे, और यदि ब्रह्मगणको आकृति गण मानकर तुम्हारा भी उसीमें समावेश कर दिया जाय, तब राजाओं तथा समिधाओंको समभावसे काटनेवाले इस कुठारको धनुष्प्रत्यञ्चाके द्वारा घर्षणसे उत्पन्न व्रणचिह्नयुक्त हमारा हाथ व्यर्थ धारण करता है, इसे धिक्कार है ॥ ४४ ॥

(नेपथ्ये ।)

[1]भगवान् भार्गव भार्गव,

त्वं वेदवानसि वसिष्ठगुरोः सनाभिः
स्वायंभुवः स भगवान्प्रभवो गुरुस्ते ।
तेनातिमात्रमसृणं हृदयं मदीय-
मद्यापि न त्रुटति शाम्यतु ते कुदृष्टिः ॥ ४५ ॥

जामदग्न्यः—(सोच्चैर्हासम् ।) किमात्थ रे दशरथ, किमात्थ नाद्यापि हृदयं त्रुटतीति । कथं वा त्रुटतु यावदेष न व्याप्रियते परशुः ।

(नेपथ्ये ।)

त्वं वेदवानसि इति । वेदवान् अधीतवेदः त्वम् परशुरामः वसिष्ठगुरोः वसिष्ठाख्यस्य मम गुरोराचार्यस्य सनाभिः सपिण्ड एकगोत्रोद्भवः असि, ते तव प्रभवः जनकः स भगवान् भृगुः स्वायम्भुवः ब्रह्मणः पुत्रः । भृगोर्वसिष्ठस्य चैककुलोत्पन्नतया सनाभित्वेन भृगुपुत्रस्य तवापि वसिष्ठसनाभित्वं सिद्धमिति भावः । तेन तवास्मद्गुरुवसिष्ठसनाभित्वेन अतिमात्रमसृणं मदीयं हृदयम् नितान्तकोमलं दयाशालि मम चित्तं त्वद्विषयेऽद्यापि त्वय्येयति विकत्थमानेऽपि न त्रुटति न निर्दयत्वमुपैति, ते तव कुदृष्टिः विरुद्धभावः शाम्यतु निवर्त्ततां येन मम कोपो नोदियान्न वा मम गुरुसपिण्डवधभवो दोषः स्यादिति भावः ॥ ४५ ॥

यावदेष न व्याप्रियते यावन्मम धनुर्नोद्यमपरायणं भवति तावत्ते हृदयं कथं खण्डशः स्यादिति त्रुटतिपदस्यार्थान्तरपरकतयाऽधिक्षेपः ।

(नेपथ्यमें)

भगवान् भार्गव, तुम वेदज्ञ तथा हमारे गुरुदेव वसिष्ठके वंशमें उत्पन्न हो, क्योंकि तुम भी ब्रह्माके पुत्रकी सन्तति हो, इसीलिये हमारा यह सस्नेह हृदय नहीं टूट रहा है, अभी भी तो तुम्हारी कुदृष्टि शान्त होवे ॥ ४५ ॥

जामदग्न्य—(जोरसे हंसकर) क्या कहा रे दशरथ, क्या कहा ? अभी भी हृदय नहीं टूट रहा है ? टूटे तो कैसे ? अभी तो हमारे कुठार ने कुछ किया ही नहीं है ॥

(नेपथ्यमें)

---

१. 'भगवन्' इति पुस्तकान्तरे नोपलभ्यते ।

आ॰ जामदग्न्य, [1]गुरूनप्यधिक्षिपसि ।

पुरोजन्मा नाद्यप्रभृति मम राम॰ स्वयमहं
न पुत्र पौत्रो वा रघुकुलभुवां च क्षितिभुजाम् ।
[2]अधीरं धीरं वा कलयतु जनो मामयमयं
मया बद्धो दुष्टद्विजदमनदीक्षापरिकर ॥ ४६ ॥

जामदग्न्य॰—(सावज्ञ राम प्रति ।) अये, किमयं लक्ष्मणो भवन्त पुरोजन्मानमपदिशति ।

रामः—(सविलक्षस्मितम् ।) प्रसीद भगवन्, स एवायं यौवनादर्वाचि निरपराधमधुरे वयसि वर्तमानो यानि कानिचिदक्षराणि प्रलपति ।

गुरूनपि अस्मत्तातपादान् अपि । अधिक्षिपसि तिरस्करोषि ।

पुरोजन्मेति । अद्यप्रभृति अधुनाऽऽरभ्य रामो मम पुरोजन्मा अग्रज न, स्वयमह स्वत प्रवर्त्तमानोऽह रघुकुलभुवा रघुवशे गृहीतजन्मना क्षितिभुजा राज्ञा पुत्र पौत्रो वा न, अय जन लोक माम् अधीर धीरम् वा कलयतु जानातु, मया लक्ष्मणेन अय दुष्टद्विजस्य अस्य ब्राह्मणाधमस्य दमनदीक्षाया निग्रहव्यापारे परिकरो बद्ध सन्नाह कृत । अधुनाऽवधि स्वाग्रजन्मनो रामस्य सान्त्वनमह न गणयिष्यामि, न वा पितु पितामहस्य वा कथनमनुरोत्स्यामि, लोकोऽय मा यथा तथा कथयतु, परमहमिमं बहुविकत्थमान दुष्टब्राह्मण निग्रहीतु कृतपरिकरोऽस्मीति भाव । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४६ ॥

पुरोजन्मानम् ज्येष्ठम् भ्रातरम् । अपदिशति न्यक्करोति, नायं मम ज्येष्ठ इत्युक्त्वाऽपलपति ।

यौवनादर्वाचि युवावस्थात॰ पूर्वतने । निरपराधमधुरे नास्ति यत्रापराधस्ततश्च

आ जामदग्न्य, गुरुजनों पर भी तुम आक्षेप करने लगे,

आजसे राम मेरे बडे भाई नहीं रहे, और न मैं रघुवशी नृपोंका पुत्र या पौत्र रहा । यह ससार मुझे अधीर कहे या धीर कहे, मैंने अब दुष्ट द्विजको पाठ पढानेके लिये कमर कस ली है ॥ ४६ ॥

जामदग्न्य—(अवज्ञाके साथ रामके प्रति) अरे, क्या यह लक्ष्मण तुमको अपना बडा भाई बता रहा है ?

राम—(लज्जासे हसकर) दया कीजिये महाराज, यह अभी किशोरावस्थामें है

---

१. 'अपि' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'अवीर वीर वा' ।

जामदग्न्यः—(सस्मितम् ।) कथमेतावत्यपि[1] माममृष्यमाणमाशङ्कसे । [2]यतस्त्वदनुवर्ती खल्वयं त्वामेवास्तमयमानमन्वस्तमयिष्यते । निर्वाणं हि सवितारं तरणिमणिरप्यनुनिर्वाति । (नेपथ्य प्रति ।) साधु रे लक्ष्मण, साधु । कनिष्ठतरोऽपि [3]वरं भवान्, न पुनरयं वृथाज्येष्ठो रामस्ते ।

प्रागुच्चै शिरसं[4] क्षुरप्रनखरैः क्रौञ्चाद्रिदन्तावलं
भित्त्वा हंसमयानि मौक्तिकफलान्याकीर्य पर्यापिताम् ।

मधुरे कौमारे । प्रलपति निरर्थकं ब्रवीति ।

एतावत्यपि दुष्टद्विजदमनेत्यादिनि तेनोक्तेऽपि । अमृष्यमाणम् अक्षमम् । एवमुक्तवत्यपि लक्ष्मणे यदसौ जीवति तन्मम क्षमाया एव फलं बोध्यम् । मया क्षान्तं तावद्यत । त्वदनुवर्ती त्वत्पश्चाल्लब्धजन्मा । अस्तमयमानम् अस्तं गच्छन्तम् विनश्यन्तम् । अन्वस्तमयिष्यते अनुपश्चादस्तं गमिष्यति अनुमरिष्यति, निर्वाणं सवितारम् अस्तगतं सूर्यम् । तरणिमणिः सूर्यकान्तमणिः । अनुनिर्वाति पश्चात् शाम्यति । यथा सूर्येऽस्तगते सूर्यकान्तमणिः शाम्यति तथैवायं लक्ष्मणस्त्वय्यस्तगते पश्चादस्तं गमिष्यति इत्याशयः ।

वरम् मनाक् प्रियं, 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः ।

प्रागुच्चैरिति । प्राक् पूर्वसमये क्षुरप्राणि अस्त्रविशेषा एव नखरा तैः उच्चैः शिरसं प्रोन्नतशिरस्कम् उन्नतशिखरं च क्रौञ्चाद्रिदन्तावलम् क्रौञ्चगिरिरूपं करिणम् भित्त्वा विदार्य हंसमयानि हंसरूपाणि मौक्तिकानि आकीर्य परितो विक्षिप्य

अतः कुछ अण्ट सण्ट बक रहा है ।

जामदग्न्य—(हंसकर) इतने पर भी मुझे तुम अक्षमाशील कह रहे हो ? तुम्हारा अनुवर्त्तन करनेवाला यह लक्ष्मण तुम्हारे नष्ट होने पर ही नष्ट होगा । सूर्यके अस्त होनेके बाद ही सूर्यकान्तमणि ठंढा पडता है । (नेपथ्यके प्रति) साधु लक्ष्मण साधु, छोटा होकर भी तुम ही अच्छा है, यह राम नहीं ।

नखोपम क्षुरप्रके द्वारा क्रौञ्चाद्रि रूप उन्नत गजको फाडकर हंसमय मौक्तिक फलको विखेर कर प्रमाणित की गई सैंही वृत्तिको अपनानेवाले मेरे विषयमें भी क्षत्रियोचित

---

१ 'एतावतापि' । २ 'त्वदनुवर्ती खल्वल्प' ।
३ 'वरो' । ४ 'शिखर' ।

सैंहीं वृत्तिमधिष्ठितेऽपि हि मयि क्षात्रेण कल्पेन ते
दिष्ट्या कौतुकमाभिरामिकमसि त्वं कोऽपि वीराङ्कुर ॥४७॥

(नेपथ्ये ।)

भार्गव भार्गव, दुर्विज्ञानमिदमर्वाक्फलनिष्पत्तेराभिरामिक साङ्ग्रामिक वा ।

राम—(सरोष नेपथ्याभिमुखम् ।) आ वत्स, कोऽयमद्यतनस्ते [1]दुर्विनयप्ररोहो यद्गुरूनपि चेत्रीकरोपि ।

च पर्यापिताम् आत्मान प्रापिताम् सैंही वृत्ति सिंहव्यापारम् अधिष्ठिते प्राप्तेऽपि मयि दिष्ट्या भाग्यवशेन ते तव क्षात्रेण कल्पेन शौर्यप्रकटनेन आभिरामिकम् प्रीतिप्रद कौतुकम् औत्सुक्यम् , त्व कोऽपि वीराङ्कुर वीरप्ररोह असि । अयमाशय यथा कोऽपि सिंह स्वनखरै ऽप्यपि प्रोन्नतशिरस दन्तावल विदार्य तन्मौक्तिकानि च विकीर्य स्वा सैंहीं वृत्तिमधितिष्ठति, तथैव मयि स्वक्षुरप्रास्त्रेण प्रोन्नतशिखर क्रौञ्चाद्रि विदार्य तद्विवरान्निर्गच्छतो हसाश्रेतस्तत सचार्य सैंही वृत्ति प्राप्ते सत्यपि यत्त्व क्षात्रेण स्वभावेन वीरत्व प्रथयसि तत्सत्य मम महत्यै प्रीतये जायते, निश्चित तव वीराङ्कुरत्वमिति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४७ ॥

दुर्विज्ञानम् वेत्तु कठिनम् । फलनिष्पत्ते फलोत्पत्ते । अर्वाक् प्राक् । रामस्येद कौतुकमाभिरामिक भवत्प्रीतिजननोद्देश्यकम् साङ्ग्रामिक युद्धार्थं वेति फलनिष्पत्ते पूर्वमवगन्तुमयोग्यम् , फलानुमेयत्वात्प्रारम्भाणामित्याशय ।

अद्यतन अद्य जायमान । दुर्विनयप्ररोह अशिष्टाचारितोदय । यद् गुरूनपि पूज्यानपि । चेत्रीकरोषि विषयीकरोषि, कोऽयमद्य तवाविनयो यद् गुरूनपि नाद्रियस इत्यर्थ ।

व्यवहार करनेवाले तुममें बहुत कौतुक भरा है, तुम जरूर बहादुर हो ॥ ४७ ॥

(नेपथ्यमें)

भार्गव, भार्गव, फल-निष्पत्तिके पहले यह समझना कठिन है कि मेरा कुतूहल आभिरामिक है या साङ्ग्रामिक है ।

राम—(कोपसे नेपथ्यकी ओर) आ वत्स, आज तुम क्यों इतने अविनीत हो रहे हो कि गुरुजनों पर भी आक्षेप करते हो ।

---

१ 'विनयातिप्ररोहो यद्भृगूनपि' ।

(नेपथ्ये ।)

आर्य, [1]तूष्णीमयमस्मि । क्षमस्व जामदग्न्य, नियन्त्रितोऽहमार्येण ।

जामदग्न्य—(विहस्य ।) [2]अरे राम, [3]कथमद्यापि वाचमेव सूनृतामस्मदभियोगप्रशमनीं [4]प्रथयसे । कवचहरोऽसि । शस्त्रैरेव प्रतिक्रियन्तां शस्त्राणि । किं च रे,

राजन्येभ्यो जन्म वैवस्वतेभ्यश्चक्रे चापाचार्यकं कौशिकश्च ।
क्षात्रीं चर्यामेवमुन्मुञ्चतस्ते गोत्राक्षेपी वज्रलेपः कलङ्कः ॥ ४८ ॥

राम—(सगर्वस्मितम् ।) भगवन्, सत्यमेतत् ।

तूष्णीम् मौनीभूत । नियन्त्रित उत्पथान्निवारित ।

सूनृताम् प्रियाम् । अस्मदभियोगप्रशमनीम् मदीययुद्धोद्यमनिवर्तिनीम् । प्रथयसे विस्तारयसि । कवचहर वर्मधारणक्षम, प्राप्तयुद्धोपयुक्तावस्थ इत्यर्थः । शस्त्राणि प्रतिक्रियन्ताम् अस्त्राणामुत्तरं दीयताम् ।

राजन्येभ्य इति । तव रामस्य वैवस्वतेभ्य सूर्यवंश्येभ्य राजन्येभ्य क्षत्रियेभ्यो जन्म उत्पत्ति कौशिको विश्वामित्रश्च चापाचार्यकम् धनुर्वेदविद्यागुरुत्व चक्रे कृतवान् । एवम् क्षात्री क्षत्रजात्युचिता चर्याम् परिपाटीम् उन्मुञ्चत त्यजतस्तव कलङ्क अपवाद वज्रलेप अनपनेय स्यादिति शेष । सूर्यवंशे गृहीतजन्मनो विश्वामित्रादधीतधनुर्वेदस्य च तव क्षात्रचर्यापरित्यागोऽपरिहार्यकलङ्क जनयेदिति भाव ॥ ४८ ॥

(नेपथ्यमें)

आर्य, मैं अब चुप रहता हूं । जामदग्न्य, आप मुझे क्षमा करें, आर्य ने मुझे रोक लिया ।

जामदग्न्य—(हसकर) अरे राम, अभी भी तुम हमारे कोप को शान्त करनेवाली बातें ही कर रहा है ? तू तो युवा है, हमारे शस्त्रोंका उत्तर शस्त्रोंसे दो । और—

तुम्हारा जन्म सूर्यवंशियोंसे हुआ है, तथा तुम्हे विश्वामित्रने शस्त्र विद्या की शिक्षा दी है, यदि तू इसी तरह क्षात्र धर्मका त्याग करेगा तो तुम्हारे वंशका यह कलङ्क वज्र लेप हो जायगा ॥ ४८ ॥

राम—(सगर्वहास) भगवन्, आपका कथन सत्य है,

---

१ 'तूष्णीमस्मि' ।　२ 'रे रे' ।　३ 'कथं वाचमेव' ।　४. 'समर्थयसे' ।

जातः सोऽहं दिनकरकुले[1] क्षत्रियश्रोत्रियेभ्यो
विश्वामित्रादपि भगवतो [2]दृष्टदिव्यास्त्रपारः।
[3]अस्मिन्वंशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा
विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः साहसिक्याद्बिभेमि ॥ ४९ ॥

जामदग्न्यः—(सक्रोधम्।) आः पाप दुर्मुख, वसिष्ठ इव विश्वामित्र इव स्वस्तिवाचनिको ब्राह्मणस्ते परशुराम। (सव्यथम्।) धिक्कष्टम्। एवमुच्चावचवाचः क्षत्रिया श्रयन्ते। (कोपातिशयं नाटयन्।) अयमहं भोः,

---

जात इति। दिनकरकुले सूर्यवंशे क्षत्रियश्रोत्रियेभ्यः वेदज्ञेभ्यो राजभ्यः राज्ञामुत्तमेभ्यो वा जातः उत्पन्नः विश्वामित्राद् भगवतः दृष्टदिव्यास्त्रपारः अवाप्तदिव्यास्त्रविद्यः सोऽहम् रामः जनः अस्मिन्वंशे मदुत्पत्तिक्षेत्रे कुले यशः कथयतु अयशो वा कथयतु, विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः ब्राह्मणेऽस्त्रग्रहणमहतः साहसिक्यात् साहसाद् बिभेमि भयमनुभवामि। सत्यमहं क्षत्रियेभ्यो भास्वद्वंशे लब्धजन्मा विश्वामित्राद्धीतास्त्रविद्यारहस्यश्चास्मि, कामं लोको मयि भवता सह योद्धुमप्रवर्त्तमाने सति मदीये वंशे यशोऽयशो वाऽभिवक्ता, परमहं ब्राह्मणे शस्त्रग्रहणसाहसं कर्त्तुमशक्त इत्यर्थः। मन्दाक्रान्तावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति ॥ ४९ ॥

स्वस्तिवाचनिकः यत्किञ्चिद्धनं प्राप्य स्वस्तीतिवचनप्रयोक्ता।
उच्चावचवाचः विविधालापाः। 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः ॥

सूर्यवंशके क्षत्रिय श्रोत्रियोंसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, भगवान् विश्वामित्रने मुझे अस्त्रकलाकी शिक्षा दी है, लोग हमारे वंशको यश दें या अयश, ब्राह्मणके ऊपर शस्त्रग्रहणरूप साहसकार्यसे मैं डरता हूँ ॥ ४९ ॥

जामदग्न्य—(सक्रोध) आः पाप कटुभाषी, क्या वसिष्ठ या विश्वामित्रकी तरह परशुराम भी तुम्हारा स्वस्ति मनानेवाला ब्राह्मण है? (सखेद) धिक्, बड़े खेदकी बात है कि क्षत्रियोंकी यह ऊँच नीच बातें सुननी पड रही हैं ॥ (अतिकुपित होकर)

---

१. 'कुलक्षत्रिय-'। २ 'लब्धविद्यास्त्र-'। ३ 'अस्मिन्वंशे कलयतु'।

सह दशरथमद्योत्कृत्य पुत्रैश्चतुर्भि-
र्जनककुलकबन्धस्कन्धनिर्गत्वरीभिः ।
नवरुधिरलताभिः [1]क्लृप्तलीलापताकां
रणभुवमतिरौद्रीं रुद्रशिष्यः करोमि ॥ ५० ॥

रामः—([2]सरोषम् ।) आः जामदग्न्य, केयं [3]वाग्विभीषिका । दूर-मतिक्रामति प्रसङ्गे कदाचिदिक्ष्वाकवोऽपि दुर्मनायन्ते ।

जामदग्न्यः—([4]सभ्रुकुटीभङ्गम् ।) ततः किम् ।

रामः—(सावष्टम्भम् ।) ततश्च ।

सहदशरथमिति । रुद्रशिष्यः शिवस्यास्त्रविद्यान्तेवासी अहं परशुरामोऽद्य चतुर्भिः रामादिभिः पुत्रैः सह दशरथं नाम राजानम् उत्कृत्य खण्डयित्वा जनककुलक-बन्धानां हतजनकवंश्यजनच्छिन्नशिरोदेहानां स्कन्धेभ्यो गलदेशेभ्यो निर्गत्वरीभिः निस्सरन्तीभिः नवरुधिरलताभिः सद्यः शोणितवल्लरीभिः क्लृप्तलीलापताकाम् रचित-पताकाम् रणभुवम् अतिरौद्रीम् निकामभीषणां करोमि । अद्याहं रुद्रशिष्यः स-पुत्रचतुष्टयं दशरथं निहत्य जनककुलकबन्धस्कन्धनिर्गत्वरीभिः प्रत्यग्ररुधिरधाराभि-र्धृतपताकां रणभुवं भीषणां विदधामि । मालिनीवृत्तम् । 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥ ५० ॥

वाग्विभीषिका वचनद्वारा भयप्रदर्शनम् । प्रसङ्गे वाग्व्यापारे । दूरमतिक्रामति वर्धमाने सति । दुर्मनायन्ते दुर्मनसः कुपिता इवाचरन्ति, वाकोवाक्यवशात् कदाचिदिक्ष्वाकूणामपि कोपोदयः सम्भवतीति भावः ।

ततः किम् वाकोवाक्यं विहाय त्वं किं कर्तुमिच्छसीति भावः ।

---

[1] चारों पुत्र के साथ दशरथको काटकर जनकवंशयोंके कबन्धासे निकलनेवाली नव रुधिरधारारूप पताकायें फैलाकर मैं अभी रणभूमिको अतिभयङ्कर बना देता हूँ ॥ ५० ॥

राम—(सकोप) आः जामदग्न्य, यह क्या वचन-विभीषिका दिखा रहे हो ? बातके अधिक बढ जानेपर कदाचित् इक्ष्वाकुवंशी भी कुपित हो जा सकते हैं ॥

जामदग्न्य—(भ्रुकुटी चढाकर) इससे क्या ?

राम—(जोर देकर) इससे—

---

१ 'लुप्त–'।　२ 'सक्रोधम्'।　३ 'विभीषा'।　४ 'सभ्रुकुटिबन्धम्'।

तैस्त्रिःसप्तभिरेव राजविजयैर्यत्ते भुजस्तम्भयो.
कृत्वा तोरणमालिकां पुनरमुं द्वाविंशमारिप्सते ।
द्रक्ष्यामि त्वयि वर्तमानमधुना तच्चापविद्याद्भुतं
शंभोस्तस्य हि केवलेन धनुषा कृष्टेन तुष्टिर्नमे ॥ ५१ ॥

जामदग्न्य —([1]सरोषम् ।) किमात्थ रे, किमात्थ । ('द्रक्ष्यामि त्वयि वर्तमानमधुना' इत्यादि श्लोकोत्तरार्धं पठित्वा सव्यथम् ।) अहो सर्वत समिध्यमानदारुणस्य रोषजातवेदसो विदेहदिलीपयो' कुल नाम कति भविष्यन्त्याहुतय । ([2]उच्चै ।) भो भो सप्तद्वीपकुलपर्वतवर्तिनो राजान'. चेतयध्व चेतयध्वम् ।

तैस्त्रि सप्तभिरिति ' (यत् तव चापविद्याद्भुतम्) तै सर्वजनविदितै. त्रि सप्तभि. एकविंशतिसङ्ख्यकै. एव राजविजयै क्षत्रियजातिपराभवै ते तव परशुरामस्य भुजयो. स्तम्भयोरिव स्तम्भोपमस्थूलदृढयोर्भुजयो तोरणमालिका कृत्वा तोरण यथा मालयाऽलङ्करोति तथैकविंशत्या क्षत्रविजयैस्तव भुजस्तम्भावलङ्कृत्येत्यर्थ । अमु द्वाविंश मज्जयरूप राजविजयम् आरिप्सते कर्तुमिच्छति, तत् त्वयि वर्त्तमान त्वया स्थित चापविद्याद्भुतम् अस्त्रविद्यारूपमाश्चर्यम् अधुना सम्प्रति द्रक्ष्यामि, हि यत तस्य शम्भो धनुषा चापेन केवलेन कृष्टेन मे मम रामस्य तुष्टि सन्तोषो न । त्वदीय तच्चापविद्याकौशलं द्रक्ष्यामि यत् त्रि सप्तवारान् राजविजय कृत्वा तैर्विजयैस्तव भुजस्तम्भौ तोरणमालिकाभिरिवालङ्कृतवत् , अमुना कृतेन हरधनु कर्षणमात्रेण मम मनस्तोषो नास्तीत्यर्थ । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५१॥

समिध्यमानदारुणस्य दीप्यमानस्य भीषणस्य च । रोषजातवेदस कोपाग्ने. । कति कियत्सङ्ख्याः आहुतय. हव्यप्रक्षेपा । विदेहदिलीपकुलयो. खण्डनेन मम

इक्कीस बार किए गए राज-विजयसे तुम्हारे भुजस्तम्भोंने तोरणमाला धारण करके यह बाईसवा विजय प्रारम्भ करना चाहता है, अब मैं देखूंगा कि तुममें कितना चापविद्याकौशल है ? केवल उस महादेवके धनुषभङ्गसे मुझे सन्तोष नही हुआ है ॥ ५१ ॥

जामदग्न्य —(सरोष) क्या कहता है रे क्या कहता है ? ('द्रक्ष्यामि त्वयि' इत्यादि श्लोकार्धको दुहराते हुए सखेद) अहो, हमारी जिस कोपाग्निमें सभी ओरसे ज्वालायें बढ रही हैं, उसमें विदेह तथा दिलीपके वश कितनी आहुतियाँ बन सकेगा ? (उच्च स्वरसे) अजी सप्तद्वीप तथा कुलपर्वतोंपर रहनेवाले नृपगण, सावधान हो जाओ सावधान,

---

१.'ससरम्भम्' । २ 'उच्चै ' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

येन स्वां विनिहत्य मातरमपि क्षत्रास्नमध्वासव-
स्वादाभिज्ञपरश्वधेन विदधे निःक्षत्रिया मेदिनी ।
यद्बाणव्रणवर्त्मना शिखरिणः क्रौञ्चस्य हंसच्छला-
दद्याप्यस्थिकणाः पतन्ति स पुनः क्रुद्धो मुनिर्भार्गवः ॥५२॥

रामः—([1]सहर्षसंभ्रमम् ।)

नृपानप्रत्यक्षान्किमपवदसे नन्वयमहं

कोपस्य कियती पूर्त्तिः शान्तिर्वा भाविनीति भावः । सप्तद्वीपकुलपर्वतवर्त्तिनः सप्तसु-द्वीपेषु सप्तसु कुलपर्वतेषु च स्थिताः । चेतयध्वम् सावधाना भवत ।

येन स्वामिति । येन क्षत्रास्राणि क्षत्रियरुधिराण्येव मध्वासवाः मद्यानि तत्स्वादाभिज्ञः तत्स्वादविज्ञः परश्वधः परशुर्यस्य तादृशेन क्षत्रियरुधिररूपमद्यस्वादरसिक-परशुधारिणा परशुरामेण स्वां मातरं जननीं रेणुकाम् अपि विनिहत्य हत्वा पृथ्वी समस्ता धरा निःक्षत्रिया क्षत्रियसामान्यशून्या विदधे कृता, अद्यापि सम्प्रत्यपि यद्बाणव्रणवर्त्मना यदीयबाणच्छिद्रमार्गेण हंसच्छलात् निर्यन्मरालकुलव्याजात् क्रौञ्चस्य शिखरिणः क्रौञ्चाभिधस्य पर्वतस्य अस्थिकणाः पतन्ति सः मुनिर्भार्गवः परशुरामः पुनः क्रुद्धः कुपितः । अयमाशयः—हे सप्तद्वीपकुलाचलस्था राजानो यूयं सावधाना भवत, यतः क्षत्रियरुधिररूपमद्यास्वादरसिककुठारः परशुरामो यो मात्रा सहैव सर्वानपि, राज्ञो विनिहत्य भुवं निःक्षत्रियामकृत, य एव च क्रौञ्चं नाम गिरिं स्वबाणैश्छिद्रवन्तम् व्यधित, यद्बाणच्छिद्रवर्त्मना तद्गिरेरस्थिखण्डा इव हंसा निपतन्ति, अन्यस्यापि व्रणितगात्रस्य यथाऽस्थीनि निपतन्ति तथेति । पुरा स्वपितुराज्ञया परशुरामो निजां मातरमहन्निति कथाऽत्र बोध्या । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५२ ॥

नृपानिति । अप्रत्यक्षान् दृष्टिविषयबहिर्गतान् दूरस्थान् नृपान् राज्ञः किम्

क्षत्रिय शोणितरूप मदिराके स्वादको जाननेवाले परशुसे जिस परशुरामने अपनी माताको भी काटकर इस पृथ्वीको क्षत्रियशून्य बना दिया, जिसके बाणमार्गसे आज भी हंसोंके, छलसे क्रौञ्चपर्वतके अस्थिकण गिरा करते हैं वही परशुराम पुनः कुपित हो उठे हैं ॥५२॥

राम—(हर्ष तथा उतावलापनके साथ) जो सामने नहीं हैं उन नृपोंकी निन्दा

---

१. 'सहासम्' ।

शिशुक्रीडाभग्नत्रिपुरहरधन्वा तव पुरः ।
अहंकारक्रूरार्जुनभुजवनव्रश्चनकला-
निसृष्टार्थो बाहुः कथय कतरस्ते प्रहरतु ॥ ५३ ॥

जामदग्न्यः—([1]सकोपाटोपम् ।) आः पाप विकर्तनकुलकलङ्क, पुनस्तरां तदेव पार्वतीदयितकोदण्डदलनसाहसमुद्भावयसि[2] । अहह क्षत्रियोऽपि भार्गवस्य [3]कार्तवीर्यजयिनं भुजदण्डमन्विष्यति । अहो गरीयान्कालः । यदश्रुतचरमपि श्रावयति । अदृष्टचरमपि दर्शयति । अपि च रे राजन्यकीट,

---

किमर्थम् अपवदसे निन्दसि ? अशृण्वता तेषां निन्दया न किमपि फलं लभ्यमित्यर्थः । ननु शिशुक्रीडया बाललीलया भग्नः खण्डितं त्रिपुरहरस्य शिवस्य धनुर्येन तथोक्तः अयमहम् तव पुरः अग्रतः अस्मीति शेषः, अहङ्कारेण भुजदर्पेण क्रूरस्य समुद्धतस्य अर्जुनस्य कार्त्तवीर्यस्य भुजवनानाम् सहस्रसंख्यकबाहूनाम् व्रश्चनस्य च्छेदनस्य कला सामर्थ्यम् तेन निसृष्टार्थः ज्ञातवस्तुसारः ते तव कतरो बाहुः प्रहरतु मयि प्रहारं करोतु इति कथय आदिश । अपराधिनि पुरःस्थे च मयि प्रहाराय स्वभुजादेश एव प्राप्तकालो न व्यर्थाऽपरराजनिन्देति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५३ ॥

सकोपाटोपम् सक्रोधावेशम् । विकर्त्तनकुलकलङ्क सूर्यवंशाधम । पार्वतीदयितस्य महादेवस्य कोदण्डो धनुस्तस्य दलने खण्डने साहसं स्वं सामर्थ्यम् उद्भावयसि प्रकाशयसि । अहह इति खेदातिशयव्यञ्जकम् । अन्विष्यति मृगयते । गरीयान् गुरुतरः, सर्वाधिकबलशाली । अश्रुतचरम् पूर्वं कदापि न श्रुतम् । अदृष्टचरम् पूर्वं कदापि न दृष्टम् । राजन्यकीट क्षत्रियाधम ।

क्यों कि तेरे हो ? बालक्रीडामें त्रिपुरारिके धनुषको तोड देनेवाला मैं तेरे आगे खडा हूँ । आज्ञा दो कि अहङ्कार भरे अर्जुन बाहुओंके खण्डनकी कलामें निपुण तुम्हारा कौन-सा हाथ पहले मुझपर प्रहार करेगा ? ॥ ५३ ॥

जामदग्न्य—(कोपके वेगमें) आः पाप सूर्यकुलकलङ्क, फिर उसी शिवधनुर्भङ्गकी बात लाता है अहह !! क्षत्रिय होकर भी मेरे कार्त्तवीर्य विजयी हाथकी खोज कर रहा है । समय बडा बलवान् है, जो श्रुतपूर्व वस्तु सुनाता तथा अदृष्टपूर्व वस्तु दिखलाता

---

१ 'साटोपम्' । २ 'साहसम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।
३. 'कार्तवीर्यभुजविजयिनम्-अन्वेषयति' ।

जानास्येव यथा पितुः परिभवन्होमार्जुनीमर्जुनो
मत्कोदण्डमनेकराजकवधस्वाध्यायमध्यापिपत्[1]।
तेनैवास्ति भवत्सु यद्यपि मम क्रोधोऽयमौत्सर्गिक-
स्तत्संप्रत्युपसर्जनं गुरुधनुर्भङ्गादयं हेतुमान् ॥ ५४ ॥

रामः—[2]ऋषे जामदग्न्य, पटच्चरीभूता खल्वियं पुरातनी कीर्तिपताका। नन्विदानीमेव द्रष्टव्यम्। (नेपथ्याभिमुखम्।) वत्स लक्ष्मण, धनुर्धनुः।

जामदग्न्यः—([3]साक्षेपम्।) [4]अरे अनात्मज्ञ क्षत्रियवटो,

जानास्येवेति। यथा पितुर्मम जनकस्य जमदग्नेः होमार्जुनीम् होमसाधनीभूतां सौरभेयीम् गाम् परिभवन् हरन् अर्जुनः कार्तवीर्यः मत्कोदण्डम् मम चापम् अनेकेषां राजकानाम् वध एव स्वाध्यायः तम् अध्यापिपत् पाठितवान् (तत्) जानास्येव। कार्त्तवीर्यो नाम राजा मम पितुर्होमधेनुं हरन्मम धनुस्सकलक्षत्रवधाय प्रेरितवानिति नाविदितं स्यात्तवेति भावः। तेनैव कार्त्तवीर्यकोपेनैव भवत्सु क्षत्रियेषु अयम् मम कोपः औत्सर्गिकः सामान्यः अस्ति, तत् सम्प्रति उपसर्जनं गुणीभूतम् अप्रधानम्, अयं साम्प्रतिकस्तु भवत्सु मम कोपः गुरुधनुर्भङ्गात् शिवचापदलनात् हेतुमान् सकारणकः। यद्यपि कार्त्तवीर्यापराधसमुत्थितो मम भवत्सु कोप आसीदेव, परमसौ सम्प्रति न प्रज्वलति, असौ गुणीभूतः, सम्प्रति तु गुरुचापभङ्गभवस्य कोपस्य यूयं विषया इति भावः। 'अर्जुनी सौरभेयी गौः' इत्यमरः ॥ ५४ ॥

पटच्चरीभूता जीर्णवसनस्वरूपतां गता। 'पटच्चरं जीर्णवस्त्रम्' इत्यमरः। पुरातनी प्राचीना। यशःपताका कीर्त्तिप्रशस्तिः।

अनात्मज्ञ स्वरूपपरिचयशून्य। क्षत्रियवटो क्षत्रियशिशो।

है। अरे क्षुद्र क्षत्रिय, जानते ही हो कि हमारे पिताकी होमधेनुका अपमान करनेवाले अर्जुनने मेरे धनुषको अनेक क्षत्रियवधका पाठ पढ़ा दिया है, क्षत्रियोंपर मैं उसीसे कुपित रहता आया हूं, परन्तु इस समय वह गौण हो रहा है, इस समय तो मैं गुरुके धनुषके भङ्गसे कुपित हो रहा हूँ ॥ ५४ ॥

राम—ऋषे जामदग्न्य, तुम्हारी यह कीर्तिपताका अब जीर्ण वस्त्र बन गई है, अभी देखना है—(नेपथ्यकी ओर) वत्स लक्ष्मण, धनुष तो देना।

जामदग्न्य—(आक्षेपके स्वरमें) अरे अनात्मज्ञ क्षत्रिय कुमार,

---

१. 'अध्यापयत्'। २. 'ऋषे' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।
३. 'साक्षेपम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति। ४. 'रे रे'।

तच्चापमीशभुजपीडनपीतसार
प्रागप्यभज्यत भवांस्तु निमित्तमात्रम् ।
राजन्यकप्रधनसाधनमस्मदीय-
माकर्ष कार्मुकमिदं गरुडध्वजस्य ॥ ५५ ॥

आकृष्टेन पुनरमुनैव धनुषा [1]किलास्मानभियोत्स्यसे । क्षत्रसत्त्रे दीक्षितानां तु चिरस्य [2]होताय परशुरस्माकमस्त्येव ।

(इति रामस्य हस्ते धनुरर्पयति ।)

तच्चापमिति । ईशभुजपीडनेन महादेवकरकृतभूयस्समाकर्षणेन पीतसार क्षपितसामर्थ्यम् तत् चापम् प्रागपि प्रागेव अभज्यत स्वय भग्नम् , भवास्तु निमित्तमात्रम् उपलक्षणमात्रम् , शिवव्यवहृततया वृद्ध तद्धनु स्वयमेव भग्नमभवद् भवत कुतस्तद् भञ्जनक्षमत्वमित्यर्थ । (नन्वस्ति मयि सामर्थ्य तादृश तत्राह-राजन्यकेति) राजन्यकाना क्षत्रियाणा प्रधने मारणे साधन सहायभूतम् इद गरुडध्वजस्य कार्मुकम् वैष्णव धनुराकर्ष नमय, स्वसामर्थ्यपरीक्षार्थमिद मम चाप नमयेति भाव । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ५५ ॥

अभियोत्स्यसे युद्ध करिष्यसि । रामो लक्ष्मणाय 'धनुर्धनु' इत्युक्तवान् , तदुत्तरमिद परशुरामवचनम् , इद ममैव धनुराकृष्य स्वबल परीक्ष्य चानेनैव मया सह युद्ध करिष्यसि, कृतमन्यधनुरानयनादेशप्रदानेनेति तात्पर्यम् ।

ननु यदि त्वं स्व चाप मह्यं ददासि तत्केन पुनस्त्व योत्स्यसे इत्युत्तरमाह-परशुराम । क्षत्रेति । क्षत्रसत्त्रे अस्मिन् क्षत्रियवधयागे । दीक्षिताना कृतसङ्कल्पानाम् , होता होमकर्त्ता । अहमनेन परशुनैव योत्स्य इत्यर्थ. ।

महादेवके भुजों द्वारा पीडित होनेसे दुबल वह धनुष पहले भी टूट जा सकता था, तू तो निमित्तमात्र हो गया है। सकलक्षत्रिय सहारी मेरे इस वैष्णव चापको तो चढाओ ॥ ५५ ॥

इसी धनुषको चढाकर हमसे लडो। क्षत्रवध-यज्ञमें बहुत दिनोंसे लगे रहनेवाले मेरे लिये तो यह परशु है ही ॥

(रामके हाथमें धनुष देता है)

---

१ अभियोक्ष्यसे । २ अयम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

रामः—(गृहीत्वा ।) भार्गव, समन्तादुद्घातिनी भूमिरियम् । तदेहि, विमर्दक्षमं प्रदेशान्तरमवतरावः ।

जामदग्न्यः—(सरोषं परिक्रामन् ।) भो भोः क्षात्रेण ब्राह्मेण च तेजसा विकत्थमानाः, तदत्र

भवतु शरणदो वा सर्वशस्त्राभिसारः
प्रतिविदधतु वाऽस्मिन्नाशिषो वैजयिक्यः ।
अदशरथमरामं निर्विदेहेन्द्रमुर्वी-
वलयमिह विधत्ते रोषणो रैणुकेयः ॥ ५६ ॥

(इति निष्क्रान्तौ ।)

(नेपथ्ये ।)

समन्तात् सर्वतः । उद्घातिनी नतोन्नता । विमर्दक्षमम् युद्धयोग्यं समतलम् , प्रदेशान्तरम् अन्यत्स्थानम् ।

विकत्थमानाः आत्मश्लाघापरायणाः, ब्राह्मतेजसा क्षात्रतेजसा चाभिमानवन्तः ।

भवत्विति । सर्वशस्त्राभिसारः सर्वैर्योधैः एकदैव सर्वशस्त्रकृतं युद्धम् वा शरणदः रामस्य रक्षायामुद्यतो भवतु, अस्मिन् रामस्य मया क्रियमाणे वधे वैजयिक्यः विजयप्रयोजिकाः विजयाशंसिन्यः आशिषः युष्माकं शुभाशंसाः वा प्रतिविदधतु प्रतिकारपरायणा भवन्तु । इह अत्र देशे काले च रोषणः कुपितः रैणुकेयः रेणुकापुत्रः परशुरामः उर्वीवलयम् इदं भूमण्डलम् अदशरथम् दशरथशून्यम् अरामम् रामविरहितम् निर्विदेहेन्द्रम् जनकवर्जितं च विधत्ते, सर्वेषु योधेषु सर्वैरपि शस्त्रैरेकदैव रक्षापरायणेषु सत्स्वपि सर्वेषु लोकेषु शुभाशंसापरेष्वपि सत्सु सम्प्रत्यहं दशरथरामजनकान्मारयामीत्यर्थः । मालिनी वृत्तम् ॥ ५६ ॥

राम—(लेकर) भार्गव, यह जगह निम्नोन्नत है, अतः आइये, युद्धके योग्य समरभूमिमें चलें ।

जामदग्न्य—(सकोप चलते हुए) हे क्षात्र तथा ब्राह्मतेजके अभिमानियो,

सकलशास्त्रका ज्ञान शरणप्रद हो, या विजयके आशीर्वाद प्रतिकर्त्ता हों, मैं रेणुकापुत्र परशुराम कुपित होकर इस भूमण्डलको दशरथ तथा रामसे रहित बनाने जा रहा हूँ ॥५६॥

(दोनों जाते हैं)

(नेपथ्यमें)

भो भो पौरजानपदा., प्रवर्त्यतां माङ्गलिकमातोद्यम्। [1]प्रसज्यतामयमपि वैदेहीविवाहमहोत्सवो जामदग्न्यविजयोत्सवेन।

कन्या काचिदिहापि कर्मणि पणः स्यादित्यसूयावल-
त्सीतापाङ्गमयूखमांसलमुखज्योत्स्नाविलिप्तीं दिवम्।
कुर्वाणेन रघूद्वहेन चकृषे नारायणीयं धनुः
संधायाथ [2]शरश्च भार्गवगतिच्छेदादमोघीकृतः॥ ५७॥

प्रवर्त्यताम् वाद्यताम्। माङ्गलिकम् मङ्गलसाधनम्। आतोद्यम् वीणामुरजवंशकास्यवाद्यम्, 'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः।

प्रसज्यताम् योज्यताम्। जामदग्न्यविजयोत्सवोऽपि वैदेहीविवाहमहोत्सवेन सह योज्यतामिति भावः।

कन्या काचिदिति। (यथा पूर्ववृत्ते हरधनुर्भङ्गेऽहं पणः आसम् तथा) इह नारायणीयधनुर्भङ्गात्मकेऽपि कर्मणि काचित् कन्या पणः शुल्कः स्यात् इति सापत्न्यसम्भावनाजन्यया असूयया अमर्षेण वलतः सञ्चारिणः अपाङ्गस्य नेत्रप्रान्तस्य मयूखैः किरणैः मांसलया प्रभूततां गतया मुखज्योत्स्नया विलिप्तीम् लिप्तां दिवं व्योमकुर्वाणेन विदधता यद्यत्रापि कर्मणि काचित् कन्या पणः स्यात्तदा सा मम सपत्नी भविष्यतीति सपत्नीर्ष्यया सीतया कूणितत्रिभागया दृशा दृश्यमानो रामः स्वमुखप्रतिफलत्सीतानयनमयूखैः समेधितकान्तिमुखं निजं व्योमनि क्षिपन् दिवं तत्कान्तिलिप्तां करोति—तथाविधेन रघूद्वहेन राघववंशश्रेष्ठेन नारायणीयं धनुः चकृषे आकृष्टम्, शरश्च बाणश्च सन्धाय तत्र धनुष्यारोप्य भार्गवगतिच्छेदात् परशुरामस्वर्गमार्गनिरोधद्वारा अमोघीकृतः वैयर्थ्यान्निवारितः। रामेण नारायणीये धनुषि शरमारोप्यानेन किं ते च्छिनद्मीति पृष्टः परशुरामो भोगनिःस्पृहतया स्वा

हे पुरवासियों, माङ्गलिक वाद्य बजानेका प्रबन्ध करो, वैदेही-विवाहोत्सवके साथ जामदग्न्य-विजयोत्सव भी मना लिया जाय।

इस कार्यमें भी कदाचित् कोई कन्या पणरूपमें स्थापित हो ऐसा सोचकर असूयासे सीताके अपाङ्गकी किरणोंसे आकाशको आलोकित करानेवाले रघुनाथने नारायणी चापको आकृष्ट कर दिया, और उसपर बाण सन्धान करके उस बाणको भार्गवकी उत्तरगतिच्छेदके द्वारा अमोघ बना दिया॥ ५७॥

---

१ 'प्रसर्पतामयं वैदेहीविवाहोत्सवो जामदग्न्यविजयमहोत्सवेन'; 'प्रसज्जतामयमपि—विजयेन'। २ 'शरं च'।

([1]ततः प्रविशतो रामजामदग्न्यौ ।)

राम —भगवन्भार्गव,

परैराहूतानां विहितमपि शस्त्रं भवतु नः
प्रकृत्या विप्रेभ्यः पुनरकृतशिल्पा रघुभुवः ।
चिरादण्डीरेण त्वयि तदपि रामे न गणितं
तपोविद्यावीरव्रतमय [2]मयि क्षाम्यतु भवान् ॥ ५८ ॥

जामदग्न्य.—(विहस्य ।) कथमपराद्धमस्मासु वत्सेन ।
यदर्थमस्माभिरिह प्रकोपितस्तदद्य [3]दृष्ट्वा तव धाम वैष्णवम् ।

स्वर्गतिमेव च्छेत्तु तमन्वरुणत्स च तामेव च्छित्वा स्व बाणममोघीचकारेति भाव । 'विलिप्तीम्' इत्यत्र 'क्तादल्पाख्यायाम्' इति ङीष् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५७ ॥

परैराहूतानामिति । परै शत्रुभि आहूतानाम् युद्धार्थमामन्त्रितानाम् न अस्माकं राघवक्षत्रियाणाम् शस्त्रम् शस्त्रग्रहणम् विहितम् विधिसमर्थितमपि भवतु स्तानाम, पुन परन्तु रघुभुव रघुवश्या प्रकृत्या स्वभावत विप्रेभ्य ब्राह्मणानुद्दिश्य अकृतशिल्पा अविहितशस्त्रविद्याभ्यासा । चिरात् बहो कालात् अण्डीरेण धृतगर्वेण मया तदपि ब्राह्मणविषये शस्त्रग्रहणस्यायुक्तत्वम् अपि त्वयि त्वत्प्रसङ्गे न गणितम् न विचारितम् , हे तपोविद्याव्रतमय, तपोमय, विद्यामय, व्रतमय, च, भवान् मयि क्षाम्यतु मृष्यतु, अनुचित तदाचरित क्षमतां भवानित्यर्थ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५८ ॥

कथमपराद्धमस्मासु वत्सेन—नापराध कृतवान् भवान्मयीति भाव ।

यदर्थमिति । अस्माभि यदर्थम् यस्य वैष्णवस्य धाम्नो दर्शनार्थम् अस्मिन् विषये अत्र प्रसङ्गे प्रकोपित क्रोध लम्भित असि, तत् वैष्णव धाम दृष्ट्वा प्रत्यक्षी-

---

(राम और जामदग्न्यका प्रवेश)

राम—भगवन् भार्गव, दूसरों द्वारा ललकारे जानेपर भले ही हम शस्त्रग्रहण करनेको बाध्य हो जाय, परन्तु स्वभावत हम ब्राह्मणोंपर शस्त्र नहीं उठाते हैं, गर्वी होकर मैंने उस नियमका पालन नहीं किया, हे तप तथा विद्या वीरताके व्रतधारी आप हमें क्षमा करें ॥ ५८ ॥

जामदग्न्य—(हसकर) वत्सने मेरे प्रति क्या अपराध किया है ?

मैंने आपको जिसलिए कुपित किया था, आपके उस वैष्णव तेजको देखकर हमारे

---

१ 'ततः प्रविशति रामः परशुरामश्च' । २. 'मम' । ३. 'दृष्टम्' ।

विशीर्णसर्वामयमस्मदान्तरं चिरस्य कंचिल्लघिमानमश्नुते ॥ ५९ ॥

राम —इत इतो [1]भगवन् ।

जामदग्न्य —(रामस्य चिबुकमुन्नमय्य सस्मितम् ।) वत्स, अप्रशस्त खल्वारण्यकाना जनपदेषु चिरप्रचार । [2]तत्क पुनरस्मान्नेष्यसि ।

राम —भगवन्, [3]भगवतो याज्ञवल्क्यस्यावसथे कृतातिथेयसंविधानौ तातजनकौ भवन्तमनुपालयत ।

एहि विष्टरपादार्घ[4]मधुपर्कैरुपस्थितान् ।
इक्ष्वाकूंश्च विदेहांश्च पुनीहि भगवन्नमून् ॥ ६० ॥

कृत्य अद्य अस्मदान्तरम् ममान्त करणम् विशीर्णसर्वामयम् अपेतसमस्तरोगम् सत् चिरस्य बहो कालात् कञ्चित् लघिमानम् लाघवम् अश्नुते भजति । वैष्णवं तेजो दृष्ट्वाऽपेतसकलमनोमलस्य मम हृदय लघूभूतमिति भाव । वशस्थविल वृत्तम्, 'वदन्ति वशस्थविलं जतौ जरौ' इति तल्लक्षणात् ॥ ५९ ॥

अप्रशस्त· निषिद्ध । आरण्यकानाम् वनवासिनाम् । जनपदेषु ग्रामनगरादिषु । चिरप्रचार बहुकालपर्यन्त वास· ।

आवसथे आश्रमे निवासस्थाने । कृतातिथेयसंविधानौ समाहृतातिथ्योपकरणौ । तातजनकौ दशरथविदेहौ । अनुपालयत प्रतीक्षेते ।

एहि विष्टरेति । विष्टर आसनम्, पादार्घं पाद्यम्, मधुपर्कश्च तै त्वदर्चनार्थमाहृतै विष्टरपादार्घमधुपर्कै (सह) उपस्थितान् अमून् इक्ष्वाकून् विदेहाश्च उभयवश्यान् पुनीहि पवित्रीकुरु, भगवन् परशुराम । एहि आगच्छ ॥ ६० ॥

हृदयका सारा रोग दूर हो गया, हमारे हृदयका भार हलका हो गया है ॥ ५९ ॥

राम—आप इधर आइये ।

जामदग्न्य—(रामकी ठुड्डी पकडकर उठाते हुए) वत्स, वनवासियोंके लिए अधिक समय तक गांवमें रहना निन्दित है, अत· मुझे कहाँ ले जाओगे ?

राम—भगवन्, भगवान् याज्ञवल्क्यके आश्रममें आतिथ्यका आयोजन करके हमारे पिता तथा जनक आपके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

आइये, आसन, पाद्य तथा मधुपर्कसे आपकी सेवाके लिए उपस्थित इक्ष्वाकु तथा विदेहके वशज को पवित्र करें ॥ ६० ॥

---

१. 'भग्वन्', 'भगवान्' । २. 'तत्कथम्' ।
३. 'भगवत·' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । ४ 'पाद्यार्घ' 'पाद्यार्घ्य' ।

जामदग्न्यः—वत्स, अपरिहार्यमेव[1] ह्यातिथ्यं राजन्यश्रोत्रियाणाम्। किं पुनरेवंविधवैखानसोचिताचारस्खलितविलक्षो न शक्नोमि धर्माचार्यं याज्ञवल्क्यमुपेत्यावलोकितुम्[2]। आचारस्तु दूरादपि[3] कृत कृत' स्यात्। (किंचिदुच्चैर्नेपथ्याभिमुखम्[4]।)

यस्य स्मृती· [5]प्रतीक्षन्ते चतुर्वर्गे मनीषिणः।
नमो भगवते तस्मै याज्ञवल्क्याय योगिने॥ ६१॥

(नेपथ्ये।)

गायत्री [6]द्रुपदा देवी पाप्मानमपहन्तु ते।
पुनन्तु पावमान्यस्त्वामृध्नोतु ब्रह्म ते परम्॥ ६२॥

अपरिहार्यम् अपरित्यक्तव्यम्। आतिथ्यम् सत्कार। राजन्यश्रोत्रियाणाम्—वेदविद्याविदा राज्ञाम् राजश्रेष्ठाना वा। किं पुन—किन्तु। वैखानसोचिताचारस्खलितविलक्ष शान्तित्यागलज्जित। आचार प्रणामादि।

यस्येति। मनीषिणो विद्वासो यस्य स्मृती' संहितावचनानि चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टये प्रतीक्षन्ते प्रमाणमामनन्ति, तस्मै योगिने अवलम्बितसमाधये भगवते याज्ञवल्क्याय नम॥ ६१॥

गायत्रीति। गायत्री मन्त्रात्मिका सावित्री देवी तथा द्रुपदा 'द्रुपदादिव मुमुचान' इत्यादिमन्त्रात्मिका च देवी ते तव पाप्मानम् पापम् अपहन्तु नाशयतु पावमान्य· पवित्रताजनकतया पठिता' मन्त्रविशेषा' त्वा पुनन्तु पवित्रता नयन्तु, ते पर ब्रह्म ब्रह्मज्ञानम् ऋध्नोतु वर्धताम्॥ ६२॥

जामदग्न्य—क्षत्रिय-श्रोत्रियों द्वारा आयोजित आतिथ्य अपरिहार्य है, किन्तु मैंने तपस्वियोंके आचरणसे अपनेको स्खलित कर लिया है, अत मुझे धर्माचार्य याज्ञवल्क्यके सामने जानेमें लज्जा होती है। आचार तो दूरसे भी किया जा सकता है।

(नेपथ्यमें ऊपरकी ओर देखकर)

विद्वान् लोग चतुर्वर्गके निर्णयमें जिनकी स्मृतिकी प्रतीक्षा करते हैं, उस योगिराज याज्ञवल्क्यको नमस्कार॥ ६१॥

(नेपथ्यमें)

गायत्री तथा द्रुपदादि मन्त्र तुम्हारे पापको नष्ट करें, पावमानी ऋचायें तुम्हें पवित्र करें, तथा तुम्हारा ब्रह्मज्ञान समृद्ध हो॥ ६२॥

---

१ 'एव हि' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।　२. 'अवलोकयितुम्'।
३ 'कृतकृत्यः'।　४. 'अभिमुखः'।　५ 'अपेक्षन्ते'।　६. 'त्रिपदा'।

जामदग्न्य —भगवन्, अपत्रपमाणो न भवन्त द्रष्टुमुत्सहे । तदनुमन्यस्व [1]मामरण्याय ।

(नेपथ्ये ।)

शिवास्ते पन्थानो व्रज निजगृहेभ्यो निजगृहा-
न्किमन्यत्सर्वेषां गुणमय ! [2]शिरोमाल्यमसि न ।
त्रिलोकीनिर्माणस्थितिनिधनबन्धोर्मधुभिदो
भवान्षष्ठो[3] मूर्तिर्भृगुकुलमधिष्ठाय रमते ॥ ६३ ॥

जामदग्न्यः—वत्स रामभद्र ।

राम —आज्ञापय ।

अपत्रपमाण साधुजनोचिताचारपरित्यागलज्जित । अनुमन्यस्व अनुजानीहि । अरण्याय वनं गन्तुम् ।

शिवास्त इति । ते तव पन्थान शिवा कल्याणमया सन्तु इति योजनीयम्, निजगृहेभ्य निजानां स्वजनानामस्माक गृहेभ्यो निजगृहान् स्वीयानाश्रमान् व्रज गच्छ, अन्यत् किम् उच्यताम्, हे गुणमय सकलगुणालय, न. अस्माकम् शिरोमाल्यम् आदरणीय असि । त्रिलोक्या लोकत्रयस्य निर्माण सृष्टि, स्थिति पालनम्, निधन विनाशश्च तद्बन्धो तत्कर्त्तु मधुभिदो विष्णो षष्ठी मूर्त्ति परशुरामरूपा तनुर्भवान् भृगुकुलम् अधिष्ठाय स्थित्वा सनाथीकुर्वन् रमते व्यवहारपरायणतया क्रीडति । 'मत्स्य कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामन । रामो रामश्च रामश्च बुद्ध कल्की च ते दश' इत्यवतारगणना । राम· परशुराम, रामो रामचन्द्र·, राम बलरामश्चेति क्रम ॥ ६३ ॥

जामदग्न्य—भगवन्, लज्जाके कारण मैं आपका दर्शन नहीं करना चाहता हू, अत मुझे वनगमनकी अनुमति दें ॥

(नेपथ्यमें)

तुम्हारे मार्ग कल्याणमय हों, आत्मीयजनोंके यहाँसे अपने घर जाओ, हे गुणमय, और क्या कहे, आप हमारे शिरोभूषण हैं, ससारके निर्माण-रक्षासहारकारी भगवान् विष्णुके षष्ठ अवतारके रूपमें आप भृगुकुलमें रम रहे हैं ॥ ६३ ॥

जामदग्न्य—वत्स रामभद्र ।

राम—आज्ञा करे ।

---

१. 'अरण्यगमनाय' । २ 'शिरोरत्नम्' । ३ 'मूर्तिः षष्ठी' ।

जामदग्न्यः—निवर्तस्व । नूनमिदानीं कृतकौतुकागारमङ्गलोपचार [1]श्वशुरकुललोकस्त्वां प्रतीक्षते । (इति परिष्वज्य निष्क्रान्त ।)

रामः—(सोद्वेगम् ।) कथं गतो भगवान् । तदहमपि तातसमीपमेव गच्छामि । (इति [2]परिक्रामन्पुरोऽवलोक्य ।) कथ तातश्च जनकश्चेत एवाभिवर्तेते । (इत्युपसर्पति ।)

(तत प्रविशतो जनकदशरथौ राजानावन्योन्य परिष्वज्य ।)

जनक —

सुचरितमिदमैतिहासिकानां [3]हृदि न विरंस्यति यत्तवैष पुत्रः ।
भृगुसुतपरशूदराद्विराजां सहजविजित्वरमाचकर्ष तेज ॥ ६४ ॥

दशरथः—(पुरोऽवलोक्य सहर्षम् ।) कथमागत एव वत्सो रामभद्र ।

निवर्त्तस्व मदनुगमन विहाय परावर्त्तस्व । कौतुकागार परिणयगृहम् । तत्र मङ्गलम् नानाविधाचारद्वारक शुभाशसनम् , तदुपचार परिपाटी ।

सुचरितमिति । तव एष रामलक्ष्मण पुत्रो जामाता सुतश्च भृगुसुतस्य परशुरामस्य परशूदरात् कुठारान्तरालात् विराजा क्षत्रियाणा सहजविजित्वरम् स्वभावतो विजयशीलम् तेज यद् आचकर्ष आकृष्य बहिर्नीतवान् इद सुचरितम् रामस्य चरित्रम् ऐतिहासिकानाम् इतिहासविदा हृदि न विरस्यति न मलिनता गमिष्यति । तव पुत्रेण रामेण परशुरामकुठारापहृता क्षत्राणां बलसम्पत्पुनरुद्धृतेति कीर्त्तिमैतिहासिका अनवरत स्मरिष्यन्तीति भाव ॥ ६४ ॥

जामदग्न्य—लौटिये, कौतुक-मङ्गलाचार करके श्वशुरकुलके आदमी निश्चय आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे । (आलिङ्गन करके जाते हैं)

राम—(उद्वेगके साथ) क्यों, भगवान् चले गये । अत मैं भी पिताजीके पास जाता हू । (चलते हुए आगे देखकर) क्यों, पिताजी तथा जनक इधर ही आ रहे हैं । (समीप जाते हैं) ॥

(दशरथ तथा जनक आकर परस्पर लिपट जाते हैं)

जनक—ऐतिहासिकोंके हृदयोंसे यह सुचरित कभी भी दूर नहीं होगा, कि आपके इस पुत्रने भृगुपतिके उदरसे क्षत्रियोंके स्वाभाविक तेजको बाहर निकाल लाया ॥ ६४ ॥

दशरथ—(आगे देखकर सहर्ष) क्यों, रामभद्र भी आ ही गये,

---

१ 'कुल' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २. 'पुरतोऽवलोक्य च' । ३. 'न हृदि' ।

जनक —सखे महाराज दशरथ, पश्य पश्य ।

चिरात्क्षात्रं तेजस्त्रिजग[1]द्वजैत्रं जनयिता
विधाता सर्वेषामुपरि सवितारं [2]कुलभृताम् ।
विनेता वर्णानां भृगुपतिभुजादर्पनिकषो
महावीर श्रीमानय[3]ममृतमक्ष्णोर्विकिरति ॥ ६५ ॥

दशरथ —(निर्वर्ण्य । सस्नेहम् ।) सखे सीरध्वज, रघुराजधर्माधिकारसर्वधुरीण शिशुरपि वत्सोऽयम् । तदस्मिञ्जरसा दुर्वहं वर्णाश्रम-

---

चिरादिति । चिरात् बहो कालात् परत क्षात्र तेज क्षत्रियजातिबलम् त्रिजगद्वजैत्रम् लोकत्रयविजयकरम् जनयिता विधाता, कुलभृतां तत्तद्वशप्रवर्त्तकानाम् चन्द्रादीनाम् मध्ये सवितारम् सूर्यम् उपरि विधाता सर्वाधिक प्रकर्ष प्रापयन् , वर्णाना ब्राह्मणादीना विनेता सत्पथप्रवर्त्तक, भृगुपतिभुजादर्पनिकष परीक्षितपरशुरामभुजवीर्यश्च श्रीमान् पुण्यलक्ष्मीको महावीरो रामोऽयमक्ष्णो· मन्नयनयोरमृत विकिरति सुधामिव वर्षति । यो बहो कालात् क्षात्र तेजो विश्वविजयि प्रमापितवान् , सर्वेषामपि वशाना मध्ये सूर्यवश प्रतिष्ठिततमं कृत्वा तत्तद्वशादिपुरुषाणा मध्ये सूर्यस्य प्रतिष्ठा समेधितवान् सर्वान् ब्राह्मणादीन् वर्णान् सत्पथे प्रवर्त्तितवान् , भृगुपतेर्भुजवीर्यं च परीक्षितवानसौ महावीरो रामो मम नयनयोरमृतवृष्टिमिव करोतीत्यर्थ । 'शाणस्तु निकष कष.' इत्यमर. ॥ ६५ ॥

रघुराजानाम् राघववश्यनृपाणाम् , धर्माधिकारे सर्वविधधर्मपालने सर्वधुरीण सर्वविधभारवहनक्षम । जरसा दुर्वहम् वृद्धतया मया वोढुमशक्यम् । वर्णाश्रमभारम्–वर्णानामाश्रमाणा च रक्षाकार्यम् । आरोप्य दत्त्वा । राम यौवराज्येऽभिषिच्येत्यर्थ. । शेषमायुः अवशिष्ट वय. । उपबुभुक्षामहे उपभोक्तुमिच्छाम , यापयितुं कामयामहे, ईदृशम्—पुत्रे लक्ष्मीं निधाय तपस्यारसिकम् । साधु–सम्यक् । राम-

---

जनक—सखे महाराज, देखिये,

क्षात्रतेजको त्रिजगद्विजयी बनानेवाला तथा सभी कुलप्रवर्त्तकोंके ऊपर सूर्यको प्रतिष्ठित करनेवाला, सभी वर्णोंका विजेता, तथा भार्गवके दर्पको शान्त करनेवाला, यह महावीर राम आँखोंमें अमृतको वर्षा कर रहा है ॥ ६५ ॥

दशरथ—(देखकर) (सस्नेह) सखे सीरध्वज, यह राम लडका होनेपर भी रघुवश के धर्माधिकारके भारको उठानेमें समर्थ है । अत. मैं चाहता हूँ कि मैं बूढा हो

---

१. 'उपजीव्यम्' । २ 'कुलकृताम्' । ३. 'अमृतमयम्' ।

भारमारोप्य [1]वयमपि क्वापि तपोवने दिलीपकुलोचितेन विधिना शेष-[2]मायुरुपबुभुक्षामहे ।

जनक—सखे दशरथ, साधु ते हृदयमीदृशम् । [3]क्रमादेतदनुष्ठातव्यम् ।

राम—(उपसृत्य ।) [4]तातौ, अभिवादये ।

जनक—एह्येहि वत्स रामभद्र । (इति सहर्षमालिङ्गति ।)

दशरथ—(राममालिङ्ग्य ।) सखे जनक, रामभद्रमभिषेक्तु जामदग्न्यविजयप्रीतिरेव श्रेयानवसर । कालक्षेपे पुनः को हेतु ।

(प्रविश्य ।)

लक्ष्मणः—इयमार्यया मन्थरयोपनीता मध्यमाम्बाया. पत्त्री ।

(राजानौ सवितर्कमन्योन्य पश्यत ।)

रामः—(सहर्षम् ।) वत्स लक्ष्मण, अपि सपरिवारायाः कुशलमम्बाया' कथयत्यार्या मन्थरा ।

मभिषेक्तुम्—रामस्य यौवराज्याभिषेक कर्त्तुम् । जामदग्न्यविजयप्रीति परशुरामविजयजन्य सन्तोष । श्रेयान् अवसर उत्तम काल ।

मध्यमाम्बाया कैकेय्या । पत्त्री लिपि ।

अस्मत् प्रवासदौर्मनस्यम् अस्माकं प्रवासेन परदेशस्थत्वेन जायमान दु खम् ॥

गया हू, मुझे जो भार दुर्वह है उसे रामपर रख दूँ, और दिलीपकुलोचित मार्गसे किसी तपोवनमें आयुके दिनोंका उपभोग करू ।

जनक—सखे, ठीकही आपके हृदयमें ऐसी बात है, क्रमश ऐसा कर लीजियेगा ।

राम—(समीप जाकर) तात, प्रणाम करता हूँ ।

जनक—आओ वत्स रामभद्र, (गले लगाते हैं)

दशरथ—(रामको गले लगाकर) सखे जनक, जामदग्न्यकी जीतका आनन्दोत्सव ही रामभद्रके अभिषेकका उत्तम अवसर है, समय बितानेमें क्या हेतु ?

लक्ष्मण—आर्या मध्यमा अम्बाने यह पत्री भेजी है ।

(दोनों राजा सवितर्क परस्पर देखते हैं)

राम—(सहर्ष) वत्सलक्ष्मण, सपरिवार मध्यमा अम्बाका कुशल तो बताती है मन्थरा ?

---

१ 'वयमपि' इति पुस्तकान्तर नास्ति । २ 'उपभोक्ष्यामहे' ।

३ 'एवमनुष्ठातव्यम्' । ४ 'तातौ' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

लक्ष्मण—[1]आर्य, अथ किम्।

राम—नूनमस्मत्प्रवासदौर्मनस्यमम्बा पीडयिष्यति।

जनक—(लक्ष्मणहस्तात्पत्रिका गृहीत्वा वाचयति।) स्वस्ति। महाराज दशरथ कैकेयी[2] विज्ञापयति। यथा

तन्मे वरद्वयमुरीकृतपूर्वमेव
याचे बिभर्तु भरतस्तव राज्यलक्ष्मीम्।
वर्षाणि तिष्ठतु चतुर्दश दण्डकायां
सौमित्रिमैथिलसुतासहितश्च राम ॥ ६६ ।

(इति राजानौ मूर्च्छत ।)

राम—यदादिशत्यम्बा। (इति शिरसि पत्रिका [3]दत्त्वा।) वत्स लक्ष्मण, निजामस्मदाराधनसहाध्यायिनीं प्रजावतीमादाय [4]पुरो भव।

तन्मे वरद्वयमिति। तत् मे मह्यम् उरीकृतपूर्वम् पूर्वमङ्गीकृतम् एव वरद्वय याचे अर्थये, (तयोरेकेन) भरतस्तव राज्यलक्ष्मीं बिभर्तु पालयतु (द्वितीयेन) राम सौमित्रिमैथिलसुताभ्याम् लक्ष्मणसीताभ्याम् सहित राम दण्डकायां दण्डकावने चतुर्दशवर्षाणि तिष्ठतु च ॥ ६६ ॥

अस्मदाराधने अस्माक सेवायाम् , सहाध्यायिनीम् सङ्गिनीम् , त्व सीता च सहैवास्माकमाराधने इति तवाम्मावस्मदाराधनसहाध्यायिनी भवति। प्रजावतीम् भ्रातृजायाम्। 'प्रजावतीदोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेवे'ति कालिदास।

लक्ष्मण—आर्य, और क्या ?

राम—निश्चय ही हमारे प्रवाससे माता पीडित होगी।

जनक—(लक्ष्मणके हाथसे पत्री लेकर पढते हैं) स्वस्ति, महाराजसे कैकेयी विज्ञापित करती ह, हमारे जो दो वर आपने पहले स्वीकृत किये थे, उनमें मैं भरतका राज्याभिषेक माँगती हू और लक्ष्मण तथा सीताके साथ चौदह वर्ष पर्यन्त राम दण्डकावनमें रहें ॥६६॥

(दोनों राजा मूर्च्छित होते हैं)

राम—माताकी जैसी आज्ञा। (पत्रिका सिरपर लेकर) वत्स लक्ष्मण, हमारी आराधनामें तुम्हारी सहायता करनेवाली अपनी भौजाईको साथ लेकर आगे बढो।

---

१. 'आर्य' इति पुस्तकान्तरे नास्ति। २ 'देवी कैकेयी'।
३ 'गृहीत्वा'। ४ 'पुरस्ताद्भवेति'।

लक्ष्मण—[1]तथा। (इति निष्क्रान्तः ।)

राम—तातौ, [2]समाश्वसित समाश्वसितम्।

जनक—(आश्वस्य ।) अहह ।

पाणिर्गृहीतो रघुपुंगवेन [3]देवः पुराणः श्वशुरो विवस्वान्।
पिता स्वयं केकयचक्रवर्ती कर्मेदमेतादृशमा किमेतत् ॥ ६७ ॥

(इति मूर्च्छति ।)

(रामः [4]पटाञ्चलेन वीजयति ।)

दशरथ—(आश्वस्य ।)

कोऽप्येष [5]वाङ्मनसयोरतिवृत्तवृत्ति-
र्भावो हुताशनमयश्च तमोमयश्च ।

पाणिरिति। रघुपुङ्गवेन दशरथेन पाणिर्गृहीतः विवाहविधिना स्वीकृतः, देवो विवस्वान्सूर्यः पुराणः श्वशुरः, पिता जनकः साक्षात् स्वयं केकयचक्रवर्त्ती केकयानां सम्राट्, तथापि तव ईदृशम् रामवनवासप्रार्थनात्मकं कर्म ? एतत् किम् ? कुत आगतमिति शेषः ॥ ६७ ॥

कोऽप्येष इति। वाङ्मनसयोः वाचो मनसश्च अतिवृत्तवृत्तिः अविषयः वचसो

लक्ष्मण—(जो आज्ञा) (जाता है)

राम—तात, धीरज धरें।

जनक—(आश्वस्त होकर) अहह ! रघुराज (दशरथ) ने पाणिग्रहण किया, भगवान् सूर्य इसके श्वशुर हैं, पिता हैं केकयदेशके चक्रवर्त्ती, फिर भी इसके यह कार्य, आः, यह कैसे हुआ ? ॥ ६७ ॥

(मूर्च्छित होते हैं)

(राम वस्त्रान्तसे हवा करते हैं)

दशरथ—(आश्वस्त होकर) वाणी तथा मनका अतिक्रमण करनेवाला यह ज्वालामय

---

१ 'यदाज्ञापयत्यार्यः'। २ 'समाश्वसिता समाश्वसितान्'। ३ 'देवश्च साक्षात्'।
४. 'रामस्तथैव पटान्तेन'। ५ 'अनिवृत्तकर्मा', 'अनिवृत्तवर्त्मा'।

भोक्तृत्वमात्रमिह मे पुनरीदृशं मां
हा वत्स राम कथमुत्सहसे विहातुम् ॥ ६८ ॥

(विमृश्य ।) हा वत्से जानकि, निशाचराणामातिथेयीभवितु दशरथ-[1]गृहे प्रविष्टासि । (इति मूर्च्छति ।)

रामः—तातौ, [2]समाश्वसित समाश्वसितम् ।

जनक—(आश्वस्य । आकाशे लक्ष्य बद्ध्वा ।) साधु सखि कैकेयि, साधु । यदस्या विश्वभरादुहितुर्मे वत्साया पत्युरनुवृत्तिरेव प्रसादीकृता (विमृश्य । सव्यथम् ।)

मनसोऽपि वाऽविषय हुताशनमय सन्तापकतया वह्निमय अज्ञानजनकतया तमोमयश्च कोऽपि अनिर्वचनीयस्वरूपो भावः ममावस्था जायत इत्यर्थ । इह अस्या विषमायामवस्थायां मे पुन भोक्तृत्वमात्रम् केवलमनुभवितृत्वम् न जनकत्व न वा प्रतिकारक्षमत्वम् अस्ति, हा ईदृशम् इमा कष्टामवस्था प्राप्तम् मां हे वत्स राम, त्व कथ विहातु त्यक्त्वा वन गन्तुमुत्सहसे इच्छसि ? ईदृश्यामवस्थाया मा परित्यज्य तव वनगमनमयुक्तमिति भाव ॥ ६८ ॥

आतिथेयी अतिथि , निशाचरगृहे गन्तुमेव दशरथगृहे गतासीत्यर्थ । विश्वम्भरादुहितु धरासुताया । पत्युरनुवृत्ति प्रत्यनुगमनम् ।

तथा अन्धकारमय यह भाव है, इसमे यद्यपि मे भोक्तामात्र हू, तथापि हे राम, तुम मुझे क्यों छोड रहे हो ॥ ६८ ॥

(सोचकर) हा सीते, राक्षसोंके आतिथ्यके लिए ही तुमने दशरथके गृहमें प्रवेश किया ।

राम—तात, धीरज धरें,

जनक—(आश्वस्त होकर) (आकाशमें हाथ जोडकर) साधु सखि कैकेयि, साधु, पृथ्वीकी पुत्री इस सीताको तुमने पतिका अनुगमन ही उपहारमें दिया ॥

(विचारकर सखेद)

---

१ 'गृहमनुप्रविष्टासि' । २. 'समाश्वसिता समाश्वसितम्' ।

धनुष्मन्तौ वत्सौ दशरथभुजैरूष्मलतमाः[1]
　　प्रदेशान्ते वत्सा शिशुरशिववृत्ता वनभुवः ।
प्रियैः राजा मुक्तैरसुभिरपमार्ष्टि स्वमयश-
　　श्चरित्रव्यत्यासः सखि कथमयं केकयकुले ॥ ६९ ॥

कष्टं च । वयमपि कथमनेन जनपदेषु [2]बहुलीभवता भरतयौवराज्य-लक्ष्मीकर्णपूरतमालपल्लवेन कैकेयीदुर्यशसा मूर्धानमुन्नमय्य लोकस्य मुखं द्रक्ष्यामः ।

धनुष्मन्ताविति । वत्सौ रामलक्ष्मणौ धनुष्मन्तौ प्रशंसनीयधनुर्धरौ, ते प्रदेशाः रामेण गन्तव्या देशाः दशरथभुजैः दशरथप्रतापैः ऊष्मलतमाः सातिशयतेजःपूर्णाः परिपालिताः सन्तापिताश्च सन्तीति शेषः, वत्सा सीता शिशुः बालावस्था, वनभुवः काननस्थल्यः अशिववृत्ता विघ्नबहुला, राजा दशरथः मुक्तैः परित्यक्तैः प्रियैः स्वैः प्राणैरयशो रामवनप्रेषणकलङ्कम् अपमार्ष्टि क्षालयति, हे सखि कैकेयि, केकयकुले तव पितुः केकयस्य वंशेऽयं चरित्रव्यत्यासः दुराचारभवः कलङ्कः कथं जातः । बालावपि रामलक्ष्मणौ धनुर्धरौ, रामगम्यादेशाश्च दशरथभुजवीर्यनिर्जिताः इति च वनभुवां विघ्नबहुलत्वेऽपि शिशोरपि सीताया न किमपि शङ्कितव्यमस्ति, दशरथश्च प्राणानपहायैव स्वीयं रामवनप्रेषणकलङ्कं क्षालयति, तदयं सर्वोऽपि कलङ्कः केकयवंश एव त्वया निहित इति कारणं तस्य न पश्याम इत्याशयः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ६९ ॥

बहुलीभवता प्रसरता । भरतस्य यौवराज्यलक्ष्म्याः कर्णपूरः कर्णाभरणं यस्तमालपल्लवस्तत्स्वरूपेण, भरतराज्यलक्ष्म्या सततसन्निहितेनेत्यर्थः । कैकेय्याः दुर्यशसा कैकेयीकलङ्केन ।

राम लक्ष्मण धनुर्धर हैं, दशरथके भुजप्रतापसे वह देश पहलेसे ही साधित है, फिर भी वन अमङ्गलमय होते हैं, अपने प्रिय प्राणोंका त्याग करके दशरथ अपने अयशका क्षालन कर रहे हैं, हे सखि, तुम्हारे कुलका चरित इस प्रकार क्यों बदल गया ॥ ६९ ॥

बड़ा कष्ट ! हम देशमें फैलनेवाले भरतकी राज्यलक्ष्मीके कर्णभूषणतुल्य इस कैकेयीके कलङ्कके कारण कैसे सिर उठाकर चलेंगे ?

---

१ 'उल्बणतमा'।　　२ 'बहुलीभविष्यता'।

रामः—(उत्थाय ।) तात जनक, यथा सुस्थं तातं शृणोमि तथा [1]भवता [2]विधातव्यम् । (इति निष्क्रान्तः ।)

दशरथः—(आश्वस्योत्थाय च ।) वत्स रामभद्र, परिपालय माम् । (इति जनकेन धार्यमाणो निष्क्रान्तः ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति दशरथविप्रलम्भो नाम चतुर्थोऽङ्कः ।



सुस्थम् प्राप्तसुस्थभावम् , प्रसन्नम् ॥

[इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे' चतुर्थाङ्क 'प्रकाश' ।



राम—(उठकर) जिस प्रकार मैं पिताजीको सुस्थ सुन पाऊँ, आप वैसा प्रयास करेंगे । (जाते हैं)

दशरथ—(आश्वस्त होकर और उठकर) वत्स रामभद्र, मेरी रक्षा करो ।

(जनकसे अवलम्बित दशरथका प्रस्थान)

(सबका प्रस्थान)

चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥



१ 'भवतैव' । २ 'तथा विधातव्यम्' ।

पञ्चमोऽङ्कः

(तत प्रविशत [1]श्रवणाजाम्बवन्तौ ।)

जाम्बवान्—ततस्तत ।

श्रवणा—ततो मिथिलाया निष्क्रम्य मन्थराकलेवरमवकीर्य मारुतिप्रत्यवेक्षित स्वशरीरमधिष्ठाय [2]गङ्गाया शृङ्गवेरपुर नाम निषादपकणमागत्य[3] शवरीभूतास्मि ।

जाम्बवान्—ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्च ममानुपदमेव तस्मिन्निमौ रामलक्ष्मणाविय सीतेति सर्वत शब्दो महानभूत् ।

जाम्बवान्—(सहर्षम् ।) ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्च कावेतौ रामलक्ष्मणाविति कर्णधाराधिपतिना

मिथिलाया निष्क्रम्य विदेहनगराद् बहिर्भूय । अवकीर्य परित्यज्य । मारुतिप्रत्यवेक्षितम् हनुमता सुरक्षितम् । गङ्गायाम् गङ्गातटे । पक्कणम् शवरालयम् । शवरीभूता चाण्डालरूप धृतवती ।

ममानुपदम् मत्पश्चात् । तस्मिन् शवरालये ।

कर्णधाराधिपतिना कर्णधाराणाम् नाविकानाम् अधिपतिना राज्ञा गुहेन । अनुयुक्ता पृष्टा । निवेदितवती उक्तवती ।

(श्रवणा तथा जाम्बवान्का प्रवेश)

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद मिथिलासे निकलकर मन्थराके कलेवरको छोड हनूमान्की सुरक्षामें वर्त्तमान अपने शरीरमें प्रवेश करके गङ्गातटस्थ शृङ्गवेर पुरमें आकर शवरी बन गई ॥

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—मेरे पीछे ही उस शृङ्गवेर पुरमें–यह हैं राम-लक्ष्मण, यह है सीता–इस प्रकारके शब्द होने लगे ।

जाम्बवान्—(सहर्ष) इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद कर्णधाराधिपति गुहने मुझसे पूछ दिया कि यह राम लक्ष्मण

---

१ 'श्रमणा–' । २ 'गङ्गातीरे' । ३ 'आगत्य भूतास्मि' ।

गुहेनाहमनुयुक्ता निवेदितवत्यस्मि[1]।

पुत्रीयता दशरथेन मुनिप्रसादा-
त्प्राप्ताः पुराणपुरुषस्य कलाश्चतस्रः।
तासामयं गुणमयः प्रथमः कुमारो
[2]वीरोद्धतः पुनरसावपरस्तृतीयः ॥ १ ॥

जाम्बवान्—श्रवणे, साधूक्तम्। ततस्ततः।

श्रवणा—ततश्चोदकान्तनिवर्तितानुयात्रिकबन्धुवर्गः [3]ससम्भ्रमोपगतेन गुहेनोपनीतां नावमधिरुह्य

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनाऽसौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय।

पुत्रीयतेति। पुत्रीयता आत्मनः पुत्रमिच्छता दशरथेन मुनेः ऋष्यश्रृङ्गस्य प्रसादात् अनुग्रहातिशयात् पुराणपुरुषस्य नारायणस्य चतस्रः कलाः अंशाः प्राप्ताः पुत्ररूपेण लब्धाः, तासां कलानां मध्ये अयं गुणमयः सकलगुणनिधानम् प्रथमः कुमारः रामः, वीरोद्धतः वीरोद्धतगत्या परिक्रामन् असावपरः तृतीयः कुमारो लक्ष्मणः अस्तीति शेषः। ऋष्यश्रृङ्गविहितयागमहिम्ना दशरथेन ये चत्वारः पुत्राः प्राप्तास्तेषु प्रथमोऽयं रामस्तृतीयश्चायं लक्ष्मण इत्यर्थः ॥ १ ॥

ततश्चेति। ततश्च तदनन्तरम् उदकान्तात् जलसमीपात् निवर्त्तितः परावर्त्तितः अनुयात्रिकः अनुगच्छन् बन्धुवर्गो येन तथोक्तः, 'आ उदकान्तं स्निग्धोऽनुगम्यते' इति श्रुत्यनुसारेण जलसमीपदेशादनुयायिबन्धुजनान्विसृज्येत्यर्थः। ससम्भ्रमोपगतेन सत्वरमुपस्थितेन। गुहेन निषादेन। उपनीताम् आनीताम्। अधिरुह्य आरुह्य।

तीर्त्वा भूतेशेति। आत्मना तृतीयः द्वाभ्यां सीतालक्ष्मणाभ्यां सहितः असौ रामः

कौन है ? इसपर मैंने उत्तर दिया कि—

पुत्रकी इच्छासे यज्ञ करनेवाले दशरथने मुनिवरके अनुग्रहसे पुराणपुरुष विष्णुकी चार कलायें प्राप्त कीं, उनमें प्रथम यह राम हैं और तृतीय हैं यह वीरोद्धत लक्ष्मण ॥१॥

जाम्बवान्—श्रवणे, तुमने ठीक उत्तर दिया। इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद जलाशयके पाससे पीछे चलनेवाले आत्मीयजनोंको लौटाकर शीघ्रतया गुहद्वारा उपस्थापित नावपर चढकर—

सीता तथा लक्ष्मणके साथ रामने गङ्गा पार किया और उस गुहको लक्ष्मणके साथ

---

१ 'अस्मि' इति पुस्तकान्तरे नास्ति। २. 'धीरोद्धत'। ३. 'उपगतेन'।

व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रादन्वीयमानः क्षणमचलमथो चित्रकूटं प्रतस्थे ॥ २ ॥

जाम्बवान्—हन्त महत्करुणम् ।

श्रवणा—आर्य, करुणभयादेव तस्मिन्निङ्गुदीतरुमूले कुमारयोर्ज-[1]टाग्रहणवृत्तान्तमन्तरितवत्यस्मि ।

जाम्बवान्—श्रवणे, सर्वमेतत्कल्याणोदर्कं [2]भविष्यति ।

भूतेशमौलिस्रजम् शिवशिरोमाल्यभावं भजन्तीम् अमर धुनीं गङ्गां तीर्त्वा उत्तीर्य तस्मै नाविकाय सौमित्रिमैत्रीमयम् लक्ष्मणेन सह सख्यस्वरूपम् आतरम् तरपण्यम् उपहृतवान् दत्तवान् । सीतालक्ष्मणाभ्या द्वाभ्या सहित आत्मना तृतीयोऽसौ राम शिवशिरोमाल्यरूपतया प्रथिना गङ्गामुत्तीर्य नाविकाय तस्मै लक्ष्मणेन सह मैत्रीमेव तरपण्य समर्पितवानित्यर्थ । अथो अनन्तरम् व्यामग्राह्यस्तनीभि व्याम बाह्वोस्तिर्यगन्तरभाग तद्ग्राह्यौ पीनतया बाहुद्वयग्राह्यौ स्तनौ यासा तादृशीभि शबरयुवतिभि कौतुकेन कुतूहलेन उदञ्चती अक्षिणी नयने यत्र तत्तथा कुतूहलप्रचलितनयनं क्षण कृच्छ्रात् कष्टम् अन्वीयमान अनुगम्यमान चित्रकूट नामाचल प्रतस्थे ययौ । अत्र कृच्छ्रानुगमने कारणमुक्त व्यामग्राह्येत्यादिना । 'आतरस्तरपण्य स्यात्' इत्यमर । 'व्यामो बाह्वो सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्' इति च । स्रग्धरावृत्तम् ॥ २ ॥

करुणभयात् तवापि शृण्वत शोक स्यादिति भयेन । इङ्गुदीतरुमूले तापसतरोरधस्तात् । कुमारयो रामलक्ष्मणयो । जटाग्रहणवृत्तान्तम् जटानिर्माणवृत्तम् । अन्तरितवती त्यक्तवती ।

कल्याणोदर्कम् शुभफलम् । 'उदर्क फलमुत्तरम्' इत्यमर ।

मैत्रीरूप उतराई अर्पित की । इसके बाद विशालतम स्तनोंवाली शबरियों द्वारा आँखोंमें कौतुक भर कर अनुगम्यमान हो वह राम कठिनाईके साथ चित्रकूटाचलकी ओर बढे ॥२॥

जाम्बवान्—अहा ! बडा करुण दृश्य रहा होगा ।

श्रवणा—आर्य, करुण होनेके कारण ही मैंने उस इङ्गुदी तरुमूलमें किये गये कुमारोंके जटाग्रहण-वृत्तान्तको छोड दिया है ॥

जाम्बवान्—श्रवणे, इस सबका परिणाम अच्छा ही होगा ।

---

१ 'जटाजूट-' ।　　२. 'भविष्यति तत' ।

श्रवणा—अहं तु निषादपतिप्रीतये तत्रैवातिष्ठम् । अतीते च गणरात्रे [1]सप्रकृतिजनपदः पितुः [2]स्वर्गारोहणवार्ताभिधायी [3]द्वितीयो दाशरथी रामभद्रमयोध्यामुपनेतुं तेनैव पथा चित्रकूटमुपगतः ।

जाम्बवान्—([4]सशङ्कम् ।) ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च तस्मिन् 'आर्य, लोके कैकेयानामाकल्पमनल्पमकीर्तिस्तम्भं निखनता [5]केनापि च्छलितस्तातः । तत्संप्रति गृहाण [6]रघूणामधिराज्यम्' इति पुनः पुनश्चिरमनुबन्धी रामेण सृष्टिकया प्रत्यादिष्टः कृतजटापरिग्रहो भरतः शरभङ्गमुनिप्रेषितामस्य [7]पादुकां [8]भद्रास-

निषादपतिप्रीतये निषादराजाज्ञापूर्त्या तत्सन्तोषजननार्थम् । तत्रैव रामाश्रमे, गणरात्रे बह्वीषु निशासु । 'गणरात्रं निशा बह्व्यः' । इत्यमरः । सप्रकृतिजनपदः प्रजाभिर्देशवासिभिश्च सह । पितुः दशरथस्य ।

स्वर्गारोहणवार्त्ताभिधायी मृत्युं कथयन् । द्वितीयो दाशरथिः दशरथस्य द्वितीयः पुत्रो भरतः । उपनेतुम् परावर्त्तयितुम् । पथा मार्गेण ।

कैकेयानाम् केकयवश्यानाम् । आकल्पम् प्रलयकालपर्यन्तम् । अनल्पम् अतुच्छम् । अकीर्तिस्तम्भं निखनता अयशःस्तम्भं रोपयता । छलितः वञ्चितः । अनुबन्धी आग्रहपरायणः । सृष्टिकया सशपथम् । 'सृष्टिका शपथेऽपि च' इति रत्नकोषः । प्रत्यादिष्टः निषिद्धः । कृतजटापरिग्रहः धृतजटः । शरभङ्गमुनिप्रेषिताम् तदाख्यमुनिद्वारा प्रहिताम् । अस्य रामस्य । पादुकाम् उपानहम् । 'अथ पादुका,

श्रवणा—मैं तो निषादको प्रसन्न करनेके लिये वहीं ठहर गई । कुछ रात्रियोंके व्यतीत हो जानेपर भरत प्रजाजनको साथ लेकर वनमें आये, उन्होंने पिताके निधनकी बात कही, और रामभद्रको अयोध्या ले जाना चाहा तथा उसी मार्गसे चित्रकूट गये ॥

जाम्बवान्—(सशङ्क) इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद भरतने रामसे कहा—'आर्य, लोकमें कैकेयीको कलङ्कित करनेके लिए अकीर्त्ति स्तम्भ गाडकर किसीने पिताजीको धोखा दे दिया था, अब आप अपना रघुवंश राज्य स्वीकार करें' । इस तरह बार बार प्रार्थना करनेपर भी रामने

१ 'प्रकृतिपौरजानपदः' । २. 'स्वर्गाधिरोहण–' ।
३. 'दाशरथिर्द्वितीयः' 'भरतो दाशरथिर्द्वितीयः' । ४ 'सातङ्कम्' ।
५. 'केनापि भूतेन' । ६. 'रघूणां धुरमिति पुनः पुनरनुबन्धी' ।
७ 'अस्य रामस्य' । ८ 'आरोप्य' ।

नमधिरोप्य प्रजानामाभ्युदयिकमवेक्षमाणस्तदैव[1] नन्दिग्राम[2] गतवान्।

जाम्बवान्—(सहर्षम् ।) हन्त फलितमस्मद्व्यवसायश्रवणापरिश्रमाभ्याम्। ततस्ततः।

श्रवणा—ततश्च शावाशौचमास्थितस्य क्षत्रियस्य[3] प्रतिषिद्धमस्त्रग्रहणमिति छिद्रान्वेषिभिर्जनस्थानवास्तव्यैः खरदूषणप्रभृतिभिस्तत्र[4]विराधो नाम राक्षसस्तीक्ष्णः प्रहित।

जाम्बवान्—(विहस्य ।) धिङ्मूर्खाः, आतिपातिके हि कार्ये राज्ञा सद्य[5] शुद्धि। ततस्ततः।

श्रवणा—ततश्च [6]विराधवधाक्षिप्तहृदये दु सहशोकदीर्घाह्लीमौर्ध्य-

---

पादुरुपानत्' इत्यमर। भद्रासनमारोप्य सिंहासने स्थापयित्वा। आभ्युदयिकम् अभ्युदयम्। अवेक्षमाण परिपालयन्। अस्मद्व्यवसायश्रवणापरिश्रमाभ्याम् मम श्रवणायाश्चायास सफलो जात', शावाशौचम् मृतकाशुद्धिम्। आस्थितस्य प्राप्तस्य। प्रतिषिद्धम् वर्जितम्। छिद्रान्वेषिभि रन्ध्रगवेषणतत्परै। जनस्थानवासिभि मलयाद्रिसमीपस्थरक्षोवासस्थानवर्त्तिभि। तीक्ष्ण· खर। 'खरात्मत्यागिनोर्स्तीक्ष्ण' इति धरणि। आतिपातिक कालातिपातासहिष्णौ। सद्य शुद्धि' तत्काल एव शौचम्। विराधस्य वधेन आक्षिप्तम् आकृष्ट हृदय यस्य तथोक्ते विराधवध कृत्वा खिद्यमानमानसे रामे। दु सहशोकदीर्घाह्लीम् दु सहेन कष्टभोग्येन

प्रत्याख्यान कर दिया। तब भरतने भी जटा बना ली और वह शरभङ्ग द्वारा प्रेषित रामभद्रकी पादुकाको गद्दीपर बैठा करके प्रजाओंके अभ्युदयकी देख-रेख करते हुए नन्दिग्राममें चलकर रहने लगे।

जाम्बवान्—(सहर्ष) अहा, हमारा व्यवसाय और श्रवणाका परिश्रम सफल हुआ। इसके बाद ?

श्रवणा—मरणाशौचकी दशामें क्षत्रियोंके लिए अस्त्रग्रहण निषिद्ध है ऐसा समझकर छिद्रान्वेषी वनवासी विराध, खर, दूषण प्रभृतिके द्वारा रामके पास भेजा गया॥

जाम्बवान्—धिक्कार है उन मूर्खोंको, शीघ्र सम्पाद्य कार्यमें राजाको सद्य शुद्धि होती है, इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद विराधके वधसे रामका हृदय खिन्न हो उठा, दु ख तथा

---

१ 'अवेक्षिष्यमाण'। २ 'गत'। ३ 'क्षत्रस्य निषिद्धम्'।
४. 'विराधनामा'। ५. 'विशुद्धि'। ६ 'वधक्षणाक्षिप्तहृदये दु स—'।

देहिकी पितु क्रियामतिवाह्य भगवता चतुःसमुद्रमुष्टिंधयेन विन्ध्याचलचापलारम्भविस्रब्धघातिना वातापिदानवदीर्घ[1]यात्रामङ्गलकलशेन [2]कलशयोनिना सनाथामरण्यवीथीं प्रतिष्ठमाने दाशरथौ पथि धाराधरो नाम वायस सहसैव वैदेहीमुपाद्रवत् ।

शोकेन पितृमरणजन्यकष्टेन दीर्घाणि दुःक्षयविशालानि अहानि दिनानि यस्यां तादृशीम् । पितु दशरथस्य । और्ध्वदेहिकीं क्रियाम् मरणानन्तरसम्पाद्या श्राद्धक्रियाम् । अतिवाह्य समाप्य । चतु समुद्रेति । चतुर्णां समुद्राणा समाहारश्चतु समुद्रम् , तन्मुष्टीकृत्य धयति पिबतीति चतु समुद्रमुष्टिंधयेन, राक्षसेषु युद्धे पराजितेष्वपि पुन पुन. सागरे निलीय स्व गोपयित्वा देवानुपद्रवत्सु शक्र. प्रार्थितोऽगस्त्य सागर पीतवानिति कथामूलकमिदमगस्त्यविशेषणम् । विन्ध्याचलेति । विन्ध्याचलस्य चापलेन चाञ्चल्यप्रयोजितो य आरम्भ सूर्यमार्गावरोधप्रयास्तस्य विस्रब्धघातिना विश्वासोत्पादविधया हन्त्रा पुरा सुमेरुस्पर्द्धया वर्धमाने विन्ध्ये सूर्यमार्गावरोधाज्जगति व्याकुले सति देवैरर्थितोऽगस्त्य स्वशिष्य विन्ध्यमुपसृत्य पादप्रणते तस्मिन् 'यावदह परावर्त्ते तावदित्थमेव स्थेय न चोत्थेयमि'त्यभिधाय दक्षिणा दिशम् पुन प्रत्यावृत्तये गत इति कथामूलकमिदमगस्त्यविशेषणम् । विन्ध्याचलकर्तृकस्यारम्भस्य विस्रब्धघाती हि मुनिरगस्त्यो भवति प्रतार्य तत्समापनादिति बोध्यम् । वातापिदानवेति । वातापिदानवस्य तदाख्यासुरभेदस्य या दीर्घयात्रा मरण तत्र मङ्गलकलशेन सिद्धिकरेण यथा यात्राया मङ्गलकलश. सिद्धिकरस्तथैवागस्त्यो वातापेर्मृत्यौ सिद्धिकर इति तथा विशेषणम् । पुरा आतापिवातापी नाम राक्षसौ परस्पर विचार्य मासभोजनाय कञ्चन निमन्त्रयामासतु , तस्मिन्नायाते मेषस्वरूपमेक द्वयोर्हत्वा सस्कृत्य चापरो निमन्त्रितातिथिं भोजयति, भुक्तवति तस्मिन् आतापे बहिर्भवति वातापीरित श्रुत्वा भोक्तुरुदर विदार्य भुक्त आतापिर्निर्याति, म्रियते च मासभोक्ताऽतिथिरथ तन्मास तौ सुखमत्त , सयोगात् कदाचिदगस्त्यमपि निमन्त्र्य व्यवहर्त्तुं प्रवर्त्तमानस्य भुक्तस्यातापेरुदरे एव जीर्णताऽजनीति तन्मरणे मङ्गलकलशायितमगस्त्येनेति कथात्र विशेषणे मूलम् । कलशयोनिना अगस्त्येन ।

शोकसे पिताका श्राद्ध करके राम जब चारों सागरोंको उठाकर पी जाने वाले विन्ध्याचलके उन्नमनको रोकनेवाले तथा वातापि दानवको दीर्घयात्रा करानेमें मङ्गलकलश समान अगस्त्यमुनिसे सनाथ वनकी ओर जा रहे थे तब धाराधर नामका काक हठात् वैदेहीके साथ उपद्रव कर बैठा ।

---

१ 'दीर्घनिद्रा–' । २ 'कलशयोनिनाऽगस्त्येन मुनिना सनाथमरण्यानीं प्रविष्टमाने' ।

जाम्बवान्—(स्वगतम् ।) इदं तावदपशकुनं नाम । (प्रकाशम् ।) ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च

रक्षोभिचारचरुभाण्डमिव स्तनं यो
देव्या विदेहदुहितुर्विददार काकः ।
ऐषीकमस्त्रमधिकृत्य तदा तमक्ष्णा
काणीचकार चरमो रघुराजपुत्रः ॥ ३ ॥

जाम्बवान्—ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च ।

क्रमेणैव सुतीक्ष्णादीनुपस्थाय महामुनीन् ।

सनाथाम् युक्ताम् । अरण्यवीथीम् वनम् । प्रतिष्ठमाने गच्छति । दशरथौ रामे । वायसः काकः ।

इदम् काककृतमुपद्रवणम् । अपशकुनम् अशुभसूचकम् ।

रक्षोऽभिचारेति । यः काकः रक्षसाम् राक्षसानाम् अभिचारे मारणप्रयोजनके यागभेदे चरुभाण्डम् हव्यपाकपात्रमिव देव्याः विदेहदुहितुः सीतायाः स्तनं विददार क्षतवान्, चरमो रघुराजपुत्रः प्रथमो दशरथसुतो रामः ऐषीकम् वीरणशलाकाकृतम् अस्त्रम् बाणम् अधिकृत्य आदाय तं काकं धाराधरं नाम अक्ष्णा काणीचकार एकमक्षि बिभेद तस्येति भावः । 'हव्यपाके चरुः पुमान्' इत्यमरः, 'चरमो ज्येष्ठकनिष्ठयोः' इति विश्वप्रकाशः ॥ ३ ॥

क्रमेणैवेति । रघूद्वह रघुवंशतिलक राम क्रमेण यथाक्रमम् सुतीक्ष्णादीन् सुतीक्ष्णतृणबिन्दुशरभङ्गप्रभृतीन् महामुनीन् महर्षीन् उपस्थाय प्रणामादिना

जाम्बवान्—(स्वगत) यह तो अपशकुन है । (प्रकट) इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद जिस काकने राक्षस वध यज्ञके चरुभाण्डतुल्य देवीके स्तनोंको विदारित किया था, उसे बडे रघुराजपुत्रने ऐषीक अस्त्र (शरकण्डेके बाण) से काना बना दिया ॥ ३ ॥

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद क्रमशः सुतीक्ष्ण आदि महामुनियोंकी चरणवन्दना करके

अगस्त्यशासनादास्ते पञ्चवट्यां रघूद्वहः ॥ ४ ॥

जाम्बवान्—(सहर्षम् ।) तर्हि [1]हस्तगत एवास्माकम् । कियदन्तरमृष्यमूकजनस्थानयोः ।

श्रवणा—आर्य, न खल्वद्यापि श्रोतव्य शृणोषि ।

जाम्बवान्—अवहितोऽस्मि ।

श्रवणा—तत्र च कामुकी [2]रामभद्रमनुप्रविश्य [3]रसं दास्यामीति सकल्पितपतिद्रोहपातकिनी शूर्पणखा लक्ष्मणरोषहुतभुजि कर्णनासौष्ठमयीभिस्तिसृभिराहुतिभि प्रायश्चित्तयाचक्रे ।

संस्कृत्य अगस्त्यशासनात् अगस्त्यादेश प्राप्य पञ्चवटया तन्नामके स्थाने आस्ते वर्त्तते ॥ ४ ॥

हस्तगत करगत प्राप्तकल्प । कियदन्तरम् कियद्व्यवधानम् ।

न तावदद्यापि श्रोतव्य शृणोषि सम्प्रत्यपि श्रोतव्यमवशिष्यते श्रोतुम् । कामुकी मैथुनेच्छाशालिनी । रामभद्रम् अनुप्रविश्य रूपयौवनललितैर्मोहयित्वा । रसम् विषविशेषम् । सङ्कल्पितस्य मनसावृतस्य । पत्यु रामस्य । द्रोहकारिणी अशुभाभिलाषिणी । लक्ष्मणरोषहुतभुजि लक्ष्मणस्य कोपपावके । प्रायश्चित्तयाचक्रे प्रायश्चित्त कृतवती । राम पतित्वेन मनसि वृत्वा तस्य द्रोह विषदानरूप चिन्तयित्वा विहितपापा शूर्पणखा कर्णनासौष्ठमयीस्तिस्र आहुतीर्लक्ष्मणकोपपावके दत्तवती, अन्यापि कृतपापा पावके यथाशास्त्रमाहुतीर्ददाति तथेति भाव. ॥

अगस्त्यकी आज्ञासे राम पञ्चवटीमें निवास कर रहे है ॥ ४ ॥

जाम्बवान्—(सहर्ष) तब तो वह हमारे हाथमें ही है। ऋष्यमूक तथा उस वनमे कितना अन्तर है ?

श्रवणा—आर्य, अभी तो आपने कामकी बात सुनी ही नहीं।

जाम्बवान्—कहो, सावधान हूँ ।

श्रवणा—वहाँपर कामपरवशा शूर्पणखा पहुँची, उसने सोचा कि रामके साथ सम्बन्ध जोडकर आनन्द करूगी, और उन्हें विष दे दूगी, इस प्रकार जो उसने सङ्कल्पित पतिका द्रोह सोचा इसके लिये उसे लक्ष्मणके कोपानलमें कान-नाक ओष्ठरूप तीन आहुतियाँ देकर प्रायश्चित्त करना पड गया ।

१. 'हस्तस्थः' । २ 'राममनु-' । ३ 'विष' ।

जाम्बवान्—(सातङ्कम् ।) अहह महाननर्थकन्दः संवृत्तः । अथ भगिन्यास्तादृशं विडम्बनमवलोक्य खरादिभिः किं प्रतिपन्नम् ।

श्रवणा—(विहस्य ।) आर्य, किं प्रतिपन्नम् । यद्रामभद्रे धृतधनुषि प्रतिपद्यते ।

जाम्बवान्—(सहर्षहासम् ।) तत्किं तेऽपि [1]वालिसाहायकोपस्थायिनो विराधयात्राप्रहतमध्वानमनुप्रपन्नाः ।

श्रवणा—अथ किम् ।

जाम्बवान्—श्रवणे, प्ररूढमिदानीं रामरावणयोर्वैरम् ।

श्रवणा—(हसन्ती ।) आर्य, मन्ये [2]खरदूषणप्रभृतीनामभिभवाभिधाने केवलं क्लेशयिष्यति वाचमात्मनः । पुनरनक्षरमपि शूर्पणखामुखमावेदयिष्यति दशकंधरस्य ।

अनर्थकन्दः अनिष्टमूलम् । संवृत्तः जातः । विडम्बनम् अपमानं धर्षणञ्च । प्रतिपन्नम् अनुष्ठितम् ।

बालिसाहायकोपस्थायिनः वालिनः साहायकाय सहायतायै उपस्थायिनः तत्र सन्निहिताः । विराधयात्राप्रहतम् विराधेन क्षुण्णम् । अध्वानम् मार्गम् । अनुप्रपन्नाः अनुसृतवन्तः ॥

प्ररूढम् पुष्टिं गतम् ।

अभिभवाभिधाने पराजयकथने । क्लेशयिष्यति खेदयिष्यति । अनक्षरम् विना शब्दप्रयोगम् । विकृतं शूर्पणखामुखं विनैवोक्तिं सर्वं वस्तुवृत्तं रावणाय निवे-

---

जाम्बवान्—(डरकर) बड़ा भारी अनर्थकी जड़ जम गई । अपनी बहनकी वह दशा देखकर खरादि राक्षसोंने क्या किया ।

श्रवणा—(हसकर) रामभद्रके समान धनुर्धरके रहते जो करना चाहिए ।

जाम्बवान्—(सहर्षहास) क्या बालिकी सहायतामें आये हुए वे भी विराधके द्वारा गतमार्गमें चले गये ।

श्रवणा—और क्या ?

जाम्बवान्—श्रवणे, अब तो राम-रावणका वैर जम गया ।

श्रवणा—(हसती हुई) मैं समझती हूँ खरदूषण आदिकी कथा कहकर वह केवल अपनी वाणीको कष्ट देगी, नहीं तो शूर्पणखाका मुख ही विना शब्दके सारी बात बना देनेमें पर्याप्त है ॥

---

१ 'साहायकस्थायिनो' । २ 'खरप्रभृतीना' ।

जाम्बवान्—(सस्मितम् ।) अवरो, [1]लघूत्थमनर्थमुत्प्रेक्ष्य प्रमुग्धोऽस्मि ।

ऐक्ष्वाकेण पुरापि कौशिकमखादारभ्य लङ्केश्वरो
धत्ते शाश्वतिकं विरोधमधुना [2]त्वेते हता बान्धवाः ।
उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिरलंभूष्णुश्छलज्ञो बली
दृप्तः शूर्पणखानिकारमपरं दृष्ट्वा कथं मृष्यते ॥ ५ ॥

शनैः शनैरनयोर्विरोधे संधुक्षमाणे [3]तुल्यव्यसनस्थो दाशरथिरस-

दयिष्यति, तच्छूर्पणखा किमर्थं तद्बोधनाय स्वां वाचं क्लेशयिष्यतीत्यर्थः । लघूत्थम् अचिरभाविनम् । अनर्थम् विपदागमम् । उत्प्रेक्ष्य सम्भाव्य । प्रमुग्धः किङ्कर्तव्यतानाविचारशून्यः ।

ऐक्ष्वाकेणेति । पुरा पूर्वकालात् एवापि लङ्केश्वरो रावणः कौशिकमखात् विश्वामित्रयागसमयात् आरभ्य ऐक्ष्वाकेण रामेण शाश्वतिकं सार्वकालिकम् विरोधं वैरम् धत्ते बिभर्त्ति, यदत्र रामेण विश्वामित्रयागे ते ते राक्षसा अहन्यन्त तत एव कालाद्रावणस्तेन सतत धृतवैर एवास्तीत्यर्थः, अधुना सम्प्रति तु एते बान्धवाः स्वकुल्याः खरादयो हता मारिताः, एतेन तद्वैरं प्रवृद्धमिति वेदितव्यम् । अस्यां स्थितौ उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिः उत्साहशक्तिः उत्साहकृतं सामर्थ्यम्, मन्त्रशक्तिः मन्त्रणाकृतं सामर्थ्यम्, प्रभुशक्तिः प्रभावश्च ताभिः तिसृभिः शक्तिभिः अलंभूष्णुः अतिसमर्थः छलज्ञो वञ्चनाकलानिपुणश्च बली बलवान् दृप्तः गर्वोद्धतश्च रावणः अपरम् सद्यः समुपनतम् शूर्पणखानिकारम् नासाकर्णादिकृन्तनकृतमपमानम् दृष्ट्वा कथं मृष्यते केन प्रकारेण क्षमते ? आदितो वर्त्तमानो मध्ये सन्धुक्षितः सम्प्रत्युद्दीपितोऽयं रावणनिकारो न शक्नोति निर्वातुमिति महाननर्थः समुपस्थितो वेद्य इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

शनैः शनैः मन्दं मन्दम् । अनयोः रामरावणयोः । सन्धुक्षमाणे प्रज्वलति ।

जाम्बवान्—(मुस्कुराकर) शीघ्र उपस्थित अनर्थको देखकर मुग्ध हो रहा हूँ ।

रावण विश्वामित्रके यज्ञके समयसे ही रामके साथ शाश्वतिक विरोध रखता है अब तो उसके बन्धुजन भी मारे गये हैं । उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति तथा मन्त्रशक्तिसे युक्त, छलज्ञ, बलवान् और गर्वी रावण शूर्पणखाके इस कान नाशको कैसे सहन करेगा ? ॥ ५ ॥

धीरे धीरे इनके वैरके बढते जानेपर समान विपत्तिमें पतित तथा असहाय रामके

---

१. 'लघूत्थानम्' । २. 'चैते' । ३ 'स्वल्पव्यसनस्थो' ।

हाय सूर्यसूनुना सधातुमीषत्करः स्यात् ।

श्रवणा—आर्य, किमिदानीमनुष्ठेयमस्ति । मम हि शिष्यपुत्रो निषादचक्रवर्ती गुहो लक्ष्मणमित्रम् । अनेन सोपानेन सुखाधिरोहो रघुपतिरस्माकम् ।

जाम्बवान्—(सहर्षस्मितम् ।) श्रवणे, [1]यद्यसि सुग्रीवपक्षपातिनी, तद्गच्छ सत्वरमुपस्थापय निषादराजम् ।

(इति श्रवणा निष्क्रान्ता ।)

(नेपथ्ये । एकत ।)

तुल्यव्यसनस्थ समानदु खभोगी । असहाय सहायान्तररहित । सूर्यसूनुना सुग्रीवेण । सन्धातुम् सन्धि कारयितुम् । ईषत्कर सुकर । रामो रावणेनापकृत सन् वैर वहति, सुग्रीवोऽपि बालिना सह, रामस्य कोऽपि कानने सहायो नास्ति, तदसौ सुग्रीवेण सन्धि कुर्यादिति नितरां सङ्गत सूपपादञ्चेति भाव । अनुष्ठेयम् कर्त्तव्यम् । शिष्यस्य पुत्र शिष्यपुत्र शिष्य पुत्र इति वा । निषादचक्रवर्त्ती निषादराजो गुह । अनेन सोपानेन उपायेन । सुखाधिरोह अनायासगम्य लक्ष्मणस्य गुहो मित्र स च मम शिष्यपुत्र इति परम्परासम्बन्धेन गुहद्वारा राम सूपगम सन्धेय इत्याशय ।

उपस्थापय लक्ष्मणसमीपमानय । तद्द्वारा सुग्रीवरामयो सन्धि घटयेति भाव । निषादराजम् गुहम् ।

साथ सूर्यपुत्र सुग्रीवके लिए मैत्री सहज सम्पाद्य हो जायगी ।

श्रवणा—अब क्या करना है ? मेरा शिष्यपुत्र निषादराज गुह लक्ष्मणके मित्र हैं, इस जरियेसे हम रामके पास सुखपूर्वक पहुँच सकते है ।

जाम्बवान्—(सहर्ष हसकर) श्रवणे, यदि तुम्हें सुग्रीवके प्रति प्रेम है तो जाकर शीघ्र निषादराजको बुला लाओ ।

(श्रवणा जाती है)

(नेपथ्यमें एक ओरसे)

---

१ 'सत्यमसि' ।

भो भो लक्ष्मण, वैशेषिककन्दली[1]पण्डितो जगद्विजयमान पर्यटामि। क्वासौ [2]राम। तेन सह [3]विवदिष्ये।

(अन्यत ।)

भो भो परिव्राजक, कालसर्पखलीकारखर्जूलता न खलु सुखकरी वृश्चिकमन्त्रतान्त्रिकस्य।

जाम्बवान्—[4]कथं लक्ष्मणपरिव्राजकौ [5]सलपत। शृणोमि तावत्। ([6]इत्यवधत्ते।)

(नेपथ्ये। पुनरेकत ।)

वैशेषिककन्दलीपण्डित वैशेषिककन्दलीनामा वैशेषिकशास्त्रव्याख्याग्रन्थ· प्रसिद्धस्तत्पण्डित। विजयमान शास्त्रार्थे पराजयन्। पर्यटामि सर्वतो भ्रमामि। विवदिष्ये शास्त्रार्थकलह प्रवर्त्तयिष्यामि।

कालसर्पखलीकारखर्जूलता कालसर्पो विषधरो महानागस्तस्य खलीकारे द्रोहाचरणे खर्जूलता कण्डूशालिता। वृश्चिकमन्त्रतान्त्रिकस्य वृश्चिकमन्त्रज्ञस्य। सुखकरी सुखजनिका। यथा वृश्चिकमन्त्रं जानत कालसर्पद्रोह पराभवाय जायते, तथैव साधारणपण्डितस्य तव रामेण शास्त्रार्थे प्रवृत्ति पराभवं जनयेदतो मौनमास्स्वेति भाव·।

अजी लक्ष्मण, मै वैशेषिक शास्त्रका पण्डित हू और जगद्विजय करता हुआ घूम रहा हू। कहाँ है वह राम? उसके साथ शास्त्रार्थ करू गा।

(दूसरी ओरसे)

अजी परिव्राजक, बीछूका मन्त्र जानकर काले नागसे खेल करना कल्याणप्रद नहीं होता है।

जाम्बवान्—क्यों, लक्ष्मण और परिव्राजक सलाप कर रहे हैं? सुनू तो, (सावधान होता है।

(नेपथ्यमें फिर एक ओर से)

---

१ 'पण्डितोऽस्मि'। २ 'ते रामभद्र'। ३ 'विवदितव्यम्'।

४ 'कथ पथि'। ५ 'मिथ प्रलपत', 'सप्रलपत·'।

६· 'इत्यवधत्ते इति पुस्तकान्तरे नास्ति'।

आः लक्ष्मण, सर्वविद्रावण खल्वहम्। को मया जनितमानभङ्गो न पराजीयते।

(नेपथ्ये। पुनरन्यत ।)

किं भवान् रावण ।

(जाम्बवान्सविशेषमवदधाति ।)

(नेपथ्ये। पुनरेकत ।)

भो वाचोयुक्तिज्ञ सर्वेषां विद्रावण खल्वहमिति रामस्य व्याहृतमन्यथाभिसंधाय वाक्छलेन प्रत्यवतिष्ठमानो निगृहीतोऽसि। तन्मुञ्च मां भिक्षायै।

(अन्यत ।)

सर्वविद्रावण सर्वेषां विजेता, सर्वज्ञो रावणश्चेति कुक्षिगतोऽर्थ ।

वाचोयुक्तिज्ञ वचनपटो, मया सर्वेषां विद्रावणो जेतेत्यर्थे सर्वविद्रावण इति प्रयुक्तम् , त्वं पुनस्तत्सर्ववित् रावण इत्यर्थकं समभावयसीत्यहो तव वाक्पाटवमित्यर्थ । समस्य समासमन्यादृशं कृत्वा। व्याहृतम् उक्तम्। अन्यथाऽभिसन्धाय अन्यार्थकं मत्वा। वाक्छलेन वक्रोक्तिद्वारा। प्रत्यवतिष्ठमान उत्तरं ददत्। निगृहीत शास्त्रार्थदोषग्रस्तो जात । 'यथाऽयं नेपालादागत नवकम्बलवत्त्वात्' इति वादिना प्रयुक्ते—'कुतोऽस्य नवकम्बला एककम्बल एवायमिति ब्रुवाण प्रतिवादी वाक्छलनाम्ना निग्रहस्थानेन पराजीयते तथा त्वमपि सर्वविद्रावण इति मया सर्वविजेतृताऽभिप्रायेण प्रयुक्ते भवान् सर्वज्ञो रावण इति प्रतिपद्योत्तरं प्रयुञ्जानो वाक्छलेन निगृहीत इत्यर्थ ।

आ लक्ष्मण मैं सबको परास्त करनेवाला या सर्वज्ञ रावण हूं मैने किसका मान भङ्ग नहीं किया ? किसे परास्त नहीं किया ?

(नेपथ्यमें फिर दूसरी ओरसे)

क्या आप रावण हैं ?

(जाम्बवान् और सावधान होता है)

(नेपथ्यमें फिर एक ओरसे)

अजी 'वाक्पटो, सर्वविद्रावण ' यह रामने कहा आपने उसका अर्थ कुछ दूसरा समझ लिया, अत आप वाक्छल करनेके कारण निगृहीत हो गये। अत छोडिये शास्त्रार्थ, मैं भिक्षाको जाऊं।

(दूसरी ओर)

किं त्वया, [1]किंतरा च रावणेन। अहमप्युत्सुकोऽस्मि। त्वरितं गच्छामि।

जाम्बवान्—कथमेतदस्फुटार्थमेव निर्वहणम्। मन्ये पुनरेष परिव्राजकच्छलेन रावण एव कोपादुक्तमप्यपलप्य स्व नाम द्रागपक्रान्तः। (सर्वतो निरूप्य।) अये, [2]पुराणप्रियसुहृदस्माकं दक्षिणस्या दिशः परापतञ्जटायुरिव लक्ष्यते। [3]तदेनमनुपालयामि तावत्। दूरदृशो हि गृध्राः। कदाचिदेष लङ्काद्वीपवृत्तान्तमप्युपलभेत।

(प्रविश्य।)

जटायुः—प्राप्तैवेयमस्माभिः [4]पञ्चवटी। यदमूर्गोदावरीतरङ्गसीकरसेकसुकुमारमांसलपरिसरारण्यमालिन्यो जनस्थानसीमानः। अपि च।

उत्सुकः आश्रमगमनौत्सुक्यवान्।

अस्फुटार्थम् अस्पष्टाभिधेयम्। निर्वहणम् उपक्रान्तोपसंहारः 'उपक्रान्तस्य संहारो भवेन्निर्वहणं त्विदम्' इति भरतः। कोपादुक्तमपि स्व नाम अपलप्य कोपवशादुक्तमपि स्वं नाम चातुर्येण गोपयित्वा। द्रागपक्रान्तः शीघ्रं पलायितः।

पुराणप्रियसुहृत् प्राचीनः प्रियबन्धुः। परापतन् समागच्छन्। अनुपालयामि प्रतीक्षे। दूरदृशः सुदूरदेशस्थवस्तुग्रहणसमर्थदृष्टयः। उपलभेत साक्षात्कुर्यात्।

गोदावरीति। गोदावर्याः तन्नामनद्याः तरङ्गाणाम् सीकरसेकेन जलकणस्पर्शेन मांसलाः पुष्टिं नीताः परिसरारण्यमालाः समीपभूमिगतवनपङ्क्तयः, तद्वत्यः। जनस्थानसीमानः दण्डकारण्यभागाः।

आपसे और रावणसे मुझे क्या काम? मैं भी उत्सुक हूँ, शीघ्र जाता हूँ।

जाम्बवान्—क्यों, यह निर्वहण अस्फुटार्थ ही रह गया। मैं समझता हूँ यह रावण ही परिव्राजक वेषमें आया था, क्रोधवश उसके मुखसे रावण यह अपना नाम निकल आया था। उसका अपलाप करके तेजीसे निकल गया। (चारों ओर देखकर) अरे, यह तो हमारे प्रियमित्र जटायु दक्षिणदिशासे आते दीख रहे हैं, अतः इनके आनेकी प्रतीक्षा करता हूँ, गृद्धकी दृष्टि बडी तेज होती है, कदाचित् वह लङ्काकी बात भी जानता हो?

(प्रवेश करके)

जटायु—मैं पञ्चवटीमें पहुँच गया। यही हैं गोदावरीकी तरङ्ग बिन्दुओंके सेकसे सुकुमार तथा समृद्ध वनसे शोभित पञ्चवटीकी सीमायें और—

---

१ 'किं च'। २. 'पुराणसुहृत्'। ३. 'अनुलपामि'। ४ 'पञ्चवटीभूः'।

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूताङ्कुर-
'प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः ।
या कृच्छ्रादतिलङ्घ्य लुब्धकभयात्तैरेव रेणूत्करै-
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवीनिःशङ्कमेणीकुलम् ॥ ६ ॥

जाम्बवान्—(किंचिदुपसृत्य ।) कुतः पुनरियता वेगेन वयस्यो जटायुः ।

जटायुः—(दृष्ट्वा ।) कथं जाम्बवान् । सखे क्षमस्व । न [1]सभाजयिष्यामि तावद्भवन्तम् । मया हि मलयाचलकुलायादार्यसंपाति[2]पादा-

दृश्यन्त इति । मधुमत्ताभिः वसन्तर्तुसुलभमकरन्दपानमत्ताभिः कोकिलवधूभिः कोकिलाभिः निर्धूता विदलिता ये चूताङ्कुराः रसालमञ्जर्यस्तत्प्राग्भारस्य तत्समूहस्य प्रसरन्तीभिः निर्गच्छन्तीभिः परागसिकताभिः कौसुमरजोरूपवालुकाभिः दुर्गा व्याप्ततया दुःसञ्चाराः तटीभूमयः तीरदेशाः दृश्यन्ते, यास्तटीभूमीः कृच्छ्रात् अतिलङ्घ्य कथञ्चित् अतीत्य धारावाहिभिः सन्ततवर्षिभिः तैरेव रेणूत्करैः परागसमूहैः एणीकुलम् मृगाणां समूहः लुब्धकभयात् आखेटकभीतेः लुप्तपदवीनि शङ्कम् मार्गस्य निह्नततया गतभयम् अस्ति । अयमाशयः—वसन्ते मधु पीत्वा माद्यन्त्यः कोकिलस्त्रियो रसालमञ्जरीर्दशन्त्यस्तन्निर्गतपरागसिकताभिस्तटीभूमीर्दुर्गमाः कुर्वते, ताश्च तटीभूमीः कथञ्चिदतीत्य स्थितं हरिणीकुलं तैरेव पतद्भिः परागनिवहैस्तन्मार्गे लुप्ते सति केन पथा हरिणीकुलं गतमिति लुब्धकैर्ज्ञातुमशक्यं सति तेभ्यो निःशङ्कं तिष्ठतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

इयता एतावता । वेगेन शीघ्रतया ।

न सभाजयिष्यामि त्वां सम्प्रति सभाषणादिना न सत्करिष्यामि । मलयाचलकुलायात् मलयपर्वतवर्त्तिनीडात् । सम्पातिर्नामजटायुषो भ्राता । अभिवाद्य

मधुपानसे मत्त कोकिलाओं द्वारा कम्पित चूताङ्कुरोंके समुदायसे फैलनेवाले परागोंके कणोंसे दुर्ग तटीवाले प्रदेशोंको किसी तरह पार करके उन्हीं परागकणोंसे आगमन मार्गके लुप्त हो जानेपर यहाँ हरिणोंका दल अशङ्क होकर बैठा रहता है ॥ ६ ॥

जाम्बवान्—(थोड़ा समीप जाकर) मेरे प्रिय जटायु, कहाँसे इतने वेगसे आ रहे हो ?

जटायु—(देखकर) क्यों जाम्बवान् , मित्र, क्षमा करना । मैं आपका सत्कार नहीं कर सकूँगा । मैं मलयाचलस्थित अपने घोंसलेसे आर्य सम्पातीके चरणोंकी वन्दना करके

१ 'सम्भावयिष्यामि' ।　　२. 'पादावभिवन्द्य' ।

नभिवाद्य निवर्तमानेन मारीचसहचरः सचरन्निमामरण्यानीमभिलक्षितो राक्षसराजः। तदतिविषममाशङ्कमानः मां वत्सरामभद्रस्नेहस्त्वरयति।

जाम्बवान्—(स्वगतम्।) वयमप्येतदेव [1]प्रतिपित्सामहे। (प्रकाशम्।) सखे, [2]त्वरस्व। (इति निष्क्रान्ता।)

जटायुः—(परिक्रम्यावलोक्य च।) इयमग्रे पञ्चवटी। (सवितर्कम्।)

नीतो दूरं [3]कनकहरिणश्रद्धया रामभद्रः
पश्चादेनं द्रुतमुपसरत्येष वत्सः कनिष्ठः।
बिभ्यद्बिभ्यत्प्रविशति ततः पर्णशालां च भिक्षु-
र्धिक्कष्टं[4] भो प्रथयति निजामाकृतिं रावणोऽयम्॥ ७॥

प्रणम्य। मारीचसहचरः मारीचसखः। इमामरण्यानीम् सञ्चरन् एतद्वनाभिमुखमागच्छन्। अभिलक्षितः दृष्टः। अतिविषमम् महद्भयम्, त्वरयति शीघ्रता कर्तुं प्रेरयति। रामभद्रस्य किमपि व्यसनं रावणादुपस्थितं स्यादिति त्वरितं यामि, अत एव प्रियसखमपि त्वां न सभावयामि तत्त्वया क्षन्तव्यमिति भावः। एतत् रामभद्रवृत्तम्। प्रतिपित्सामहे ज्ञातुमिच्छामः।

नीतो दूरमिति। कनकहरिणे स्वर्णमृगे या श्रद्धा आदरः लोभजनितः सुवर्णमृगप्रत्ययस्तया रामभद्रः दूरं नीतः सुदूरं गमितः, पश्चात् एषः कनिष्ठो वत्सः लक्ष्मणः एनं दूरगतम् रामम् द्रुतम् सत्वरम् उपसरति अनुगच्छति। ततश्च भिक्षुः परिव्राजकवेषो रावणः बिभ्यत् बिभ्यत् भीतभीतः पर्णशालाम् रामोटजं प्रविशति, भो धिक्कष्टम् अतिभयमुपस्थितम्, अथ भिक्षुवेषो रावणः निजाम् आकृतिं स्वरूपं प्रथयति विस्तारयति। मन्दाक्रान्तावृत्तम्॥ ७॥

लौट रहा था तो मैंने देखा कि मारीचके साथ रावण इसी महावनकी ओर आ रहा है। इसीसे मुझे बड़ी शङ्का हो गई है, और मेरा प्रेम मुझे रामभद्रसे शीघ्र मिलनेको प्रेरित कर रहा है,

जाम्बवान्—(स्वगत) हम भी यही जानना चाहते थे। (प्रकट) मित्र, शीघ्रता करो।

जटायु—(चलकर तथा देखकर) यही तो आगे पञ्चवटी है। (विचार करके)

कनकमृगकी प्रीतिसे राम बहुत दूर ले जाये गये, पीछेसे उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी उनका अनुसरण कर रहे हैं, एक साधु डरते डरते उनकी पर्णशालामें प्रवेश कर रहा है, हाय, हाय, यह तो रावण है जो अपनी आकृति प्रकट कर रहा है॥ ७॥

---

१. 'प्रतिपत्स्यामहे'। २ 'त्वरस्व त्वरस्व'। ३ 'हरिणच्छद्मना'। ४. 'धिग्धिक्कष्टम्'।

अहह !

आर्यपुत्रार्यपुत्रेति रुदन्तीं कुररीमिव ।
रथमारोप्य वैदेहीमेष पापः क्व यास्यति ॥ ८ ॥

([1]साटोपं परिक्रामन् ।) अरे रे रावण,

वधूटीमिक्ष्वाकोर्निजकरतलस्पर्शमलिना-
　मिमां कुर्वाणस्य स्फुरति हृदि शोभैव भवतः ।
कुले येषां किं नु त्वमसि गणितास्तेऽपि गुरवो
　न सप्त ब्रह्माणः कथमिव पुलस्त्यप्रभृतयः ॥ ९ ॥

(पुनराकाशे ।) अलीकाट्टहासधूमधूसरितदशवक्त्रवल्मीक, किमान्ध

आर्यपुत्रेति । पापः एष रावणः कुररीम् उत्क्रोशपक्षिणीम् इव 'आर्यपुत्र आर्यपुत्र' इति रुदन्तीम् आक्रोशन्तीम् वैदेहीम् सीताम् रथमारोप्य स्यन्दने स्थापयित्वा क्व यास्यति कुत्र गमिष्यति ॥ ८ ॥

वधूटीमिति । इक्ष्वाकोः तदाख्यवंशस्य इमां वधूटीम् नवीनां वधूं निजकरतल-स्पर्शमलिनां स्वबाहुस्पर्शदूषितां कुर्वाणस्य विदधानस्य स्वीयबाहुस्पर्शेन कलङ्कयतो भवतः हृदि शोभाप्रसन्नताजनितो विकास एव स्फुरति प्रकटति, न तु लज्जेति, काम भवतो हृदये तथाविधेनापि कुकर्मणा लज्जा मा जनीति भावः, किन्तु परन्तु त्वं येषां कुले वंशे असि जातोऽसि तेऽपि सप्त ब्रह्माणः पुलस्त्य-प्रभृतयः सप्तर्षयो गुरवः कुलश्रेष्ठाः न गणिताः न विभाविताः तेऽपि कुकृत्यमिदमाचरता त्वया स्वपूर्वजाः कलङ्किता इति महदनुचितमाचरितमित्यर्थः ॥ ९ ॥

अलीकेति । अलीकः वृथा योऽट्टहासः उच्चैर्हसितम् स एव धूमस्तेन धूसरितः पांशुलीकृतः दशवक्त्र एव वल्मीकः कीटभेदस्तत्सम्बोधने रूपम् ॥

आर्यपुत्र, आर्यपुत्र, कहकर कुररीकी तरह रोती हुई सीताको रथपर बैठाकर यह पापी कहाँ ले जायगा ? ॥ ८ ॥

(वेगसे चलता हुआ) अरे रावण, सूर्यकुलकी वधूको अपने हाथके स्पर्शसे मलिन बनानेवाले तेरे हृदयमें यह बात भली ही लगती होगी, परन्तु क्या तुमने उन पुलस्त्य प्रभृति अपने पूर्वजोंके विषयमें भी सोचा है जिनके वशमें तुम उत्पन्न हुए हो ॥ ९ ॥

(फिर आकाशमें) मिथ्या अट्टहाससे अपने मुखको धूमिल बनानेवाले पापी राक्षस,

१ 'इति साटोपम्' ।

रे राक्षसापसद. किमात्थ ।

'जगद्विलोभिसीताख्यमामिषं हरतो मम ।
अयं किल जरद्गृध्र करादाच्छिद्य नेष्यति' ॥ १० ॥ 'इति ।

आः पाप, 'कथमेवमभिदधासि । तिष्ठ तिष्ठ ।

भुजविटपमदेन व्यर्थमन्धंभविष्णु-
र्धिगपसरसि चौरंकार³माक्रुश्यमानः ।
त्वदुरसि विदधातु स्वामयस्कारकेलि
कुटिलकरजकोटिक्रूरकर्मा जटायुः ॥ ११ ॥

राक्षसापसद नीचराक्षस ।

जगद्विलोभीति । अयं गृध्रो जटायु जगतां विलोभि लोभजनकं स्पृहणीयम् सीताख्यम् सीतानामकम् आमिषं मांसम् भोग्यवस्तु हरत नयतो मम रावणस्य करात् आच्छिद्य बलादादाय नेष्यति किलेत्यलीके। यथा गृध्रो मांस हरतो जनस्य करात्तन्मांसमादाय गच्छति तथैव मया ह्रियमाणा सीता हरिष्यतीति सम्भावनाऽलीकैवेति भाव । 'उत्कृष्टे पलले भोगे भोग्यवस्तुनि चामिषम्' इति विश्व ॥ १० ॥

भुजविटपमदेनेति । भुजविटपमदेन बाहुशाखादर्पेण व्यर्थम् वृथैव अन्धभविष्णु अन्धीभवन् आक्रुश्यमान मयाऽन्यैश्च निन्दापूर्वकम् शब्दाय्यमान. त्वम् चौरङ्कारम् चौर इव अपसरसि पलायसे, धिक् त्वाम्, सम्प्रति कुटिलानां दारुणवक्राणां नखराणां कोटिभि अग्रभागै क्रूरकर्मा भीषणव्यापार जटायुर्नामगृध्र त्वदुरसि तव वक्षोदेशे स्वाम् निजाम् अयस्कारकेलिम् नखविलेखनक्रीडाम् विदधातु करोतु । बाहुबलदर्पितस्य तव पलायनं नोचितम्, तिष्ठ, तव वक्षसि जटायुरहं नखविलेखनक्रीडामाचरामि, त्वदीयमुरो निजैर्दारुणैर्नखैर्विदारयामीति भाव । मालिनीवृत्तम् ॥ ११ ॥

क्या कहा तुमने ? क्या कहा ?

संसारको लोभित करनेवाले सीतारूप आमिषको मैं हरकर लिये जा रहा हूं, क्या यह गृध्र इसे मेरे हाथोंसे छीनकर ले जायेगा ? ॥ १० ॥

अरे पापी, इस तरह क्यों कहता है ? ठहरो तो ।

अपने बाहुसमुदायके मदमें व्यर्थ गर्व करनेवाला तू चोरकी तरह ललकारे जानेपर भी भागा जा रहा है, धिक्कार है तुमको, तुम्हारी छातीपर अपने कुटिलनखोंसे क्रूरकर्म करनेवाला यह जटायु अपनी अयस्कारकेलि पटुता प्रकट करेगा ॥ ११ ॥

---

१ 'इति' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २ 'कथमभिदधासि' । ३. 'आक्रुष्यमाणः' ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भक ।

(तत ¹प्रविशति लक्ष्मण ।)

लक्ष्मण—अहो दुर्निवारदारुणक्रोधशोकलज्जागहनो विषमोऽय दशाविवर्त । यस्मिन्नितिकर्तव्यताभिधानमप्यस्माकमनौपयिकम् । तथाहि

तत्ताद्दग्दशकण्ठवञ्चनरुषा धूमायमानो गिरं
नार्धोक्तप्रविलीनवर्णविधुरामार्य ²समाप्नोति मे ।
चापे तातजटायुजीवितकथापर्यन्तधूमायित-
क्रोधोत्पीडनिपीतशोकजडिमा दृष्टिस्तु विश्राम्यति ॥१२॥

दुर्निवारेति । दुर्निवारा निवारयितु शमयितु कठिना अतएव दारुणा कष्टप्रदा महत्यश्च क्रोधशोकलज्जा क्रोध शत्रु प्रति कोप, शोक प्रियजनवियोगजन्मा खेद, लज्जा कुलवधूरेकाऽस्माभिर्न पारिता रक्षितुमित्यात्मावमानजननी त्रपा, ताभिर्गहनो भीषण, विषम अतिदुस्सह दशाविवर्त्त अवस्थापरिणाम । इतिकर्त्तव्यताभिधानम् किङ्कर्त्तव्यमिति निश्चित्य कथनम् । अनौपयिकम् अयुक्तम् ।

तत्तादृगिति । मे आर्य मम पूजनीयो राम तत् तादृक् यत् दशकण्ठवञ्चन रावणकृत सीताहरणात्मक प्रतारणम् तेन या रुट् रोष तया धूमायमान धूममुद्वमन् (अग्निरिव स्थित) अर्धोक्त एव प्रविलीन अर्धोच्चारित एव प्रकर्षेण लय गतो यो वर्ण अक्षरम् तेन विधुराम् विपर्यस्ताम् अशत उदितामशतो निह्नुताक्षरा च वाच वाणीं न समाप्नोति निश्शेषीकरोति, अर्धोक्त एव वचने विरमतीत्यर्थ । तु किन्तु तातस्य पितृसखत्वाच्छ्रेष्ठस्य जटायोर्जीवितकथापर्यन्तेन जीवनवृत्तसमाप्त्या धूमायित धूमोद्गारी य क्रोधोत्पीड कोपातिशय तेन निपीत

(दोनों का प्रस्थान)

लक्ष्मण—दुर्निवार तथा दारुण कोप, शोक तथा लज्जासे विषम यह दशा परिवर्त्तन है, जिसमें क्या किया जाय यह भी नहीं समझमें आ रहा है । क्योंकि—

रावण द्वारा किये गये वञ्चनसे उत्पन्न कोपके कारण अन्तर्दह्यमान हमारे आर्य आधा कहकर रुक जाते हैं, बातको समाप्त नहीं कर पाते हैं, तात जटायुकी जीवनकथासे उनका कोप धूमिल हो जाता है, उनकी आँखें शोकसे जड होकर जटायुपर जा लगती है ॥१२॥

---

१ 'प्रविश्य' ।　　२ 'समाप्नोत्ययम्' ।

([1]नेपथ्याभिमुख्म ।) इत इत आर्य मारीचमथन, दृश्यन्माममूरवाची ककुभमभिवर्धमाना [2]विन्ध्यवनवीथिभूमय ।

([3]प्रविश्य ।)

राम —(आकाशे लक्ष्य बद्ध्वा ।)

कुले वा शौर्ये वा भुजसमुदये वा तपसि वा
बभूवुर्न प्राञ्चस्त्वमिव भविनारो न चरमे ।
अहो [4]दिङ्मोहस्ते [5]समजनि चिरादेष न खलु
प्रवीराणां पन्था दशवदन येनासि चलित. ॥ १३ ॥

निश्शेपमवसायित शोकजडिमा शोककुण्ठितत्व यस्यास्तादृशी रामस्य दृष्टि चापे धनुषि विश्राम्यति स्थिरीभवति । जटायुनिधनजन्यकोपवशान्निश्शेपसमापित-दु खबाष्पा रामस्य दृष्टिर्धनुरीक्षते, कोपोदयेन दु खोद्रेकस्य समाप्ततया प्रतिकर्त्तुं धनुरवलोकते इत्याशय ॥ १२ ॥

मारीचमथन मारीचहन्त , अवाची ककुभम् दक्षिणा दिशम् , अभिवर्धमाना अभिमुख प्रवृत्ता , दक्षिणदिशाभिमुखगामिन्य ।

कुले वेति । रे दशवदन रावण, कुले वंशे, शौर्ये पराक्रमे वा, भुजसमुदये बाहु-समूहे वा, तपसि तपोऽनुष्ठाने वा त्वमिव त्वया समाना प्राञ्च पूर्वतमा लोका न बभूवु , न वा चरमे पश्चाद् भाविन त्वमिव भवितार त्वया समा भविष्यन्ति । रे रावण, कुलगौरवे पराक्रमे भुजबाहुल्ये तपश्चर्यायां वा त्वत्सादृश्य न प्राचा पुरुषाणामजायत न वा भाविलोकाना भविष्यति तदित्थमप्रतिमस्त्वमसीति भाव । अहो आश्चर्यम् ते तव चिरात् दिङ्मोह दिग्भ्रम एष समजनि जात , त्व भ्रान्त

(नेपथ्यकी ओर) आर्य इधर आइये, मारीचमथन, देखिये यह दक्षिण दिशाकी ओर फैला हुइ विन्ध्यवन वीथी ।

(प्रवेश करके)

राम—(आकाशकी ओर लक्ष्य करके) कुल गौरवमें, वीरतामें, बाहुशालितामें, तपस्या में, न कोई तुम्हारे ममान हुआ है और न आगे चलकर होगा, अहो, तुमको यह दिग्भ्रम कहांसे हो गया, हे रावण, तुमने जिधरसे चलना प्रारम्भ किया है यह मार्ग वीरोंका नहीं है ॥ १३ ॥

---

१ 'मुखम्' । २ 'विन्ध्याचल–' । ३ 'तन प्रविशति राम' ।
४ 'धिङ्मोह' । ५ 'कथयति', 'कथमिह' ।

(विमृश्य । सखेदस्मितम् ।) हहो पौलस्त्य,

सिद्धश्रोत्रपरम्परापरिगतैरेभिः प्रपौत्रस्य ते
वृत्तैरद्य पुलस्त्यवर्जमभितः स्मेरेषु देवर्षिषु ।
विष्वग्वृत्तिरसंगता नमयितुं दुर्वारलज्जाभर-
म्लानश्रीस्तु चतुर्मुखी भगवतो धातुः कथं वर्तते ॥ १४ ॥

(क्षणमनुध्याय ।) हा प्रिये विदेहराजपुत्रि । (इति मवरण नाटयति ।)

लक्ष्मणः—(उपसृत्य ।) आर्य, कोऽयमभिषङ्गो नाम भवादृशानप्यास्पदीकरोति ।

सन् परस्त्रीहरणकर्मणि प्रवृत्तो भूरिण्याश्चर्यजनकम्, येन यथा परस्त्रीहरणात्मना चलितः प्रस्थितः असि असौ पन्था प्रवीराणां न खलु निश्चयेन वीरास्तं पन्थानं नैवाश्रयन्ति, त्वं च तमेवाश्रितः इत्यवश्यं तवायं दिग्भ्रम इति ॥ १३ ॥

सिद्धेत्यादि । सिद्धाना देवयोनिभेदानां कर्णपरम्परा श्रोत्रपरम्परा तत्र परिगतैः सिद्धानां श्रवणसमुदायपतितैः ते तव पौलस्त्यस्य प्रपौत्रस्य रावणस्य वृत्तैः सीताहरणात्मककुकृत्यवृत्तान्तैः पुलस्त्यवर्जम् पुलस्त्यं विहाय इतरेषु अन्येषु देवर्षिषु स्मेरेषु विकस्मितमुखेषु सत्सु विष्वग्वृत्तिः सर्वतोमुखी अत एव नमयितुम् नम्रतां प्रापयितुम् असङ्गता अशक्या दुर्वारेण दुरुपशमेन लज्जाभरेण त्रपाराशिना म्लानश्रीः मलिनकान्तिः धातुः ब्रह्मणः चतुर्मुखी मुखचतुष्टयी कथं वर्तते का दशामनुभवति ? सिद्धैः कर्णाकर्णिकया निवेदितानि रावणस्य दुर्वृत्तानि श्रुत्वा यदा पुलस्त्यातिरिक्ताः सर्वे देवर्षयो हसिष्यन्ति, तदा ब्रह्मणः कीदृशी दशा भविष्यति ? ब्रह्मा हि रावणकुलप्रथमपुरुषः, स्वकुलजस्य दुर्वृत्तमाकर्ण्य त्रपतः ब्रह्मा, यदि स त्रपया मुखमपि नमयितुमिच्छति तदपि न शक्यं कर्तुं विरुद्धासु चतसृष्वपि दिशासु स्थितानां मुखानां नमयितुमशक्यत्वात्, अतश्च विषमा भवेद् ब्रह्मणोऽवस्था, तदित्थमाचारस्तव नोपयुक्त इति ॥ १४ ॥

(विचार करके खेदकी हसीके साथ) हे पौलस्त्य,

सिद्धोंकी कर्णपरम्परया तुझ प्रपौत्रके इस वृत्तान्तको सुनकर, पुलस्त्यको छोड अन्य ऋषियोंके हसने लगनेपर, चारो ओर फैले हुए मुखोंको ब्रह्मा झुका भी नहीं सकेंगे, फिर न जाने किस तरह रहेगे ॥ १४ ॥

(क्षणभर सोचकर) हा प्रिये विदेहतनये, (मूर्च्छित होते हैं)

लक्ष्मण—(समीप जाकर) आर्य, यह कैसा दुःख है जो आपको भी सता रहा है ?

[1]पतिते व्यसने [2]दैवाद्दारुणे [3]दारुणात्मनि ।
संवर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महतां मनः ॥ १५ ॥

रामः—([4]दीर्घं निःश्वस्य ।) वत्स,

सहजधैर्यवशंवदवृत्तयो हृदि रुषश्च शुचश्च नियन्त्रिता ।
इह तु किं करवै यदपत्रपा किमपि मामवमत्य विजृम्भते ॥१६॥

लक्ष्मणः—(पुरोऽवलोक्य ।) आर्य, [1]अयमग्रे तातजटायुषो वीर-[2]लोकसाधनसिद्धक्षेत्रमरण्यानीसंनिवेशः । पश्य ।

पतित इति । दैवात् भाग्यवशात् दारुणात्मनि महात्मनि जने दारुणे भीषणे व्यसने दुःखे पतिते आगते सति धैर्यं हि महतां मनः वज्रेण संवर्मयति आवृणोति । 'दारुणो भीषणे गुरौ' इति शाश्वतः ॥ १५ ॥

सहजेति । सहजस्य स्वाभाविकस्य धैर्यस्य वशंवदा अधीना वृत्तिः सत्ता व्यापारो वा यासां तादृश्यः स्वाभाविकधैर्यवशवर्त्तिन्यो रुषः कोपाः शुचः शोकाश्च नियन्त्रिता नियमिताः, किन्तु यत् अपत्रपा लज्जा परपुरुषदर्शनजन्मा ह्रीः माम् अवमत्य विजित्य विजृम्भते स्फुरति इह अत्र विषये किङ्करवै करवाणि ? यद्यपि स्वाभाविकं धैर्यमाश्रित्य तदधीना रुषः शुचश्च मया निगूहिताः, परं धैर्येण निगूहितुमशक्या लज्जा यन्मां पराभूय स्फुरति तत्र मया किङ्क्रियतामिति भावः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥ १६ ॥

वीरलोकसाधनसिद्धिक्षेत्रम् वीरलोकप्राप्तिस्थानम् (जटायुर्यत्र रावणेन युद्ध्वा वीरलोकमापत् तादृशम्) अरण्यानीसंनिवेशः वनप्रदेशः ।

दैववश भयानक विपत्तिके आ जानेपर महाजनोंके हृदय अपने धैर्यको ही कवच बनाते हैं ॥ १५ ॥

राम—(दीर्घ श्वास लेकर) स्वाभाविक धैर्यके वशमें रहनेसे कोप तथा शोकको किसी तरह रोक लिया है, परन्तु इसका क्या करूं कि लज्जा मुझे हटाकर विजृम्भित हो रही है ॥ १६ ॥

लक्ष्मण—(आगे देखकर) आर्य, यही है आगे तात जटायु द्वारा किये गये वीरलोक साधनका सिद्धक्षेत्र वनप्रदेश, देखिए—

---

१ 'पतति व्यसने', 'पतितव्यसने' । २ 'दारुणात्' ।
३ 'दारुणात्मन' । ४. 'दीर्घमुष्णं च' ।

भग्नोऽयं कथमस्ति रावणरथस्तातेन वज्राङ्कुर-
[3]क्रूरापस्किरमाणभङ्गुरनखत्रोटित्रुटद्बन्धनः ।

राम—(सकरुणम् ।)

हा सीरध्वजराजपुत्रि स तदा दृष्टस्त्वया धन्यया
पक्षीन्द्रो दशकण्ठकुञ्जरशिर संचारिपञ्चानन. ॥ १७ ॥

(इति लक्ष्मणमवष्टभ्य ध्यान नाटयति ।)

लक्ष्मण—(स्वगतम् ।) [4]महादोष खल्वयमतिप्रसज्यमानो [5]मानस' शोकाख्यो विकार । तदन्यत प्रेरयामि[6] । (प्रकाशम् ।) आर्य, पश्य पश्य ।

भग्नोऽयमिति । तातेन पितु सख्या जटायुषा वज्राङ्कुरवत् क्रूराभ्याम् दारुणाभ्या भीषणाभ्याम् अपस्किरमाणाभ्या विदारयन्तीभ्या च अत एव भङ्गुराभ्यां कुटिलता गताभ्या नखत्रोटिभ्या नखाग्रभागाभ्याम् त्रुटद् भ्रश्यद् बन्धनम् सन्धिबन्धन यस्य तथोक्त (कुपितजटायुनखत्रुटितसन्धिबन्धन) अत एव च भग्न अय रावणरथ कथमस्ति केन प्रकारेणात्र तिष्ठति ? हा सीरध्वजराजपुत्रि, जनकनन्दिनि, धन्यया त्वया सीतया दशकण्ठो रावण एव कुञ्जर करी तस्य शिरस्सु सञ्चारी आक्रामन् पञ्चानन सिंह स पक्षीन्द्र खगजातिश्रेष्ठ जटायु दृष्ट, यत्त्व रावणशिरसि करिशिरसि सिंहमिव घूर्णमान जटायुषमपश्यस्तत्त्व धन्यासीति भाव., 'सिंहो मृगेन्द्र पञ्चास्य ' इत्यमर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १७ ॥

अवष्टभ्य आश्रित्य । ध्यान नाटयति ध्यानस्थ इव भवति ।

अतिप्रसज्यमान नितरा वर्धमान । अन्यत प्रेरयामि ध्यानमाकर्षामि ।

तात जटायुद्वारा वज्रकठोर नखाङ्कुर प्रहारसे जिसके बन्धन तोड डाले गये हैं, वैसा यही टूटा हुआ रावणका रथ पडा है ।

राम—(करुणासे) हा विदेहपुत्रि, दशकण्ठरूपी गजपर सिंहकी तरह आक्रमण करनेवाले उस तात जटायुको तुमने देखा था, अत तुम धन्य हो ॥ १७ ॥

(लक्ष्मणको थामकर सोचने लगता है)

लक्ष्मण—(स्वगत) बढता हुआ यह शोक नामक मनोविकार बडा बुरा होता है । अत इनको दूसरी ओर आकृष्ट करता हू । (प्रकट) आर्य देखिये—

---

१ 'अयमेवाग्रे' । २ 'सिद्धिक्षेत्रमरण्यसंनिवेश ' । ३ 'अपस्क्रियमाण-' ।
४ 'महान्दोषो हि' क्वचिन्नास्ति । ५ 'मानस ' इति । ६ 'प्रतिसारयामि' ।

विन्ध्यगिरिराजकन्यान्त पुरमेतास्तरङ्गमालिन्यः ।
[1]वेतस्वतीभिरद्भिस्तौर्यत्रिकगुणनिकां दधते ॥ १८ ॥

रामः—(उन्मील्य चक्षुषी दीर्घमुष्ण च नि श्वस्य ।) वत्स, दर्शनीयमेतत् ।

कुमुदवनविशायजाग्रदम्भोरुहकृतयामिकविभ्रमा रमन्ते ।
मदकलकरिकर्णतालनृत्यन्मुखरमयूरमनोरमास्तटिन्यः ॥ १९ ॥

(इति परिक्रामत ।)

विन्ध्यगिरिराजेति । विन्ध्यगिरिराजस्य विन्ध्याचलाख्यपर्वतेन्द्रस्य कन्यान्त -पुरम अन्त पुरशब्दस्य तद्वासिवाचिलक्षकतया कन्याजन एता तरङ्गमालिन्यो नद्य (विन्ध्यपुत्रीरूपा एता नद्य) वेतस्वतीभि वानीरवृक्षसंयुक्ताभि अद्भि तौर्यत्रिकगुणनिकाम् गीतवाद्यनृत्याभ्यासम् दधते धारयन्ति । 'स्त्र्यगार भूभुजामन्त पुर स्यादवरोधनम्', 'अभ्यासे गुणनी, योग्या', 'तौर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्यम्' इति च सर्वत्रामर ॥ १८ ॥

कुमुदवनेति । कुमुदवनेन सह विशायेन पर्यायेण जाग्रद्भि विकसद्भि (रात्रौ कुमुदानि जाग्रति दिवा चाम्भोरुहाणि इति पर्यायेण) अम्भोरुहै कृत यामिकाना प्रहरिणा विभ्रमो विलासो यासु ता तथोक्ता, मदकला मत्ता ये करिणो हस्तिन. तेषा कर्णतालेन कर्णशब्देन नृत्यन्त मुखरा शब्दायमानाश्च ये मयूरा तैर्मनोरमा सुन्दर्य तटिन्य नद्य रमन्ते क्रीडन्ति, अन्या अपि राजकन्या प्रहरिभि. सुरक्षिता मयूरनृत्य पश्यन्त्यो रमन्ते तद्वदमूर्विन्ध्यगिरिकन्यारूपा नद्य निशि कुमुदानि दिवा चाम्भोजानीति पर्यायेण प्रहरिभि प्राप्तरक्षा सत्यो मत्तकरिकर्णनादनृत्यन्मुखरमयूरमनोहरा इह रमन्त इत्याशय । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १९ ॥

विन्ध्यगिरिराजकी कन्याओंका अन्त पुर स्वरूप यह नदियाँ वेंतके वृक्षोंसे होकर बहनेवाले अपने जलोंसे गीत-नृत्य वाद्यरूप तौर्यत्रिकका अभ्यास सी कर रही हैं ॥ १८ ॥

(राम आँखें खोलकर दीर्घ तथा उष्ण श्वास लेकर) वत्स, यह तो देखने योग्य है,

यहा कुमुदवनके साथ वारी वारीसे जागृत होनेवाले कमल पहरेदारकी शोभा धारण कर रहे हैं, मत्तकरियोंके कर्णतालसे नाचनेवाले मयूर यहाकी शोभा बढा रहे हैं, इस प्रकार यहाकी नदिया बहुत सुन्दर दीख रही हैं ॥ १९ ॥

(दोनों चलते हैं)

---

१. 'बहुवेतसाभि' ।

लक्ष्मण—आर्य, अयमितो गिरिर्माल्यवान् ।

इह महिषविषाणव्यस्तपाषाणपीठ-
स्खलनसुलभरोहिद्गर्भिणीभ्रूणहत्या ।
कुहरविहरमाणप्रौढभल्लूकहिक्का-
चयचकितकिरातस्रस्तशस्त्रा वनान्ताः ॥ २० ॥

राम—(चिरं दृष्ट्वा सकरुणास्रम् ।)

प्रतिपरिसरं भूयानर्घः शिखण्डभृतां यथा-
मिलितमलिभिः संभुज्यन्ते कदम्बविभूतयः ।
अभिनवघनव्यूढोरस्कः प्रवर्षति माल्यवान्

इह महिषेति । इह अस्मिन् प्रदेशे वनान्ता वनभूमिसीमानः महिषाणां विषाणैः शृङ्गैः व्यस्तेषु विपर्यस्तेषु पाषाणपीठेषु प्रस्तरखण्डेषु स्खलनेन पादप्रच्यवनेन सुलभा सर्वदा सम्भविन्य रोहिद्गर्भिणीनाम् गर्भवतीनां मृगीणां भ्रूणहत्या गर्भस्थशिशुवधा येषु तथोक्ता, तथा कुहरेषु पर्वतगह्वरेषु विहरमाणानां तिष्ठताम् प्रौढानां विशालकायानां भल्लूकानां हिक्काचयेन चकितानां सम्भ्रान्तानां किरातानां शबराणां स्रस्तानि भयस्खलितानि शस्त्राणि येषु तथोक्ताश्च सन्तीति शेषः । अत्र वनप्रान्तेषु महिषा विषाणैः पर्वतशिला विपर्यासयन्ति, तासां विशृङ्खलस्थितया तत्र चरन्त्यो हरिण्यो गर्भवत्य स्खलन्ति तेन तासां गर्भाः स्रवन्ति, किञ्च पर्वत-गह्वरस्थस्य प्रौढभल्लूकस्य हिक्काचयेन चकितानां किरातानां हस्तेभ्योऽस्त्राणि स्खलन्ति, एतादृशोऽयं वनप्रान्त इत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् ॥ २० ॥

प्रतिपरिसरमिति । प्रतिपरिसरं सर्वासु पर्यन्तभूषु शिखण्डभृतां मयूराणाम् भूयान् अर्घः महोत्सवः (अस्ति), अलिभिः भ्रमरैः यथामिलितं यथोपस्थितं कदम्बविभूतयः नीपपुष्पाणि संभुज्यन्ते संभोगविषयीक्रियन्ते । अभिनवघन-व्यूढोरस्कः नूतनमेघपूर्णमध्यभागः माल्यवान् नाम गिरिः विषधरवधूनां भुजगाङ्ग-

लक्ष्मण—आर्य, इधर यह माल्यवान् नामक पर्वत है,

यहांके बनान्तमें महिषोंके शृङ्गोंसे उलटे गये पाषाण-खण्डोंपर गिरनेके कारण हरि-णियोंके गर्भपात प्रसिद्ध हैं, और कन्दराओंमें रहनेवाले प्रौढ भालुओंके हिक्का शब्दसे चकित होनेवाले किरातोंके हाथोंसे बाण अनायास निकल जाते हैं ॥ २० ॥

राम—(बड़ी देर तक देखकर) प्रतिपरिसरमें मयूरोंके उत्सव हो रहे हैं, कदम्बकी यथालभ्य विभूतियोंको मिल-जुलकर भ्रमरगण पी रहे हैं, नवीन मेघमण्डलसे भरा

विषधरवधूगर्भाधानप्रियंकरणीरपः ॥ २१ ॥

वत्स लक्ष्मण, वारय माम्। न शक्नोमि स्तम्भयितुमात्मानम्।

इयमविरलश्वासा शुष्यन्मुखी [1]भिदुरस्वरा
तनुरवयवैः [2]श्रान्तस्रस्तैरुपैति विवर्णताम्।
स्फुरति जडता बाष्पायेते दृशौ [3]गलति स्मृति-
र्मयि रसतया शोको भावश्चिरेण विपच्यते ॥ २२ ॥

(इति लक्ष्मणेन धार्यमाणो निमीलिताक्ष एव।) हा प्रिये दण्डकारण्यविहारसब्रह्मचारिणि। (इति पुनः मव्रणुते।)

नाना गर्भाधानरूपं प्रियं क्रियते आभिस्तथोक्ताः अपः प्रवर्षति। अत्र वर्षासमये सर्वासु पर्यन्तभूमिषु मयूराणामुत्सवः प्रवर्त्तते भ्रमराः यथालाभं कदम्बकुसुमानि भुञ्जते, नूतनवारिदपूर्णमध्यभागो माल्यवान्नामाय गिरिः सर्पवनितागर्भाधानप्रियङ्करणीरपो वर्षति। एतादृशोऽयं वर्षासमय उपस्थित इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इयमविरलेति। अविरलश्वासा सततप्रवृत्तश्वासा शुष्यन्मुखी शोषयुक्तानना भिदुरस्वरा घर्घरस्वरशालिनी इयं तनुः ममेदं शरीरम् श्रान्तस्रस्तैः क्लान्ततया विवशता गतैः अवयवैः करचरणादिभिरङ्गैः विवर्णताम् मलिनतामुपैति गच्छति। जडता अचेतनत्वं स्फुरति प्रसरति, दृशौ नयने बाष्पायेते अश्रु वमतः, स्मृतिः स्मरणशक्तिर्गलति नश्यति, मयि मम चित्ते शोको नाम करुणस्थायी भावः चिरेण रसतया रसरूपेण विपच्यते परिणतो भवति, करुणरसस्थायी शोको मयि स्थित एव स ह्यन्येषामपि स्वोपोद्बलकानां श्वासाधिक्यमुखशोषाङ्गस्रंसनजाड्याश्रुपातादीनां समवधानाद्रसरूपतां गच्छतीत्यर्थः। हरिणीवृत्तम् ॥ २२ ॥

दण्डकारण्यविहारसब्रह्मचारिणि–दण्डकावाससङ्गिनि सीते।

हुआ यह माल्यवान् विषधर ललनाओंके गर्भाधान करानेवाले जलकी वृष्टि कर रहा है ॥

वत्स लक्ष्मण पकड लो मुझे, मैं अपनेको सभालनेमें असमर्थ हो रहा हू।

श्वासवेगसे निकल रहा है, मुख सूखता है, स्वर भङ्ग हो रहा है, अवयवोंके श्रान्त तथा स्रस्त हो जानेसे शरीर विवर्ण हो रहा है, जडता बढ रही है, आंखोंसे अश्रु प्रवाहित हो रहा है, स्मरणशक्ति लुप्त हो रही है, मुझमें शोक करुणरसके रूपमें परिणत हो रहा है ॥ २२ ॥

---

१ 'मधुरस्वरा'। २. 'श्रान्तश्रान्तैः'। ३ 'गलिता'।

लक्ष्मण—(सखेदमात्मगतम् ।) केन पुनरेष रसो रसान्तरेण तिरस्क्रियते ।

(नेपथ्ये ।)

आः पाप कबन्धहतक, अय न भवसि ।

रामः—(आकर्ण्य । ससम्भ्रमम् ।) वत्स लक्ष्मण, दुरात्मना दनुकबन्धेन कलहायमानो वयस्यस्ते गुह इव श्रूयते । बहुच्छलानि रक्षांसि । तत्त्वरितमभ्युपपद्यस्व ।

लक्ष्मणः—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

रामः—(पार्श्वतोऽवलोक्य । सकरुणम् ।) देवी वामशीले सीरध्वजराजनन्दिनि[1], इय ते [2]विश्वविस्रम्भमर्मवेदिनी निचुलनिकुञ्जलेखा । इह हि—

स्ववपुषि नखलक्ष्म स्वेन कृत्वा भवत्या
कृतमिति चतुराणां दर्शयिष्ये सखीनाम् ।

रसान्तरेण अन्येन रसेन । तिरस्क्रियते दूरीक्रियते । केन प्रसङ्गेन रामस्यास्य शोको विस्मार्यते इति भावः ।

स्ववपुषीति । स्ववपुषि निजशरीरे स्वेन आत्मना नखलक्ष्म नखक्षतचिह्नं कृत्वा भवत्या सीतया कृतं रामशरीरे नखक्षतं विहितमिति चतुराणां विदग्धहृदयानां सखीनां दर्शयिष्ये प्रत्यक्षीकारयिष्यामि, तथा च तव रहस्यभङ्गः स्यादिति

(लक्ष्मणके द्वारा अवलम्बित तथा आँखें बन्द किए हुए) हा दण्डकारण्यसङ्गिनि प्रियतमे, (फिर मूर्च्छित होते हैं)

लक्ष्मण—(सखेद स्वगत) किस रसान्तरसे इस शोकको अन्तरित किया जा सकेगा ।

(नेपथ्यमें)

आः पापी अभागा कबन्ध, अब तुम नहीं बच सकेगा ।

राम—(सुनकर घबराहटके साथ) वत्स, सुन रहा हूँ जैसे तुम्हारे मित्र गुहका दुष्ट कबन्धके साथ झगडा हो रहा है, राक्षस बडे छली होते हैं, अतः शीघ्र जाओ ।

लक्ष्मण—जो आज्ञा । (जाते हैं)

राम—(चारो ओर देखकर) हे वामशीले विदेहपुत्रि, तुम्हारे सकल रहस्योंको जाननेवाली वेत्र-निकुञ्ज परम्परा यही तो है । यहाँ—

मैं अपने शरीरपर नखचिह्न बनाकर तुमसे कहता था कि जाता हूँ तुम्हारी सखियोंसे

---

१ 'सीरध्वजनन्दिनि' ।　　२. 'नर्मविस्रम्भमर्मभेदिनी' ।

इति रहसि मया ते भीषिताया: स्मरामि
स्मरपरिमलमुद्राभङ्गसर्वंसहाया ॥ २३ ॥

(इति धनुरवष्टभ्य लक्ष्मणवृत्तान्तदत्तचेतास्तथैवास्ते ।)

(ततः प्रविशति लक्ष्मणो गुहश्च ।)

गुहः—जयतु[1] जयतु देवः ।

विनेता वर्णानामयमभयदुर्गं दिविषदां
कनिष्ठः काकुत्स्थो जयति जगदाश्चर्यचरितः ।
यदस्त्रैः पाप्मानं रजनिचरजन्मग्रहसृजं
विजित्य स्वर्लोकानविकलमुपातिष्ठत दनु ॥ २४ ॥

मया रामेण रहसि एकान्ते भीषितायाः भयं प्रापितायाः ते सीतायाः स्मरः कामः तस्य परिमलो विमर्दोत्थः सुगन्धः तस्य मुद्रा चिह्नं तस्याः भङ्गे सर्वंसहायाः सर्वविधमपि कष्टं सोढुं प्रवृत्तायाः स्मरामि । रामोऽत्र स्वेन स्वनखैर्लक्ष्म नखस्य कृत्वा सीतया कृतमिदमिति तव सखीनां दर्शयिष्ये इत्येव सीता यदाऽभीषयत्तदा सा रहस्यभङ्गभीता सती कामचिह्नस्य तस्य नखक्षतस्य भङ्गाय सर्वमपि कष्टं सोढुमुद्यताभूत् एतादृश्याः सीतायाः रामः स्मरतीति भावः । स्मरतियोगे कर्मणि षष्ठी । मालिनीवृत्तं, तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ २३ ॥

विनेतेति । वर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां विनेता सत्पथप्रवर्तकः, दिविषदां देवानाम् अभयदुर्गं निर्भयवासोपयुक्तं दुर्गमस्थानम्, जगतः आश्चर्यं विस्मयजनकं चरितं यस्य तादृशः तथोक्तः कनिष्ठः काकुत्स्थो लक्ष्मणः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, यस्य लक्ष्मणस्य अस्त्रैः प्रहरणैः रजनिचरेषु राक्षसेषु जन्मग्रहसृजं जन्मग्रहणकारणीभूतं पाप्मानं पापं विजित्य पराभूय दनुर्नाम राक्षसः अविकलं सर्वात्मना

कहनेका सीताने यह नखचिह्न कर दिये हैं, इस प्रकार कहनेपर तुम भयभीत हो उठती थी, उस अवस्थाकी तुम्हारी कामकला विमर्द सहिष्णुताकी याद आ रही है ॥ २३ ॥

(धनुष लेकर लक्ष्मणके वृत्तान्तमें मन लगाये उसी तरह बैठा रहता है)

(लक्ष्मण तथा गुहका प्रवेश)

गुह—जय हो जय हो महाराजकी ।

वर्णोंको उचित शिक्षा देनेवाले, देवोंको अभयदान देनेवाले, जगत्में आश्चर्य चरित वाले कनिष्ठकाकुत्स्थकी जय हो, जिनके अस्त्रोंसे राक्षसयोनिमें जन्म देनेवाले पापोंको धोकर यह दनु निर्बाधभावसे स्वर्ग पहुँच गया है ॥ २४ ॥

---

१. 'जयति जयति'।

रामः—साधु वृत्तम्। शिवा सन्तु तस्य देवयानाः पन्थानः। वत्स गुह, वियति विवर्तमानः कश्चिदचल इव लक्षितः किमसौ तेनैव योजनबाहुना प्रहरणीकृतः।

गुहः—देव

दुन्दुभिं नाम दैत्येन्द्रं निष्पिष्य कपीश्वरः।
तस्य कङ्कालकूटोऽयं कुमारेण विलोडितः ॥ २५ ॥

तन्निमित्तजन्मा सम्प्रति [1]वालिनो महानभियोगः संभाव्यते।

लक्ष्मणः—ततः किम्।

स्वर्लोकात् उपातिष्ठत प्राप्त, दनु पूर्वं कोऽपि गन्धर्वः शापाद्राक्षसयोनिं प्राप्य लक्ष्मणास्त्रात् शापान्तं प्राप्य स्वर्गमलभतेति कथात्र मूलम्। यद्यपि कनिष्ठ-काकुत्स्थः शत्रुघ्नो न लक्ष्मणस्तथापि सन्निहितत्वादत्र लक्ष्मण एव तथा विवक्षितो बोध्यः। शिखरिणीवृत्तम् ॥ २४ ॥

साधु वृत्तम्—उत्तमं जातम्, देवानां यानं यैः ते देवयानाः पन्थानो मार्गाः शिवाः कल्याणमयाः। वियति व्योमनि। विवर्तमानः अस्तव्यस्तभावेन स्थितः। अचलः पर्वतः। लक्षितो दृष्टः। योजनबाहुना दनुकबन्धेन, प्रहरणीकृतः लक्ष्मणो-परि क्षेप्तुमस्त्रभावं गमितः ॥

दुन्दुभिमिति कपीन्द्रो वाली पुरा दुन्दुभिं नाम दैत्येन्द्रं राक्षसं निष्पिष्य निहतवान्, अथ तस्य कङ्कालकूटः अस्थिराशिः कुमारेण लक्ष्मणेन विलोडितः धनुष्कोट्या विपर्यासितः। वालिनिहतस्य दुन्दुभेरस्थिराशिरयं लक्ष्मणेन धनु-ष्कोट्या चालितो न दनुप्रहरणमिति भावः ॥ २५ ॥

तन्निमित्तजन्मा लक्ष्मणेन यद् दुन्दुभिकङ्कालकूटं धनुष्कोट्या क्षिप्तं तत्कारणं, कोऽयं वीरो यस्तावतोऽस्थिकूटस्य विपर्यासं कृतवान्, पश्येयं तस्य बलमिति बुद्ध्या। अभियोगः आक्रमणम्।

राम—ठीक है, देवलोकका मार्ग उसके लिए कल्याणमय हो। वत्स गुह, आकाशमें किसी पर्वतसदृश वस्तुको चलते देखा था, क्या योजनबाहुने ही उसे प्रहरण बनाया था।

गुह—दुन्दुभि नामक दैत्यको वानरराजने मारा था, यह उसी का कङ्कालकूट था जिसे कुमार लक्ष्मणने स्थानसे खिसका दिया है ॥ २५ ॥

इसके कारण हो सकता है कि बाली बडा उत्पात मचावे।

लक्ष्मण—इससे क्या ?

१ 'पुनर्वालिनो'।

रामः—वत्स, मा मैवम्। माननीयः खल्वसौ पुराणवीरो महेन्द्रसूनुः। (गुहं प्रति।) कुतः पुनरागच्छतो वत्सस्य योजनबाहुरन्तरायः संवृत्तः।

गुहः—देव, व्योमयानेन सत्वरमपक्रामति रावणे सीतादेव्या—

रामः—([1]साशङ्कमात्मगतम्।) किं पुनरस्याः।

गुहः—यदुत्तरीयमुत्प्लुत्य हनूमानग्रहीत्, [2]तदेतद्देव गुणानुरागिणा कुमारसुग्रीवेण सभाजयितुमुपस्थितवतो मम हस्ते देवस्य प्राभृतीकृतम्। (इति रामस्य हस्ते सीताया उत्तरीयमर्पयति।)

रामः—(गृहीत्वा हृदये निधाय। सास्रम्।) हा देवि विदेहराजनन्दिनि, कथमुत्तरीयशेषा दृश्यसे। (इति निमीलिताक्षो [3]लक्ष्मणमवष्टभ्नाति।)

पुराणवीरः प्राचीनः प्रसिद्धश्च शूरो महेन्द्रसूनुः इन्द्रपुत्रो बाली। आगच्छतः आश्रमं प्रत्यावर्त्तमानस्य। वत्सस्य लक्ष्मणस्य। योजनबाहुः दनुकबन्धः। अन्तरायः मार्गरोधको विघ्नः।

व्योमयानेन आकाशमार्गेण, सत्वरम् वेगेन। अपक्रामति पलायमाने। साशङ्कम् सीतादेव्या इत्यर्धोक्ते किंजातमिति शङ्का।

उत्तरीयम् ऊर्ध्ववस्त्रम्। गुणानुरागिणा गुणैकपक्षपातिना। सभाजयितुं भवन्तं सत्कर्त्तुम्। उपस्थितवतः समायातस्य। प्राभृतीकृतम् उपहाररूपेण दत्तम्। 'प्राभृतं तु प्रदेशनम्' इत्यमरः।

उत्तरीयशेषा उत्तरीयमात्रावशेषा, केवलमुत्तरीयमेव दृश्यते न त्वमिति खेदस्य विषय इत्यर्थः।

राम—वत्स ऐसा मत कहो, इन्द्रपुत्र तथा पुराणवीर बाली हमारे आदरके योग्य हैं, (गुहके प्रति) तुम कहांसे आ रहे थे कि बीचमें योजनबाहु आ खडा हुआ था?

गुह—आकाशमार्गसे रावण वेगसे भागा जा रहा था तब सीतादेवीके—

राम—(साशङ्क स्वगत) उसको क्या?

गुह—जिस उत्तरीयको उछलकर हनुमानने ले लिया था, मैं हनुमानके पास सुग्रीवको धन्यवाद देने गया था तब हनुमानने आपको अर्पित करनेके लिए वह उत्तरीय मुझे दे दिया है॥ (रामके हाथमें सीताका उत्तरीय अर्पित करता है)

राम—(लेकर तथा हृदयसे लगाकर) (रोते हुए) हा देवि, विदेहराजपुत्रि, अब

लक्ष्मणः—(निःश्वस्य ।) सखे निषादराज, कुशलं सुग्रीवस्य ।

गुहः—अद्य त्वयि वार्तामनुयुञ्जाने ।

रामः—(स्वगतम् ।)

जानन्नेव दशाननोऽपहरते नः प्रेयसीमस्ति [1]वा
चन्द्रापीडमुपासितुं स हि शिरोदाम स्वयं कृत्तवान् ।
तत्त्रासो रजनीचरस्य न पुनः कण्ठाटवीकर्तना-
द्धिग्बाणैर्मम चन्द्रहासहतकक्षुण्णोऽयमध्वा वृतः ॥२६॥

वार्त्तामनुयुञ्जाने कुशलं पृच्छति सति, यदद्य त्वं सुग्रीवस्य कुशलं पृच्छसि तदेतेन तव कुशलप्रश्नेन सम्भावितसाहायकोऽसौ कुशलमनुभवतीत्यर्थः ।

जानन्नेवेति । दशाननः रावणः नः अस्माकं प्रेयसीम् प्रियतमां सीताम् जानन् एव एतेन कर्मणा भाविनं स्वविनाशं विदन्नेव अपहरते चौर्येण स्वपुरीं नयति, अस्ति वा युज्यत एतत्, हि यतः सः रावणः चन्द्रापीडं चन्द्रभूषणम् उपासितुम् आराधयितुम् स्वं शिरोदाम निजां शिरःपरम्पराम् स्वयं कृत्तवान् निजहस्तेन खण्डितवान् तत् तस्मात् रजनीचरस्य रावणस्य पुनः कण्ठाटवीकर्त्तनात् पुनः शिरश्छेदनात् त्रासो भयं न । धिक्, खेदास्पदमिदं यत मम बाणैः शरैः चन्द्रहासहतकेन अतिनिराशेन चन्द्रहासनाम्ना रावणखड्गेन क्षुण्णोऽभ्यस्तः अध्वा वृतः प्रार्थितः । रावणो निजं नाशं जानन्नेव सीतां हरति, युक्तमिदं यतोऽसौ रावणः स्वयं स्वकण्ठानां छेदनं कृतवानसौ कण्ठच्छेदविषये निर्भयः, खेदस्य त्वयं विषयो यन्मम बाणैश्चन्द्रहासकृतं रावणशिरश्छेदनात्मकमेव कार्यं कर्तव्यत्वेन वृतमित्यर्थः ॥ २६ ॥

केवल तुम्हारा उत्तराय ही देख रहा हूँ । (आँखें बन्द करके लक्ष्मणको पकड़ते हैं)

लक्ष्मण—(साँस लेकर) सखे निषादराज, सुग्रीव तो सकुशल है ?

गुह—आज जब आप कुशल पूछ रहे हैं तब उनका कुशल ही है ।

राम—(स्वगत) रावणने जान बूझकर ही मेरी प्रियतमाका अपहरण किया है, उसको शिरश्छेदका भय नहीं है क्योंकि उसने शिवकी आराधनामें स्वयम् अपने मस्तक काट दिये थे । धिक्कार है हमारे बाणोंको जिनको चन्द्रहास द्वारा क्षुण्ण मार्ग अपनाना है ॥

---

१ 'अस्तु' ।

लक्ष्मणः—आर्य, [1]कथमस्मासु वनौकसोऽपि सौजन्यमनुरुध्यन्ते ।

रामः—किमुच्यते । सुग्रीवः सनाभिरयमस्माकम् । अस्य हि प्रभवो [2]भगवानैक्ष्वाकस्य राजर्षिवंशस्य प्रसविता सहस्रदीधितिः । (हृदयस्थमुत्तरीयं दृष्ट्वा ।) वत्स गुह, स्पृहयामि सुग्रीवहनूमतोर्दर्शनाय । तदृष्यमूकगामिनं [3]मार्गमावेदय ।

गुहः—(सहर्षमात्मगतम् ।) कथमचिरादेव फलवती [1]जाम्बवतः मन्त्रशक्तिः । (प्रकाशम् ।) इत इतो मतङ्गाश्रमवर्त्मना देव ।

(इति सर्वे परिक्रामन्ति ।)

गुहः—देव, पश्य पश्य ।

विदधति मुदमक्ष्णोर्नूतनानूपनीप-
प्रहसनसहचर्यानित्यनृत्यन्मयूराः ।

वनौकसः वनवासिनो वानरादयः । सौजन्यम् सद्भावम् । अनुरुध्यन्ते-कामयन्ते ।

सनाभिः सगोत्रः । सुग्रीवस्य सूर्यपुत्रतया सनाभित्वमभिप्रेतं रामेण । अस्य सुग्रीवस्य । प्रभवः जनकः । प्रसविता उत्पादकः । सहस्रदीधितिः सूर्यः । स्पृहयामि इच्छामि । आवेदय कथय । फलवती सफला । मन्त्रशक्तिः मन्त्रणा । (जाम्बवान् रामसुग्रीवयोः सख्यं सम्भावयतिस्म, रामस्य सुग्रीवदर्शनस्पृहोक्त्या तत्साफल्यं प्रतीक्षितं कृतम् ॥

f ।। नूतनाना नवविकसितानाम् अनूपनीपानाम् जलप्रायदेशस्थ-कदम्बानाम् प्रहसनं विकासस्तत्सहचर्यया तत्सहवासेन नित्यं सततं नृत्यन्तो

लक्ष्मण—आर्य हमारे साथ यह वन्यजन्तुगण क्यों सौजन्य प्रकाशित किया करते हैं ?

राम—इसमें क्या कहना है ? सुग्रीव हमारे सवंश्य हैं, क्योंकि उनके भी जन्मदाता वही सूर्य हैं जो इक्ष्वाकुवंशके प्रवर्त्तक हैं । (हृदयस्थ उत्तरीयकी ओर देखकर) सुग्रीव तथा हनूमानको देखनेके लिए तरस रहा हूं । अतः मुझे ऋष्यमूक जानेवाला मार्ग बताओ।

गुह—(सहर्ष स्वगत) क्यों, जाम्बवान्की मन्त्रणा शीघ्र ही सफल हो रही है। (प्रकट) इधरसे मतङ्गाश्रम होकर आप जा सकते हैं।

(सभीका प्रस्थान)

गुह—देव, देखिये—नवीन विकसित नूतन और जलप्राय देशस्थित नीप वृक्षोंके साहचर्यसे जहाँ मयूर नृत्य किया करते हैं, ऐसे फल भरे जम्बूकुञ्जोंमें शब्दायमान

---

१ 'किमस्मासु'। २ 'भगवान्' इति क्वचिन्नास्ति। ३. 'आदेशय'।

फलपुलकितजम्बूकुञ्जकूजत्कपोत-
प्रियशबरपुरंध्रीबन्धवो [1]विन्ध्यलेखा ॥ २७ ॥

रामः—(सर्वतो निरूप्य । सखेदम् ।)

समन्तादुन्मीलद्बहललहरीलङ्घनकला-
लघुप्रेङ्खत्पम्पानिलविदलदेलासुरभयः ।
अविद्यावैदेहीशतलिपिकरीणां मम धिया-
ममी हस्तालम्बं विपिनविनिवेशा विदधते ॥ २८ ॥

मयूरा यासु तथोक्ताः, तथा फलैः पुलकिताः पूर्णा ये जम्बूकुञ्जा जम्बूकाननानि तेषु कूजन्तः शब्दायमानाः ये कपोताः पारावताः तत्प्रियाणां स्नेहिनीनां शबर-पुरन्ध्रीणाम् व्याधादिपत्नीनाम् बन्धवः मित्रभूताः विन्ध्यलेखाः विन्ध्यपर्वतमालाः अचणो दर्शकजननयनयो मुदम् प्रीतिं विदधति कुर्वन्ति । जलप्रायदेशस्थप्रत्यग्र-प्रफुल्लकदम्बकुलसहवासनृत्यन्मयूरास्तथा फलपूर्णजम्बूवनशब्दायमानकपोतप्रिय-शबरवधूमित्रभूता इमा विन्ध्यपर्वतमाला दर्शकलोचने तर्पयन्तीत्यर्थः । 'जलप्राय-मनूपं स्यादि'त्यमरः । मालिनीवृत्तम् ॥ २७ ॥

समन्तादिति । समन्तात् सर्वतः उन्मीलन्तीनां प्रसरणशीलानां बहलानां बहुसंख्यानाम् लहरीणां तरङ्गाणां लङ्घनकलया अतिक्रमणक्रियया लघु क्षिप्रं प्रेङ्खन् सञ्चरणशीलो यः पम्पानिलः पम्पासरोवरवायुस्तेन विदलन्तीभिः विक-सन्तीभिः एलाभिः सुरभयः सुगन्धपूर्णाः, अमी विपिनविनिवेशाः वनप्रदेशाः अविद्यावदेहीशतस्य मिथ्याकल्पितसीताशतस्य लिपिकरीणां सर्वासु दिक्षु सीतामेव भावयित्वा चित्रयन्तीनाम् मम धियां बुद्धीनाम् हस्तालम्बं साहायकं विदधते । सर्वतो विसृमरबहलतरङ्गावलीसञ्चरणप्रेरितपम्पासरोवातसम्पर्कविकम्पितैलाकुसुम गन्धपूर्णा अमी विन्ध्यवनप्रदेशाः सर्वतः भावनोपनीतसीताचित्रनिर्माणपरायणाया

कपोतमें स्नेह करनेवाली शबरियोंके प्रिय यह विन्ध्य पर्वतके प्रदेश आनन्द उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥

राम—(चारों ओर देखकर, सखेद) मिथ्या वैदेहीकी कल्पना करनेवाली हमारी बुद्धिको यहाँके वनसन्निवेश सहायता प्रदान कर रहे हैं जो वनसन्निवेश चारों ओर प्रसारित होने वाला तरङ्गोंको लांघकर धीरे धीरे बहनेवाला वायुसे विकसित एलाकी सुगन्धियोंसे परिपूर्ण हैं ॥ २८ ॥

---

1. 'जाम्बवनी' । 2 'विन्ध्यपादा' ।

लक्ष्मण.—आर्य, इतस्तावत्।

भयभ्रष्टप्रेयोविरहनिरहंकारहरिणी-
मुखालोकोन्मीलद्गुरुकरुणरुग्णां सहचरीम्।
विलोक्य म्लेच्छन्तीमलमलमिति [1]प्राक्प्रणिहितं
शरव्याल्लुब्धानां हृदयमपराद्धं न तु शराः॥ २९॥

राम —(सास्रम्।) हा देवि जानकि,

मारीचमृगयाव्यग्रे मयि प्राप्ते च रावणे।

नम धिय सहायतामिव कुर्वन्ति, इमान् वनोद्देशान् निरीक्ष्याहमनवरतं सीत-मेव भावयन् दशापि दिशः सीतामयीः पश्यामीति तात्पर्यम्। शिखरिणी वृत्तम्॥ २८॥

भयभ्रष्टेति। भयेन भ्रष्टस्य पलायितस्य प्रेयसः प्रियतमस्य विरहेण निरहङ्कारा गतगर्वा विषादयुक्ता या हरिणी मृगी तस्याः मुखालोकेन दर्शनेन उन्मीलन् जायमानो यो गुरुर्महान् करुणः शोको दया वा तेन रुग्णा व्यथमानमानसाम् अलम् अलम्, मैव, मैनां हिंसीरिति म्लेच्छन्तीं चारुभाषया निषेधन्तीम् सह-चरीम् प्रियाम् विलोक्य दृष्ट्वा लुब्धानां व्याधानां हृदयं शरव्यात् लक्ष्यतः तात् तत्र प्राणिनः स्खलति अन्यत्र याति, शराः तत्सहिताः शराः बाणास्तु न स्खलन्ति नान्यत्र यान्ति तैरसौ प्राणी व्यापाद्यत एव तेषां पूर्वंसहित-तया लक्ष्यवेधस्यावश्य भावित्वादिति भावः। व्याधभयभ्रष्टसहचरविरहविषण्ण-मृगीमुखालोकोदयहृदयया प्रियया मैनां हिंसीरिति निषिध्यमानस्य व्याधस्य स्व-प्रियामुखमुदितकरुणं निरीक्ष्य हृदये ततो लक्ष्यादन्यत्र गामिनि सत्यपि पूर्वंसहिता-स्तच्छरा न लक्ष्यादपराद्धा भवन्तीति बोध्यम्। शिखरिणीवृत्तम्॥ २९॥

मारीचेति। मयि रामे मारीचमृगयाव्यग्रे काञ्चनमृगरूपधारिमारीचवधोद्यते

लक्ष्मण—आर्य, इधर देखिये,

भयसे भागे हुए प्रियतमके विरहसे दुःखिनी हरिणीके मुखको देखकर दयार्द्र होने-वाली अपनी सहचरीको देखकर भी उसके द्वारा प्रहार करनेके निषेधके किये जानेपर भी शिकारी शबरोंका हृदय लक्ष्यसे चूक जाता है परन्तु उनके बाण लक्ष्यसे नहीं चूकते॥२९।

राम—(साश्रु नयन होकर) हा देवि जानकि,

मैं जब मारीचकी शिकारमें चला गया और रावण आ पहुँचा, तब तुम्हारी आँखें

---

१ 'प्रणिहिताः'।

आसामिव कुरङ्गीणां तवोत्पश्यामि लोचने॥ ३० ॥

लक्ष्मणः—(स्वगतम् ।) क पुनरुपायो येन [1]विनोद्यते हृदय-मार्यस्य ।

(नेपथ्ये ।)

भो भो वनौकसः, कथयन्तु भवन्तः । [2]केनास्मत्कीर्तिकामिनीकेलि-चङ्क्रमणक्रीडापर्वतो विवर्तितोऽयं दनुराजकङ्कालकूटः ।

गुहः—(दृष्ट्वा । ससंभ्रमम् ।) देव, पश्य पश्य । कनकमय-सहस्रपत्रपुण्डरीकवैकक्षकप्रभापटलेन[3] दुन्दुभिकरङ्कव्यतिकरजन्मना च

गते रावणे च प्राप्ते उटजद्वारमागते सति तव लोचने नयने आसां व्याधहस्त-गतानां भयभ्रष्टपतिकानां च कुरङ्गीणां हरिणीनां लोचने इव कातरे सखेदे च उत्पश्यामि संभावयामि । यथामूपां मृगीणां नयने कातरे सखेदे च तथैव मयि मृगयार्थं दूरंगते रावणे च प्राप्ते सति तवापि नयने कातरे सखेदे चाभूतामिति मम संभावनेति भावः ॥ ३० ॥

विनोद्यते सान्त्वनां प्राप्यते ।

अस्मदिति । अस्माकं कीर्त्तिः बलवत्ताख्यातिरेव कामिनी वनिता तस्याः केलि-चङ्क्रमणं लीलाविहारः तदर्थं क्रीडापर्वतः कृत्रिमपर्वतः, विवर्त्तितः-विपर्यस्य विघटितः । दनुराजकङ्कालकूटः-दानवास्थिचयः । अयं कङ्कालकूटो मत्कीर्तिरूपाया नायिकायाः क्रीडाविहाररूपतया स्थितः केनाद्य विघटित इत्यर्थः ।

कनकेति । कनकमयानां स्वर्णमयानां सहस्रपत्रपुण्डरीकाणां सहस्रदलकमलानां वैकक्षिकं वक्षसि तिर्यग् न्यस्तं माल्यं तस्य प्रभापटलेन कान्तिसमूहेन । दुन्दुभेः दानवभेदस्य करङ्कः कङ्कालः तस्य व्यतिकरो विपर्यासः तज्जन्मना तदु-

भी इन्हीं हरिणियोंकी आंखोंके समान हो गई होंगी, ऐसी मैं सम्भावना करता हूं ॥३०॥

लक्ष्मण—कौन सा उपाय है जिससे आर्यके हृदयको बहलाया जा सके ।

(नेपथ्यमें)

हे वनवासियो, आप बतावें कि किसने हमारी कीर्त्तिकामिनीके क्रीडापर्वतरूप इस दनुराज कङ्कालराशिको उलट दिया है ?

गुह—(देखकर सभय) देव देखिये, कनकमय कमलकी कान्ति समुदायसे और दुन्दुभिनामक दैत्यके कङ्काल राशिके उलटाये जानेसे उत्पन्न कोपसे तिगुना रक्तवर्ण शरीर

१ 'विनोदयते'।　　२ 'कामिनीचङ्क्रमणकेलिपर्वत'।　　३ 'प्रभामण्डलेन'।

रोषरागेण त्रिगुणपिशङ्गी तनुमादधानः प्लवगराजोऽयमित एवाभिवर्तते।

पौलस्त्यावयवौघसंकटभुजामूलक्षणोन्मूलित-
द्वैराज्याममरावतीं कृतवते वीराय [1]यस्मै हरिः।
नित्यालोकनकौतुकव्यसनिनीः [2]शङ्के सहस्रं दृशः
पिण्डीकृत्य दलच्छलेन कनकाम्भोजस्रजं दत्तवान्॥३१॥

दितेन रोषरागेण कोपजनितलौहित्येन त्रिगुणपिशङ्गीम् त्रिधापिशङ्गवर्णाम्, (वानरस्य तनुः स्वतः पीतरक्ता पिशङ्गी, सा हि स्वर्णकमलमालया पुनः पिशङ्गीकृता पुनश्च सैव दनुकङ्कालविपर्यासजन्मकोपजनितलौहित्येन पिशङ्गीकृतेति त्रिधापिशङ्गी तत्तनुरत्र निर्दिष्टा) 'वैकङ्किक तु तत्, यत्तिर्यक् क्षिप्तमुरसि' इत्यमर। 'करङ्को मस्तकास्थिनि' इति च। प्लवगराजः—वानराधीशो वाली इत एवाभिवर्त्तते—एतदभिमुखमेवायाति॥

पौलस्त्येति। हरिः इन्द्रः पौलस्त्यस्य रावणस्य अवयवौघेन करचरणाद्यवयवसमुदायेन सङ्कटं व्याप्तं यत् भुजामूलं कक्षप्रदेशः तेन उन्मूलितम् समापितम् द्वैराज्यम् राजद्वयाधिकृतत्वं यस्यास्ता तथोक्ताम् अमरावतीं शक्रपुरीं कृतवते यस्मै वीराय वालिने नित्यालोकनकौतुकव्यसनिनीः पुत्रस्य वालिनः सर्वदा विलोकनाय कौतुकव्यसनिनीः समासक्ताः दृशः स्वीयनयनानि दलच्छलेन कमलदलव्याजेन पिण्डीकृत्य समाहृत्य कनकाम्भोजस्रजं कनककमलमाल्यं दत्तवान्। वाली रावणं कक्षे निधाय सप्तसु समुद्रेषु स्नानपूर्वकं सन्ध्यावन्दनमन्वतिष्ठत् तावत् कालपर्यन्तं स्वर्गस्य द्वैराज्यमपगतं, सति रावणे वहिःस्थे स्वर्गे शक्रस्य रावणस्य च समेऽधिकारे तत्र द्वैराज्यमिवासीत्, तदियतेऽपि कालाय स्वर्गे इन्द्रस्यैकाधिपत्यं स्थापयित्वा वाली स्वपितरं शक्रं सन्तोषितवान्, सन्तुष्टेन पित्रा वालिने कनककमलमाल्यं वितीर्णं शङ्के न तत्कनककमलमाल्यं किन्तु पुत्रदिदृक्षाव्याकुलानि इन्द्रस्य सहस्रं नयनान्येव मालाभावापन्नानि सन्तीति भावः॥३१॥

लिए यह वानरराज इधर ही आ रहे हैं।

रावणके अवयव समुदायसे व्याप्त भुजमूल वाला होकर इस बालीने कुछ देरके लिए स्वर्गको द्वैराज्य-भयसे मुक्त कर दिया था, इसीलिये इन्द्रकी हजार आँखें इस बालीको सतत देखते रहना चाहती थीं, तब इन्द्रने उन आँखोंको पत्र रूपमें परिणत करके सहस्र कमलका माल्य बालीके गले डाल दिया था॥ ३१॥

---

१. 'तस्मै'। २. 'मन्ये'।

[1]क्षणं च देवस्य महावीरसंवादगोष्ठीयमृष्यमूकयात्रामन्तरयिष्यति। [2]तदहमग्रतो गत्वा दिष्ट्या वर्धयामि सूर्यतनयम्।

रामः—एवमस्तु।

गुहः—वाचिकं पुनरेतावत्कुमारसुग्रीवस्य यत् 'मित्रपर्यायान्तरितं देवस्य दास्यमिच्छामि' इति।

रामः—(अपवार्य।) वत्स लक्ष्मण, एवमाह वयस्यस्ते गुहः। किं च [3]मन्त्रोत्साहसंपन्नानामपि प्रभुशक्तिमपेक्षन्ते सिद्धयः। तदहं वालि-

महावीरसंवादगोष्ठी—वीरेण वालिना सह वार्त्तालापः। ऋष्यमूकयात्रामन्तरयिष्यति—विलम्बयिष्यति॥

दिष्ट्या सौभाग्येन, रामस्त्वया सह मिलितुमागच्छतीति सौभाग्यसूचनयेत्यर्थः। वर्धयामि सौभाग्यभाजं करोमि। सूर्यतनयम् सुग्रीवम्।

वाचिकम् सन्देशवाक्। मित्रपर्यायान्तरितम् मित्रशब्दनिगूढम्। देवस्य भवतः। कुमारसुग्रीवः सन्दिशति यदहं भवतो रामस्य दास्यं कामये, यद्यपि मम दास्यं मित्रतया निगूहितं स्थास्यति तथापि मनसाऽहं दासः स्थास्यामीति भावः।

एवमाह—पूर्वोक्तस्वरूपं सुग्रीवसन्देशं कथयतीत्यर्थः। मन्त्रोत्साहसम्पन्नानां मन्त्रशक्त्या उत्साहशक्त्या च युक्तानाम्। सिद्धयः साफल्यानि। प्रभुशक्तिम्—कोषदण्डजं तेजः। अपेक्षन्ते स्वजन्मनि कारणतयेच्छन्ति। मन्त्रोत्साहशक्ती यद्यप्यस्मासु विद्येते परं प्रभुशक्तिर्नास्ति, न च तामन्तरा कार्यं सिद्ध्यति, सिद्धेः शक्तित्रितयजन्यत्वात् अतो मया सुग्रीवेण सन्धिं कृत्वा यदि प्रभुशक्तिरासादिता भवति

क्षणभर आपको इस वीरके संवादमें चित्रकूट यात्राके प्रति विघ्न होगा। अतः मैं आगे बढ़कर सूर्यपुत्रको सौभाग्य सूचनासे अभिवर्द्धित करता हूं।

राम—यही हो।

गुह—कुमार सुग्रीवने इतना मौखिक संवाद भी कहा था कि मैं रामका मित्र शब्दमें छिपा दास्य प्राप्त करना चाहता हूँ।

राम—(छिपाकर) वत्स, तुम्हारा मित्र गुह इस तरह कह रहा है। मन्त्रोत्साह सम्पन्न होनेपर भी सिद्धिके लिए प्रभुशक्तिकी अपेक्षा होती है। अतः मैं बालिके स्थान-

१ 'क्षणं च वीरसंवाद–'। २. 'तदयम्'। ३ 'मन्त्रोत्साहशक्ति–'।

स्थाने [1]सुग्रीवमभिषिच्य तत्कोषदण्डाभ्यां समग्रशक्तिर्वैरपारं गन्तुमिच्छामि।

लक्ष्मणः—(सस्मितम्।) यद्येवमुपयुज्यमानमिन्द्रसूनुमुपेक्ष्य सुग्रीवेणोपयोक्ष्यमाणेन संधिरिति वक्रः खल्वयं पन्थाः।

रामः—(सस्मितम्।) वत्स, [2]साध्वेव ब्रवीषि। किं तु।

दृप्यत्पौलस्त्यकण्डूभिदुरभुजभरोष्मायमाणः कपीन्द्रो
नायं नः संदधीत क्वचिदपि हि विधौ नैव साहाय्यकामः।
सोऽहं [3]सुग्रीवमेतद्दमनदृढतरं मित्त्रमिच्छामि पश्चात्

तदा सिद्धिः सुलभा निश्चिता चेति। वालिस्थाने वालिनाऽधिष्ठिते राज्ये। तत्कोषदण्डाभ्याम्—सुग्रीवस्य धनेन सैन्येन च। समग्रशक्तिः पूर्णशक्तिः, मन्त्रोत्साहप्रभावाख्यशक्तित्रययुक्तः। वैरपारं गन्तुमिच्छामि वैरं शोधयितुं कामये।

यद्येवम्—यदि भवान् प्रभुशक्तिं लब्ध्वा सुग्रीवेण सन्धिं करोति तदा। उपयुज्यमानम् सम्प्रत्येव प्रभुशक्तिं समर्पयितुं क्षममाणम्। इन्द्रसूनुम्—वालिनम्। उपयोक्ष्यमाणेन लब्धे राज्ये प्रभुशक्तिं दातुं समर्थीभविष्यता। वक्रः कुटिलः। वाली सम्प्रति सहायतां कर्तुं प्रभुः, तं विहाय पश्चात्सहायतां कर्त्तुं क्षस्यमानेन सुग्रीवेण सन्धिः कुटिलो मार्गः चिरेण लक्ष्यप्रापणादिति भावः।

दृप्यदिति। दृप्यतः सगर्वस्य पौलस्त्यस्य रावणस्य कण्डूतिभिदुरः रणकण्डूतिविनाशको यो भुजभरः बाहुबलम् तेन ऊष्मायमाणः तेजःशाली अयं कपीन्द्रो वाली नः अस्मान् न सन्दधीत न सन्धिना गृह्णीयात्, हि यतः वाली क्वचिदपि विधौ कुत्रापि कार्ये नैव साहाय्यकामः सहायतां नापेक्षते, सोऽहं वालिनः साहाय्यनिरपेक्षतया सन्धातुमशक्यत्वेन एतस्य वालिनो दमनेन विनाशनेन दृढतरं बलवन्तम् सुग्रीवम् मित्रमिच्छामि मित्रं कर्त्तुमिच्छामि,

पर सुग्रीवका अभिषेक करके सुग्रीवके कोष तथा दण्डसे पूर्ण शक्ति बनकर वैरका पार पाना चाहता हूँ।

लक्ष्मण—यदि यही बात है तो वर्त्तमानमें सहायक हो सकने वाले बालीको छोडकर भविष्यमें सहायक हो सकने वाले सुग्रीवके साथ सन्धि करना तो टेढा रास्ता है।

राम—(हँसकर) वत्स तुम भी ठीक ही कहते हो, किन्तु—

दर्पपूर्ण पौलस्त्यकी खुजलाहटको दूर करनेवाले भुजोंसे युक्त यह बालि हमसे सन्धि

१ 'आधाय'। २. 'साध्वेव'। ३ 'दृढतम'।

पारस्त्रैणेयपुत्रव्ययशिथिलशुचं [1]शक्रमाराधयामि ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण.—[2]'साधुदर्शिनी बुद्धिरार्यस्य। किं च विधूतशापेन दनुनापि देवभूयं [3]गतिमभिलम्भितेन सदिष्टमार्यस्य यथा 'अस्य निषादपतेर्वचसि देवेनावधातव्यम्' इति।

राम—तद्गुहोऽपि प्रतिदूत्यमर्हति।

लक्ष्मण.—(गुह प्रति।) वयस्य, एवमस्मद्गिरा सुग्रीवो वक्तव्य—

पश्चात् सुग्रीवमैत्रीद्वारा स्वकार्यं साधिते सति पारस्त्रैणेयस्य परकीयस्त्रिया लब्धजन्मन पुत्रस्य व्ययेन विनाशेन शिथिलशुच घ्रताल्पशोक शक्रम् इन्द्रम् आराध यामि परमार्थबोधनद्वारा प्रसादयामि। रावणविजयसगर्वस्यास्य वालिन क्वापि विषयं मत्साहाय्यानपेक्षतया सन्धातुमशक्यतया बालिनिग्रह कृत्वा बलवत्तरीकृत कृत्वा प्रभुशक्तिसम्पत्तिमवाप्याह सम्प्रति रावणेन सह जात वैर निर्यातयितुमिच्छामि, पश्चाच्च वास्तविकपरिस्थितिबोधनद्वारा परस्त्रीगृहीतजन्मन पुत्रस्य बालिनो वधेन किञ्चित् कुपित शक्र प्रसादयिष्यामीति भाव, 'पारस्त्रैणेयस्तु परस्त्रिया' इत्यमर ॥ ३२ ॥

साधुदर्शिनी यथावद्वस्तुसाक्षात्कारकरी। आर्यस्य रामस्य बुद्धि। विधूतशापेन लक्ष्मणास्त्रद्वारा निवृत्तशापेन। दनुना तदाख्यराक्षसेन देवभूयम् देवत्वम्। गतिमभिलम्भितेन मरणोत्तरकालभाविस्वरूप गति ता प्रापितेन। आर्यस्य भवतो रामस्य सन्दिष्टम् वाचिकमुक्तम्। अवधातव्यम् ध्यान दातव्यम्।

प्रतिदूत्य प्रतिदूतकर्म। यथा सुग्रीवम् इम दूतभावेन प्रेषितवान्, तथाऽहमपि इममेव सुग्रीवं प्रति प्रतिदूतभावेन प्रेषयामीत्यर्थ।

नहीं करना चाहेगा, क्योंकि उसको हमारी सहायता अपेक्षित नहीं है। अत मैं चाहता हू कि इसके दमनसे दृढ हो जानेवाले सुग्रीवको मित्र बना लूँ, पीछे परस्त्री-गर्भोत्पन्न पुत्रके मरणसे दु खी इन्द्रको प्रसन्न कर लूगा ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—आर्य, आपकी बुद्धि ठीक सोचती है। शापके समाप्त हो जाने पर देवत्वको प्राप्त करके उस दनुराक्षसने भी आपको सवाद कहा था कि आपको निषादपतिकी वार्तोपर ध्यान देते रहना चाहिये।

राम—तब हमको गुहको प्रतिदूतके रूपमे भेजना चाहिये।

लक्ष्मण—(गुहसे) वयस्य, हमारी ओरसे तुम सुग्रीवसे यह कहना—

---

१ 'आराधयाव,' 'आराधयाम'। २. 'साधुदर्शनीया'। ३ 'गतिं लम्भितेन'।

पिताऽयं रेतोधास्तव तरणिरस्मत्कुलगुरु-
मनुर्वैमात्रेयस्तदपि सहजं मित्त्रमसि नः।
अथापि ज्ञातेयं शिथिलयसि [1]कापेयचपलः
शरास्तन्मे वालिक्षतजरसलोला प्रतिभुवः॥ ३३॥

रामः—(विहस्य ।) वत्स [2]गुह, एष खलु पौलस्त्यगतेनामर्षेण धूमायमानो यया कयाचिद्वाचा सौमित्रिरभिदधातु नाम। सततसमिध्यमानजानकीविरहवैश्वानरेण रामचेतसा पुनरग्निसाक्षिकमेव सुग्रीवो मित्त्रमभ्युपगतः।

पिताऽयमिति। अस्माकं कुलगुरुः अस्मद्वंशप्रवर्त्तकः अयं तरणिः सूर्यस्तव रेतोधाः वीर्याधानकर्त्ता पिता, मनुः अस्मत्पूर्वपुरुषः तव वैमात्रेयः विमातृगर्भजो भ्राता, तत् त्वं नः अस्माकं सहजं स्वाभाविकं मित्रम् बन्धुः असि, समानवंशजातस्य तव मया सह स्वाभाविकं बन्धुत्वमस्तीति मम कार्यविषये त्वया सम्प्रत्युपक्रियमाणेनावश्यमवधातव्यमित्यर्थः। अथापि कापेयचपलः कपिस्वभावचञ्चलः सन् यदि ज्ञातेयं ज्ञातिभावं सम्बन्धिकर्त्तव्यं शिथिलयसि त्यजसि तत् तदा मे मम वालिनः क्षतजस्य शोणितस्य रसे आस्वादे लोलाः लुब्धाः शराः प्रतिभुवो लग्नकाः। यदि स्ववश्यो मया सम्प्रत्युपकृतश्च त्वं कपिस्वभावोपनतचापल्येनास्मत्कार्येऽनवधानमाचरसि तदा वालिशोणितपानलुब्धा मम शरास्तवापि दशां वालिनो दशामिव विधास्यन्तीति भावः। 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः। ज्ञातेयं बन्धुता तेषां क्रमाद् भावसमूहयोः' इत्यमरः॥ शिखरिणीवृत्तम्॥ ३३॥

पौलस्त्यगतेन—रावणविषयकेण। अमर्षेण कोपेन। धूमायमानः—धूममुद्गमन् कोपवशादुद्रिक्तभावः, विवेकपथात्सभावितच्युतिः। यया कयाचिद्वाचा—किमपि वक्तव्यमवक्तव्यं वा। अभिदधातु कथयतु। सततम् अनवरतम्, समिध्यमानः—प्रज्वलन्, जानकीविरहः सीतावियोग एव वैश्वानरः अग्निर्यत्र तथाभूतेन। रामचेतसा रामस्य हृदयेन, लक्ष्मणो रावणे कोपेन यथा तथा ब्रूतां नाम परमहन्तु

तुम्हारे वीर्यदाता पिता हमारे कुलगुरु हैं, मनु तुम्हारे वैमात्रेय भाई हुए, अतः तुम हमारे सहज मित्रोंमें हो। फिर भी यदि कपि-स्वभाव चापल्यसे तुम ज्ञातिभावको शिथिल करोगे तो बालिके रुधिरसे रञ्जित हमारे शर इसके न्यायकर्त्ता होंगे॥ ३३॥

राम—(हसकर) वत्स गुह, रावणविषयक कोपसे प्रज्वलित हृदय यह लक्ष्मण

---

१. 'तरलः'। २ 'वयस्य'।

गुहः—(सहर्षम् ।) परमनुगृहीतोऽसौ देवेन विकर्तनतनयः (सपरिहासस्मितं च ।)

सुग्रीवे यदि पक्षपातमधुरं देव त्वदीयं मनः
किं नस्तेन विदांकरोतु भगवानम्भोजिनीवल्लभः ।
नव्येनात्मजराज्यलाभरभसोद्भूतेन यस्तेजसा
पूर्वस्मादधिकेन दुःसहतरो लोकेषु वर्तिष्यते ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणः—(विहस्य ।) कथं तपनतनयस्य राज्यमङ्गीकारिता वयं वयस्येन ।

सीतावियोगाग्निं मनसि प्रज्वलन्तं साक्षिणं कृत्वा सुग्रीवं मित्रं स्वीकृतवानित्यर्थः । परमनुगृहीतः अत्यनुकम्पितः । विकर्त्तनतनयः सूर्यपुत्रः सुग्रीवः ।

सुग्रीव इति । हे देव, त्वदीयं मनो यदि सुग्रीवे पक्षपातमधुरम् स्नेहशालि न अस्माकम् तेन किम्—तत्र किमस्माभिः कर्त्तव्यम्, तत् तव सुग्रीवस्नेहम् भगवान् सर्वसमर्थः अम्भोजिनीवल्लभः कमलिनीकुलप्रियः सूर्यः विदाङ्करोतु जानातु । यः सूर्यः नव्येन अभिनवेन आत्मजस्य पुत्रस्य राज्यलाभरसेन राजपदप्राप्तिजन्मनानन्देन उद्भूतेन सञ्जातेन पूर्वस्मात् अधिकेन पूर्वतः समधिकेन तेजसा दुःसहतरः अतितीव्रः लोकेषु वर्त्तिष्यते जास्यते । यदि त्वं सुग्रीवे स्निग्धमन्तःकरणं बिभर्षि, तत्रास्माकं किमपि नास्ति कर्त्तव्यमिदं तु पश्यतु स भास्करः यः पुत्रस्य राज्यलाभेन द्विगुणिततेजाः सन् सम्प्रति दीपिष्यते, इत्यर्थः, एतेन रामसुग्रीवसख्ये सूर्यस्य साक्षिभावस्तत्र च सुग्रीवराज्यलाभः फलमिति वस्तु व्यञ्जितं बोध्यम् ॥ ३४ ॥

तपनतनयस्य सूर्यपुत्रस्य सुग्रीवस्य । अङ्गीकारिता प्रतिज्ञापिता । सुग्रीवाय

चाहे जिन शब्दोंमें कहें, हमने तो अपने हृदयमें सतत ज्वलित सीता-विरहानलको साक्षी करके सुग्रीवको मित्र बना लिया ।

गुह—(सहर्ष) आपने सूर्यपुत्रके साथ बड़ी कृपा की । (परिहासकी हँसीके साथ)

यदि आपका हृदय सुग्रीवके ऊपर प्रेमसे भरा है तो इससे हमको क्या, जानें भगवान् सूर्य जो पुत्रके नवीनराज्य लाभसे समृद्ध तेजके द्वारा पहलेकी अपेक्षया अधिक उग्ररूपमें अब तपा करेंगे ॥ ३४ ॥

लक्ष्मण—(हँसकर) हमारे इस मित्रने किस प्रकार सुग्रीवके राज्यलाभकी स्वीकृति हमसे ले ली ।

रामः—(सस्मितम् ।) वत्स गुह, न तावत्प्रकाशमेवं प्रतिशुश्रूषति मे हृदयम् ।

गुहः—(सप्रश्रयस्मितम् ।) स्वामिन्, इयमेव [1]महतां शैली ।

सन्तो मनसि [2]कृत्यैव प्रवृत्ताः कृत्यवस्तुनि ।
कस्य प्रतिशृणोति स्म कमलेभ्यः श्रियं रविः ॥ ३५ ॥

(नेपथ्ये ।)

भो भो वनौकसः, कथयन्तु भवन्तः । दुन्दुभिकरङ्कविक्षेपसंभाव्यमानगम्भीरावष्टम्भनिर्भरेण केनास्माकमिय चिरस्य भुजकाण्डकण्डूतिरपनेष्यते ।

राज्यं दास्यामः इति प्रतिज्ञा लम्भिता ॥

प्रकाशम् प्रकटम् । प्रतिशुश्रूषति प्रतिज्ञां कर्त्तुमिच्छति, मनसि सङ्कल्पितस्यार्थस्य प्रकटप्रतिज्ञां कर्त्तुं वैयर्थ्यान्नेच्छति ।

सन्त इति । सन्तः साधवो जनाः मनसिकृत्य हृदये सङ्कल्पं कृत्वा एव कृत्यवस्तुनि स्वकर्त्तव्ये प्रवृत्ताः तत्परा भवन्ति, रविः कमलेभ्यः श्रियं लक्ष्मीं कस्य जनस्य पुरः प्रतिशृणोति अङ्गीकरोति स्म । यथा सूर्यो विनैव प्रतिज्ञां कमलकुलाय लक्ष्मीं वितरति, तथैव भवानपि सुग्रीवाय विनैव प्रकटप्रतिज्ञां राज्यलक्ष्मीं वितरिष्यतीति भावः । विशेषेणात्र सामान्यं समर्थितमित्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

दुन्दुभीति । दुन्दुभेः दानवेन्द्रस्य करङ्कविक्षेपेण अस्थिकूटविपर्यासद्वारा गम्भीरः महान् अवष्टम्भनिर्भरः स्वपराक्रमविश्वस्तः तेन । भुजकाण्डकण्डूतिं भुजस्थिता

राम—(हँसकर) वत्स गुह, हमारा हृदय प्रकट रूपमें इस तरहकी प्रतिज्ञा नहीं करना चाहता है ।

गुह—(नम्रताके साथ हँसकर) स्वामिन्, यही तो बड़ोंकी शैली होती है,

सज्जन, अपने कर्त्तव्यको मनमें रखकर ही काममें लगते हैं, सूर्यने कमलोंको शोभा प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा किसके सामने की थी ? ॥ ३५ ॥

(नेपथ्यमें)

हे वनवासियो, आप कहें कि दुन्दुभि-कङ्कालके विक्षेपसे सम्भाव्यमान गम्भीर पराक्रमशाली कौन वीर हमारी चिरकालिक भुजकण्डूको दूर करेगा ?

---

१. 'वो महतां' । २ 'कृत्वैव' ।

गुह:—(स्वगतम् ।)

मन्ये दर्पामयाविभ्यां नित्यं दोर्भ्याममर्षण ।
[1]जाम्बवत्प्रेरणादीत प्राप्तोऽयं प्लवगेश्वरः ॥ ३६ ॥

तदहमपि वीरयात्रादर्शनसुख मुहूर्तमनुभवामि ।

(प्रविश्य ।)

वाली—([2]पुरोऽवलोक्य ।) अये, प्रसन्नोज्ज्वलाकृती कावेतौ । नियतमाभ्यामेकेन दानवनाथकङ्कालोत्क्षेपनिमित्तेन भवितव्यम् । (स्मृतिमभिनीय । सवितर्कम् ।) आ सदिष्टमस्मासु प्रियसुहृदा लङ्केश्वरेण । यथा—

'प्रक्लृप्तकान्तारकुमारभक्तिर्दौर्भागिनेयो जनकेन मुक्त ।

रणलिप्सा । कोऽय दनुकङ्काल विपर्यस्त कृत्वा स्वभुजसार प्रकाश्य मम युद्धाभिलाष पूरयितुमिच्छतीत्याशय ॥

मन्ये इति । दर्पामयाविभ्याम् अहङ्काररूपेण रोगेण ग्रस्ताभ्याम् दोर्भ्याम् निज बाहुभ्याम् नित्यम् सदा अमर्षण धृतकोप जाम्बवतो नाम मन्त्रिण प्रेरणया अनुशासनेन दीप्त• प्रज्वलितश्च सन् अयम् प्लवगेश्वरो वाली प्राप्त समागत इति मन्ये सभावयामि ॥ ३६ ॥

वीरयात्रादर्शनसुखम् वीराणा युद्धप्रयाणावलोकनजन्यमानन्दम् ।

प्रसन्नोज्ज्वलाकृती सौम्यतेजस्विनौ । नियतम् निश्चयेन । दानवनाथकङ्कालोत्क्षेपनिमित्तेन दन्वस्थिकूटविपर्यासकारिणा । अनयोरेवैक• कोऽपि तदस्थिकूट विपर्यस्त कृतवानिति निश्चितमिति भाव ।

प्रक्लृप्तेति । प्रक्लृप्ता मनसि धृता कान्तारे वने कुमारे सुग्रीवे च भक्ति अनुरागो येन तादृश वनवासप्रिय सुग्रीवानुरक्तश्चेत्यर्थ, दौर्भागिनेय दुर्भगाया• पत्युर-

---

गुह—(स्वगत) मालूम पडता कि दर्प रोगके रोगी अपने भुजोंसे अमर्षण यह वानरराज जाम्बवान्‌से प्रेरित होकर यहाँ आ गया है ॥ ३६ ॥

वाली—(आगे देखकर) प्रसन्न उज्ज्वल आकारवाले यह दोनों कौन हैं ? निश्चय इन्हीं दोनोंमें से किसी एकने दनुकबन्धको उलटा होगा । (याद करके, वितर्कके साथ) आ', हमारे सुहृद् लङ्कापतिने सवाद दिया था, —

'जङ्गल तथा सुग्रीवकी भक्ति करनेवाला, अभागी माताका बेटा, पिता द्वारा त्यक्त,

---

1. 'प्रेरणात्' । 2 'अवलोक्य च' ।

मनुष्यसामन्तसुतो निषङ्गी सहानुजस्तिष्ठति दण्डकायाम् ॥३७॥

तौ चास्माकं तत्र विहारिषु निशाचरेषु पाटच्चरीं वृत्तिमातिष्ठमानौ भवद्भि प्रतिकर्तव्यौ' इति। [1]तत्किमयमय च तौ स्याताम्।

रामः—वत्स लक्ष्मण, [2]शृणु। किमय ब्रवीति। महावीर'।

लक्ष्मण —(किंचिदुपसृत्य।) [3]इत आवाम्। इत इतो भवान्।

वाली—[4]भो कावेतौ युवाम्।

लक्ष्मणः—महाभाग, राघवौ क्षत्रियावावाम्।

वाली—आयुष्मन्, आकारविशेषा एव [5]गमयन्ति जातिविशेषान्। तद्विशेष ब्रूहि।

प्रियाया कौसल्याया पुत्र जनकेन पित्रा दशरथेन मुक्त परित्यक्त, मनुष्याणा मामन्तस्य राज्ञो दशरथस्य सुत पुत्र निषङ्गी धनुर्धर सन् सहानुज कनिष्ठभ्रात्रा सहित दण्डकाया तदाख्ये कानने तिष्ठति। एतत्सन्देशवचनम् ॥ ३७ ॥

तत्र दण्डकायाम्। विहारिषु यथारुचि व्यवहरत्सु। पाटच्चरीम् दास्यवीम् वृत्तिम्। आतिष्ठमानौ कुर्वन्तौ। प्रतिकर्त्तव्यौ प्रतिविधेयौ, हन्तव्यौ।

दशरथसुतौ दण्डकावनवासिनो राक्षसानुत्पीडयिष्यतस्तौ त्वया मन्मित्रेण वालिना दमनीयावित्ययमर्थो रावणेन मयि वालिनि सन्दिष्टमासीदिति भाव ॥

राघवौ-रघुवंशजातौ।

आकारविशेषा -विशिष्टा आकारा। गमयन्ति-बोधयन्ति, अतो भवदीयजातेराकारेणैव मया प्रतिपन्नतया न तदुक्तिर्युक्ता तव, विशेष पृष्टस्त ब्रूहि इत्याशय।

धनुर्धर, नरराजका पुत्र अपने छोटे भाईके साथ दण्डका वनमें वास कर रहा है ॥ ३७ ॥

वे दोनों वहाँ रहनेवाले हमारे राक्षसोंके प्रति लुटेरेकी वृत्ति धारण करेंगे, अत तुम उनका प्रतिकार करना'। तो क्या वे दोनों यही हैं ॥

राम—वत्स लक्ष्मण, सुनो तो, यह वीर क्या बोल रहा है।

लक्ष्मण—(थोडा समीप जाकर) हम दोनों इधर हैं, आप इधर आइये।

बाली—अजी, तुम दोनों कौन हो?

लक्ष्मण—महाभाग, हम दोनों रघुवशी क्षत्रिय हैं ॥

बाली—आयुष्मन्, आकार विशेष ही जाति-विशेषका ज्ञान करा देते हैं, विशेष कहो,

---

१ 'अनयो'। २. 'शृणु' इति क्वचिन्नास्ति।
३ 'इत इत.'। ४ 'भो भो'। ५ 'अवगमयन्ति'।

लक्ष्मणः—ननूक्तमेव राघवावावाम् ।

बाली—(साभ्यसूयमिव ।) आः,

> वपुरपि विवृणोति क्षत्त्रतां को विशेषो
> 　रघुषु यदभिधत्से राघवावित्यभीक्ष्णम् ।
> परिकलयितुमिष्टं नाम सांस्कारिकं वा-
> 　महह कथमपत्यप्रत्ययान्निश्चिनोमि ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणः—([1]सधैर्यसम्भ्रमम् ।) भोः, आवां तौ रामलक्ष्मणौ ।

बाली—(सविमर्शमात्मगतम् ।) कथं 'तौ' इति सर्वनामपदेन प्रसिद्धावित्याह । तत्किमनयोरे[2]वान्यतरः पिनाकधन्वनो दमयिता । सोऽपि रामभद्रो रामः स्यात् । भवतु । एवं तावत् । (प्रकाशं विहस्य ।)

वपुरपीति । वपुः अपि शरीरमेव क्षत्त्रताम् क्षत्रियजातिसमुत्पन्नताम् विवृणोति प्रकाशयति, तदलं क्षत्रियत्वोक्त्येत्यर्थः । यत् अभीक्ष्णम् सततम् 'राघवौ' इति अभिधत्से कथयसि तत् पृच्छामि रघुषु को विशेषः कीदृशी विलक्षणताऽस्ति ? रघुषु वैलक्षण्यविरहेण तदभिधानमपि ममाग्रे न विशेषाधायकमित्यलं तदुक्त्यापीत्यर्थः । वाम् युवयोः सांस्कारिकं पित्रा नामकरणसंस्कारकाले गृहीतं नाम परिकल्पयितुं मया ज्ञातुमिष्टम् अभिलषितम्, अहहेति खेदे, अपत्यप्रत्ययात् रघोरपत्यं भवानित्युक्तिमात्रेण कथं निश्चिनोमि अवधारयामि । विशेषप्रतिपित्सायाः सामान्योत्तरश्रवणेनाभावेन न शान्ता मम जिज्ञासेति भावः, मालिनीवृत्तम् ॥ ३८ ॥

तौ प्रसिद्धौ ।

पिनाकधन्वनः—पिनाकाख्यस्य हरधनुषो, दमयिता—भञ्जकः, अथवा पिनाक

लक्ष्मण—कह तो दिया कि हम रघुवंशी हैं ।

बाली—(क्रोधसे) आः, देहही क्षत्रियत्व बता रही है, रघुओंमें क्या विशेषता है कि बार बार अपनेको राघव कह रहे हो ? तुम्हारे संस्कार द्वारा दत्त नाम जानना चाहता हूं, उसको अपत्य-प्रत्ययसे कैसे निश्चित कर सकता हूं । ३८ ।

लक्ष्मण—(धैर्यपूर्वक) हम दोनों वेही राम-लक्ष्मण हैं ?

बाली—(सविचार स्वगत) क्यों, सर्वनामपदके द्वारा प्रसिद्ध व्यक्ति कर रहा है, तो क्या इन दोनोंमें से ही एक पिनाक-धनुषका भञ्जनकर्त्ता है ? वही रामभद्र राम है क्या ? अस्तु, (प्रकट हंसता हुआ)

---

१. 'सम्भ्रमम्' ।　　२. 'एव' इति क्वचिन्नास्ति ।

एको वेषपरिग्रहः परिकरः साधारणः कर्मणा-
माकृत्योर्मधुरत्वमेव सदृशं तुल्यैव गम्भीरता।
तद् द्रष्टुं चिरमुत्सुकोऽस्मि कतरो वां रामभद्रः पुनः
सर्वक्षत्त्रवधव्रती भृगुपतिर्येनावकीर्णीकृतः॥ ३९ ॥

लक्ष्मणः—(सविनयमिव ।) आर्य [1]साक्रन्दने, लक्ष्मणस्तावदहम्।

बाली—[2]अयमप्यपरो दाशरथिः कौशिकान्तेवासी रामः।

लक्ष्मणः—अथ किम्।

बाली—(सहर्षोल्लासम् । किंचिदुच्चैः ।) भो रामभद्र,

एष त्रैवर्ण्यमात्रव्यवसितजगतो भार्गवस्यास्त्रगर्भा-

धनुर्यस्य तस्य शिवस्य दमयिता अवमन्ता तद्धनुर्भञ्जनमत्र तद्दमनम्।

एक इति। वेषस्य जटावल्कलादेः परिग्रहः ग्रहणं धारणम् एकः तुल्यः, कर्मणां धनुर्धारणादीनाम् परिकरः सन्नाहः साधारणः अविभिन्नरूपः, आकृत्योः शरीरावयवसमुदाययोः मधुरत्वम् मनोहरत्वम् सदृशम् तुल्यमेव, गम्भीरता दुरवगाहप्रकृतिता तुल्या समाना एव, पुनः किन्तु येन रामेण सर्वक्षत्त्रवधव्रती सर्वक्षत्त्रियवधव्रतधरः भृगुपतिः परशुरामः अवकीर्णी भ्रष्टक्षत्त्रवधव्रतः कृतः स रामभद्रः वां युवयोर्मध्ये कतरः कः ? तद् द्रष्टुं विविच्य ज्ञातुम् चिरम् बहुकालात् उत्सुकः उत्कण्ठितोऽस्मि सर्वथा समयोर्युवयोः परशुरामविजेता रामः कतर इति विशिष्य ज्ञातुमुत्सुकस्य ममौत्सुक्यं शमयेति भावः। 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः ॥ ३९ ॥

साङ्क्रन्दने सङ्क्रन्दनस्य इन्द्रस्य पुत्र।

एष त्रैवर्ण्येति। त्रयाणां ब्राह्मणवैश्यशूद्राणां वर्णानां समाहारस्त्रैवर्ण्यं तत्र

तुम दोनोंके वेष, कार्य, आकृतिगत माधुर्य, गम्भीरता आदि सब एक-सा ही है, अतः मैं यह जाननेको आतुर हो रहा हूँ कि तुम दोनोंमें राम कौन है जिसने सर्वक्षत्रिय संहारव्रती परशुरामको क्षतव्रत बना दिया॥ ३९ ॥

लक्ष्मण—(नम्रताके साथ) आर्य इन्द्रपुत्र, मैं लक्ष्मण हूं।

बाली—तो यह रहा कौशिकका चेला राम।

लक्ष्मण—और क्या ?

बाली—(हर्षोल्लासके साथ, कुछ उच्च स्वरसे) अजी रामभद्र,

मेरा आज सुप्रभात है कि संसारसे क्षत्रियजातिका लोप कर देने वाले भार्गवके अस्त्र

---

१. 'सांक्रन्दनेय'। २ 'अथायमपरः'।

द्राक्कृष्टक्षत्त्रजातिस्त्वमसि पथि गिरामद्य न सुप्रभातम् ।
कक्षोष्मस्वेदसद्यःशमितदशमुखास्फोटकण्डूविकारो
'वीरश्राद्धो भुजस्त्वां परिचरतु चिरं चक्षुषी नन्दतां च ॥ ४० ॥

राम —(दृष्ट्वा सहर्षम् ।) स एष महाबाहुः सक्रन्दनसूनुः ।

येन वीरेण गुप्तायां किष्किन्धायामियं मही ।
रावणाभिभवक्लान्ता 'शश्वदुच्छ्वासमश्नुते ॥ ४१ ॥

व्यवसित व्यवस्थापित जगद् येन तादृशस्य क्षत्रियजातिममापनेन भुवन वर्णत्रय-मात्राश्रय कृतवत , भार्गवस्य परशुरामस्य अङ्कगर्भात् कुठाररूपास्त्रभागाभ्यन्तर-भागात् आकृष्टा वहिर्निस्सारिता क्षत्रजाति येन तादृश भार्गवपरशुनिर्लीनक्षत्र-जातिसमुद्धर्ता त्व राम' गिरा वचसा पथि मार्गे वचसा सबोधयितु योग्य समीप-स्थ असि, अद्य न अस्माक सुप्रभातम् सुष्ठु दिन जात यत्र मिलित इत्यर्थ । कक्षस्य भुजमूलस्य ऊष्मस्वेद ऊष्मप्रवृत्त घर्मजल तेन उपशमित शान्ति गमित दशमुखस्य रावणस्य आस्फोटकण्डूविकार युद्धार्थकण्डूनिरूपा विक्रिया यन तादृश रावण स्वकक्षे निक्षिप्य प्रशमिततद्युद्धाभिलाष वीरश्राद्ध वीरेषु श्रद्धाशाली भुजो मम बाहु त्वा चिर परिचरतु युद्धद्वारा सेवता, चक्षुषी नयने नन्दता प्रसन्नता प्राप्नुता च । यो भवान् भुव निःक्षत्रिया कृतवतो भार्गवस्य कुठारधारानिमग्ना क्षत्रियजातिमुद्धृतवान् स मम पुरा जात इत्यद्य मम सुप्रभातम्, सम्प्रति रावण-भुजगर्वसर्वङ्कषोऽय वीरश्रद्धाशाली मम बाहुस्त्वा युद्धचर्यया सेवता नयने च त्वा निरीक्षत प्रमोदमनुभवतामित्याशय' ॥ ४० ॥

येन वीरेणेति । रावणाभिभवेन रावणकृतानेकविधावमानक्रियया क्लान्ता खिन्ना इय मही पृथ्वी येन वीरेण वालिना गुप्ताया पालिताया किष्किन्धायां शश्वत्

गर्भसे क्षत्रियजातिको बाहर निकालनेवाले तुमसे बातें करनेका अवसर मिला है, (मेरा इच्छा है कि) भुजमूलको घर्मबिन्दुओंसे तत्काल दशमुखके कण्डू-विकारको शमित कर देनेवाला और वीरोंपर श्रद्धा रखनेवाला यह हमारा भुज तुम्हारी परिचर्या करे और आँखें आनन्दित हों ॥ ४० ॥

राम—(देखकर सहर्ष) यही हैं वह महाबाहु इन्द्रपुत्र वाली ।

जिस वीरके द्वारा पालित किष्किन्धामें रावणके उत्पातोंसे पीडिता यह पृथ्वी निरन्तर आश्वस्तभावको पाती है ॥ ४१ ॥

---

१ 'वीरश्रद्ध'।　　२. 'किंचित्'।

(इति परिक्रामति ।)

लक्ष्मणः—महाभाग, अयमार्यः । इत इतो भवान् ।

बाली—(उपसृत्य ।) रामभद्र,

सुरासुराणामसुभिर्दीव्यतां सभिको मुनिः ।
अद्य मे नारदस्तुष्टो येनासि भुजगोचरः ॥ ४२ ॥

रामः—महावीर, किमुच्यते । मूर्धाभिषिक्तोऽसि [1]समरशौण्डानाम् । तथा हि ।

देवः स त्वामसूत द्विषदुपमृदितस्वर्वधूवेणिबन्ध-
प्रेक्षाधारालवैरप्रसृमरसमरोद्दामरौजा बिडौजाः ।

सततम् उच्छ्वासम सुखनि श्वासम् अश्नुते प्राप्नोति । अन्यदेशावच्छेदेन रावणखेदितापीय धरा किष्किन्धाऽवच्छेदेन रावणभयाभावात्सुखमुच्छ्वसितीति भावः ॥४१॥

सुरासुराणामिति । असुभिः प्राणैर्दीव्यताम् क्रीडताम् सततं युद्धरतानामित्यर्थः सुरासुराणां देवानां दानवानाञ्च सभिकः युद्धरूपद्यूतक्रियाध्यक्षः मुनिः नारदः अद्य मे मम तुष्टः प्रसन्नो येन मे भुजगोचरः बाहुविषयः असि । सदा युद्धे प्राणैर्दीव्यतां देवासुराणां सभिको द्यूतकलाप्रवर्त्तकः देवानसुरांश्च योधयन् नारदोऽद्य मद्भुजगोचरं भवन्तं ज्ञात्वाऽऽवयोर्युद्धमवश्यभावि पश्यन्नानन्दमनुभविष्यतीति भावः ॥ ४२ ॥

मूर्धाभिषिक्तः शिरोमणीभूतः प्रधानमित्यर्थः । सङ्ग्रामशौण्डानाम् रणप्रियवीराणाम् ।

देवः स त्वामिति । यः इन्द्रः द्विषद्भिः शत्रुभिः राक्षसैः उपमृदितस्य कृष्टस्य स्वर्वधूवेणिबन्धस्य देवाङ्गनाकेशपाशस्य प्रेक्षया दर्शनेन धारालं प्रवृद्धं यद् वैर

(चलता है)

लक्ष्मण—महाभाग, यही है आर्य राम, आप इधर आवें ।

बाली—(समीप जाकर) रामभद्र, देवों तथा दानवोंके प्राणोंसे खेलनेकी इच्छा रखनेकी इच्छा रखनेवाले नारद आज मुझपर प्रसन्न हुए हैं जिससे तुम हमारे भुजगोचर हुए हो ॥ ४२ ॥

राम—महावीर, क्या कहा जाय, समरशूरोंके लिए तुम अग्रगण्य हो ।

शत्रुओंद्वारा देवाङ्गनाओंके मृदित बेणीबन्धको देखकर बढनेवाले धारा प्रवाह वैरके कारण समरमें अद्वितीय ओज प्रकट करनेवाले उस इन्द्रने तुम्हें जन्म दिया है जो चुमाकर

---

१ 'शौण्डोऽसि'।

यो विद्धोत्खातबाणव्रणनिवहनिभं निर्भरोद्भ्रुरभ्रू-
भीमं श्रीमद्भिरङ्गैरुद्वहत रुषा रज्यदक्ष्णां सहस्रम् ॥४३॥

अपि च—

वन्दीकृत्य जगद्विजित्वरभुजस्तम्भौघदुःसंचरं
रक्षोराजमपि त्वया विदधता संध्यासमाधिव्रतम् ।
प्रत्यक्षीकृतकार्तवीर्यचरितामुन्मुच्य रेवां समं
सर्वाभिर्महिषीभिरम्बुनिधयो विश्वेऽपि विस्मापिताः ॥४४॥

तेन प्रसृमर प्रसरणशील तथा समरे युद्धे उड्डामरम् उत्कट च ओजः तेजो यस्य तथोक्त अत एव रुषा कोपेन निर्भरम् अत्यर्थम् उद्भ्रुरया कुटिलया भ्रुवा भीम भीषण सन् श्रीमद्भि स्वाभाविकशोभाशालिभि अङ्गै शरीरावयवै पूर्व विद्धा पश्चादुत्खाता ये बाणा शरा शत्रुप्रयुक्तास्तेषा व्रणनिवहनिभ क्षतसमूहतुल्य रज्यत् रक्तीभवत् अक्ष्णा सहस्रम् नयनसहस्रम् उद्वहत दधार, स विडौजा इन्द्रस्त्वा जगद्विदितशौर्यशालिनमसूत जनयामास । अयमाशय –राक्षसकृष्टस्वर्गरमणीकेशपाशालोकनवर्द्धमानवैरसमेधितयुद्धोत्कटौजोयुक्तः अत्यर्थकुटिलभ्रूभीषणमुखश्च य इन्द्र स्वाङ्गवर्त्ति विद्धनिस्सारितबाणसमुदयव्रणोपम कोपरक्त निज नयनसहस्रमवहत स इन्द्रस्तव जनक इति युज्यत एव तव समरशौण्डत्वमिति । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ४३ ॥

वन्दीकृत्येति । त्वया बालिना जगता विजित्वरै विजयिभि भुजस्तम्भौघै स्तम्भोपमैर्भुजनिवहै दुःसञ्चर निःस्पन्दीकृततया चलितुमशक्त रक्षोराज रावणमपि बन्दीकृत्य स्वकक्षकारायां निरुद्ध विधाय सन्ध्यासमाधिव्रतम् सन्ध्योपासनकालिकप्राणायामनियम विदधता सम्पादयता सता प्रत्यक्षीकृत दृष्ट कार्त्तवीर्यस्य सहस्रार्जुनस्य चरित बाहुभिर्धारानिरोधरूप यया तादृशीं रेवा नाम नदीमुन्मुच्य परित्यज्य सर्वाभिः महिषीभि सम विश्वे सर्वेऽपि अम्बुनिधय सागराः विस्मापिताः आश्चर्ये निमज्जिता । बाली पुरा रावणं स्वकक्षे निधाय सप्तस्वपि सागरेषु

निकाले गये अस्त्रोंके घावके समान रक्त तथा सहस्र-संख्यक नयनोंको अपने सुन्दर सर्वाङ्गपर धारण करते हैं, तथा जो भ्रूभङ्गके कारण भीषण प्रतीत होते हैं ॥ ४३ ॥

विश्वविजयी रावणको भी अपने भुजस्तम्भोंमें वन्दी बनाकर तुमने सन्ध्यावदन कालिक समाधि धारण की, कार्त्तवीर्यके चरितको प्रत्यक्ष देखनेवाली रेवाको छोडकर समुद्रकी सभी स्त्री-नदियाँ तथा सारा संसार तुझ द्वारा किये गये उस सन्ध्या-समाधिके दर्शनसे विस्मित हो उठे ॥ ४४ ॥

बाली—(विहस्य ।)

चिराय रात्रिचरवीरचक्रमाराङ्कवैज्ञानिक पश्यतस्त्वाम् ।
सुधासधर्माणमिमां च वाचं न शृण्वतस्तृप्यति मानसं मे ॥ ४५ ॥

किं तु—

येनाच्छिद्य समस्तपार्थिवकुलप्राणान्तकं कार्मुकं
राम संप्रति लम्भितो भृगुभुवामुत्सर्गसिद्धां स्रुचम् ।
द्रष्टुं वीर चिराय धाम भवतस्तद्भूर्भुवःस्वस्त्रयी-
[1]हृन्मर्मव्रणरोपणौषधमिमौ बाहू बहूत्ताम्यत ॥ ४६ ॥

सन्ध्यामन्वतिष्ठत्तत्र ससारविजयगर्वितैरपि भुजे रावणो न सञ्चरितुमशकत् इति रावणो वन्दीभूत इव तत्कक्षेऽतिष्ठत्, तदित्थ रावणमपि वन्दीकृत्य बाली सर्वानपि सागरान्विस्मयसागरनिमग्नानकार्षीत्, न केवल सागरा व्यस्मयन्त किन्तु सागरगृहस्थिता· सर्वा अपि नद्यो व्यस्मयन्त, केवल रेवा न व्यस्मयत यतोऽसौ कार्त्तवीर्यस्यापि भुवनाद्भुतं चरितं पूर्वं दृष्टवती, सोऽपि भुवनाद्भुतमेव कृत्यं कृतवानतो न व्यस्मयत रेवा तत्रेति भाव ॥ ४४ ॥

चिरायेति । रात्रिञ्चरवीरचक्राणाम् राक्षसवीरसमूहानाम् मारो वध एव अङ्क· चिह्न यस्य तादृशराक्षसवीरवधचिह्नशालिन् वैज्ञानिकयुद्धविद्याविशारद रामभद्र, त्वा चिराय चिरात् पश्यत साक्षात्कुर्वतस्तथा तवेमा सुधासधर्माणममृतसमाना वाचं शृण्वत निशामयतश्च मे मम बालिन मानसं न तृप्यति न सन्तुष्यति ॥४५॥

येनाच्छिद्येति । येन तव धाम्ना समस्तपार्थिवकुलप्राणान्तक समस्तक्षत्रियजाति-वधकर कार्मुक चापम् आच्छिद्य (परशुरामहस्ताद् दूरीकृत्य) त्याजयित्वा राम· परशुराम· भृगुभुवाम् भृगुवशीयानाम् उत्सर्गसिद्धाम् स्वभावप्राप्ता स्रुचं यज्ञपात्रभेदं लम्भित· ग्राहित· । (यत् तव तेज सकलक्षत्रसहारकं चाप परशुरामकरादपनीय परशुराम पुनरपि स्ववशक्रमागता स्रुचं ग्राहयामास), हे वीर, भूर्भुव·स्वस्त्रय्या·

बाली—(हसकर) बहुत देर तक राक्षस-मण्डलाके वीर समुदायको मारनेकी कलामें निपुण तुमको देखकर तथा अमृतोपम तुम्हारी बातोंको सुनकर मेरा मन तृप्त नहीं हो रहा है ॥ ४५ ॥

किन्तु—तुम्हारे जिस पराक्रमने सकलक्षत्रिय सहारक परशुरामको धनुष छुडाकर भार्गववशका स्वभावसिद्ध स्रुच ग्रहण करवा दिया, लोकत्रयके हार्दिक दु खको मिटानेमें औषधके तुल्य तुम्हारे उसी पराक्रमको देखनेके लिये हमारे यह हाथ तडफडा रहे है ॥४६॥

---

१ 'शोषणौषध–'।

राम.—(सस्मितम् ।)

नन्वेतदधिमौर्वीकं युद्धसर्वस्वदक्षिणम् ।
[1]सज्जमस्त्येव मे रक्षोलक्ष्मीमूलहरं धनुः ॥ ४७ ॥

तन्महाभागोऽपि शस्त्रमादत्ताम् ।

बाली—(विहस्य ।) साधु भो महाक्षत्रिय यथाधर्ममभिदधासि । कि[2] तु ।

नयो हि साङ्ग्रामिक एष दोष्मतां यदात्मजातिप्रनिबद्धमायुधम् ।
अयःकुशीभि कपयो न शस्त्रिणस्तलं च मुष्टिश्च नखाश्च सन्ति नः ॥४८॥

लोकत्रय्या हृन्मर्मव्रणरोपणौषधि लोकत्रयत्रासिल्लोकहृदयव्यथानिवारकम् तत् प्रसिद्ध भवतो धाम तेज द्रष्टुम् इमौ मम बाहू चिराय बहो कालात उत्ताम्यत उत्सुकीभवत । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम ॥ ४६ ॥

नन्वेतदिति । एतत् अधिमौर्वीकम् आरोपितज्यम् युद्धसर्वस्वदक्षिणम् युद्ध सर्वस्व दक्षिणा देय यस्मै तादृशम् अथवा युद्धमेव सर्वस्वदक्षिणा यस्य तादृशम्, यथा प्रसन्नो नृप कस्मैचित्सर्वस्व दक्षिणारूपेण दत्ते, तथा धनुरिद प्रसद्य युद्ध ददातीत्यर्थ । रक्षोलक्ष्मीमूलहर रक्षसा श्रिया समूलविनाशकम् मम धनु सज्जम् अस्त्येव, यथा तवाभिलापस्तथाहमपि युद्धोद्यत एवास्मीति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

आदत्ताम् गृह्णातु । यथाधर्मम् धर्माविरुद्धम् । अभिदधासि कथयसि ।

नयो हीति । एष हि साङ्ग्रामिक युद्धसबन्धी नय नीति नियमो वा यत दोष्मता बाहुबलशालिनाम् आत्मजातिप्रतिबद्धम् स्वजातिनियतम् यथाजातीयकम् आयुध ग्रहण भवेदिति । अतो मयाऽपि स्वजात्युपयुक्त शस्त्रमेव धार्यमिति, कपयो वानरा अय कुशीभिः लौहविकारै युष्माभिर्बाणसज्ञया व्यवह्रियमाणैरेभिर्लौहकाण्डै शस्त्रिणो न भवन्ति, न अस्माक कपीनाम् तलम् करतलम् मुष्टि नखाश्च शस्त्राणि सन्ति ॥ ४८ ॥

राम—(सस्मित) प्रत्यञ्चा चढाये हुये तथा युद्धरूप सर्वस्वका दान देने वाला यह धनुष तैयार है, जिसने राक्षसोंकी लक्ष्मीकी जड काट दी है ॥ ४७ ॥

अत आप भी शस्त्र ग्रहण करें ।

बाली—(हसकर) महाक्षत्रिय, तुमने धर्मानुसार ठीक ही कहा । किन्तु—

युद्धका यही नियम है कि वीर अपनी जातिके लिए नियत अस्त्रग्रहण करते हैं, वानर लोहेकी अङ्कुशीसे अस्त्र वाले नहीं बनते, उनके अस्त्र हैं हस्ततल, नख तथा मुष्टि ॥ ४८ ॥

---

१ 'सज्यम्' ।　　२. 'किं पुन.' ।

लक्ष्मण'—आर्य, साधूक्तं महाभागेन। नित्योपनतस्वाङ्गशस्त्रैव तैरश्ची जातिः।

राम—(विहस्य। धनुरास्फालयन्।) अहह।

स्वर्विघ्नप्रसरेण रावणिरसौ यद्दुर्यशोभागिनं
चक्रे गौतमशापयन्त्रित[1]भुजस्थामानमाखण्डलम्।
[2]कक्षागर्तकुलीरतां गमयता वीर त्वया रावणं
तत्संमृष्टमहो विशल्यकरणी जागर्ति सत्पुत्रता॥ ४९॥

सोऽपि त्वमस्माकमधुना दैवेन [3]शरव्यीकृतोऽसि।

नित्योपनतस्वाङ्गशस्त्रा सततसन्निहितस्वशरीरावयवप्रहरणा। तैरश्ची जातिः पशुजातिः।

स्वर्विघ्नप्रसरेणेति। असौ रावणिः रावणपुत्रो मेघनादः स्वर्विघ्नप्रसरेण स्वर्गोपद्रवसंपादनद्वारा गौतमशापेन यन्त्रितं कुण्ठीकृतं भुजयोः स्थाम स्थैर्यं बलं वा यस्य तथाभूतम् आखण्डलम् इन्द्रम् यत् दुर्यशोभागिनम् अपकीर्त्तिपात्रं चक्रे, हे वीर, त्वया बालिना रावणं कक्षा भुजमूलमेव गर्त्तः खातः तत्र कुलीरताम् बहुभुजशालितया कर्कटसादृश्यं गमयता प्रापयता त्वया तत् अयशः शक्रस्य सम्मृष्टम् अपसार्यं दूरीकृतम्, अहो सत्पुत्रता सुपुत्रप्राप्तिः विशल्यकरणी सकलखेदहरी जागर्त्ति भवतीति शेषः। 'इन्द्रजिता तव पिता शक्रो जितः' इति त्वया तस्य पिता रावणः कक्षे स्थापयित्वा पराभूत इति पित्रपमन्तुर्वैरनिर्यातनात्सुपुत्रत्वं त्वया प्रकटीकृतमित्याशयः। पुराऽहल्यागामिनमिन्द्रं गौतमः 'तव बाहुबलं सङ्ग्रामे नश्यतु' इति शप्तवानिति पुराणविदः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ४९॥

सोऽपि एतादृशो वीरः शक्रपुत्रोऽपि। दैवेन भाग्यवशेन। शरव्यीकृतः लक्ष्यतां गतः। भाग्यदोषादेवैतादृशमपि त्वां हन्तुमहं बाधितो भूत्वा प्रवृत्त इत्यर्थः।

लक्ष्मण—आर्य, आपने ठीक कहा, सदा सन्निहित स्वाङ्ग ही तिर्यग् जातिके अस्त्र रहते हैं।

राम—(हँसते हुए धनुष चढ़ाकर) स्वर्गको सविघ्न करके मेघनादने गौतम शापसे अस्तबल-भुज इन्द्रको जो अयशोभागी बना दिया था, उसका बदला तुमने रावणको अपने काँखरूप गढ़ेका केकड़ा बनाकर सधा लिया, सत्पुत्र होनेपर सभी मनोदुःख दूर हो जाते हैं, यह बात ठीक ही है॥ ४९॥

भाग्यवश आज हमें उस बालीको भी बाणका लक्ष्य बनाना पड रहा है।

---

१ 'निजस्थामानम्'। २ 'कक्षागर्भ-'। ३. 'शरव्यम्'।

बाली—(सरोषम् ।) आः काकुत्स्थ,

अस्मद्दोर्मूलकूलंकषविषमभुजग्रन्थिभङ्गप्रसङ्ग-
क्रोशल्लङ्केशदत्तत्रिभुवनविजयख्यातिसर्वस्वदाय ।
यः कश्चिद्विक्रमोऽयं स खलु करचुलिक्षत्त्रसाधारणत्वा-
दन्तर्मन्दायमानो विजितभृगुपतिं त्वामजित्वा दुनोति ॥५०॥

तदेहि । विमर्दक्षमां भुवमवतराव ।

अस्मद्दोर्मूलेति । अस्माकं दोर्मूलं भुजमूलं कक्षदेशस्तदेव कूलं तत्कषति अभिभवतीति तथोक्तो यो विषमभुजग्रन्थिरतिभीषणभुजसमुदयरूपो यो ग्रन्थिः तस्य भङ्गप्रसङ्गेन कक्षया सर्वत आच्छादनेन क्रोशता चीत्कुर्वता लङ्केशेन रावणेन दत्त त्रिभुवनविजयख्यातिः एव सर्वस्वदाय सर्वसम्पत्तिरूपदेयं यस्मै तथाविधः यः कश्चित् अयं विक्रमः पराक्रमः (योऽयं मम पराक्रमः दोर्मूले न्यस्तस्य रावणस्य पिष्यमाणेषु सर्वेषु भुजभारेषु चीत्कुर्वता रावणेन समर्पितभुवनत्रयविजयख्याति सर्वस्वं, रावणो यदा मया भुजमूले धृतस्तदा पिष्यमाणेषु तद्धस्तेषु स चीत्कारमारब्धवान्, तथाभूतश्चासौ मह्यं निजां त्रिभुवनविजयख्यातिं समर्पितवान् एतादृशस्यापि मम पराक्रम इत्यर्थः) करचुलिक्षत्त्रसाधारणत्वात् कार्तवीर्यपूर्वजक्षत्रियसाधारणत्वात् कार्त्तवीर्येणापि रावणो जितो मयापि स जित इति समत्वात् विशेषाभावादन्तर्मन्दायमानः मनसि लज्जमानः विजितभृगुपतिं पराजितपरशुरामं त्वाम् अजित्वा अविजित्य दुनोति मां परितापयति । रावणविजये कृतेऽपि मम पराक्रमो न तुष्यति तज्जयस्य कार्त्तवीर्येणापि कृतत्वात्, अतो यावत्परशुरामविजयिनं भवन्तं न जयति तावदुत्कृष्टताभावान्न मम सन्तोष इत्यर्थः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५० ॥

विमर्दक्षमाम् समां युद्धोपयुक्ताम् ।

फलितम् सिद्धम् ।

बाली—(सरोष) आः काकुत्स्थ, हमारे भुजमूलमें वर्त्तमान रावणने अपने बाहुओंके टूटनेके डरसे चिल्लाकर जिसे त्रिभुवनविजयी होनेकी प्रतिष्ठा प्रदानकी, वह हमारा विक्रम करचुलिक्षत्रिय-कार्त्तवीर्य साधारण होनेसे भीतरसे मन्द पड गया, जब तक परशुरामके जेता तुमको मैंने नहीं जीत लिया है, तब तक मुझे वह अपना पराक्रम सन्ताप ही देता है ॥ ५० ॥

अतः चलो, युद्धोपयुक्त भूमिमें चलें ।

गुहः—(स्वगतम् ।) दिष्ट्या [1]फलितमस्माक मनोरथेन ।

लक्ष्मण —(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) इदमन्यतो वानरद्वयमार्यस्य पार्ष्णिग्राहमिव [2]संभ्रमादनुप्लवते । तदहमपि धनुरारोपयामि ।

गुह —(दृष्ट्वा । सहर्षम् ।) कुमार कुमार, अलमावेगेन । नन्वयं सुग्रीवो [3]रामभद्रगुणानुरागेण वालिमत्सरेण च द्विगुणितोत्साह समर-सीमानसापतति ।

लक्ष्मण·—दिष्ट्या स एप वैकर्तनि । अथापर क ।

गुह·—अयमपि किञ्किन्धेश्वरस्कन्धावारैकवीरा भगवत· प्रभञ्जनस्य पारस्त्रैणेय पुत्रो हनूमान् ।

लक्ष्मण·—(सहर्षम् ।) कथमयमसावाञ्जनेय । अय हि

पार्ष्णिग्राहम् शत्रुभावेन पृष्ठानुधावि । सम्भ्रमात् वेगात् । अनुप्लवते अनुसरति ।

आवेगेन भयेन । समरसीमानम् युद्धक्षेत्रम् ।

वैकर्त्तनि सूर्यपुत्र सुग्रीव ।

किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारैकवीर किष्किन्धेश्वरस्य बालिन स्कन्धावार· सैन्य तत्र एकवीर अद्वितीयपराक्रमी। प्रभञ्जनस्य वायो । पारस्त्रैणेय परकीयस्त्रिया जात । केसरिण स्त्रियामञ्जनाया वायोरुत्पन्न इत्यर्थ ।

आञ्जनेय अञ्जनापुत्रो हनुमान् ।

गुह—(स्वगत) भाग्यवश आज हमारा मनोरथ सफल हुआ।

लक्ष्मण—(नेपथ्यकी ओर देखकर) यह दो वानर रामको बगलसे घेरनेके लिए तेजीसे आ रहा है अत· मैं भी धनुष चढाता हू ।

गुह—(देखकर) कुमार, कुमार, शीघ्रता मत करें, यह सुग्रीव रामके गुणों तथा बालीके द्वेषसे दुगुने उत्साहके साथ युद्धक्षेत्रकी ओर बढ रहे हे ।

लक्ष्मण—भाग्यवश यही हैं वह सूर्यपुत्र, और दूसरा वह कौन है ?

गुह—यह है किष्किन्धेश्वरकी सेनामें प्रधान योद्धा, वायुदेवका परस्त्री जातपुत्र हनूमान् ।

लक्ष्मण—(सहर्ष) क्यों, यही हैं अञ्जनाके पुत्र । यह ब्रह्माके शापसे अपने पराक्रम-

---

१ 'अस्मन्मनोरथेन'। २. 'अनुवर्तते'। ३ 'रामदेवगुणानुरोधेन'।

ब्रह्मशापपरिक्लिष्टस्ववीर्यज्ञानयन्त्रित ।
अन्यैरपि भुवं वीरैः कीर्यमाणामुपेक्षते ॥ ५१ ॥

नियतमनेन सख्या हृदयशल्यमस्माकमुद्धरिष्यते । इद तु वर्तमान-[1]मेकतुलायुद्धमार्यस्य । [2]जयलक्ष्मीपरिग्रहयौतुके यशसि वयमय [3]वा सुग्रीवो वा न केचिदशाधिकारिण ।

गुहः—(ससम्भ्रमम् ।) कुमार, पश्य पश्य ।

सप्त तालानयं भित्त्वा बालिप्रहरणीकृतान् ।
हत्वा च बालिनं बाणो रामतूणीरमागत.[4] ॥ ५२ ॥

ब्रह्मशापेति । ब्रह्मण शापेन परिक्लिष्ट व्याहत यत् स्ववीर्यज्ञान तेन यन्त्रित अवरुद्ध सन् अन्यैरपि वीरे कीर्यमाणाम् व्याप्ताम् भुवम् उपेक्षते दृष्ट्वापि नालोकते । 'पुरा हनुमतो वीर्यातिशय दृष्ट्वा समुद्विग्नो ब्रह्माऽनेन वीर्येणास्मां मम सृष्टि संहरेदिति शङ्कमानस्त 'स्वतस्ते पराक्रमज्ञान न भवेदि'ति शप्तवान्' इति कथात्र बोध्या । तेन शापेन हनुमान् विना परोद्बोधनं न पराक्रम प्रकाशयतीति भाव ॥ ५१ ॥

सख्या मित्रेण । हृदयशल्यम् मनोदुःखम् । उद्धरिष्यते दूरीकरिष्यते । एकतुलायुद्धम् द्वयोरेव धर्मयुद्धम् , अत्र कस्यापि साहाय्यं नापेक्ष्यत इति । जयलक्ष्मीपरिग्रहयौतुके–विजयलक्ष्मीवरणलभ्ये, यौतुकं श्वशुरादिभि प्रीतैर्दत्ते धने, अशाधिकारिण. भागभाज , जयलभ्ये यशसि, न कस्यापि भाग 'विद्याप्राप्त शौर्यधन यच्च सौदायिक भवेत् । मैत्रमौद्वाहिकञ्चैव दायादाना न तद् भवेत्' इत्युक्ते ।

सप्ततालानिति । अयम् रामप्रहित त्राण बालिप्रहरणीकृतान् बालिना रामं प्रहर्त्तमादीयमानान् सप्ततालान् तालवृक्षान् भित्त्वा विदार्य बालिन च हत्वा मारयित्वा रामतूणीरम् निषङ्गम् आगत परावृत्त ॥ ५२ ॥

का ज्ञान नहीं होनेके कारण पृथ्वीको और वीरोंसे भी व्याप्त समझा करते है ॥ ५१ ॥

निश्चय इस मित्रके द्वारा हमारे हृदयका काँटा निकाला जा सकेगा । आर्यका द्वन्द्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया । जयलक्ष्मी-परिग्रहमें यौतुकके रूपमें मिलनेवाले यशमें हमारा तथा सुग्रीवका अशाधिकार नहीं होगा ।

गुह—(घबडाकर) कुमार, देखिये देखिये ।

बालि द्वारा प्रहरण बनाये गये सात ताल वृक्षोंको छेदकर तथा बालीको मार करके रामका यह बाण पुन॰ रामके तूणीरमें आ गया ॥ ५२ ॥

---

१. 'द्यूत–' । २ 'पाणिपरिग्रह' । ३. 'वा' इति क्वचिन्नास्ति । ४ 'आगमत्' ।

अहह—

प्राणैः समं कनकपुष्करकण्ठमाला-
सूत्रेण दाशरथये विहितातिथेयः ।
दिक्कूलमुद्वहयशःसरिदादिशैलः
शेते स वीरशयने कपिचक्रवर्ती ॥ ५३ ॥

लक्ष्मणः—(सखेदम् ।) हा देव सक्रन्दन, क्व पुनरीदृशं महावीरप्रकाण्डमात्मजं सहस्रेणापि [1]लोचनैरालोकयिष्यसि ।

(नेपथ्ये दुन्दुभिध्वनिर्मङ्गलगीतिश्च ।)

गुहः—(सहर्षम् ।) कथमयमार्यजाम्बवदभिमन्त्रितैः [2]शातकुम्भकलशैर्नील कुमारसुग्रीवमभिषिञ्चति । स्वयं चास्य देवो दाशरथिः कार्तस्वरपुण्डरीकमालया [3]कण्ठमलंकरोति ।

प्राणैः सममिति । स कपिचक्रवर्ती वानरराजो वाली प्राणैः समं निजजीवितैः सह कनकपुष्करकण्ठमालासूत्रेण काञ्चनकमलरचितकण्ठमाल्येन दाशरथये [रामाय विहितातिथेयः कृतातिथिसत्कारः दिक्कूलम् दिशारूपस्तटः तदुद्वहा तत्प्रवाहिणी या यशःसरित् तस्या आदिशैलः उद्गमपर्वतः वीरशयने रणभूमौ शेते । अयं वाली यो निजैः प्राणैः सहैव रामाय स्वकण्ठस्थसुवर्णमाल्यमपि दत्त्वा तस्यातिथ्यं कृतवान्, यश्च दिगन्तविस्तारियशोरूपनद्या आदिशैल इव प्रभवभूमिः, सम्प्रत्यत्र रणभूमौ निहतः शेते इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

महावीरप्रकाण्डम् वीरश्रेष्ठम् । आत्मजं पुत्रं वालिनम् ।

शातकुम्भकलशैः सुवर्णघटैः । कार्तस्वरपुण्डरीकमालया स्वर्णकमलस्रजा,

---

अहह !! रामके आतिथ्यमें वालिने स्वर्णकमलकी मालाके साथ ही अपने प्राण भी उपहृत कर दिये, दिगन्त विस्तृत यशरूप नदीका मूलपर्वत वही बालि इस समय वीरशयन रणभूमिमें सो रहा है ॥ ५३ ॥

लक्ष्मण—हा देव, इन्द्र, फिर कहाँ आप ऐसे वीरश्रेष्ठ पुत्रको सहस्रनेत्रोंसे देखेंगे ।

(नेपथ्यमें दुन्दुभि बजती है मङ्गल गान होता है)

गुह—(सहर्ष) क्यों, यह नील जाम्बवान् द्वारा अभिमन्त्रित स्वर्णकलशोंसे कुमार

---

१ 'अवलोकयिष्यसि' । २ 'शातकुम्भकुम्भसलिलैः' । ३. 'कण्ठकाण्डम्' ।

लक्ष्मणः—[1]प्रियतरं नः ।

(नेपथ्ये ।)

भो भो [2]वानराच्छभल्लगोलाङ्गूलयूथपतयः, सर्वानेष वो महाराजः सुग्रीवः समाज्ञापयति—'[3]सज्जयन्तु भवन्तः सर्वाणि यौवराज्योपकरणानि । अयमहं सीतादेव्याः प्रवृत्तिमन्वेष्टुं प्रहित्य [4]हनूमन्तमूर्ध्वमौहूर्तिके लग्ने कुमारमङ्गदमभिषेक्ष्यामि इति ।

लक्ष्मणः—

उत्सवः सोऽयमस्माकं सर्वथा हृदयंगमः ।
किं तु वाली विलीनोऽयं व्यथयिष्यति वासवम् ॥ ५४ ॥

सज्जयन्तु प्रस्तुतीकुर्वन्तु । यौवराज्योपकरणानि यौवराज्याभिषेकसाधनवस्तूनि प्रवृत्तिमन्वेष्टुम्-वृत्तान्तं ज्ञातुम् । और्ध्वमौहूर्तिके मुहूर्तादूर्ध्वं जायमाने किञ्चित् कालानन्तरभाविनि, लग्ने शुभसमये ।

उत्सव इति । अयम् स अङ्गदयौवराज्याभिषेकनिबन्धनः उत्सवः हर्षावसरः अस्माकं सर्वथा सर्वैः प्रकारैः हृदयङ्गमः मनोरमः, किन्तु विलीनः मृतः अयं बाली वासवं स्वपितरमिन्द्रम् व्यथयिष्यति पीडयिष्यति । इन्द्रस्य पुत्रवधजन्मा खेदः स्यात्परं वयन्तु अङ्गदयौवराज्यदर्शनेन प्रमोदाय इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

सुग्रीवका अभिषेक कर रहे हैं । स्वयं राम सुग्रीवके गलेको स्वर्णकमलकी मालासे अलङ्कृत कर रहे हैं ॥

लक्ष्मण—यह हमारे लिये और खुशीकी बात है ।

(नेपथ्यमें)

हे वानर, अच्छभल्लक, गोलाङ्गूल, सेनापतियों, आप सभीको महाराज सुग्रीव आदेश दे रहे हैं कि आप सारे यौवराज्योपकरण प्रस्तुत करें । मैं सीताकी खोज करनेके लिए हनूमान्को भेजकर अगले मुहूर्त्त वाले शुभ समयमें कुमार अङ्गदको युवराजपदपर अभिषिक्त करूंगा ।

लक्ष्मण—यह उत्सव हम लोगोंको अतिप्रिय है, किन्तु यह मरा हुआ बाली इन्द्रको व्यथित बना देगा ॥ ५४ ॥

---

१ 'प्रियात्प्रियतरम्' 'प्रियम्' । २. 'गोलाङ्गूलप्रभृतयो यूथपतयः' ।
३ 'सज्जयन्तु सज्जयन्तु' । ४ 'और्ध्वमौहूर्तिके काले' ।

(अन्तरिक्षे पुष्पवृष्ट्यनन्तरम् ।) जय जय जगत्पते रामभद्र,

लक्ष्म्या बालिनिबर्हणप्रशमितद्वैराज्यवैराग्यया
किष्किन्धायतनैकदैवतमयं तारापतिर्दीप्यते ।
नप्तारं युवराजमङ्गदमपि श्रुत्वातिहर्षादभू-
दस्राम्भःपृषतौघमौक्तिकमयो गुम्फः सहस्रेक्षणः ॥ ५५ ॥

लक्ष्मणः—प्रियात्प्रियतरं नः । वयस्य गुह, तदेहि । आवामपि महोत्सवसंविभागिनौ भवावः । (इति निष्क्रान्तौ ।)

इति सुग्रीवाभिषेको नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

लक्ष्म्येति । वालिनः निबर्हणेन विनाशेन प्रशमितं शान्तिं नीतं द्वैराज्येन वालिसुग्रीवरूपराजद्वयेन वैराग्यम् विरागो यस्यास्तथाभूतया लक्ष्म्या राजश्रिया किष्किन्धायतनैकदैवतम् किष्किन्धारूपस्थानस्याप्रतिद्वन्द्वी प्रभुः अयं तारापतिः सुग्रीवः दीप्यते समधिकं प्रकाशते । सहस्रेक्षणः इन्द्रः अपि नप्तारं स्वपौत्रम् अङ्गदम् अपि युवराजं यौवराज्याभिषिक्तं श्रुत्वा निशम्य अतिहर्षात् आनन्दातिशयात् अस्राम्भसाम् अश्रुजलानाम् पृषतौघः विन्दुनिवहः स एव मौक्तिकानि तन्मयः गुम्फः ग्रथनम् आनन्दाश्रुमुक्ताखचितशरीरः अभूत् । बालिनिहते राजद्वयाकर्षणप्रशमनेन स्वस्थीभूता लक्ष्मीः किष्किन्धाप्रभुस्तारापतिः सुग्रीवोऽधिकं प्रकाशते, युवराजमङ्गदं श्रुत्वा हर्षाश्रुपूर्णसकलनेत्रतया अश्रुविन्दूनां मुक्तारूपतया च मौक्तिकगुम्फ इवाभाति भगवान् शक्र इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे'
पञ्चमाङ्कः 'प्रकाशः'.

(आकाशमें पुष्पवृष्टिके बाद)

जय हो जगत्पति रामभद्रकी ।

बालीके मारे जानेसे जिस लक्ष्मीका द्वैराज्य समाप्त हो गया, ऐसी लक्ष्मीको प्राप्त करके किष्किन्धाका एक छत्र सम्राट् यह तारापति सुग्रीव अधिक प्रकाशित हो रहा है, और इन्द्र भी अपने पौत्र अंगदके यौवराज्याभिषेककी वार्त्ता सुनकर अतिहर्षसे आनन्दाश्रुरूप मौक्तिक माल्य समान बन गये हैं ॥ ५५ ॥

लक्ष्मण—यह हमारे लिये प्रियसे भी प्रियतर है, मित्र गुह, चलो, हम भी उस उत्सवके समभागी बनें । (दोनों जाते हैं)

पञ्चम अङ्क समाप्त ॥

---

१. 'उपशमित–' ।

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति माल्यवान् ।)

माल्यवान्—(सर्वतोऽवलोक्य सखेदम् ।) अहह कष्टम् ।

दग्धाः प्रदीप्तपावकपरिचयपिण्डस्थहेमवेश्मानः ।
क्षणमुत्पुच्छयमाने हनुमति लङ्कापुरोद्देशाः ॥ १ ॥

अपि च—

निजकिरणौघप्रमुषितनिम्नोन्नतरूपकर्मभेदेषु ।
मणिभवनेषु कृशानुज्वालाः फलतोऽनुमीयन्ते ॥ २ ॥

दग्धा इति । हनुमति तन्नामके रामदूते वानरे क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् उत्पुच्छयमाने स्वपुच्छं चालयति सति लङ्कापुरोद्देशाः लङ्कानगर्याः सर्वेऽपि प्रदेशाः प्रदीप्तस्य प्रज्वलितस्य पावकस्य वह्नेः परिचयेन सम्बन्धेन पिण्डीभावमुपगतानि हेमवेश्मानि काञ्चनगृहाणि यत्र तथाभूताः सन्तो दग्धाः भस्मीभूताः । हनुमतीषदेव स्वपुच्छं चालयति सति समस्तापि लङ्कापुरी तत्पुच्छनिर्गतपावकसम्बन्धाददह्यत, स्वर्णभवनान्यस्याः पिण्डाकारमलभन्तेति महतः खेदस्य विषय इत्याशयः । आर्यावृत्तम् ॥ १ ॥

निजकिरणौघेति । निजकिरणौघेन स्वकान्तिसमुदयेन प्रमुषिताः सर्वथा लुप्ताः निम्नोन्नतरूपाः उच्चावचाः कर्मभेदाः शिल्पविशेषाः येषां तादृशेषु मणिप्रभाभरान्तर्हितशिल्पकार्यसमुदयेषु मणिभवनेषु लङ्कानगरस्थमणिमयगृहेषु कृशानुज्वालाः वह्निदीधितयः फलतः दाहभस्मादिकार्यवशात् अनुमीयन्ते, न तु स्वरूपतस्तदवगमः, मणिकिरणानां वह्निसमप्रभत्वात् । मणिभवनेषु लग्नो वह्निः प्रभासाम्येन पृथक् प्रतीतिविषयो न भवति, किन्तु सन्तापभस्मविशरणादिफलैः प्रतीतिविषयः क्रियते इति भावः ॥ पूर्वोक्ताविपरीतं वृत्तम् ॥ २ ॥

(अनन्तर माल्यवान्‌का प्रवेश)

माल्यवान्—(चारो ओर देखकर सखेद) अहा, खेद है,

प्रज्वलित वह्निके सम्पर्कसे हेम-प्रासाद पिण्डाकार होकर जल रहे हैं, लङ्काको पूछकी आगसे हनुमान्‌ने क्षणभरमें जला दिया ॥ १ ॥

और निजकिरण-समुदायसे निम्नोन्नतरूप कर्मभेदोंके छिप जानेसे मणिमय भवनोंमें लगी हुई आगकी ज्वाला फलसे ही अनुमित होती है ॥ २ ॥

(विमृश्य ।) अहो दुर्निवारता भवितव्यतायाः ।

दोःसंदोहवशंवदत्रिभुवनश्रीगर्वसर्वंकष
कैलासोद्धरणप्रचण्डचरितो वीरः कुबेरानुजः ।
यत्रायं स्वयमस्ति सेयममरावत्यापि वन्द्या पुरी
नीता मर्कटकेन कामपि दशां धिग्दैवमावश्यकम् ॥ ३ ॥

[1]न किंचिदेतद्वा रावणदुर्नयेन । (सखेदमाकाशे ।) आः पौलस्त्य,

भवितव्यतायाः—भाविवस्तुनः दैवस्य वा, दुर्निवारता अप्रतिबध्यता, भाविवस्तु निश्चितं भवत्येवेति भावः । यद्यपि भवितव्यमिति तव्यप्रत्ययस्य भावविहिततया ततस्तल् न प्राप्नोति, समानार्थकप्रत्ययद्वयनिषेधात्तथापि भवितव्यमित्यत्र कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशत इति नियमेन धर्मिपरत्वमास्थाय तल्प्रत्ययः कृतो बोध्यः, अत एव भवभूतिरपि प्रायुङ्क्त—'प्रायः शुभं च विदधात्यशुभञ्च जन्तोः सर्वङ्कषा भगवती भवितव्यतैव' ॥

दोःसन्दोहेति । दोःसन्दोहेन भुजसमुदायेन वशंवदायाः वशीभूतायाः त्रिभुवनश्रियः लोकत्रितयसमृद्धेः गर्वस्य सर्वङ्कषः स्ववशीकारविधया गर्वापहारी, कैलासोद्धरणप्रचण्डचरितः कैलासाचलचालनप्रकटीकृतभीषणकृत्यः अयम् वीरः कुबेरानुजो यत्र लङ्कायाम् स्वयमस्ति आत्मना वासं करोति, अमरावत्या इन्द्रनगर्या अपि वन्द्या स्वापेक्षया गौरवशालितया प्रशंसनीया पुरी लङ्कानगरी मर्कटकेन एकेन लघुना वानरेण कामपि वर्णयितुमशक्यां दशां परिस्थितिं नीता, आवश्यकं निश्चयेन भावि अवश्यम्भावि दैवम् भाग्यम् धिक् । यत्र रावणो वसति सा लङ्कापि एकेन लघुना वानरेणेमां दशां गमितेति भाग्यायत्तं सर्वम् इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

न किञ्चिदेतद्वा रावणदुर्नयेन रावणकृतदुराचारस्य पुरतो नेदं किञ्चित्, इतोऽपि भीषणामापदं रावणस्य दुराचारः फलिष्यतीति भावः ।

(विचार करके) अहो, भवितव्यता बडी दुर्निवार होती है ।

बाहु समुदायसे वशीकृत त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे गर्वित, कैलासको उठाकर प्रचण्ड चरित प्रकट करनेवाला यह वीर कुबेरानुज रावण, जहाँ पर स्वयं वर्त्तमान है, ऐसी तथा अमरावतीसे भी वन्दनीय यह लङ्कापुरी एक मर्कटके द्वारा इस दशाको पहुँचा दी गई, अवश्य भावी दैवको धिक्कार है ॥ ३ ॥

रावणकी दुर्नीतिके आगे यह कुछ नहीं है । (सखेद आकाशमें) आः पौलस्त्य,

---

१. 'न किंचिदेतद्रावणस्य दुर्नयेन', 'न किंचिदेव तावद्रावणस्य दुर्नयेन' ।

विद्याश्चतुर्दश चतुर्षु निजाननेषु
संबाधदुःस्थितवतीरवलोक्य वेधाः ।
ताभ्योऽपवर्गाय नियतं दश ते मुखानि
स्वस्य प्रणप्तुरकरोत्स कथं जडोऽस्मि ॥ ४ ॥

(क्षणं च ध्यात्वा सव्यथम् ।) कथमेव विशीर्यतीव न कुलमिदम्
खरादीनवधीद्रामो वत्समक्षं च मारुतिः ।
स्वयं निष्क्रामयामास दशास्यश्च विभीषणम् ॥ ५ ॥

विद्या इति । वेधा ब्रह्मा चतुर्षु चतुःसंख्यकेषु निजाननेषु स्वमुखेषु चतुर्दश विद्याः संबाधदुःस्थितवतीः सङ्कीर्णदेशावस्थानकष्टमनुभवन्तीः अवलोक्य दृष्ट्वा ताभ्य विद्याभ्यः ता विद्याः सुखं वासयितुम् नियतं निश्चयेन प्रणप्तुः स्वपौत्रस्य ते रावणस्य दश मुखानि अकरोत स त्व कथं जड स्वहितचिन्तनविषये मूर्ख असि । ब्रह्मा स्वस्य चतुर्षु मुखेषु चतुर्दशविद्यानां वासे तासां विद्यानां सङ्कीर्णदेशावस्थानकष्टं दृष्ट्वा तासां पृथक् पृथक् सुखवासाय स्वप्रणप्तः रावणस्य तव दशमुखानि कृतवान् , एतादृशस्यापि तव दुर्विनीतजन्मा ऽयं पराभवः कथं जायत इति शोच्य तेति भाव , उत्प्रेक्षाऽलङ्कार , 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्म शास्त्रं पुराणं च विद्या एताश्चतुर्दश' इति विद्या । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

विशीर्यतीव नश्यतीव ।

खरादीन् इति । राम खरादीन् राक्षसान् मारति हनुमांश्च वत्सम अक्षनाम रावणस्य पुत्रम् अवधीत् हतवान् , दशास्य रावणश्च स्वयम आत्मना विभीषणम् निष्क्रामयामास नगर्याः बहि प्रेषितवान् । तदित्थं न कुलं क्षीयत इति भाव ॥५॥

चौदह विद्याओंको अपने चारमात्रमुखोंमें क्लेशपूर्वक वास करते देखकर ब्रह्माने और अपने पौत्र रावणके दशमुख बना दिये जिससे सभी विद्यायें अलग अलग मुखोंमें अबाध भावसे रह सकें, वही रावण इस समय क्यों जड हो रहा है ॥ ४ ॥

(थोडी देर सोचकर, सखेद) हमारा यह कुल क्यों इस तरह छिन्न-भिन्न होता जा रहा है ? ।

खरादिको रामने और वत्स अक्षको हनूमानने मार दिया, स्वयं रावणने भी विभीषणको निकाल दिया ॥ ५ ॥

---

१ 'आभ्य '। २ 'सव्यथम्' इति क्वचिन्नास्ति ।
३ 'सकलमेव शीर्यतीव न कुलम्' ।

अलं वा [1]दुर्विहितमतीतमुपालभ्य। [2]सम्प्रति सिन्धोरुदीचि तीरे निवेशितस्कन्धावारो दाशरथिः [3]किमारम्भ इति कथं प्रतीमः। (पुरो दृष्ट्वा।) कथं राघवचरित्रानि चरितुं प्रहितयोः शुकसारणयोः सारणः।

(प्रविश्य।)

सारणः—जयतु जयतु कनिष्ठमातामहः।

माल्यवान्—(अभिनन्द्य समीपमुपवेश्य च।) वत्स सारण कच्चिदमुनैव पदेन सुग्रीवकटकादागतोऽसि।

सारणः—अथ किम्।

माल्यवान्—तद्यथानुभवमभिधीयतां तावत्।

सारणः—सारसंख्ये वनौकसामस्मन्मुखेनैव शतशः श्रुते माता-

दुर्विहितम् अनौचित्येनाचरितम्। अतीतम् भूतम्। उपालभ्य दूषयित्वा। उदीचि तीरे उत्तरतटे। निवेशितस्कन्धावारः स्थापितकटकः। किमारम्भः किंकर्मा कुत्र कार्ये लग्नः। चरितुम् चरभावेन ज्ञातुम्। प्रहितयोः प्रेषितयोः।

अमुनैव पदेन सम्प्रत्येव।

यथानुभवम् यथाज्ञानम्।

सारसंख्ये बलं गणना च। वनौकसाम् वानराणाम्। शतशः अनेकधा।

बुरी तरह उत्पन्न होनेवाले अतीतकी शिकायत करना व्यर्थ है, इस समय समुद्रके उत्तर तटपर सेनाका पड़ाव किये राम क्या कर रहा है यह कैसे जाना जाय? (आगे देखकर) क्यों रामकी स्थिति जाननेके लिये भेजे गये शुक और सारणमेंसे सारण है।

(प्रवेश करके)

सारण—जय हो, छोटे मातामहकी जय हो।

माल्यवान्—(अभिनन्दन करके समीपमें बैठाकर) वत्स सारण, अभी अभी सुग्रीव कटकसे आ रहे हो क्या?

सारण—और क्या?

माल्यवान्—तब अपना अनुभव कहो।

सारण—वानरोंके बल तथा सख्याके विषयमें आपने मेरे मुखसे सैकड़ों बार सुना है,

१. 'दुर्दैवम्'। २ 'सम्प्रति' इति क्वचिन्नास्ति। ३ 'किमारभते'।

महेन्द्रात्समुक्त्वा । अधुना तु सेतुप्रथनाय मिलितेषु वानरसैनिकेषु वानरमूर्ति [illegible] मत्वा राजा विभीषणेन [illegible] । [illegible] जाय चिरसंवासेन रामराजा [illegible] सामन्तः [illegible] ।

मालयवान्—([illegible]) किमभिषिक्तः कनिष्ठभ्राता रावणस्य ?

सारण—अथ किम् ।

माल्यवान्—([illegible] स्तब्ध स्थित्वा नि[illegible] [illegible] सशङ्कम्) अभिवोऽसि ।

सारण—कुमार्गं विभीषणेन ज्ञात्वा सचिवस्य [illegible] रामस्य दर्शितः ।

माल्यवान्—([illegible]) [illegible] ।

सारण—ततश्च राघवेण [illegible] [illegible] [illegible] पुरस्कृत्य च प्रहितोऽस्मि ।

प्रतीत [illegible] [illegible] । सेतुप्रथनाय समुद्र [illegible] चिरसंवासेन [illegible] निवासेन । यतोऽयं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तेन तत्र [illegible] विभीषण विशेषणतया महा[illegible] [illegible], तथापि [illegible] वशादुच्चारितवानिति भावः । रामराज[illegible] रामकटके कृतोऽस्यास्ते अनुबध्नाति अनुवर्त्तते । अभिषिक्तः अभिषेकं प्रापितः ।

ज्ञात्वा मां परिचित्य । सचिवस्य बद्ध्वा ।

निजसचिवनिर्विशेषम् स्वसचिवसमानभावेन । उपगृह्य स्वसमीपे उपवेश्य पुरस्कृत्य सत्कारं कृत्वा । प्रहितः रावणनगरं प्रेषितः ।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वानरमूर्ति धारण करके मैं [illegible] [illegible] कि महाराज [illegible]—([illegible]) आर्य, राम [illegible] चिरकाल [illegible] [illegible] प्रेम [illegible] किया है ।

माल्यवान्—(साभिप्राय) क्या विभीषणको [illegible] अभिषिक्त भी कर दिया ?

सारण—और क्या ?

माल्यवान्—(थोड़ा देर स्तब्ध रहकर, नि[illegible] छोड़कर, निडर होकर [illegible])

सारण—[illegible] विभीषणने मुझे पहचान लिया और [illegible] उसके पास पहुँचाया ।

माल्यवान्—(आशङ्का के साथ) [illegible] ?

सारण—उसके बाद रामने अपने [illegible] [illegible] आदर किया और भेज दिया ।

---

१. 'नाथ व नरमूर्तेभगोऽसि महाराज—' । २ '[illegible]' । ३ 'उपसंगृह्य' ।

माल्यवान्—(सहर्षम् ।) किमुच्यते, यावद्द्रव्यभावी [1]गुणो हि विजिगीषूणामुदात्तता । विशेषेण [2]पुनरत्र रामभद्र । [3]यत ।

अभेदेनोपास्ते कुमुदमुदरे वा स्थितवतो
विपक्षादम्भोजादुपगतवतो वा मधुलिह ।
अपर्याप्त· कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचय-
प्रबन्ध साधूनामयमनभिसंधानमधुर· ॥ ६ ॥

अथ शुक किमासीत् ।

सारण—अहमपि न जानामि ।

यावद्द्रव्यभावी सर्वेषु द्रव्येषु स्थित व्यापी, विजिगीषूणाम् विजय कामयमानानाम् । ये विजयेच्छवस्ते सर्वेऽप्युदात्ता भवन्त्येवेति रामस्योदात्तता स्वाभाविकीति भाव । 'न विकारं विकारस्य हेतौ यदवगाहते, तदुदात्त गुण ' इति दण्डी । पुनरत्र रामभद्र अत्र राम पुनर्विशेषेणोदात्त इति त्वदुक्त सत्यमेव स्यादिति भाव ।

अभेदेनेति । कुमुदम् उदरे स्वाभ्यन्तरभागे स्थितवत वर्त्तमानान् विपक्षात् कुमुदशत्रो अम्भोजात् पद्मात् वा उपगतवत समायातान् मधुलिहो भ्रमरान् अभेदेन समभावेन उपास्ते परिचरति । अयम् एतादृश साधूनाम् अनभिसन्धानमधुर उपकारानुपकारपर्यालोचनशून्यतया हृद्य· कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचयप्रबन्ध आत्मपरोपासनाप्रकार अपर्याप्त असीम इति । कुमुद यत्स्वोदरवर्त्तिन स्वशत्रुपद्मसकाशादागतान्वा भ्रमरान्समभावेनाराधयति, तत् साधुजनानाम् उपकारादिविचारराहित्येन हृद्य स्वपरोपासनाप्रकारो निस्सीम स्थितो बोध्य ॥६॥

माल्यवान्—(हर्ष के साथ) विजिगीषु जनमें उदारता सदा रहा करती है, खास करके रामके विषयमें क्या कहना है, क्योंकि —

कुमुद अपने उदरमें बैठे हुए तथा शत्रुभूत कमलके पाससे आये हुए भ्रमरोंको एक भावसे सत्कृत करता है । साधुजन विना किसी कपटके निज परकी पहचान विना किये ही आदर करते हैं, यह बात साधुजनोंमें पूरी मात्रामें रहती है ॥ ६ ॥

और शुक क्या हुआ ?

सारण—यह मैं भी नही जानता हू ।

---

१ 'हि गुणो' । २. 'असौ' । ३ 'किं च' ।

माल्यवान्—(विमृश्य ।) वत्स विभीषणस्य रामोपसर्पणं स्वकुल्य व्यसनमिति प्रमुग्धोऽस्मि ।

सारणः—आर्य तथा [1]धर्मवृत्तिरार्यसन्तानश्च कुमारः कथं ज्यायांसं भ्रातरमवधूय [2]प्रतिपक्षवर्ती संवृत्तः ।

माल्यवान्—वत्स, दशग्रीवं पृच्छ । (निःश्वस्य ।) [3]अथवा दैवम् ।

सारणः—आर्य यदि श्रवणार्होऽस्मि तदा निवेदय ।

माल्यवान्—वत्स, केसरिकलत्रसम्भवेन प्रभञ्जनसूनुना विलुण्ठितामशोकवनिकामवलोक्य [4]राजा तवायं विभीषणमवोचत् । यथा—'वत्स, पश्य मनुष्यपोतद्वयावष्टम्भेन [5] दुरात्मना कपिकीटेन कथं विजृम्भितम्' इति ।

स्वकुल्य व्यसनम् स्वकुलोत्पन्नजनोत्पन्नं दुःखम् । प्रमुग्धः किङ्कर्तव्यविमूढः, धर्मवृत्तिः धर्मनिष्ठः । आर्यसन्तानः भद्रवंशोद्भवः । कुमारः विभीषणः । ज्यायांसम् ज्येष्ठम् । अवधूय निरस्कृत्य, विहाय । प्रतिपक्षवर्ती शत्रुसङ्गतः ।

दशग्रीवं पृच्छ केन हेतुना विभीषणो रावणं विहाय राममाश्रित इति रावण एव वक्तुमर्हति तस्यैव तत्र कारणत्वादित्यर्थः । अथवा दैवम् भाग्यवशादेव रावणो विभीषणस्य वाक्यमपमतवानिति भाग्यमेवात्र प्रष्टव्यं न रावण इति भावः । श्रवणार्हः श्रोतुमधिकारी विश्वासपात्रं च । निवेदय कथय ।

केसरिकलत्रसम्भवेन केसरिणो वानरभेदस्य । कलत्रे स्त्रियामञ्जनाभिधायाम्, सम्भवः उत्पत्तिर्यस्य तेन प्रभञ्जनसूनुना वायुसुतेन हनुमता । विलुण्ठिताम् विना-

---

माल्यवान्—(विचार कर) वत्स विभीषणका रामसे मिल जाना स्वकुलोत्पन्न व्यसन है, मैं इससे किङ्कर्त्तव्यविमूढ हो रहा हूँ ।

सारण—उस तरहके धर्मात्मा तथा आर्य आचारवाले विभीषण अपने बड़े भाइको छोड़कर शत्रुसे जा मिले ।

माल्यवान्—वत्स, यह बात रावणसे पूछो (साँस छोड़कर) अथवा भाग्यसे,

सारण—यदि मैं सुनने के योग्य होऊँ, तो बता दीजिये ।

माल्यवान्—केसरीकी स्त्रीके गर्भमें उत्पन्न वायुके पुत्र हनूमान्के द्वारा उजाड़ दी गई अशोकवाटिकाको देखकर तुम्हारे राजा रावणने विभीषणसे कहा कि वत्स विभीषण, देखो, दो मनुष्य बालकोंके आश्रयमें रहनेवाले इस कपि-कीटका कर्त्तव्य तो देखो ।

---

१ 'धर्मप्रवृत्ति'।	२ 'प्रतिपक्षवृत्ति सम्पन्न', 'विपक्षवर्ती सम्प्रति संवृत्त:'।
३ 'यदि वा'।	४ 'राजा ते दशास्यो', 'राजा बतायम्'।	५ 'अवष्टम्भेन'।

सारण.—ततस्तत ।

माल्यवान्—ततः विभीषण, प्रणम्य व्यज्ञिज्ञपत्—'देव

जातिं मानय मानुषीमभिमुखो दृष्टस्त्वया हैहय
स्मृत्वा वालिभुजौ न सांप्रतमवज्ञातुं च ते [1]वानराः ।
तत्पौलस्त्यमहाग्निहोत्रिणमहं त्वामेतदभ्यर्थये
सीतामर्पय मुञ्च च क्रतुभुजः काराकुटुम्बीकृतान् ॥ ७ ॥

सारण —(सबहुमानाश्चर्यम् ।) अहह 'वालिभुजौ' इति ब्रुवता मातामहेन किमपि[2] स्मारितोऽस्मि । आर्य,

---

शिताम् । तवाय राजा रावण । मनुष्यपोतद्वयावष्टम्भेन मनुजबालकद्वयबलेन कपिकीटेन वानराधमेन । विजृम्भितम् आचरितम् ।

व्यजिज्ञपत् रावण विज्ञापितवान् ।

जातिमिति । मानुषी जातिम् मनुष्यान् मानय आदरेण पश्य, त्वया अभिमुख सग्रामे सम्मुखीभूत हैहय कार्त्तवीर्य दृष्ट स्वयमेव साक्षात्कृत, (मनुष्यजातिरेव कार्त्तवीर्यस्त्वा सग्रामे दुरवस्थमकरोदतस्त्वया मनुष्यजातौ हीनताबुद्धिर्न कार्या) वालिभुजौ त्वत्पराभवितुर्वालिनो बानरभेदस्य भुजौ स्मृत्वा ध्याने कृत्वा सम्प्रति ते वानरा अवज्ञातुं न तिरस्कर्तुं न योग्या इत्यर्थ । तत् तस्मात् मनुष्यवानरयोरादरणीयत्वात् हे पौलस्त्य, अह तव भ्राता महाग्निहोत्रिणम् अग्निहोत्रपरायण त्वाम् अभ्यर्थये प्रार्थये सीताम् अर्पय रामाय प्रत्यर्पय, काराकुटुम्बीकृतान् कारागारनिवेशितान् क्रतुभुजो देवाश्च मुञ्च मुक्तबन्धनान् कुरु, आभ्यामेव कर्मभ्या कृताभ्या तव सर्वथा सौस्थ्य नान्यथेति भाव ॥ ७ ॥

सारण—इसके बाद ।

माल्यवान्—इसके बाद विभीषणने हाथ जोडकर कहा—

मनुष्य जातिका आदर कीजिये क्योंकि आपने स्वय हैहयको देखा है, बालिके बाहुओंको याद करके अब वानरोंका अपमान करना ठीक नहीं होगा । अत पौलस्त्यके पुत्र तथा महान् अग्निहोत्री आपसे मेरी प्रार्थना है कि सीता रामको लौटादें और बन्द किये गये देवोंको मुक्त कर दें ॥ ७ ॥

सारण—अहा ! 'बालिभुजौ' कहकर आपने कुछ याद करा दिया है, आर्य,

---

१ 'वानरान्' । २ 'किमपि' इति क्वचिन्नास्ति ।

किमाचक्षे सेतुक्षितिधरशिरःश्रेणिषु परं
प्रकाष्ठे नीरोक्ष्णः कपिसुभटभुजस्तम्भनिवहान् ।
सुमेरोरामोत्सर्याद्रगतिचिरसंरूढमृदुभिः
शिरोभिर्विन्ध्यो यद्भरमपि न सोढुं परिवृढः ॥ ८ ॥

(मारुतक्रम् ।) तदनन्तरं ।

माल्यवान्—तदनु गोष्पदान्धतमसि ... गम्भीरताकोपेन अहम् ... यथा विव ...

"कि ... " सेतुरूप समुद्रे यत् स्वक्षितुम क्षितिधराणां पर्वतानां शिरः-श्रेणी ... प्रकोष्ठे कूर्पराद्धोभागे नीरोक्ष्णः ... कपिसुभटभुजस्तम्भनिवहान् वानराणां ... चिरतः ... अत एव मृदुभिः सुकुमारैः शिरोभिः ... विन्ध्योऽपि यद्भरम् येषां कपिसुभटभुजस्तम्भनिवहानां भरम् अपि सोढुं न परिवृढः क्षमः । अयमाशयः—समुद्रे सेतुनिर्माणार्थं पर्वतशृङ्गाण्यरगम प्रकोष्ठदेशे धृष्टरोषः कपिसुभटभुजस्तम्भनिवहानां विषये किं कथयामि, तेषां भारमपि केवलं विन्ध्योऽपि सुमेरुस्पर्धया समुन्नतिं गते शिरोभिः सोढुं न क्षमते किमुत तद्बलं सहेत, इत्याशयः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ८ ॥

गोष्पदान्धतमसि कोपरूपे गाढान्धकारे, नरके च, कोपस्य नरकत्वमपि दुःखमूलतया । विपक्षमर्यादित विभीषण शत्रुणा सम्बन्धाय नमाश्रित , कुपितरावणदुर्व्यवहारवशाद्रव राममाश्रित इत्यर्थः ।

सेतुके लिये ... पर्वतोंके सबसे ... गोमरहित वानरभुजस्तम्भोंके विषयमें क्या कहें, जिनके ... बढ़नेवाले अपने नवीन ... विन्ध्याचल जिनके भारको भी सहन नहीं कर सका ॥ ८ ॥

(मारुतक) इसके बाद ।

माल्यवान्—इसके बाद गोपदरूप अन्धकारमें डूबने हुए ... विभीषण ... भी ... ॥

१ 'तमसि' ।

सारण—(सखेदमाकाशे ।) हा देव पुलस्त्यनन्दन, कथं भवतैव वैधर्म्यदृष्टान्तेन [1]मानतो मूलोच्छेदनिमित्तान्निवर्तिष्यते लोकः । (साभ्यर्थनं च।)

अरिषड्वर्ग एवायमस्यास्तात पदानि षट् ।
तेषामेकमपि च्छिन्दन्खञ्जय [2]भ्रमरीं श्रियम् ॥ ९ ॥

(मन्त्रिणं प्रति ।) आर्य, यत्सत्यं राघवेण व्यूढां वानरवरूथिनीमुत्प्रेक्ष्य शङ्के—विभीषण [3]एव यदस्माकं कुलतन्तुरवशिष्येत ।

माल्यवान्—(निःश्वस्य ।) वत्स द्वयोरपि कटकयोस्तत्त्वज्ञोऽसि । तत्किमिदानीमुचितम् ।

वैधर्म्यदृष्टान्तेन विपक्षे दृष्टान्तभूतेन, यो मानं रक्षति स विपद्यते यथा रावण इति दृष्टान्तेन लोको मूलोच्छेदे समूलविनाशे निमित्तात् कारणतां गतात् मानतोऽभिमानात् निवर्तिष्यते, यद्वा विगतो धर्मो विधर्मः स एव वैधर्म्यं तेन दृष्टोऽन्तो यस्य तादृशेन भवतेति प्रतिपाद्योऽर्थः ।

अरिषड्वर्ग इति । हे तात अरिषड्वर्गः कामक्रोधलोभमोहमदमानरूपः षड्वर्गः एव अस्या लक्ष्म्याः षट् पदानि प्रयाणसाधनानि सन्ति, तेषां पदानाम् एकमपि पदम् छिन्दन् परित्यज्य खण्डयन् भ्रमरीं चञ्चलस्वभावां श्रियम् खञ्जय चलनेऽक्षमां स्थिरां कुरु । अभिमाने त्यक्ते तव लक्ष्मीः स्थिरा भवेदिति तथा कुर्वित्यर्थः । भ्रमर्या अपि षट् पादाः लक्ष्म्या अपि कामादयः षट् सञ्चरणसाधनानीति लक्ष्मीर्भ्रमरीत्वेन रूप्यते ॥ ९ ॥

व्यूढाम् व्यूहं निर्माय स्थापिताम् । वरूथिनीम् सेनाम् । उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । शङ्के सम्भावयामि । कुलतन्तुः वंशसूत्रम् । तन्तुरिव तन्तुर्वंशधरः सन्तानशेष इत्यर्थः ।

सारण—(सखेद आकाशमें) हा देव पुलस्त्यपुत्र, क्या आपको ही विपक्ष दृष्टान्त बनाकर समूलोच्छेदमूल अभिमानसे लोग निवृत्त होंगे ।

काम क्रोधादि अरिषड्वर्ग ही इस भ्रमरीकी तरह चञ्चला लक्ष्मीके छः चरण हैं, उनमें से किसी एकको भी काटकर आप लक्ष्मीको खञ्ज बनादें ॥ ९ ॥

(मन्त्रिवरके प्रति) आर्य ! रामने वानरसेनाका जो व्यूह रचा है उसे देखकर मैं समझता हूं कि विभीषणही हमारे कुलके प्रवर्त्तक रूपमें बच सकेंगे ।

माल्यवान्—(निःश्वास छोड़कर) वत्स, तुम दोनों सैन्योंके तत्त्वज्ञ हो, बताओ अब क्या करना उचित है ? ।

---

१ 'अनुमानतः' । २ 'भ्रामरीम्' । ३. 'एवास्य' ।

सारण—आर्य, नन्वेव ब्रवीमि—राजपुत्रोऽङ्गदोऽसौ [1]बालो नव-[2]बुद्धिरामपात्रमिव यद्यदाधीयते तत्तदाचुचूषति ।

माल्यवान्—ततः किम् ।

सारण—ततश्च भवतः पितृवैरिणौ रामसुग्रीवौ व्यापाद्य किष्किन्धायां भवन्तमभिषिच्य वालिसौहृदस्यात्मानमनृणमिच्छामि[3] इति [4]गूढप्रणिधिमुखेन दशकन्धरादेशात्भवानङ्गदं सुग्रीवशिबिरादपवाहयतु । तस्मिन्नपक्रान्ते तु[5] स्वगृहभेदभयोपजापजर्जरमनस्को वानरपतिः शिथिलितरामप्रयोजनः स्यात् ।

कटकयोः रामरावणसेनासन्निवेशयोः । तत्त्वज्ञः यथार्थस्थितिवेत्ता । आमपात्रम् अपक्वं शरावादिभाण्डम् । आधीयते स्थाप्यते । आचुचूषति पिबति, आशु गृह्णाति, यथा आमपात्रे यज्जलादि दीयते तत्पात्रं तदाशु गृह्णाति तथैव बालो राजपुत्रोऽङ्गदो यदुपदिश्यते भेदबुद्धिजनकं तत्सर्वमसौ स्वीकरिष्यति, तदङ्गदं प्रति भेदनीतिं प्रयुज्यापरञ्जनीय इत्याशयः । आचुचूषतीति शुद्धः पाठः ग्राह्यः । भवतः अङ्गदस्य । पितृवैरिणौ वालिशत्रू । व्यापाद्य हत्वा । अनृणमिच्छामि वालिना सह मम या मैत्री आसीत्तत्प्रत्युपकारं कृत्वा मुक्तो भवितुं कामये । गूढप्रणिधिमुखेन गुप्तचरद्वारा । अपवाह्यते अन्यत्र नीयते । तस्मिन् अङ्गदे । अपक्रान्ते भिन्नेऽन्यत्र गतेऽपरक्ते सति । अहिभयोपजापजर्जरम् स्वपक्षप्रभवभयेन उपजापेन भेदेन च जर्जरम् आकुलम् । 'महीभुजामहिभयं स्वपक्षप्रभवं भयम्', 'समौ भेदोपजापौ च' इत्युभयत्रामरः । शिथिलितरामप्रयोजनः परित्यक्तरामकार्यः ।

सारण—आर्य, मैं यह कहता हूँ कि राजकुमार अङ्गद अभी नवबुद्धिवाला है, उसे जो समझाया जायगा वही समझेगा, जैसे कच्चे पात्रमें जो चीज रखी जाती है उसे वह चूसता है ।

माल्यवान्—आप अङ्गदके पास गुप्तचर भेजकर यह कहलाइये कि रावणने कहा है—'तुम्हारे पितृवैरी राम सुग्रीवको मरवा करके किष्किन्धाके राज्यपर तुमको बैठाकर मैं वालिके सौहार्दका ऋण चुकाना चाहता हूँ' ऐसा कहलवाकर उसको सुग्रीवके शिविरसे खिसका दिया जाय, उनके चले जानेपर अपने घरकी फूटसे डरे होकर सुग्रीव रामके प्रयोजनके प्रति शिथिल हो जायगा ।

सारण—उसके बाद ।

---

१ 'बालोऽसौ' । २ 'आममिव पात्रम्' ।

३. 'अनृणमात्मानम्', 'आनृण्यमात्मनः' । ४ 'निरूढ' । ५ 'च' ।

माल्यवान्—(सस्मितम् ।) वत्स, साधु समर्थयसे । किं[1] पुनः स्वयमङ्गदो गर्भरूपोऽभिनवोज्ज्वलयौवराज्यसुखोपलालितो दुरवग्राह एव । ये चास्य मातापितृबान्धवास्ते [2]सुग्रीवस्यापि सम्बन्धिनः कथमेनमुत्तिष्ठमानमनुजानीयुः ।

सारणः—यथा दृष्टमार्येण । किं च कालापेक्षी दण्डनीतिप्रयोगः । [3]तथा कथमपि महोत्साहैः कपिभिः सेतुकर्मणि प्रवृत्तं यथैतावता कालेन[4] सन्तीर्णमहार्णवो रामः [5]सुवेलशैलोपत्यकामध्यास्ते ।

समर्थयसे चिन्तयसि वदसि वा । किं पुनः किन्तु । गर्भरूपः बालकः प्रियश्च अभिनवेन नवीनेन उज्ज्वलेन रमणीयेन यौवराज्येन उपलालितः प्रसन्नतां प्रापितः । दुरवग्राहः अपवारयितुमशक्यः सुग्रीवादपरञ्जयितुमशक्य इत्यर्थः । अङ्गदो नवीनं यौवराज्यं प्रापित इत्यसौ न भेदं प्राप्नुयान्न वा तस्मिन् भिन्नेऽपि तस्य सम्बन्धिनस्तमनुगच्छेयुः सुग्रीवस्यापि तैः सह सम्बन्धस्य सत्त्वात्तथा चाङ्गदस्य भेदाय प्रयासो न सफलः स्यादिति भावः ।

यथादृष्टमार्येण भवच्चिन्तितमेव सम्यक् । दण्डनीतिप्रयोगः षाड्गुण्यादिप्रयोगः । कालापेक्षी समयसाध्यः, नैतावता कालेन क्रियमाणो भेदप्रयोगः साफल्यं प्राप्नुयादित्यर्थः । सेतुकर्मणि समुद्रे सेतुबन्धनरूपे कार्ये तथा प्रवृत्तम् तावतोत्साहेन प्रवृत्तिः कृता, एतावता इयता वानरास्तावता वेगेन समुद्रे सेतुं बन्धुमध्यवसायभृतो यदेतावता कालेन समुद्रो बद्धः स्यात्, रामश्च समुद्रमुत्तीर्य सुवेलशैलोपत्यकामागतः स्यादिति भावः ॥

माल्यवान्—(हँसकर) कहते तो हो ठीक, परन्तु अङ्गद बच्चा है, और राज्यके सारे सुखोंसे लालित है, उसका बहकना कठिन है । इसके अतिरिक्त उसके जो मातृ-पितृ बान्धव हैं वे सुग्रीव के बान्धव हैं, अतः यदि अङ्गद कुछ करना भी चाहे तो वे कैसे करने दे सकते हैं ।

सारण—आपका कहना ठीक है । यह भी तो एक बात है कि राजनीतिके प्रयोगमें समय लगता है । इधर वानरोंने सेतुका कार्य इस लगनसे प्रारम्भ किया था कि इतने समय तक राम समुद्र पारके सुवेल शैलके तटमें आगये होंगे ।

---

१. 'किं तु स्वयम्', 'किं पुनरङ्गदः' । २ 'अपि सुग्रीवस्यैव' ।
३ 'यथा तु महोत्साहैः' । ४ 'समुत्तीर्ण' । ५ 'सुवेलोपत्यका-' ।

माल्यवान्—(सविमर्शास्मितम् ।) अहह !

असौ मनुष्यमात्रेण लङ्घितो यदि सागरः ।
प्रतापो दशकण्ठस्य भुवनेऽपि लङ्घितः ॥ १० ॥

(सखेदं च ।)

पौलस्त्यस्य सुरासुरेन्द्रशिरसां निर्माल्यमङ्घ्रिद्वयं
कुर्वाणेन रघूद्वहेन घटिते सेतौ निधावम्भसाम् ।
अद्योन्मुद्रयति स्वहस्तविधृतं राजीवमिद्धो रविः
प्रत्यावृत्तरसस्य चामृतभुजामिन्दोः स्वदन्ते कलाः ॥ ११ ॥

असाविति । मनुष्यमात्रेण साधारणेन मनुष्येण रामेण असौ शतयोजनविस्तीर्णः सागरः लङ्घितः पारं प्राप्तो यदि चेत्तदा दशकण्ठस्य रावणस्य प्रतापः पराक्रमोऽपि भुवने समस्तवासिभिर्लङ्घितः लघूकृत आपन्नः । यदि देवदानवादिभिरलङ्घ्यः सागरस्तीर्णस्तदा दैववशादेव रावणस्य प्रतापोऽप्यन्तं गतो वेद्य ॥ १० ॥

पौलस्त्यस्येति । पौलस्त्यस्य रावणस्य अङ्घ्रिद्वयं चरणयुगलं सुरासुरेन्द्रशिरसां देवदानवमस्तकानां निर्माल्यं त्याज्यं कुर्वाणेन विरचयता रघूद्वहेन रामेण अम्भसां निधौ सागरे सेतौ घटिते निर्मिते सति अद्य रविः सूर्यः इद्धः दीप्तः सन् स्वहस्तविधृतं निजकरस्थापितं राजीवं पद्मम् उन्मुद्रयति विकासयति, प्रत्यावृत्तरसस्य पुनरागतस्वादस्य इन्दोः कलाश्च अमृतभुजां देवानां स्वदन्ते सन्तोषाय जायन्ते । निर्माल्यं त्याज्यतया शिरसि नादीयते, देवा दानवाश्च रावणस्य चरणद्वयं शिरसि कुर्वन्ति स्म, सम्प्रति रावणेऽप्रतिष्ठे हीनपराक्रमे च जाते देवा दानवाश्च रावणस्य चरणद्वयं स्वशिरस्सु नाधास्यन्ति, तथा च तन्निर्माल्यमिव कृतं रामेण, एतादृशे रामे सागरे सेतुं निर्माय लङ्कामागते सति प्रदीप्ततेजा भगवान् सूर्यः स्वकरस्थं कमलं विकासयिष्यति, पूर्वं तु रावणभयात्समग्रेण तेजसा तद्गुमशक्यतया तत्कमलं विकासयितुमसमर्थ आसीत् सूर्यः, सम्प्रति रावणस्यास्तप्रायतया तद्भयाभावात् समस्ततेजसा

माल्यवान्—(विचार और आश्चर्यके साथ) अहह ! यदि वह साधारण मनुष्य होकर समुद्र पार कर गया, तो दशकन्धरके प्रतापको भी संसार लांघ गया, यह मान लेना चाहिये ॥ १० ॥

(सखेद) पौलस्त्यके चरणोंको सुर असुरके इन्द्रोंके मस्तकके लिये निर्माल्यवत् त्याज्य-अप्रणम्य-उपेक्ष्य बनानेवाले राघवने यदि समुद्रमें सेतु बना दिया तो अब सूर्य स्वतः अधिकप्रभ होकर निजकरकमलको विकसित कर लेंगे, और फिर चन्द्रमामें रस आजायगा जिससे उसकी कलायें देवोंको रुचने लगेंगी ॥ ११ ॥

([1]विमृश्य ।) वत्स सारण, वालिवधविशुद्धपार्ष्णेरनेकवानरानीकनायकेन साक्षादुपकृतेन सख्या सुग्रीवेण महापक्षस्य हनुमच्चरितज्ञातास्मदीयवृत्तेरयमेव सुविहतसकलाभियास्यत्कर्मणस्तस्याभियोगसमय ।

सारणः—[2]आर्य, अयमेवात्मद्रव्यप्रकृतिसपन्नो नयस्याधिष्ठान विजिगीषुरिति प्रथमोदाहरण दाशरथि ।

दित सूर्य स्वकरस्थ कमल विकासयिष्यति, किच चन्द्र ग्रावग्रावणभयात्क्षीण आसीदतस्तत्रामृतस्य स्वल्पतया स्वादो नासीत्, सम्प्रति तद्भयविगमे पुनरागतस्वादस्य तस्य कला देवेभ्य स्वदन्ते इत्याशय । अमृतभुजामिति सबन्धसामान्ये षष्ठी । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ११ ॥

वालिवधविशुद्धपार्ष्णि बालिनो वधेन समाप्तपृष्ठदेशस्थशत्रु । अनेकवानरानीकनायकेन बहुवानरसैन्यसनाथेन। साक्षादुपकृतेन बालिवधद्वारा सपद्येवोपकृतेन । महापक्षस्य प्रबलपक्षस्य । हनूमच्चरितेन ज्ञाता अस्मदीयवृत्ति अस्माक स्थितिर्येन तथोक्तस्य । सुविहित सर्वाङ्गसम्पन्न सकलम् अभियास्यत्कर्म विपक्षोपरि आक्रमणापूर्वतन कर्त्तव्य येन तथाभूतस्य । अयमेव अभियोगसमय आक्रमणकाल । बालिवधेन तस्य पृष्ठशत्रोरभावो जात , सुग्रीवस्य सहायता कृत्वा तमृगिन विधाय स तदीयसैन्यशक्त्या सपन्नोऽभूत् , हनूमन्त प्रेष्य तद्द्वारा सोऽस्मदीया स्थिति ज्ञातवान् , तदित्थ सर्वाणि युद्धपूर्वकर्त्तव्यानि कृत्वा सन्नद्धस्य रामस्यायमेवाक्रमणोचित काल इति बोध्यम् ।

आत्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्न आत्मद्रव्याणि प्रकृतयश्च तत्सम्पन्न , आत्मद्रव्याणि सम्पद , ता उक्ता यथा 'बाहुश्रुत्य तपस्त्याग श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा । भावशुद्धिर्दया सत्य नियमश्चात्मसम्पद '। प्रकृतयश्चोक्ता यथा 'अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोषो दण्डश्च पञ्चम । एता प्रकृतय पञ्च विजिगीषोरुदाहृता '। 'एता पञ्च तथा मित्र सप्तम

(विचार करके) वत्स सारण, बालिके मारे जानेसे रामको पृष्ठभय नही रह गया, साक्षात् उपकृत तथा अनेकविध वानर सैन्यवाले सुग्रीवके साथ मित्रता हो जानेसे रामका पक्ष मजबूत हो गया, हनुमानके आचरणसे उसने हमारे सारे वृत्तान्त जान लिये, इसतरह उसने आक्रमणकी सारी तैयारी कर ली है, अत रामके द्वारा आक्रमणका यही उपयुक्त समय है ॥

सारण—आर्य, विजिगीषुको स्वय गुणवान् नीतिनिपुण होना चाहिये इसके प्रथम उदाहरण राम ही है ।

---

१ 'विमृश्य च'। २. 'आर्य, एवमेतत्'।

माल्यवान्—(स्तम्भं नाटयित्वा ।)

यत्तस्मिन्निहतेऽपि बालिनि वयं क्षुद्रास्तथैवास्महे
[1]तद्युक्तं भुजयोर्बलादपि बलं दुर्गस्य दुर्निग्रहम् ।
मर्त्येनापि जगद्वि[2]लक्षणगुणग्रामेण रामेण तु
द्वे गव्यूतिशते हि नाम कियती तीर्णोऽयमर्णोनिधिः ॥ १२ ॥

(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य । आकाशे ।)

तर्षार्तिव्यतिलेलिहानरसनारम्यैर्मुखैरष्टभिः

पृथिवीपतिः । सप्तप्रकृतिकं राज्यमित्युवाच बृहस्पतिः'। नयस्य नीतिशास्त्रस्य । अधिष्ठानम् आश्रयो ज्ञाता । प्रथमोदाहरणम् आद्यो दृष्टान्तः । दाशरथिः रामः ।

यत्तस्मिन्निति । तस्मिन् प्रसिद्धपराक्रमे बालिनि निहते रामेण मारितेऽपि वयं क्षुद्रा नीचप्रकृतयः तथैव उदासीना एव आस्महे तिष्ठामः, तत् अस्माकमुदासीनवदासनं युक्तम्, यतः भुजयोर्बलात् बाहुद्वयपराक्रमापेक्षया दुर्गस्य बलं दुर्निग्रहम् अतिक्रमितुं कठिनम् । दुर्गस्य सागरस्य दुरतिक्रमतया वयं यद् बालिनिहतेऽपि स्वस्था अतिष्ठाम तदस्माकमाचरणं युक्तमेवासीदित्यर्थः ।

तु किन्तु मर्त्येनापि मनुष्यमात्रेणापि जगद्विलक्षणगुणग्रामेण लोकातिशायिगुणसमूहशालिना रामेण द्वे गव्यूतिशते चतुःशतक्रोशाः नाम कियती कियद्दूरं नाम अयम् अर्णोनिधिः सागरः तीर्णः तीरं प्राप्य पारं गतः । सागरं तीर्णवतो रामस्य कृते द्वे गव्यूतिशते कियती किंपरिमाणे अतितुच्छे इत्यर्थः, अत्युत्साहसम्पन्नोऽयं रामो यत्सागरं शतयोजनविस्तीर्णमपि ललङ्घ, तदधुना चिन्ताविषय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

तर्षार्तीति । हे वत्से नैकषि निकषायाः पुत्रि रावणमातः वत्सस्य रावणस्य

माल्यवान्—(ठिठक कर) उस बालिके मारे जाने पर भी हम क्षुद्र उसी तरह उदासीन बने बैठे रहे, फिर भी हमपर आक्रमण नहीं हुआ था इसका कारण तो यह था कि बाहुके बलसे भी दुर्गका बल अधिक दुर्जय होता है अतः सागर मध्यस्थ होनेसे हमपर अबतक आक्रमण नहीं हुआ। जगद्विलक्षणगुणशाली राम मानव होकर भी दो सौ योजन विस्तीर्ण इस सागरको पारकर लिया, अब आक्रमण होना ही चाहिये ॥ १२ ॥

(दीर्घ तथा उष्ण श्वास लेकर आकाशकी ओर) रावणके दशमुखोंमेंसे दो ही मुख

---

१ 'तद्व्यक्तम्'। २ 'विजितवर'।

क्रन्दन्ती क्रमशः पपौ दशमुखी वत्सस्य यस्याः स्तनौ ।
वत्से नैकषि[1] विश्ववीरजननी-सीमन्तमुक्तामणिः
सा तादृग्भवती कथं गुणवतः पुत्रस्य किं द्रक्ष्यति ॥ १३ ॥

सारण —[2]शान्तं शान्तम् । प्रतिहतममङ्गलम् । अनर्थशङ्कीनि बन्धुहृदयानि भवन्ति । किं च आर्य,

भुजनिवहविहङ्गिकावलम्बी निबिडगुणौघधृतोऽपि राज्यभारः ।

दशमुखी दशानां मुखानां समाहारः तर्षेण पिपासया या आर्त्तिः पीडा तया व्यतिलेलिहानाः पुनः पुनः स्तनपानाभिलाषिण्यो रसना जिह्वा ताभिः रम्यैः सुन्दरैः अष्टभिः मुखैः क्रन्दन्ती सती यस्यास्तव स्तनौ क्रमशः पर्यायेण पपौ पीतवती (हे रावणमातः बालस्य रावणस्य दशमुखानि युगपदेव मातुः स्तनद्वयं पातुमिच्छन्तिस्म, तत्र द्वयोरेव मुखयोः पानेऽवसरलाभसम्भवः, शेषाणि मुखानि तृष्णया जिह्वां प्रसार्य रोदितुं प्रावर्त्तन्त) एतादृशस्यालौकिकस्य पुत्रस्य जननी भूत्वा विश्ववीरजननीसीमन्तमुक्तामणिः लोकैकवीरसुतजनकतया सकलवीरप्रसूवन्दनीया सा तादृक् भवती गुणवतः पुत्रस्य रावणस्य किं मरणरूपमनिष्टं कथं द्रक्ष्यति? एतादृशस्य पुत्रस्य मरणरूपमनिष्टं भवत्या द्रष्टव्यमिति महत्कष्टमिति भावः ॥ १३ ॥

अनर्थशङ्कीनि अनिष्टसम्भावनापराणि, अतिस्नेहस्य पापशङ्कितया बन्धव स्वबन्धूनामनिष्टमेव शङ्कन्तेऽत एव मयाऽपीत्थमाशङ्क्यते, वस्तुतस्तु वयमहितमापतद्वारयिष्याम एवेत्याशयः ॥

भुजनिवहेति । भुजनिवहो बाहुसमूह एव विहङ्गिका भारवहनसाधनकाष्ठम् (यत्र शिक्यद्वारा भारं आसज्य तिष्ठति 'बहँगी' इति भाषायां प्रसिद्धा) तदवलम्बी

स्तन पी सकते थे, क्योंकि तेरे दो ही स्तन थे, शेष आठ मुख तृष्णासे उत्पन्न आर्त्तिके कारण लपलपाती जीभोंसे सुन्दर बन गये थे, रो रहे थे, इस प्रकार तुम्हारा वही पुत्र न्यासे क्या होने जा रहा है, हे विश्ववीरजननी शिरोमणि वत्से नैकषि ! तुम इस दशाको किस प्रकार देख सकोगी ? ॥ १३ ॥

सारण—शान्त शान्त, अमङ्गलका नाश हो, बन्धुजनके हृदय अनर्थकी शङ्का किया करते हैं । आर्य,

बाहुसमुदायरूप बहँगीपर लटकता हुआ निबिडगुणराशिधृत होकर भी यह राज्य

---

१ 'कैकसि' । २. 'शान्तं पापम्' ।

स्वयमपि दशकंधरे धुरीणे स्खलति यदि [1]स्खलनं तदास्य रूपम् ॥१४॥

माल्यवान्—(अश्रूणि स्तम्भयन् ।) वत्स,

विद्वानपसृतमिव [2]स्वभाग्यं न तावदात्मानमहं ब्रवीमि ।
महामुनेर्विश्रवसस्तपाभिर्निवापबीजं यदि न कुलं स्यात् ॥ १५ ॥

(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तः शुकः)

तदाश्रितं निबिडगुणौघ घनतया स्थितं। स्तम्भरूप शिल्परूपं तेन धृतं अवलम्बितोऽपि राज्यभारं स्वयं दशकन्धरे रावणे धुराणे धुर्ये सत्यपि यदि स्खलति पतति तदाऽस्य राज्यभारस्य स्खलनं पतनं रूपम् प्रकृतिः (एवेति मन्तव्यं स्यात्) भारपतने कारणत्रयं विहङ्गिकादोषः, शिल्पदोषः, दारुदोषश्च, तत्र राज्यभारे रावणस्य विंशतिर्भुजा एव विहङ्गिकारूपा इति न तद्दोषः, शिल्पदोषोऽपि नास्ति रावणीयप्रजागुणसारस्तम्भशिल्पयोत्तम्भितत्वादस्य सारस्य नाहन्तुं दारुदोषः, ... अशस्य एव स्वयं दशकन्धरस्य रावणस्य धुर्यत्वादथापि यद्यस्य राज्यभारो स्खलति तदाऽस्य राज्यस्य पतनं स्वाभाविकमेव न कारणसापेक्षमिति मन्तव्यं भवतीति तात्पर्यम् । एककन्धरेण धृतो भारः कदाचित्स्खलत्यपि दशकन्धरधृते तु भारे न तत्सम्भव इत्यपि व्यज्यते ॥ १४ ॥

विद्वानिति । स्वभाग्यम् निजशुभादृष्टम् अपावृत्तम् अपगतम् इव विद्वान् जानन् अहम् तावत् आत्मानं न ब्रवीमि स्वभाग्यविपर्ययं जानन्नप्यहं तमर्थं स्वमात्मानं नाभिदधे, स्वात्मनोऽपि निजभाग्यविपर्ययमहं गोपयामीत्यर्थः । महामुनेर्विश्रवसो रावणपितुः तपोभिः यदि न कुलं निवापबीजं जलाञ्जलिदाननिमित्तं स्यात्, विश्रवस्तपःप्रभावादेव न कुले कोपि जलाञ्जलिदानायावशिष्येत, न त्वस्माकं भाग्येनेत्यर्थः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १५ ॥

यदि स्वयं दशकन्धररूप भारवाहक स्खलित हो जायेंगे तो स्खलित होकर रहेगा ॥ १४ ॥

माल्यवान्—(आँसूओं रोककर) वत्स, अपने भाग्यको अपगत जानता हुआ भी मैं इस बातको सबसे नहीं कहता हूँ, यदि इस वंशमें कोई पानी देनेवाला शेष रह जायेगा तो इसे विश्रवा मुनिके तपका माहात्म्य समझना ॥ १५ ॥

(पर्दा हटाकर घबराये हुए शुकका प्रवेश)

१ 'स्खालनम्' ।　　२ 'स्वभाग्यात्' ।

शुक —

प्रहस्तधूम्राक्षमहोदरादीन्व्यापाद्य सेनाधिपतीनमात्यान्।
स एष लङ्कामुपरुध्य रामः शाखामृगैरर्णवमातनोति ॥ १६ ॥

माल्यवान्—(सविषादम् ।) पुरस्तादेव दृष्टमिदमस्माभि । देशकालव्यवहितस्यापि प्रमेयग्रामस्य [1]यथामुखीनमादर्शतल हि स्थविरबुद्धि । (विमृश्य । आकाशे ।) साधु रामभद्र, साधु । विजिगीषोरदीर्घसूत्रता हि कार्यसिद्धेरवश्यम्भाव ।

प्रहस्तेति स एष राम प्रहस्तधूम्राक्षमहोदरादीन् तत्तत्सञ्ज्ञकान् सेनापतीन् अमात्यान् सेनानायकान्मन्त्रिण व्यापाद्य हत्वा शाखामृगै वानरै लङ्काम् उपरुध्य समन्ततो वेष्टयित्वा अर्णवम् समुद्रम् आतनोति विस्तारयति, रामसैनिकेषु वानरेषु समुद्र तरत्सु तैश्छन्न सागर स्वल्प इव सङ्कुचित इव प्रतीयतेस्म, सम्प्रति तेषु सैनिकवानरषु लङ्का परितो वेष्टयित्वा स्थितेषु सागरस्य विस्तार प्रकटीभूत इति मन्ये रामो वानरैर्लङ्कामुपरुध्य सागर विस्तारयतीवेत्यर्थं ॥ १६ ॥

पुरस्तात् पूर्वम् । दृष्टम् ध्यानदृष्ट्याऽवगतम् । देशकालव्यवहितस्य दूरदेशे कालान्तरे च स्थितस्य, देशव्यवहितस्य कालव्यवहितस्य च । प्रमेयग्रामस्य वस्तुसमुदायस्य । यथामुखीनम् सम्मुखस्थवस्तुग्राहि । आदर्शतलम् दर्पणतलम्, यथा दर्पणे सर्वं सम्मुखीन प्रतिफलति तथा स्थविरबुद्धावपि सर्वमेव दूरस्थित भूत भविष्यच्च वस्तुजात प्रतिफलतीत्यर्थं । स्थविरबुद्धि बृद्धजनप्रज्ञा । एतेन पुरस्तादेव दृष्टमिदमस्माभिरिति समर्थितम् । विजिगीषो विजय कामयमानस्य । अदीर्घसूत्रता क्षिप्रकारिता । कार्यसिद्धे प्रारिप्सितविजयसिद्धे, अवश्यभाव निश्चयेन सिद्धि, विजिगीषुर्यदि क्षिप्रमारभते कार्यं तदा तस्य कार्यमवश्यभावीति भाव ।

शुक—प्रहस्त, धूम्राक्ष, महोदर प्रभृति सेनापति मन्त्रियोंको मार करके रामने लङ्काको घेर लिया है और वानरोंसे सागरको व्याप्त कर रखा है ॥ १६ ॥

माल्यवान्—(विषादसे), मैंने यह पहले ही समझ लिया था । बृद्धजनकी बुद्धिमें देश-कालमें व्यवहित रहनेवाले भी पदार्थ स्पष्ट झलका करते हैं । (विचारकर, आकाशमें) साधु रामभद्र, साधु, विजिगीषुमें अदीर्घसूत्रताको कामका अवश्य होना समझना चाहिये ।

---

१ 'समुखीनम' ।

सारण—सखे शुक, अथ किंविधानो यातुधानेश्वर ।

शुक—(सखेदस्मितम् ।) सखे, किं तस्य विधानम् ।

श्रुत्वा दाशरथी सुवेलकटके साटोपमर्धे धनु-
 र्घंकारैः [1]परिपूरयन्ति ककुभः प्रोञ्छन्ति कौक्षेयकान् ।
अभ्यस्यन्ति तथैव चित्रफलके लङ्कापतेस्तत्पुन-
 र्वैदेहीकुचपत्त्रवल्लिरचनाचातुर्यमर्धे कराः ॥ १७ ॥

माल्यवान्—(निःश्वस्य ।) हा वत्स रावण, कथमद्यापि सैव[2] हृद-

किंविधानः किमाचारः, यातुधानेश्वरः राक्षसराजो रावणः । रावणः किमाचरतीति प्रश्नाशयः ।

तस्य किं विधानम् न किमपि विशिष्याचरति राक्षस इत्युत्तरम् ।

श्रुत्वा दाशरथी इति । लङ्कापतेः रावणस्य अर्धे कराः विंशतिसंख्यकेषु भुजेषु दशभुजाः सुवेलकटके सुवेलनामकपर्वतस्य नितम्बभागे (समागतौ) दाशरथी रामलक्ष्मणौ श्रुत्वा दूतमुखान्निशम्य धनुष्टङ्कारैः ककुभः दिशः परिपूरयन्ति भरन्ति, कौक्षेयकान् खड्गान् प्रोञ्छन्ति मार्जनादिना तीक्ष्णयन्ति । पुनः अर्धे अवशिष्टाश्च रावणस्य दशकराः चित्रफलके सीतायाः सम्मुखावस्थापिते चित्रे तत् पूर्वाभ्यस्तम् वैदेही सीता तस्याः कुचयोः स्तनयोः पत्रवल्ल्याः पत्रावल्याः रचनायाः निर्माणस्य चातुर्यम् पाण्डित्यम् अभ्यस्यन्ति गुणयन्ति । सीतायाः कुचयोः कर्तुमिष्यमाणस्य पत्रावलीविरचनस्याभ्यासं कुर्वन्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

हृदयपरिस्पन्दमुद्रा मनसस्तव चपला गतिदशा, सम्प्रत्यपि कथं पूर्ववदेव

सारण—सखे शुक, अब रावण क्या कर रहे हैं ?

शुक—(खेदकी हँसीके साथ) सखे, उनके करनेको क्या पूछ रहे हो ?

राम लक्ष्मणको सुवेल तटमें आये सुनकर रावणके आधे हाथ घमण्डके साथ धनुष्टङ्कारसे दिशाओंको निनादित कर रहे हैं, तलवारको पोंछ रहे हैं, और आधे हाथ पूर्वका तरह चित्रफलक पर वैदेही कुच-कुम्भों पर पत्ररचना-चातुर्यका अभ्यास कर रहे हैं ॥ १७ ॥

माल्यवान्—(निःश्वास छोडकर) हा वत्स, क्यों, आज भी तुम्हारे हृदयकी चाल

---

१ प्रविदारयन्ति' । २. 'सैव ते हृदयपरिपन्थिनी परिस्पन्दमुद्रा' ।

यपरिस्पन्दमुद्रा। (शुक प्रति।) वत्स, अथ गोपुरगौल्मिकबलाध्यक्षेण वत्सेन नरान्तकेन किं प्रतिपन्नम्।

शुक—(निश्वस्य।) [1]मातामह, कृतैव कुमारेण द्वारमर्यादा। परमङ्गदेन [2]सोऽपि। (इत्यर्धोक्ते सास्रमधोमुखस्तिष्ठति।)

माल्यवान्—हा वत्स दशग्रीवनन्दन, कथमिदं [3]तव द्रष्टुमेतावन्तं कालमस्माकमायुः।

(नेपथ्ये।)

भो भो महापार्श्वप्रभृतयः सैनिकाः,

व्यावर्तध्वमुपाध्वमुद्धुरशरज्वालामुखीं मातरं
देवीमस्त्रमयीं प्लवङ्गपशवः पश्यन्ति पृष्ठानि वः।

चपलं हृदयं वहसीति तात्पर्यम्।

गोपुरे पुरद्वारे यानि गौल्मिकबलानि सैनिकवीरास्तदध्यक्षेण पुरद्वारावस्थितसैन्यसमुदयप्रधानेन। प्रतिपन्नम् आचरितम्।

द्वारमर्यादा द्वारप्रतिष्ठा, द्वाररक्षकोचितं युद्धमित्यर्थः, अङ्गदेन सोऽपि नरान्तकोऽपि हत इति शेषः। दशग्रीवनन्दनः रावणतनयः नरान्तकः। इदं तव मरणम्। एतावती मम दीर्घजीविता कथं तव मरणं द्रष्टुमेव सृष्टा विधात्रेति खेदध्वनिः।

व्यावर्तध्वमिति। व्यावर्त्तध्वम् निवर्त्तध्वम् युद्धान्मा पलायध्वम्, उद्धुरा उत्कटा या शरज्वालामुखीम् उत्कटशस्त्रज्वालाप्रकटनसमर्थाम् अस्त्रमयीम् देवीं मातरम् उपाध्वम् आराधयत, प्लवङ्गपशवः नीचा अमी वानराः वः युष्माकं

पुरानी ही है। (शुकसे) वत्स, गोपुरस्थित सेनाकी टुकडीके अध्यक्ष नरान्तककी क्या स्थिति है?

शुक—(निश्वास छोडकर) मातामह, कुमार नरान्तकने द्वारकी प्रतिष्ठा रखी, परन्तु अङ्गदने उसे भी (इतना ही कहकर रोता हुआ सिर झुका लेता है)

माल्यवान्—वत्स रावणपुत्र, क्यों तुम्हारी यही दशा देखनेके लिये मेरी इतनी बडी आयु हुई।

(नेपथ्यमे)

अये महापार्श्व प्रभृति सैनिको,

लौटो, रणोन्मुख बाण ज्वालामुखी देवी माताकी उपासना करो—ये अभागे वानर

---

१ 'मातामह इति क्वचिन्नास्ति। २. 'सोऽपीत्यम्'। ३. 'तव' इति क्वचिन्नास्ति।

येन शक्रजितोऽपि लक्ष्मणवधे बद्धोत्सवं मध्यमः
पौलस्त्य स्वयमायुधं विधृतवानद्यापि रामाद्भयम् ॥१८॥

सारण —(श्रुत्वा सहर्षम् ।) आर्य [1]जात जातमवलम्बनम् । यदय प्रतिबुध्य कुमारकुम्भकर्ण पुरस्कृत्य च मेघनादमभ्यमित्रीण सवृत्त. ।

माल्यवान्—(नि श्वस्य ।) स्वस्ति विजयेता रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ[2] ।

शुक —(सविषादमात्मगतम ।) शान्त शान्तम । कथमविशिष्टकर्तृकर्मभावमुभयत्र द्विवचन प्रयुक्तमार्येण ।

युद्धात्पलायमानाना पृष्ठानि पृष्ठदेशान् पश्यन्ति ननद्युक्तमतो निवर्त्तध्वमिति भाव । शक्रजित मेघनादस्यापि येन लक्ष्मणवधे बद्धोत्सवम् कृतमहोत्साहम् , मध्यम पौलस्त्य पुलस्त्यस्य मध्यम पुत्र , कुम्भकर्ण स्वयम आयुधम् अस्त्र कृतवान् युद्धोद्यत जात , अद्यापि रामात भयम् । लक्ष्मणवधायेन्द्रजिति कृतव्रते कुम्भकर्णे च रणोन्मुखे रामाद भयस्यानुचितत्वेन भवता युद्धात्पलायन नितरा निरर्थक दुरर्थक चेति भाव ॥ १८ ॥

प्रतिबुध्य निद्रा त्यक्त्वा । पुरस्कृत्य अग्रेकृत्वा, प्रशसावचनै सत्कृत्य वा । अभ्यमित्रीण शत्रुसम्मुखीन ।

अविशिष्टकर्तृकर्मभावम् विशिष्य कर्त्तार कर्म वाऽबोधयत् । 'विजयेता रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ इत्यत्र रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ च' इत्युभयो पदयुगलयो द्विवचनान्ततोक्ता, कर्त्तरि कर्मणि च सा समा, तत्र कस्य कर्त्तृता कस्य वा कर्मतेति कथ ज्ञायतामित्याशय ।

शत्रु तुम्हारी पीठ देख रहे हैं, इन्द्रजित्का हृदय भी लक्ष्मणको मारनेके लिये उत्साहित हो रहा है, और कुम्भकर्णने भी स्वयम् अस्त्र पकड लिया है, आज भी रामसे भय? ॥१८॥

सारण—(सुनकर सहर्ष) आर्य, हम लोगोंको अवलम्बन मिल गया, अब कुम्भकर्णकी नींद खुल गई है और वह इन्द्रजित्को आगे करके शत्रुओंसे भिडने चले हैं।

माल्यवान्—(साँस लेकर) राम-लक्ष्मण (पर) कुम्भकर्ण मेघनाद (के ऊपर) विजयी हों।

शुक—(सविषाद स्वगत) शान्त शान्त, आर्यने कर्त्ता कर्मका भेद नहीं करके सामान्यत द्विवचनका प्रयोग कैसे कर दिया।

---

१. 'जातम्' इत्येकवारमेव क्वचित् । २ 'मेघनादौ च' ।

माल्यवान्—(सखेदम् ।) वत्सौ शुकसारणौ, अद्य खलिवयं [1]राक्षस-लक्ष्मी सर्वथा कुम्भकर्णमवलम्ब्य[2] वर्तते । इदं तु न विद्म ।

अग्रजं वा दशग्रीवमनुजं वा विभीषणम् ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वीरः कमभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

(नेपथ्ये ।)

मा भैष्टं कमठेन्द्रपन्नगपती कश्चिन्न वैशेषिको
भूमेरद्य भरः पतिः पलभुजामाज्ञापयत्येष वाम् ।

शुकः—(सहर्षम् ।) नूनमस्मदीयैर्विशेषेण, किमपि विक्रान्तम् ।

(माल्यवानवधत्ते ।)

कुम्भकर्णमवलम्ब्य वर्त्तते तदधीना, यदि कुम्भकर्णो जयति तदा राजलक्ष्मी रक्ष्यतेऽन्यथा गतेयमिति तात्पर्यम् ।

अग्रजमिति । वीरः कुम्भकर्णः अग्रजं ज्येष्ठम् दशग्रीवं वा अनुजं कनिष्ठं विभीषणं वा कम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् विजयपराजयाभ्याम् अभिषेक्ष्यति योजयिष्यति ? स्वजये दशग्रीवं स्वपराजये विभीषणं वा कमयं वीरो युध्यमानः कुम्भकर्णो योजयिष्यति विजयश्रियेति न निश्चिनोमीत्यर्थः ॥ १९ ॥

मा भैष्टमिति । हे कमठेन्द्र कूर्मराज पन्नगपति शेषनागश्च तौ !, एष पलभुजां रक्षसां पतिः रावणः वाम् युवाम् आज्ञापयति, युवाम् मा भैष्टम् भयं कुरुतम् , अद्य भूमेः पृथिव्याः भरः भारः कश्चित् वैशेषिकः अधिकः न, कुम्भकर्णशरीरपातेन

माल्यवान्—(सखेद) वत्स शुक और सारण, आज राक्षस लक्ष्मी सर्वथा कुम्भकर्णपर अवलम्बित हो रही है । यह नहीं समझमें आ रहा है कि—

वीर कुम्भकर्ण अपनी विजयके द्वारा अग्रज रावणको अभिषिक्त करेंगे या अपनी पराजयके द्वारा अपने अनुज विभीषणको गद्दीपर बैठायेंगे ॥ १९ ॥

(नेपथ्यमें)

हे कूर्मराज तथा शेषनाग, आप भय न करें, पृथ्वीपर अब (राक्षसोंका) अधिक भार नहीं रहा, तुम्हारे मालिकका यही आदेश है ।

शुक—(हर्षके साथ) निश्चय हमारे सैनिकोंने कुछ विशेष विक्रम प्रदर्शन किया है ।

(माल्यवान् मनोयोग देता है)

---

१ 'राजलक्ष्मी' । २ 'अवलम्बते' ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

दोःशैलौ हरता पृथक्पृथगथो मूर्धानमुत्क्षिप्णुना
रामेणापि लघूकृतं पतति यत्तत्कौम्भकर्णं वपुः ॥ २० ॥

माल्यवान्—हा वत्स ! (इति मूर्च्छितः पतति ।)

उभौ—(सास्रम् ।) आर्य, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

माल्यवान्—(आश्वस्य ।) [1]वत्सौ, जीवतो रामभद्रस्य मैथिलीहरणादेतदस्माभिरान्तरेण चक्षुषा विषयीकृतमेव । किमिदानीं [2]समाश्वसितव्यमस्ति ।

शुकः—धिक्कष्टम् । 'कौम्भकर्णं वपुः पतति' एतदपि [3]देवेनाज्ञापयितव्यम् ।

अधिको भारः स्यादिति युवाभ्यां न भेतव्यमिति भावः, भाराधिक्याभावे कारणमाह—दोः शैलाविति । यत् यस्मात् पृथक् दोःशैलौ पर्वतोपमौ कुम्भकर्णस्य भुजौ अथो पृथक् मूर्धानम् शिरः उत्क्षिप्णुना ऊर्ध्वं क्षिपता रामेण अपि लघूकृतम् अल्पभारतां नीतम् तत् कौम्भकर्णं वपुः शरीरं पतति । पृथिव्या भारस्तदा वर्धेत यदि समग्रं कुम्भकर्णशरीरं पतेत्, तदत्र नास्ति, कुम्भकर्णस्य बाहू शिरश्च रामः पृथक् पृथक् उपरि क्षिप्तवान्, अतश्च भारवृद्धेरसम्भवेऽलं भवतोर्भयेनेति तात्पर्यम् ॥२०॥

जीवतो रामभद्रस्य जीवन्तं रामभद्रमनादृत्य । मैथिलीहरणात् सीतापहारात् । आन्तरेण चक्षुषा भावनादृष्ट्या । विषयीकृतम् ज्ञातम् ।

देवेन महाराजरावणेन । आज्ञापयितव्यम् आदेष्टव्यम् । रावणः कुम्भकर्णशरीरपातविषये कथमादेष्टुमशक्यतातिदुःमहतयाऽस्य दुःखभारस्येति भावः,

---

(फिर नेपथ्यमें) बाहुरूप पर्वतोंको पृथक् तथा मस्तकको पृथक् फेंकनेवाले रामने जिसको हल्का बना दिया है वह कुम्भकर्णका शरीर गिर रहा है ॥ २० ॥

माल्यवान्—हा वत्स, (कहकर मूर्च्छित होकर गिरता है)

दोनों—(रोते हुए) आर्य, धीरज धरिये, धीरज धरिये ।

माल्यवान्—(आश्वस्त होकर) रामके जीते रहनेपर रावणने जब सीताका अपहरण किया उसी समय मैंने मनमें यह बात जान ली थी, अब क्या धीरज धरना है ? ॥

शुक—हाय, कष्ट, कुम्भकर्णका शरीर गिर रहा है, यह आज्ञा भी रावणको देनी पड गई ।

---

१ 'वत्स शुक' । २. 'समाश्वसितम्' । ३. 'आज्ञापितव्यम्', 'अज्ञायि' ।

मालयवान्—वत्स अद्यापि [1]रावणस्याज्ञा ! नूनमन्योन्येषां वैहासिकाः कपयो दशकण्ठमुल्लुण्ठयन्ति[2] ।

सारण—आः क्षुद्राः,

यद्यस्ति वीर्यमस्त्येव तत्कर्म कथयिष्यति ।
मेघनाद[3]मजित्वैव धिक्प्रहासविभीषिकाम् ॥ २१ ॥

(नेपथ्ये ।)

भो भो यूथपतयः, विलुम्पन्तु भवन्तो लङ्कागोपुरप्राकारतोरणानि ।

संनद्धेन्द्रायुधमविरलारम्भिगीर्वाणबाण-

अन्योन्येषाम् परस्परेषाम् । वैहासिकाः उपहासपरायणाः । उल्लुण्ठयन्ति उपहसन्ति, केचन वानरा आकाशे स्थिताः पक्षप्रतिपक्षभावमास्थाय रामपक्षगा रावणमेव रावणपक्षगाश्च राममुपहसन्तः क्रीडन्ति, तेषामेव रामपक्षगा रावणपक्षोपहासायेत्थमादेशमुद्घोषयन्ति इति तात्पर्यम् ।

यद्यस्तीति । यदि वीर्यम् अस्ति अस्ति एव, तत् वीर्यं कर्म क्रियमाणं पराक्रमातिशयं कथयिष्यति प्रकटं प्रत्याययिष्यति, अलमुपहस्य, यदि अस्मासु पराक्रमोऽस्ति तदा तं पराक्रममस्माकं कार्यं प्रकाशयिष्यत्येव, कृतमुपहासादिनेति भावः । मेघनादमजित्वा अपराभूय एव प्रहासविभीषिकाम् उपहासद्वारकं भयप्रदर्शनम् धिक् । यावन्मेघनादो न जीयते तावद् भयप्रदर्शनं नितान्तमनवसरदुःस्थं तस्य सर्वविधाशास्थानत्वादिति ॥ २१ ॥

सन्नद्धेन्द्रेति । येन दुष्टग्रहेण शनैश्चरादिना दुष्टः ग्रहो ज्ञानं यस्य तादृशेन

माल्यवान्—वत्स, अब रावणकी आज्ञा क्या ? आकाशमें उड़नेवाले कपिगण परस्पर रावणका मजाक कर रहे हैं ।

सारण—धिक्कार है तुम क्षुद्रोंको,

यदि वीर्य है तो है ही, कर्त्तव्य ही उसे कहेगा, जब तक मेघनाद विजित नहीं होता है तब तक हँसना तथा डराना ठीक नहीं है ॥ २१ ॥

(नेपथ्यमें)

हे सेनापतियो, लङ्काके गोपुरद्वार तोरणोंको उतार लें,

जिस दुष्टग्रहरूप मेघनादने इन्द्रायुधसे प्रसूत अनारत वर्षारम्भ करनेवाले देवगणोंकी

---

१ 'रावणाज्ञा' । २ 'उल्लुठन्ति', 'उल्लुठयन्ति' । ३ 'अजित्वापि', 'अजित्वा तु' ।

श्रेणीवर्षं तदवजगृहे येन दुष्टग्रहेण।

माल्यवान्—(सोद्वेगम् ।) आ, किमनेन श्रावयितव्योऽस्मि। (इति कर्णौ पिदधाति ।)

(पुनर्नेपथ्ये ।)

इष्ट्वा कांचित्प्रहरणमयीं वीरयज्वानमिष्टिं
दिष्ट्या सोऽयं समुपशमितः शक्रजिल्लक्ष्मणेन ॥ २२ ॥

माल्यवान्—सत्योऽयम् 'अतिदुःखो[1] निर्दुःख' इति लोकप्रवादः। यदस्मिन्नपि समूलघातमभिघ्नति [2]व्यतिकरे तथैव [3]श्वसिमः।

इन्द्रजिता च तत्र सन्नद्धं आयुधम् समुद्यतशक्रचापम् अविरलारम्भि सततसक्रियम् गीर्वाणबाणश्रेणीवर्षं देवानां बाणवृष्टिं अवजगृहे प्रत्यबध्यत, यथा शनैश्चरादिदुष्टग्रहेण सशक्रचापं सक्रियं च वर्षं प्रतिबध्यते तथा येन दुष्टज्ञानेन इन्द्रजिता शक्रचापे उद्यते सक्रियं च सत्यपि प्रसत्य देवानां बाणवृष्टिं प्रतिबध्यते, यत्पुरतः सेन्द्रा अपि देवा बाणवृष्टिं कर्तुं न प्रभवन्ति इति भावः। इष्ट्वेति। सोऽयं समस्तभुवनख्यातः शक्रजित् काञ्चित प्रहरणमयीम् अस्त्रशस्त्ररूपाम् वीरयज्वानम् शूरयाज्ञिकाम् याागम् इष्ट्वा कृत्वा दिष्ट्या भाग्येन उपशमितः शमितः, यथा वृष्टिप्रतिबन्धकरस्य दुष्टग्रहस्य यागेन उपशमनं क्रियते तथा वीरयाज्ञिकाम् शस्त्रमयीं काञ्चिद् इष्टिं कृत्वा लक्ष्मणेनासौ मेघनादः शान्तिं नीतो हत इति हृदयम् ॥ २२ ॥

अतिदुःख अतिदुःखभाक्। निर्दुःख दुःखशून्यः, सततं दुःखेऽनुभूयमाने दुःखसात्म्यतयाऽनतिव्यथकत्वापत्तेरिति भावः। समूलघातमभिघ्नति मूलमुच्छिद्य

बाणवृष्टिको प्रतिबद्ध कर दिया था,

माल्यवान्—(उद्वेगसे) हाय, यह क्या सुनाता है!

(कान बन्द करता है)

(फिर नेपथ्यमें)

बाणप्रहारमय कुछ यज्ञ करके वीरयाज्ञिक लक्ष्मणने उस प्रतिबन्धक मेघनादको प्रशमित कर दिया ॥ २२ ॥

माल्यवान्—अतिदुःखी निर्मुक्तदुःख हो जाता है यह लोगोंका कहना सत्य है क्योंकि समूलविनाश करनेवाली इस विपत्तिमें भी मैं जी रहा हूँ।

---

१. 'अतिदुःखोऽनिर्दुःख'। २. 'व्यतिरेके'। ३. 'विश्वसिम'।

शुकः—(ऊर्ध्वमवलोक्य ।) यथा [1]समन्तादम्बरचरविमानवीथय ककुभा मुखानि [2]पर्यवष्टभ्नन्ति, तथा शङ्के दुर्वारदारुणक्रोधवडवानल-निपीयमानशोकसमुद्रो दाशरथिविजयाय सनह्यते देव ।

सारणः—(सविषादमात्मगतम्) [3]कष्टम् । कथ दाशरथिविजयाये-त्यविशिष्टोपपत्तिककर्तृकर्मकारकार्थविषय वयस्यवचनम् ।

माल्यवान्—(उत्थाय ।) तदस्माभिरपि जरसा दूषितस्यात्मन प्र-क्षालनाय प्राप्त शस्त्रधारातीर्थम् । ([4]इति सशुकसारणो निष्क्रान्त ।)

विनाशकरे । व्यतिकरे विपत्तौ, इन्द्रजिन्निधनरूपायामित्यर्थ । समन्तात् सर्वत । अम्बरचरविमानवीथय देवयानपङ्क्तय । ककुभा मुखानि दिगन्तरालानि । पर्यवष्ट-भ्नन्ति आवृण्वन्ति । दुर्वार वारयितुमशक्यो यो दारुण भीषण क्रोध एव वडवा-नल और्वाग्निस्तेन निपीयमान शोष्यमाण शोकसमुद्रो यस्य तथोक्त दुर्वारकोप वशात्स्तम्भितपुत्रमृत्युजन्यदु खावेग इत्यर्थ । दाशरथिविजयाय रामजयाय सन्नह्यते परिकर बध्नाति ।

'दाशरथिविजयाय' इत्यत्र दाशरथेर्विजयायेति षष्ठीसमास । सा च षष्ठी कर्त्तरि कर्मणि चोभयत्र सभवति, तथा च दाशरथिकर्मको विजय दाशरथिकर्त्तृको वा विजय इत्युभयथार्थ शक्य कर्त्तुम्, अविशिष्टा सामान्या उपपत्ति युक्ति यत्र तादृशम्, कर्त्तृकारकविषय कर्मकारकविषय च वयस्यवचनम्, अत्र वयस्यवचने कर्त्तरि षष्ठी विवक्षिता कर्मणि वेति विशिष्योपपत्तिर्नोक्ताऽतो रामस्य जयो रावणेन रामेण वा रावणस्य जयो विवक्षित इति सन्दिह्यत इत्यर्थ ।

जरसा वृद्धावस्थया । दूषितस्य अनेकान् दोषान् प्रापितस्य । प्रक्षालनाय मार्जनाय । शस्त्रधारातीर्थम् अस्त्रधारास्वरूपम् जलाशयात्मकम् पुण्यस्थानम्, यथा

शुक—(ऊपर देखकर) यह जो आकाशचारियोके विमानगण दिशाओंको आवृत कर रहे हैं उससे सभावना करता हूँ कि दु सह क्रोधाग्निकी ज्वालासे रावणका शोक-सागर शुष्क हो गया है और वह राम विजयके लिए तैयार हो रहे हैं ॥

सारण—(सविषाद स्वगत) हाय, 'राम-विजयके लिये' इस कर्त्ता-कर्मका स्पष्टीकरण विना किये ही वयस्यने यह शब्द कैसे कह दिया ।

माल्यवान्—(उठकर) इसलिए हम भी वार्धक्यदूषित इस आत्माकी शुद्धिके लिये शस्त्रधारा तीर्थ पा गये हैं । (शुक-सारणके साथ प्रस्थान)

---

१ अम्बरान्तरचर्यो' । २ 'पर्यवस्तभ्नन्ति', 'पर्यवस्कन्दन्ति' ।
३ 'कष्ट कष्ट दाशरथि-', 'कथ दाशरथि-' । ४ 'इति निष्क्रान्ता' ।

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति [1]विद्याधरद्वयमाकाशयानेन ।)

एकः—अहो, बहो कालादनया गगनवीथ्या निरातङ्कमिव सञ्चरावहे । ([2]अधोऽवलोक्य ।)

देवेन्द्रोपनिवेद्यनन्दनवनस्रक्तोरणश्लाघिनी
लङ्केयं दशकण्ठविक्रमसखी यस्यां समन्तादिमाः ।
युद्धालोकनकौतुकोन्मुखवधूसंकीर्णकर्णीरथा
रथ्याः किं कथयामि यान्ति यदमी न व्योम्नि वैमानिकाः ॥

दूषितस्य वस्त्रादेः शुद्धये क्वचन तीर्थे प्रक्षालनं क्रियते तथाऽहमस्य वार्धक्यदूषितस्य मनोऽत्र युद्धे प्राणत्यागेन शुद्धं करोमीत्यर्थः ।

बहोः कालात् चिरकालानन्तरम् । अनया गगनवीथ्या अनेनाकाशमार्गेण । निरातङ्कम् निर्भयम् । इतः पूर्वं तु रावणभयाद् भीतभीता अत्र वर्त्मनि सञ्चराम इत्यर्थः ।

देवेन्द्रोपनिवेद्येति । देवेन्द्रेण शक्रेण उपनिवेद्या रावणप्रसादनाय समर्पणीया या नन्दनवनस्रक् नन्दनवनप्रसूनमाला तस्यास्तोरणेन तन्निर्मितशोभितेन बहिर्द्वारेण श्लाघिनी आत्मनि श्लाघाशालिनी दशकण्ठविक्रमसखी रावणपराक्रमसाक्षिणी इयं पुरोदृश्या लङ्का, यस्यां लङ्कायां समन्तात् सर्वतः इमाः युद्धालोकनकौतुकेन युद्धदर्शनोत्कण्ठया उन्मुखीभिः वधूभिः राक्षसवनिताभिः सङ्कीर्णाः व्याप्ताः कर्णीरथाः स्त्रीरथा यासु तथोक्ताः रथ्याः प्रतोलीः किं कथयामि ? यत् अमी वैमानिकाः व्योम्नि

(विष्कम्भक)

(आकाशमार्गसे विद्याधर-युगलका प्रवेश)

एक—अहा, बहुत दिनोंके बाद इस आकाशमार्गमें निर्भय होकर चल रहा हूँ । (नीचे देखकर) देवेन्द्रद्वारा निवेदित नन्दनवनके पुष्पोंकी तोरणमाला धारण करके फूली न समानेवाली तथा रावणकी विक्रमसखी यही लङ्का है, जिसमें युद्धदर्शनोत्कण्ठित वनिताओंके रथोंसे गलियाँ भरी हुई हैं, किससे कहूँ, देवगण अभी भी रावणके भयसे युद्धको देखने आकाशमें नहीं आ रहे हैं ॥ २३ ॥

१ 'आकाशयानेन विद्याधरद्वयम्' । २ 'अधस्तादवलोक्य' ।

(सखेदाद्भुतम् ।) सखे हेमाङ्गद,

एता· पश्य पलादपत्तनभुव सौत्रामणीनां दृशा-
[1]मस्राम्भोभिरदेवमातृकगृहारामाभिरामश्रियः ।
एतासु [2]प्रतिघातिविक्रमकथोपालम्भवैतण्डिकैः
क्लृप्तेन्द्रध्वजिनीजयानुकृतिभिर्डिम्भैरपि क्रीडितम् ॥२४॥

द्वितीय·—सखे रत्नचूड, किमुच्यते ।

न यान्ति, रावण प्रसादयितुमिन्द्रो या पुष्पस्रजोऽर्पयति ताभिरेव लङ्कायास्तोरणो भूष्यते, रावणस्य पराक्रमाणा चेय सङ्गिनीति लङ्कापुरी नितान्तविलक्षणाऽस्ति, अस्या हि पुर्या रथ्यासु युद्धदर्शनोत्काना राक्षसवधूना रथा व्याप्ता, अतस्तेषु रथेषु स्थिता राक्षसस्त्रियोऽस्मान् दृष्ट्वा कुपिता स्युरिति भयेन वैमानिका अपि न निर्भय व्योम्नि चलन्तीति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

एता पश्येति। एता सौत्रामणीनाम् इन्द्रसम्बन्धिनीम् दृशा नेत्रसहस्रस्य अस्राम्भोभि अश्रुजलै अदेवमातृक नद्यम्बुसिक्त गृहारामै अभिरामश्रिय रम्य-शोभा पलादपत्तनभुव राक्षसनगरीभूमी पश्य एता राक्षसनगरीस्थलीरालोकय यासु क्रन्ददिन्द्रनयनसहस्रस्त्रवदम्भ प्रवाहै सिच्यमाना गृहारामा रमणीया श्रिय धारयन्तीत्यर्थ । एतासु राक्षसनगरीस्थलीषु डिम्भै बालकै अपि क्लृप्तेन्द्रध्वजिनी जयानुकृतिभि कृत्रिमेन्द्रसैन्यविजयानुकरणै अत एव प्रतिघातिना विपक्षाणा विक्रमकथासु उपालम्भे अधिक्षेपे वैतण्डिकै विवादपरै क्रीडितम् खेलितम् । यत्र राक्षसपुरीस्थलीषु बाला अपि कृत्रिमेन्द्रसैन्यविजयानुकृत्या शत्रुपराक्रमकथानिन्दया च क्रीडन्ति स्मेति भाव । एतेन रावणस्य पुर्या लोकोत्तरत्वमुक्तम् ॥ २४ ॥

(खेद तथा आश्चर्यसे) सखे हेमाङ्गद,

इन्द्रकी दृष्टियोंसे बराबर गिरते हुए अश्रुप्रवाहसे अदेवमातृक होकर सतत सिक्त होते रहनेसे रमणीय उद्यानवाली इन रावणपुरी भूमियोंको देखो, इन भूमियोंमें परस्पर आक्रमणकी कथामें निपुण इन्द्रसेना-विजयकी अनुकृतिमें दक्ष राक्षस-बालक खेला करते रहे हैं ॥ २४ ॥

दूसरा—सखे रत्नचूड, क्या कहा जाय,

---

१ 'बाष्पाम्भोभि'। २ 'प्रतिपक्ष-'।

रक्षांसीति पुरापि संशृणुमहे वीरस्तु कस्तादृशो
जागर्ति स्म जगत्त्रयीविपदलङ्कर्मीणदोर्विक्रमः ।
शश्वद्द्वारभुवि प्रशस्तिरचनावर्णायमानेक्षण
श्रेणीसंभृतगोत्रभिन्मयजयस्तम्भो यथा रावणः ॥ २५ ॥

रत्नचूडः—सखे हेमाङ्गद पश्य पश्य । पौलस्त्यपत्तनप्रतोलीषु दीयमाने सन्नाहपटहे

दिग्दन्तावलदन्तमौक्तिकमयद्वास्तोरणस्रग्विणो
गीर्वाणाधिपतिप्रतीष्टनिगडोन्मृष्टान्यबन्दीशुचः ।

रक्षांसीति । पुराऽपि पूर्वमपि रक्षांसि सन्तीति संशृणुमहे परस्परमाकर्णयामः तु किन्तु जगत्त्रय्याः लोकत्रयस्य विपदि दुःखावस्थापत्तौ अलङ्कर्मीणः समर्थः दोर्विक्रमः बाहुबलं यस्य सः तथोक्तः लोकत्रयविजयिवीर्यः कः तादृशो वीरो यथा यादृक् शश्वत् सर्वदा द्वारभुवि रावणभवनद्वारदेशे प्रशस्तिरचनायाः प्रशंसापद्धतेः वर्णायमाना अक्षरभावं गता या ईक्षणश्रेणी नयनपङ्क्तिः तया संभृतः युक्तः यः गोत्रभित् इन्द्रस्तन्मयः तत्स्वरूपः विजयस्तम्भो यस्य तथोक्तः रावणः अस्ति । अयमाशयः—राक्षसाः सन्तीति पूर्वमपि श्रुतं परं लोकत्रयपराभवकरदोर्विक्रमशाली तादृशो वीरः को यथाऽयं स्वद्वारस्थितस्येन्द्रस्य नयनैरक्षररूपैर्लिखितप्रशस्तिरचनं तमेवेन्द्रं विजयस्तम्भतां नयन् रावणो वीरोऽस्तीति । राक्षसेषु रावणसमो वीरो न कदापि जात इति भावः ॥ २५ ॥

पौलस्त्यपत्तनप्रतोलीषु रावणनगररथ्यासु । सन्नाहपटहे संग्रामवादित्रभेदे । दीयमाने वाद्यमाने सति ।

दिग्दन्तावलेति । दिग्दन्तावलानां दिग्गजानां दन्ताः कुम्भोत्थितानि मौक्तिकानि गजमुक्ताश्च तन्मयं तन्निर्मितम् द्वारम् तोरणस्रक् बहिर्द्वारमाल्यं च तद्वन्तः दिग्गजदन्तरचितद्वाराः दिग्गजकुम्भमुक्तारचिततोरणस्रजश्चेत्यर्थः, गीर्वाणाधिपतिना देवेन्द्रेण प्रतीष्टा सोढा निगडोन्मृष्टानाम् शृङ्खलानियन्त्रितानाम् अन्यबन्दीनाम्

राक्षसोंके विषयमें तो पहले ही सुनता रहा हूँ, परन्तु त्रिलोकको विपदमें डाल देनेवाले विक्रान्त बाहुओंसे युक्त रावणके समान कौन हुआ है, द्वारदेशपर प्रशस्तिवर्णावलीके समान नयनोंको धारण करनेवाले इन्द्रको ही जिसने विजयस्तम्भका रूप दे डाला था ॥२५॥

रत्नचूड—सखे हेमाङ्गद, देखो देखो, रावण नगरीकी गलियोंमे मारू बाजेके बजाये जाने पर,

दिग्गजों के मस्तकोंसे निकले मौक्तिकोंकी वन्दनवारको धारण करनेवाले, तथा इन्द्रके

वीरश्रीसहपांसुकेलिसुहृदा मन्दोदरीबन्धुता-
[1]शौटीरासुरसुन्दरीसुरभय· क्षुभ्यन्ति रक्षोगृहा ॥२६॥

हेमाङ्गद —(विहस्य ।) [2]नूनमिदानीमत्र

दृष्ट्वा [3]राघवमेकराक्षसवनस्वच्छन्ददावानलं
जानक्यां निजवल्लभस्य परमं प्रेमाणमालोक्य च ।
काङ्क्षन्ती मुहुरात्मपक्षविजयं भङ्गं च मुग्धा मुहु-
र्ध्यायन्ती [4]ध्रुवमन्तरालपतिता मन्दोदरी वर्तते ॥ २७ ॥

स्वातिरिक्तहठहृतस्त्रीणाम् शुच शोकोच्छ्वासा येषु तथोक्ता, देवेन्द्रोऽपि वन्दीभूत अन्या अपि हठहृता स्त्रियो बन्दीभूतास्तत्र अन्या स्त्रियो यच्छोकोच्छ्वासमुत्सृजन्ति तत्तत्र स्थितेनेन्द्रेण स्वतनौ सह्यते अर्थात् देवेन्द्रेण सम यत्र बहवोऽन्या वन्दीस्त्रिय सीदन्तीत्याशयेनेद विशेषणम् । वीरश्रिया वीरलक्ष्म्या सह पासुकेलि धूलिक्रीडा तत्सुहृद नित्यानुरक्तवीरलक्ष्मीका इत्यर्थ, मन्दोदरी नाम रावणमहिषी तया बन्धुता सखीभावस्तया शौटीर गर्वो यासा तथाभूताः या असुरसुन्दर्य राक्षसस्त्रिय ताभि सुरभयो रमणीया रक्षोगृहा राक्षसभवनानि क्षुभ्यन्ति चञ्चलता यान्ति । रणवाद्ये वाद्यमाने सति रक्षोगृहा सञ्चरद्वीरराक्षसपादचारै चञ्चलता गच्छन्तीत्यर्थ । 'शौटीरस्तु मतो गर्वे' इति शाश्वतकोष । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २६ ॥

दृष्ट्वेति । मन्दोदरी रावणमहिषी राघवम् रामम् एके अद्वितीया राक्षसा एव वनानि तेषा कृते स्वच्छन्ददावानल निरर्गल वनवह्निं दृष्ट्वा निजवल्लभस्य स्वप्रियस्य रावणस्य जानक्या सीताविषये परम प्रेमाणम् अतिप्रवृद्धामासक्तिं च आलोक्य दृष्ट्वा मुहु आत्मपक्षस्य स्वीयराक्षसपक्षस्य विजय काङ्क्षन्ती मुहुश्च भङ्गं राक्षसपक्षपराजय ध्यायन्ती चिन्तयन्ती सती मुग्धा मूढबुद्धि ध्रुवम् अन्तराल-

---

लिए बेडाको देकर अन्य बन्दीजनके बडी कष्टको छुडानेवाले, वीरलक्ष्मीके साथ धूलि क्रीडा करनेवाले, तथा मन्दोदरीके साथ स्नेह होनेसे गर्वयुत राक्षसियोंसे पूर्ण राक्षसोंके गृह क्षुभित हो रहे है ॥ २६ ॥

हेमाङ्गद—(हसकर) निश्चय ही इस समय यहाँ,

राक्षसरूप वनके लिए स्वच्छन्द दावानल सदृश रामको देखकर तथा जानकी के लिए अपने पति रावणके हृदयमे परम प्रेम देखकर अपने पक्षका विजय चाहनेवाली तथा पराजय भी चाहनेवाली मन्दोदरी बीचमें पडी होगी ॥ २७ ॥

---

१. 'शौण्डीर–' । २ 'इदानीम्' इति क्वचिन्नास्ति । ३. 'एव' । ४. 'मुहु' ।

रत्नचूडः—(सकरुणस्मितम् ।) वयस्य, विबुधराजविजयविक्रमक्रीत चेतसा वृद्धपितामहेन स्वयं परमेष्ठिना [1]प्रतिष्ठितेन्द्रजिन्नामधेयशेषस्य तादृशस्य तनूजस्य शुचा विचेष्टमानामरातिगृहिणीमपि नैवमुपक्रोष्टुमर्हसि । (पुरोऽवलोक्य च ।) हस्तदक्षिणेन [2]कथमयं द्विधा विभज्यते महाजनः । (निरूप्य च समहाकौतुकम् ।) सखे, पश्य पश्य ।

न्यञ्चन्न्यञ्चद्धरित्रीधृतचरणभरश्चन्द्रहासैक[3]दृष्टि-

पतिता द्विधाभावमाश्रयन्ती वर्त्तते । रामस्य राक्षसवधप्रवृत्ततया स्वपक्षस्य जयमिच्छति, रामस्य पराजये रावणेन सीताया लब्धाया सा परित्यज्य रावणः सीतावश एव भविष्यतीति मास्तु तथेति स्वपक्षपराजयमिच्छति, तदित्थं रामजये राक्षसवंशनाशः रावणजये स्वीयं सापत्नकष्टं चेति उभयतः क्लिष्टां दशामनुभवन्ती मन्दोदरी नितरां सचिन्ता विद्यत इत्याशयः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दम्' इत्यमरः ॥२७॥

विबुधराजेति । विबुधराजविजये इन्द्रविजये यो विक्रमः पराक्रमातिशयस्तेन क्रीतं वशीकृतं चेतो यस्य तथोक्तेन, इन्द्रजिता शक्रपराभवकाले प्रदर्शितेन पराक्रमेण वशीभूतेनेत्यर्थः । परमेष्ठिना ब्रह्मणा । प्रतिष्ठितेन्द्रजिन्नामधेयशेषस्य ब्रह्मविहितेन्द्रजिदित्यभिधानमात्रावशिष्टस्य नाममात्रशेषस्य मृतस्येन्द्रजित इत्यर्थः । तनूजस्य शुचा पुत्रशोकेन । विचेष्टमानाम् व्याकुलीभवन्तीम् । अरातिगृहिणीम् विपक्षस्त्रियम् । उपक्रोष्टुम् निन्दितुम् । शत्रोरपि स्त्रिया पुत्रविपत्तौ विह्वलतां गतायाः निन्दा न सद्भिराचरणीया, भाग्यदोषोपनतत्वात्सहानुभूतियोग्यत्वाच्चेति भावः ।

हस्तदक्षिणेन दक्षिणहस्तदिग्विभागेन । विभज्यते विभागवान् भवति । दक्षिणहस्तभागदिगवस्थितो लोकः कथं भागद्वये विभक्तो भवतीत्याशयः ।

न्यञ्चदिति । न्यञ्चन्ती पुनः पुनर्निम्नतां भजन्ती या धरित्री पृथ्वी तस्या धृतः

रत्नचूड—(करुणा तथा हासके साथ) मित्र, इन्द्रको जीत लेनेवाले पराक्रमसे क्रीत-हृदय वृद्ध पितामह ब्रह्माने स्वयं जिसका नाम इन्द्रजित् रखा, उस पुत्रके शोकमें अधीर होकर रोनेवाली शत्रु स्त्रीका भी इस तरह उपहास करना उचित नहीं है, (आगे देखकर) दाहिने हाथकी ओर जन-समुदाय क्यों दो भागोंमें विभक्त होता जा रहा है ? (देखकर आश्चर्यके साथ) देखो देखो—

नीचे जाती हुई पृथ्वीपर चरण रखकर चन्द्रहासको एकटक देखता हुआ, एक सा—

---

१ 'प्रतिष्ठापित-'　　२ 'कथमत्र' ।　　३ 'चित्त' ।

व्यावल्गद्यौगपद्योत्सुकसकलभुजाक्रान्तदिक्चक्रवालः ।
क्रोधक्रूराक्षिरक्तोत्पलरचितवियत्तोरणस्रञ्जि बिभ्र-
द्वक्त्राणि प्रत्यनीकप्रसरसरभसो निर्जिहीते दशास्यः ॥२८॥

हेमाङ्गदः—(निर्वर्ण्य ।) अहो, दृष्टचरमप्यस्य साङ्ग्रामिकमोजायितमयातयाममिव भीपयते । सखे रत्नचूड,

मरुत्वद्दम्भोलिक्षणघटितघोरश्वयथुना

अर्पित चरणभर पादसमुदायो येन तथोक्त, चन्द्रहासैकदृष्टि केवल चन्द्रहासनामके स्वखड्गे बद्धदृष्टि, व्यावल्गद्भि सञ्चरद्भि यौगपद्येन समकालम् उत्सुकै स्वस्वपराक्रमप्रकाशनाय व्यग्रीभवद्भि सकलै भुजै विंशत्या बाहुभि आक्रान्त व्याप्तम् दिक्चक्रवाल दिङ्मण्डल येन तादृश, क्रोधेन क्रूराणि भीषणानि अक्षीणि नेत्राणि एव रक्तोत्पलानि तै रचिता वियति आकाशे तोरणस्रक् यैस्तादृशानि वक्त्राणि मुखानि बिभ्रत धारयन् प्रत्यनीकप्रसरसरभस शत्रुसम्मुखोपसरणत्वरावान् दशास्यो रावण प्रोज्जिहीते लङ्कातो निर्याति, चरणभारनताया पृथ्व्या न्यस्तपाद स्वखड्गमात्रदत्तदृष्टि समकालमेव पराक्रमप्रदर्शनाय व्याकुलीभवद्भिर्भुजैर्दिङ्मण्डल व्याप्नुवन् कोपेन रक्तैर्नयनरूपरक्तकमलैर्यानि दशमुखानि व्योम्नि तोरणस्रज निर्मान्ति तादृशानि वियति विक्षिप्तरक्ताभनयनानि मुखानि दधानो युद्धक्षेत्रगमने त्वरावानयं रावणो लङ्कानगराद् बहिर्भवतीति पश्येति वाक्यार्थ । रामायणे रावणस्य चत्वारश्चरणा उक्ता इत्यत्र चरणभरपद दत्तम् । 'चक्रवाल तु मण्डलम्' इत्यमर ॥ २८ ॥

दृष्टचरम् पूर्वदृष्टम्, भूतपूर्वे चरट् । अस्य रावणस्य । साङ्ग्रामिकम् युद्धे समर्थम् ओजायितम् ओजस्विता पराक्रम । अयातयामम् जीर्ण परिभुक्तञ्च यातयामम्, तद्भिन्नमननुभूतपूर्वम् । 'यज्जीर्ण परिमुक्त च यातयाम तदुच्यते' इत्यमर । भीपयते भय जनयति ।

मरुत्वदिति । अय वीरो दशमुख मरुत्वत शक्रस्य दम्भोलिना वज्रेण क्षणम्

फडकनेवाले बाहुओंसे सकल दिङ्मण्डलको व्याप्त करता हुआ, क्रोध क्रूर नयन-कमलसे विरचित वन्दनवारयुक्त मुखोंको धारण करनेवाला तथा शत्रुसैन्यकी ओर बढनेकी तेजी दिखलाता हुआ रावण चला आ रहा है ॥ २८ ॥

हेमाङ्गद—(देखकर) अहो, पूर्वदृष्ट होनेपर भी रावणका यह साग्रामिक तेज नवीनकी तरह भय पैदा कर रहा है, सखे रत्नचूड,

इन्द्रके वज्रने जिसपर थोडी देरके लिए शोथसा उत्पन्न कर दिया था, उस

निसर्गोदग्रेण प्रसभमुरसा पीतगगनः ।
श्रियं देवद्रीचीं निजभुजवनोद्दामकरिणी-
मयं कुर्वन्वीरः स्मरसि कथमासीद्दशमुखः ॥ २९ ॥

रत्नचूडः—सखे, किमुच्यते । महतामप्युपरि किमप्ययं रावणः ।

एनं कल्पतरूद्भवैरसुकरव्याजैः सदा भूषणै-
राराध्नोति सुराधिपः किमपरं दीनो नदीनां पतिः ।
दण्डाधिक्यभयात्कथं कथमपि स्कन्धोपनेयान्मणी-
नप्यस्मै परिशोधयत्य[1]पदिशन्निःसम्पदः स्वाकरान् ॥ ३० ॥

अल्पकालपर्यन्तं घटितः कृतः श्वयथुः शोथो यत्र तादृशेन शक्रवज्राहत्या क्षणं लब्धशोथेनापि शीघ्रमेव प्रकृतिं प्रपन्नेन निसर्गोदग्रेण स्वभावविस्तृतविशालेन उरसा वक्षसा पीतगगनः व्याप्ताकाशः सन् देवद्रीचीम् देवगणसम्बन्धिनीम् श्रियं लक्ष्मीम् निजभुवनोद्दामकरिणीम् स्वबाहुसमूहवासिनीं मस्तहस्तिनीं कुर्वन् कथम् आसीत्, स्मरसि तत् । इन्द्रवज्रप्रहारमपि क्षणान्निवर्त्तयतोरसा गगनं व्याप्य देवश्रियं स्वभुजेषु निवासयन्नयं रावणः कथं प्रराक्रमतेस्म, तत्त्वं किं स्मरसीत्यर्थः ॥२९॥

एनमिति । सुराधिपः इन्द्रः कल्पतरूद्भवैः कल्पवृक्षप्रसूतैः असुकरव्याजैः असाध्यच्छलैः अन्यपुष्पाणि दत्त्वा कल्पवृक्षपुष्पाणीमानीति वञ्चनायामशक्यप्रयोगैः, अन्यपुष्पप्रदाने स्फुटपरिचेयभेदैः जगद्विलक्षणैः छलाविषयैरित्यर्थः, भूषणैर्माल्याद्यलङ्कारैः सदा सर्वदा एनं रावणम् आराध्नोति सेवते, नदीनां पतिः सागरः अपि दीनः कृपणः सन् दण्डाधिक्यभयात् वर्त्तमानदण्डाधिकदण्डभीत्या स्वाकरान् स्वीयरत्नखनीन् निःसम्पदः इतोऽधिकरत्नसम्पद्रहिताः अपदिशन् निवेदयन् अस्मै

स्वभावोन्नत उरोदेशसे आकाशको व्याप्त करनेवाला, तथा देव-सम्बन्धिनी लक्ष्मीको अपने बाहुवनकी करिणी बनानेवाला रावण कैसा था, यह स्मरण करते हो ॥ २९ ॥

रत्नचूड—सखे, क्या कहा जाय, यह रावण सभी महाजनोंके ऊपर है ।

इस रावणको जिसकी नकल नहीं की जा सकती है ऐसे कल्पतरु-प्रसूत भूषणों द्वारा इन्द्र सदा आराधित किया करता है, फिर इस गरीब समुद्रका क्या कहना है ?

यह समुद्र दण्डकी अधिकताके भयसे किसी तरह मणियोंको कन्धेपर लाकर रावणको सौंपता है और यह भी निवेदन कर जाता है कि इससे अधिक मणि मेरे आकरमें हैं ही नहीं ॥ ३० ॥

---

१. 'अपि दिशन्' ।

हेमाङ्गदः—(सभयम् ।) कथमय परापतित एवासमसमर[1]हर्षहेषमाणवनायुजवाजिनिवहवितीर्णकीनाशकासरकर्णज्वरेण प्रजविना रथेन कार्मुकपाणिर्महावीर[2] ।

रत्नचूडः—(सभयाद्भुतम् ।)

कल्पान्तक्रूरसूरोत्करविकटमुखो मानुषद्वन्द्वयुद्ध-
क्रीडाकण्डूयदूर्जस्वलसकलभुजालोकभूयोविलक्ष ।

रावणाय स्कन्धोपनेयान् स्कन्धवाह्यान् अतिस्थूलान् मणीन् रत्नानि परिशोधयति समर्पयति । इन्द्रोऽस्मै रावणाय कल्पतरूद्भवानि माल्यादिभूषणानि (येषु परपुष्पमाल्यादिसमर्पणद्वारा च्छलमपि कर्तुमशक्यन्तादृशानि) समुद्रोऽपि कदाचिदितोऽपि प्रखर दण्ड दद्यादिति दीन सन् स्थूलान् मणीनर्पयति, सूचयति च यदितोऽधिका मणयो न मदाकरेषु सन्तीति अनुल्लङ्घनीयाज्ञोऽय रावण इत्यर्थ ॥३०॥

परापतित समागत । असमे अनुपमे समरे सग्रामे यो हर्ष उत्साहातिशय तेन हेषमाणो हेषाशब्द कुर्वन् यो वनायुजवाजिनिवह वनायुदेशोत्पन्नाश्वसमूह तेन वितीर्ण कीनाशकासरस्य यमराजमहिषस्य कर्णज्वर श्रवणसन्तापो येन तथोक्तेन प्रजविना अतितीव्रगामिना । कार्मुकपाणि चापहस्त । अत्राश्वशब्देन यममहिषकर्णज्वरोत्पत्त्युक्त्या यमराजस्य तत्र रणक्षेत्रे सन्निधान तेन च रणस्याति भीषणत्वमुक्तम् ।

कल्पान्तेति । कल्पान्ते प्रलयकाले क्रूर अतिप्रचण्डो य. सूरोत्कर' सूर्यनिवह तद्वद्विकटानि मुखानि यस्य तथाविध मानुषेण मर्त्येन रामेण यत् द्वन्द्वयुद्ध परस्परसमसग्राम सैव क्रीडा तया कण्डूयन्त खर्जूला ऊर्जस्वला बलवन्तो ये सकला भुजा विशतिबाहव तेषाम् आलोकेन भूयोविलक्ष अधिकलज्जित , गीर्वाणगोष्ठीना देवसमाजानाम् गुरुर्महान् य मदो गर्व तस्य निकष परीक्षास्थानभूत नैकषेय'

हेमाङ्गद—(सभय) अद्वितीय युद्धरसहर्षसे शब्द करनेवाले अरबी घोडों द्वारा यमराजके भैंसोका कर्णज्वर उत्पन्न करनेवाला तेज रथपर आरूढ धनुर्धर यह रावण आ ही गया ।

रत्नचूड—(भय तथा आश्चर्यके साथ)

प्रलयकालिक प्रखर सूर्य सदृश मुखवाला, मानुष युगलमे युद्ध-क्रीडाकी इच्छा रखनेवाले हाथोंको देखकर अति लज्जित, देवगणके मदको दूर करनेवाला यह रावण युद्ध

१ 'सहर्ष-' । २ 'महारथ' ।

सम्भूयोत्तिष्ठमानस्वपरबलमहाशस्त्रसम्पातभीमा-
मुर्वी गीर्वाणगोष्ठीगुरु[1]मदनिकषो [2]नैकषेयः पिधत्ते ॥ ३१ ॥

हेमाङ्गद —(सकौतुकम् ।) सखे, दक्षिणतः पश्य तावत् ।

अगस्त्याज्ञासद्य शमितविपुलोच्छ्रायविषमा-
नुदस्यन्तः सेतावलगितवतो विन्ध्यशिखरान् ।
शिरःसंख्यासत्याकृतदशमुखालोकरभसा-
दुपेत्यातित्रस्ताश्चपलमपसर्पन्ति कपयः ॥ ३२ ॥

निकषागर्भसंभवो रावणः संभूय मिलित्वा उत्तिष्ठमानानाम् उद्यमं कुर्वताम् स्वपरबलानाम् निजस्य विपक्षस्य च सेनानाम् महद्भिः शस्त्रसम्पातैः भीमाम् भीषणाम् उर्वी पृथ्वीं विधत्ते आच्छादयति । प्रलयकालिकप्रचण्डसूर्यवद् भीषणमुखो द्विभुजेन मानवेन महाहं कथं विंशत्या भुजैर्युद्धये इति बाहून् सलज्जं वीक्षमाणोऽयं रावणः स्वपराक्रमेण देवानां भुजदर्पं शमयन् स्वस्य शत्रोश्चोत्तिष्ठमानानां सैन्यानां शस्त्रसम्पातैर्धरणीमावृणोतीति भावः ॥ ३१ ॥

अगस्त्याज्ञेति । अगस्त्यस्य मुनेः आज्ञया सद्यः शमिताः तत्कालसमाप्ताः विपुलोच्छ्राया महोन्नतयो येषां ते तथोक्ताः अत एव विषमाः तीक्ष्णमुखाः तान् सेतौ रामनिर्मितसमुद्रसेतौ अलगितवतः अलग्नान् समुद्रे सेतुं निर्मातुमानीतानपि प्रयोजनाभावात्परित्यक्तान् विन्ध्यशिखरान् विन्ध्याद्रिशृङ्गाणि उदस्यन्तः रावणसैन्योपरि क्षिपन्तः शिरःसंख्यया मस्तकगणनया सत्याकृतस्य रावणोऽयमिति निश्चयिनस्य दशमुखस्य आलोके दर्शने यो रभसः औत्सुक्यं ततः तस्मात् उपेत्य समीपं गत्वा तद्दर्शनादतित्रस्ताः सातिशयभीताः कपयः चपलम् सत्वरम् अपसर्पन्ति पलायन्ते । ये विन्ध्यशिखरा अगस्त्याज्ञया तत्कालमेव स्वमुन्नतत्वं परिहृतवन्तस्तेऽत्र सेतुनिर्माणार्थमानीताः परं कतिपयैरेव सेतोः सम्पन्नतया अव-

---

स्थलको एक साथ सन्नद्ध स्वबल तथा परबलके द्वारा महाशस्त्रपात किये जानेसे भीषणतम बना रहा है ॥ ३१ ॥

हेमाङ्गद—(उत्कण्ठासे) सखे, दक्षिणकी ओर देखो—

अगस्त्यकी आज्ञासे जिन्होंने अपने उन्नमनको तत्काल रोक लिया ऐसे तथा सेतुमें नहीं काम आये विन्ध्य शिखरोंको प्रहरणके रूपमें फेंकनेवाले वानर सैनिक शिरकी सख्यासे प्रमाणित दशमुखोंको देखकर अतिभयभीत हो तेजीसे दूर भाग जाते हैं ॥ ३२ ॥

---

१ 'भटनिकष'।　　२ 'कैकसेयो विधत्ते'।

रत्नचूडः—(दृष्ट्वा सहासम् ।)

शस्त्रीकृतान्कपिभिरापततो [1]मुदैव
विक्रम्य चन्दनतरून्दधते पलादाः ।
तत्सङ्गिनस्तु भुजगा क्षणपाशबन्ध-
दुःखासिकामवयवेषु दिशन्त्यमीषाम् ॥ ३३ ॥

हेमाङ्गद —(विहस्य[2] ।) इतोऽपि तावत् ।

रक्ष स्वयंवरविडम्बपराङ्मुखीभिः
पुष्पोत्करे सुरवधूभिरनुज्झितेऽपि ।

शिष्टान् विन्ध्यगिरिशिखरान् रावणसैन्यमुद्दिश्य क्षिपन्तो वानरा· शिरांसि गणयित्वा रावणोऽयमिति निश्चित्य तद्दिदृक्षया रावणसमीप गत्वा अतित्रस्ता सन्त सत्वर तता दूरमपसरन्तीति तात्पर्यम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३२ ॥

शस्त्रीकृतानिति । पलादा राक्षसा कपिभि वानरै शस्त्रीकृतान् प्रहरणभावेनादीयमानान् आपतत सम्मुखागतान् चन्दनतरून् विक्रम्य उत्प्लुत्य मुदैव हर्षेणैव दधते धारयन्ति, तु किन्तु तत्सङ्गिन चन्दनतरुस्थिता भुजगा सर्पा अमीषा राक्षसानाम् अवयवेषु अङ्गेषु क्षण पाशबन्धेन दु खासिकाम् दु खस्थितिं दिशन्ति जनयन्ति, यद्यपि वानरक्षिप्तैश्चन्दनतरुभि कपीना क्लेशो न जायते तेषा कपिभिरुत्प्लुत्य धारणात्तथापि चन्दनतरुवर्त्तिभिर्भुजगै कण्ठपाशीभवद्भि पलादानामङ्गेषु दु खस्य स्थान क्रियते इत्याशय । 'आसिका' पद भाववुन्नन्तम्, स्थितिवाचि। वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ३३ ॥

रक्ष स्वयवरेति । रक्षसाम् स्वयवर एव विडम्ब गर्हितो व्यापारस्तत पराङ्मुखीभि विमुखतां गताभि सुरवधूभि सुराङ्गनाभि पुष्पोत्करे पुष्पसमूहे अनुज्झिते अवृष्टेऽपि (सग्रामहताना रक्षसा वरणे लज्जामनुभवन्तीभिर्देवबालाभिस्तेषा

रत्नचूड—(देखकर सहास)

वानरो द्वारा शस्त्रके रूपमें प्रहृत चन्दन-तरुओंको यह राक्षस आनन्दसे ऊपर ही लोक लेते हैं, उन चन्दन-तरुओंमे लिपटे हुए सर्प इन राक्षसोंको पाशबन्धका कष्ट कुछ देर तक अवश्य देते हैं ॥ ३३ ॥

हेमाङ्गद—(हसकर) इधर भी—

राक्षसोंके स्वय वरणसे पराङ्मुख सुराङ्गनायें यद्यपि पुष्पवृष्टि नहीं करती हैं तथापि

---

१ 'मुदेवम्' । २. 'सहासम्' ।

शस्त्रीकृतेन तरुणा हरिणा हतोऽसौ
　　नक्तञ्चरः स्वपिति तत्कुसुमावकीर्णः ॥ ३४ ॥

रत्नचूडः—(चिरं विभाव्य ।) सखे, पश्य पश्य ।

स्वतनुरुचिभिर्दीर्घाह्नीं द्यामितः सृजतां निजै-
　रथ विदधतः कायाभोगैरकाण्डतमस्विनीम् ।
दधति नितरा'मुद्दीप्राणाम'धश्छिदुरश्रियो
　हरिहुतभुजां धूमच्छायाममी रजनीचराः ॥ ३५ ॥

सत्काराय पुष्पवृष्टिरस्मण्यक्रियमाणेऽपि) हरिणा वानरेण शस्त्रीकृतेन प्रहरणतां प्रापितेन तरुणा वृक्षेण हतः ताडितोऽसौ नक्तञ्चरो राक्षसः कुसुमावकीर्णः पुष्पाच्छन्नः स्वपिति रणभूमौ शेते । देवबालाभिः पुष्पवृष्टावकृतायामपि वानरप्रहरणीकृततरुच्युतकुसुमानि रणे हतं तं राक्षसमाच्छादयन्तीत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥३४॥

स्वतनुभिरिति । छिदुरा भङ्गुरा पराजयेन विनश्वरा श्रीः कान्तिर्येषां तादृशा अमी रजनीचरा राक्षसा निजैः स्वीयैः कायाभोगैः देहविस्तारैः अकाण्डे असमये एव तमस्विनीं रात्रिं विदधतः कुर्वन्तः, स्वतनुरुचिभिः निजदेहकान्तिभिः इतः अत्र देशे दीर्घाह्नीम् चिरस्थायिदिवसाम् द्याम् आकाशं सृजताम् कुर्वताम् अधः निम्नदेशे भुवि नितरामुद्दीप्राणाम् अत्यर्थं दीप्यमानानाम् हरिहुतभुजाम् वानररूपाग्नीनाम् धूमच्छायां धूमकान्तिं दधति धारयन्ति । वानराः स्वपिङ्गलप्रभयाऽधो वियत् दीर्घदिवसं कुर्वते नक्तञ्चराश्च श्यामकाया रयस्थतयोपरि विनैव समयं रात्रिमुपस्थापयन्ति, तदित्थं प्रतीयते यद्दीप्रकान्तीनां वानराग्नीनामुपरि राक्षसानां देहकान्तिर्धूमलेखा विद्यत इति । उपमाऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

वानरोंद्वारा फेंके गये चन्दन तरुओंसे आहत राक्षस उस चन्दनतरुके फूलसे ढका हुआ युद्धक्षेत्रमें सो रहा है ॥ ३४ ॥

रत्नचूड—(देर तक विचार कर) सखे, देखो देखो,

वानरगण आकाशमें उडकर अपनी देहद्युतिसे आकाशको आलोकित कर रहे हैं उनके नीचे राक्षस अपनी देहोंके विस्तारसे अन्धकार फैला रहे हैं, इस तरह उन प्रभासित वानरोंके नीचे अप्रकाशमय यह राक्षसगण वानररूप अग्निकी धूमराशिके समान प्रतीत होते हैं ॥ ३५ ॥

१ 'उद्दीप्तानाम्' ।　　२ 'अथ' ।

हेमाङ्गदः—(सस्मितम् ।) सखे, पश्य पश्य ।

किमपि कपयः कर्माश्चर्यं महातरुशस्त्रिणो
विदधति यथा दिक्कूलेभ्यस्तथापसरन्त्यमूः ।
ध्रुवमवपतद्रक्षःश्रेणीविमुक्तनभोन्तर-
प्रतिभरणिकानि स्थामानो दशाननकीर्तयः ॥ ३६ ॥

रत्नचूडः—(ससम्भ्रमम् ।) अहह, दारुणमुपस्थितम् ।

रक्षोनिपिष्टकपिमुक्तमहीध्रचूर्ण-
पूर्णान्तराभिरिषुवृष्टिभिरुज्जिहानः ।
[1]रोषाट्टहासदहनप्रसरैस्तडित्वां-
[2]लङ्काधिपः किमपि सन्तमसं तनोति ॥ ३७ ॥

किमपीति । महातरुशस्त्रिणः विशालवृक्षप्रहरणाः कपयः किमपि विशिष्य वक्तुमनर्हम् आश्चर्यं विस्मयजनकं कर्म यथा विदधति कुर्वते तथा अमूः दशाननकीर्तयः रावणयशांसि अवपतन्तीभिः भूमौ निपतन्तीभिः रक्षसां श्रेणीभिः समुदायैः विमुक्तं त्यक्तम् यत् नभोऽन्तरम् आकाशमध्यं तस्य प्रतिभरणिकया पूर्त्या निःस्थामानो निर्बला दिक्कूलेभ्यो दिगन्तेभ्योऽपसरन्ति । रावणस्य कीर्त्तयो नभोमध्यस्य राक्षसव्याप्तत्वात् दिशामन्ते स्थिताः, वानरैर्महातरुप्रहारिभिर्निपातिषु व्योमचारिषु राक्षसेषु पुनः शून्यस्य नभोदेशस्य पूर्तिं कर्त्तुं बाधिताः सत्यो रावणकीर्त्तयो दिगन्तेभ्योऽपसृत्य नभोमध्यं श्रयन्तीत्यर्थः । स्थाम बलम् । ध्रुवपदमुत्प्रेक्षामाह ॥ ३६ ॥

रक्षोनिपिष्टेति । रक्षोभिः निपिष्टाः निश्शेषचूर्णीकृताः कपिभिर्मुक्ताः प्रहृताः ये महीध्राः पर्वताः तेषां चूर्णेन रजोरूपेण पूर्णं व्याप्तम् अन्तरं यासां ताभिरिषुवृष्टिभिः बाणवर्षणैः उज्जिहानः उद्यन् लङ्काधिपो रावणः रोषेण ये अट्टहासाः घोरहसितानि त एव दहनप्रसराः अग्निविस्तारास्तैस्तडित्वान् विद्युद्युक्तो मेघः किमपि

हेमाङ्गद—महातरुओंको शस्त्र बनानेवाले ये वानरगण कुछ ऐसा आश्चर्यजनक कार्य करते हैं जिसमे गिरते हुए राक्षसोंके द्वारा त्यक्त आकाशदेशको भरनेमे व्यस्त रावणकी कीर्त्तियाँ दिगन्तसे अपसृत हो रही हैं ॥ ३६ ॥

रत्नचूड—(घबडाकर) अहह ! बडा दारुण युद्ध हो रहा है ।

राक्षसद्वारा चूर्ण किये गये वृक्षोंके चूर्णसे पूर्ण अन्तरालवाली बाणवर्षाके साथ आता हुआ यह रावण कोपकृत अट्टहासरूप अग्निके प्रसारसे एक प्रकारका गाढान्धकार फैला रहा है ॥ ३७ ॥

---

१. 'दशन–' । २ 'लङ्कापति ' ।

हेमाङ्गदः—(क्षणं निर्वर्ण्य ।) अहो, क्षुद्रैरपि सम्भूय भूयोभिरेको महान्सुकरः कदर्थयितुम् । यतः ।

दृप्यद्दिक्पालदन्तावलबहलमदावग्रहोग्राभिरक्ष्णां
तराभिर्दीप्यमानं दिशि विदिशि दशग्रीवमुद्ग्रीवयन्तः ।
एते निःशेषसेतुग्रथनसमधिकैः शस्त्रिणः शैलपादै-
रुद्दामानः कपीन्द्रा रजनिचरपुरीमुत्तरेण प्लवन्ते ॥ ३८ ॥

रत्नचूडः—(सविषादम् ।) हन्त महद्विषममिव पश्यामि । यदमी

अवर्णनीयम् सन्तमसं गाढान्धकारं तनोति विस्तारयति । अन्यो मेघो यथा वृष्टिमातनोति तडित्वान् भवति तमश्च विस्तारयति तथाऽयं रावणो बाणवृष्टिं करोति कोपाट्टहासदहनैर्विद्युदुद्दीपितः, तमश्च विस्तारयतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

क्षुद्रैरिति । क्षुद्रैरपि भूयोभिः सम्भूय एको महान् कदर्थयितुं सुकरः इति योजना । महान्तमप्येकं मिलिता बहवः क्षुद्रा अपि क्लेशयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ।

दृप्यदिति । निःशेषं समाप्तं यत्सेतुग्रथनं सेतुबन्धनं तस्मात् समधिकैः अवशिष्टैः शैलपादैः पर्वतखण्डैः शस्त्रिणः आयुधवन्तः सेतूर्वरितशिलाखण्डप्रहारिणः एते उद्दामानः वीर्योद्धताः कपीन्द्राः महाकपयः दृप्यतां दर्पशालिनां दिग्दन्तावलानां दिग्गजानाम् बहलः प्रभूतो यो मदः दानवारि तस्य अवग्रहे वृष्टिप्रतिबन्धे उग्राभिः क्रूरभीषणाभिः अक्ष्णां नेत्राणां ताराभिः कनीनिकाभिः दिशि विदिशि दीप्यमानम् दशग्रीवं रावणम् उद्ग्रीवम् उत्थापितकन्धरं कुर्वन्तः लङ्कामुत्तरेण लङ्काया उत्तरदिशि प्लवन्ते उत्पतन्ति । समुद्रसेतूर्वरितशिलाखण्डप्रहरणा अमी वानरा लङ्काया उत्तरभागे परापतन्ति तान् द्रष्टुं रावणः उद्ग्रीवो भूत्वा कुपितानि स्वनेत्राणि दिशि दिशि व्यापारयति रक्तवर्णतदक्षितारावीक्षणेन दिग्गजा बिभ्यति येन तेषां दानवारि सद्यः शुष्यतीत्यर्थः । रजनिचरपुरीमुत्तरेण इत्यत्र 'एनपा द्वितीया' इति द्वितीया, स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३८ ॥

हेमाङ्गद—(थोडी देर देखकर) बहुतसे क्षुद्र भी मिलकर एक महान्‌को कदर्थित कर सकते हैं, क्योंकि—

दर्पशाली दिग्गजोंके मदको सुखा देनेवाली आँखोंकी पुतलियोंसे दिशाओंमें प्रकाशित होनेवाले रावणको उद्ग्रीव बना देनेवाले यह सेतुबन्धमें बचे हुए पर्वत-खण्डोंको शस्त्ररूपमें प्रयुक्त करनेवाले उद्दण्ड वानरगण लङ्कापुरीके उत्तरभागमें दौड मचा रहे हैं ॥ ३८ ॥

रत्नचूड—(थोडा देर देखकर) हन्त, बडा भयङ्कर मालूम पड रहा है, यह राक्षस

[1]निष्कृपकृपाणपाट्यमानप्रतिभटविकटोर:कपाटकण्टकितकपोलभित्तय [2]सन्तानपातिनीभिरनीकरुधिरधाराभिरतिप्रवृद्धवीरपानगोष्ठीमहोत्सवा समन्तादाभद्रवन्ति यातुधाना [3]प्लवङ्गमयूथपतीन्।

हेमाङ्गद·—(सहर्षम्।) सखे, कृत विषादेन। यदेष —

दशमुखशरपीडितापयानोद्यमपरिपुच्छयमानवानराणि।
सरभसमभिसान्त्वयन्बलानि द्विपमभियोधयति प्लवङ्गराज·॥२९॥

रत्नचूड·—(दृष्ट्वा सखेदहामाद्भुतम्।) अहह,

निष्कृपेति। निष्कृपै कठोरै कृपाणै खड्गै पाट्यमाना विदार्यमाणा प्रतिभटाना विपक्षाणा विकटा ये उर कपाटा कपाटवद् विस्तीर्णान्युर स्थलानि तै· दृश्यमानैस्तै कण्टकिता सरोमाञ्चा कपोलभित्तय गण्डस्थलानि येषा तथोक्ता, सन्तानपातिनीभि प्रवाहरूपेण स्यन्दमानाभि। अनीकरुधिरधाराभि सैन्यशोणितप्रवाहै अतिप्रवृद्ध बहुलीभवन् वीरपाणगोष्ठीमहोत्सवो येषा ते तथोक्ता', 'युद्धे यत् क्रियते पान वीरपान तदुच्यते' समन्तात् सर्वत। अभिद्रवन्ति आक्रामन्ति। प्लवङ्गमयूथपतीन् वानरसैन्यमुख्यान्। कृत विषादेन खेदो मा कारि।

दशमुखेति। प्लवङ्गराज सुग्रीव दशमुखस्य रावणस्य शरै पीडिता आहता अपयाने युद्धक्षेत्रात्पलायने य उद्यम उद्योगस्तेन उत्पुच्छयमाना स्वान् पुच्छानुपरि क्षिपन्तो वानरा येषु तादृशानि बलानि स्वसैन्यानि सरभसम् त्वरया अभि सान्त्वयन् समयोचितवचनैरुत्साहयन् द्विपम् शत्रुम् अभियोधयति शत्रोरभिमुख युद्धाय गच्छति। रावणबाणाहततया पलायनायोत्क्षिप्यमाणपुच्छान् वानरान् सान्त्ववचनैरुत्साहयन् सुग्रीवो रावणेनाभिमुखयुद्धमारभते इत्यर्थ॥ २९॥

निर्दय खड्ग-खण्डित शत्रुपक्षी देशको देखकर कपोलको रोमाञ्चित करते हुए धारा प्रवाह रूपमें बहनेवाली सैन्य रुधिर धारासे वीरपान गोष्ठीको आयोजित करके वानर राजको आक्रमणका लक्ष्य बना रहे है।

हेमाङ्गद—(सहर्ष) सखे, विषाद करना व्यर्थ है, यह वानरराज रावणके शरोंसे आहत होकर भाग खडे होनेके लिये पूँछ उठाये हुए वानर सैनिकोंको सान्त्वना देते हुए शत्रुसे लड रहे है॥ २९॥

रत्नचूड—(देखकर खेद हास तथा आश्चर्यके साथ) अहह!!

---

१. 'प्रतिभटोर', 'प्रतिभटविकटोर'। २ 'सन्तत'। ३ 'प्रधानयूथपतीन्'।

[1]अस्त्राणि प्लवगाधिपेन विहिताः पौलस्त्यवक्षः[2]स्थली-
संघट्टानलदत्तदावविपदः सीदन्ति भूमीरुहाः ।
उत्पाट्य प्रहितश्च शैलशिखरो लङ्केन्द्रहस्तावली-
निष्पिष्टो निजकुञ्जनिर्झरजलैर्जम्बालपिण्डायते ॥ ४० ॥

हेमाङ्गदः—(विहस्य ।) सखे, दशकन्धरमधिकृत्य न किंचिदेतत् ।

तथैतेनोद्धृत्य स्फटिकशिखरी सोऽपि विदधे
समन्तादामूलत्रुटितवसुधाबन्धविधुरः ।

अस्त्राणीति । प्लवगाधिपेन वानरराजेन सुग्रीवेण अस्त्राणि विहिता अस्त्रत्वेन व्यवहृता भूमीरुहा वृक्षा पौलस्त्यस्य रावणस्य वक्षःस्थल्या हृदयदेशे सङ्घट्टेन सङ्घर्षणेन (उत्थितो योऽ) नलः तेन दत्ता उत्पादिता दावविपत् दवाग्निव्यसनं येषां तथोक्ताः सन्तः सीदन्ति अवसन्नतां यान्ति, प्लवगाधिपेन उत्पाट्य प्रहितः रावणं प्रति निक्षिप्तश्च शैलशिखरः पर्वतशृङ्गम् लङ्केन्द्रस्य हस्तावलीभिः भुजसमुदयैः निष्पिष्टः निरवशेषं चूर्णीकृतः सन् निजस्य पर्वतशिखरस्य यत् कुञ्जं तत्र ये निर्झरा जलप्रवाहास्तैः जम्बालपिण्डायते कर्दमपिण्डस्वरूपं भजते । रावणमुद्दिश्य सुग्रीवेण क्षिप्ता वृक्षास्तदुरःशिलापट्टे सङ्घर्षं प्राप्य तदुत्थितदावानलेनावसीदन्ति पर्वतशिखराश्च तद्भुजवननिष्पिष्टाः स्वकुञ्जप्रवाहिनिर्झरजलैः कर्दमपिण्डाकारं दधतीत्यर्थः । जम्बालः कर्दमः । निजशब्देनात्र शिखरो गृह्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४० ॥

दशकन्धरमधिकृत्य दशकन्धरविषये । न किञ्चिदेतत् त्वयोच्यमानमतितुच्छम् स हि सर्वं त्वदुक्तं कर्तुं ततोऽप्यधिकं च बलं दर्शयितुं क्षम इत्यर्थः ।

तथैतेनेति । एतेन रावणेन सोऽपि स्फटिकशिखरी कैलासपर्वतः उद्धृत्य उत्थाप्य तथा समन्तात् सर्वतः आमूलं त्रुटितेन छिन्नेन वसुधाबन्धेन पृथ्वीसम्बन्धेन विधुरः विरहितः विदधे कृतः येन अद्यापि सम्प्रत्यपि त्रिपुरहरनृत्यव्यतिकर

वानरराजके द्वारा अस्त्र बनाये गये वृक्ष रावण की छातीसे टकराकर दावानलकी विपत्ति प्राप्त करके सीदित हो उठते हैं उखाड़कर चलाये गये शैलशिखर रावणके हाथोंसे चूर्णित होकर निकुञ्जस्थित निर्झर-जलसे कर्दम पिण्ड बन जाता है ॥ ४० ॥

हेमाङ्गद—(हँसकर) सखे, रावणके लिये यह कुछ नहीं है,

इस रावणने कैलास पर्वतको उठाकर इस प्रकारसे सर्वाशतः पृथ्वीसम्बन्ध रहित

---

१ शस्त्राणि । २ 'तटी' ।

अमुं येनाद्यापि त्रिपुरहरनृत्यव्यतिकर
पुरस्तादन्येषामपि शिखरिणामुल्ललयति ॥ ४१ ॥

किं च तर्कयामि ।

शस्त्रीकृतस्तरुवरो हरिपुङ्गवेन लङ्केन्द्रवक्षसि मृणालमृदुः पपात ।
तत्र स्थितैस्तु कुसुमैः कुसुमेषुरेनं सीतावियोगविधुरं दृढमाजघान ॥४२॥

रत्नचूड—(विहस्य ।) सखे, किमुच्यते '[1]महासत्त्ववतामुपरि खल्वसौ रावणः । तथा हि ।

शङ्करस्य नृत्यलीला अन्येषां शिखरिणां पर्वतानां पुरस्तात् पूर्वम् अमुं कैलासम् उल्ललयति चालयति । अयं रावणः कैलासपर्वतं सर्वथोत्थाप्य तथा पृथ्वीसम्बन्धहीनमकरोद्यथाऽद्यापि शिवस्य नृत्यलीलायां प्रारब्धायां सर्वेषु पर्वतेषु स्थिरेषु पृथ्वीसम्बन्धस्य रावणेन शिथिलीकृततयाऽयं कैलास एव चलितुं प्रारभत इत्यर्थः, शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४१ ॥

शस्त्रीकृत इति । हरिपुङ्गवेन वानरप्रधानेन सुग्रीवेण शस्त्रीकृतः प्रहरणतां प्रापितः तरुवरो महावृक्षः लङ्केन्द्रवक्षसि रावणस्योरसि मृणालमृदुः कमलनालकोमलः पपात पतितः, तत्र स्थितैः प्रहरणीकृतवृक्षवर्त्तिभिः कुसुमैः पुष्पैः कुसुमेषुः कन्दर्पस्तु एनम् सीतावियोगविधुरं सीताऽप्राप्तिव्यथितं रावणं दृढम् आजघान बलवत् पीडयामास । वृक्षप्रहारजन्यव्यथाऽभावेऽपि पुष्पबाणव्यथा समधिकाऽभूदिति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

महासत्त्ववताम् बलशालिषु मूर्धन्यानाम् । उपरि ऊर्ध्वम् । बलशालिष्वपि महाबलशाली रावण इत्यर्थः ।

बना दिया है कि अभी भी शिवजी अपने नृत्यके समय सभी पर्वतोंके सामने इसी पर्वतको नचाते हैं ॥ ४१ ॥

मैं तर्क करता हूं,

वानरराज द्वारा शस्त्र बनाया गया तरुवर रावणकी छाती पर कमल-कोमल बनकर गिरता है, परन्तु सीताके वियोगमें दुःखी इस रावणको कामदेव उसी वृक्षपरके फूलोंसे पूर्ण आहत कर देता है ॥ ४२ ॥

रत्नचूड—(हसकर) सखे, क्या कहा जाय, रावण सभी बलवानोंसे बढकर है ।

---

१ 'महासत्त्वतायां रावणः खल्वयम्', 'महासत्त्ववतामुपरि रावणः खल्वसौ' ।

स्वेषूत्कृत्य हुतेषु मूर्धसु जवादग्ने स्फुटित्वा बहि-
र्व्याकीर्णेष्वलिकेषु दैवलिपिभिर्दृष्ट्वाऽपि रामायणम् ।
चित्तेनास्खलितेन यस्तदधिकं ब्रह्माणमप्रीणय-
त्कस्तस्मै प्रथमाय मानिषु महावीराय वैरायते ॥ ४३ ॥

हेमाङ्गदः—सखे, पश्य पश्य भयानकमद्भुतं च वर्तते ।

विशिखौघविकीर्णगण्डशैले तरुसंचूर्णितशक्तितोमरे च ।

स्वेषूत्कृत्येति । स्वेषु शिरस्सु निजमस्तकेषु उत्कृत्य हुतेषु छित्त्वाऽग्नौ मन्त्रसंस्कारपूर्वकं दत्तेषु सत्सु जवात् वेगात् स्फुटित्वा विदीर्य बहिर्व्याकीर्णेषु इतस्ततो विकीर्णेषु अलिकेषु स्वकपालेषु दैवलिपिभिः भाग्याक्षरैः रामायणं रामकर्तृकरावणवधान्तं रामचरितं दृष्ट्वा प्रत्यक्षमालोक्यापि अस्खलितेन उत्साहभङ्गमनासादयता चित्तेन तदधिकं पूर्वापेक्षयाऽधिकरूपेण यो रावणो ब्रह्माणं स्वाराध्यं देवम् अप्रीणयत् तोषितवान्, मानिषु अभिमानशालिषु प्रथमाय श्रेष्ठाय महावीराय रावणाय कः वैरायते शत्रुत्वमाचरति ? यो रावणः स्वानि शिरांसि हुत्वा ब्रह्माणं प्रसादयितुमारभत, छिन्नहुतेषु शिरस्सु वह्निसन्तापाद्विदीर्य बहिर्विकीर्यमाणे यदासौ स्वभाललिप्या रामकर्तृकं भाविनं स्ववधं पठितवांस्तदाप्यस्खलितधैर्यः पूर्वापेक्षयाऽप्यधिकेनोत्साहेन ब्रह्माणं प्रीणयितुं प्रवृत्तस्तेन रावणेन सह कः स्पर्धितुमर्हति ? न कोऽपि वीरस्तत्स्पर्द्धामधिकुरुते इत्याशयः । 'रामेण रावणवधो रामायणमिति स्मृतम्' इति त्रिकाण्डशेषः । 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः ॥ ४३ ॥

विशिखौघेति । विशिखौघेन शरसमूहेन रावणेन विकीर्णा निराकृता गण्डशैलाः सुग्रीवप्रहृताः पर्वतशिला यत्र तादृशे, अथ च तरुणा सञ्चूर्णिताः शक्तयः तोमराश्चास्त्रभेदाः यत्र तादृशे च सुग्रीवप्रहिततरुद्वारा यत्र रावणप्रहृतयोः शक्ति-

---

रावणने अपने सभी मस्तक काटकर होम कर दिये, वे मस्तक फूटकर आगसे बाहर आकर बिखर गये, रावणने अपने ललाटों पर भाग्यलिपिके रूपमें लिखी सारी रामकथा देख ली, फिर भी अविचलित भावसे ब्रह्माकी आराधना करता रहा, उस महाभिमानी वीर रावणके साथ कौन वैर करेगा ॥ ४३ ॥

हेमाङ्गद—सखे देखो देखो, भयानक तथा आश्चर्यजनक बात हो रही है ।

रावणने सुग्रीव द्वारा प्रहृत शिलाखण्डको बाणोंसे विकीर्ण कर दिया और सुग्रीवने रावण द्वारा प्रहृत शक्ति, तोमर नामक अस्त्रोंको वृक्षाघातसे चूर्ण कर दिया, तब दोनोंने

कपिराक्षसराजयोरजस्रं तुमुले भान्ति तलातलिप्रपञ्चा[१] ॥ ४४ ॥

नूनमिदानी

श्वासोर्मिप्रतिबन्धतुन्दिलगलप्रच्छिन्नहारावली-
रत्नैरापतयालुभि कृतफणप्राग्भारभङ्गभ्रम ।
श्रोत्राभावनिरन्तरालमिलितै स्तब्धैः शिरोभिर्भुवं
धत्ते वानरवीर[२]विक्रमभराद्भग्नैर्भुजङ्गाधिप ॥ ४५ ॥

तोमरयो चूर्णन क्रियते तादृशे च, कपिराजराक्षसराजयो तुमुले भीषणे युद्धे अजस्र बहुलीभवन्त तलातलिप्रपञ्चा परस्परचपेटापातविस्तारा भान्ति शोभन्ते। यदा युद्धे सुग्रीवप्रहिता पर्वतशिला रावणो बाणौघैर्न्यवारयद्यदा च रावणप्रहितयो शक्तितोमरयो सुग्रीवस्तरुद्वारा चूर्णं कृतवान्, तदा तौ परस्पर तलातलियुद्धमारब्धवन्तावित्यर्थ, तलैश्च तलैश्च प्रहृत्येद युद्ध प्रवृत्तमिति तलातलि, तस्य प्रपञ्चा विस्तारा ॥ ४४ ॥

श्वासोर्मीति । भुजङ्गाधिप सर्पराज वानरवीरस्य सुग्रीवस्य विक्रमभरात् पादविन्यासभारवशात् आपतयालुभि पुन पुनर्नम्रीभवद्भि, श्वासोर्मीणा नि श्वासतरङ्गाणा प्रतिबन्धेन तुन्दिलात् स्थूलता गतात् गलात् कण्ठनालात् प्रच्छिन्नाया छित्वा स्खलिताया हारावल्या रत्न कृत फणप्राग्भारस्य सहस्रसंख्यकफण समुदयस्य भङ्गस्य त्रुटनस्य भ्रमो भ्रान्तिर्यस्य तथाभूत सन् श्रोत्राभावेन कर्णेन्द्रियरहितत्वेन निरन्तरालम् अव्यवधानेन मिलितै स्तब्धै भाराधिक्यनिश्चलै भुग्नै अवनतैश्च शिरोभि भुव धत्ते धारयति । वानरराजे युद्धे पादप्रक्षेपेण चलति सति तदीयभारेण पृथ्वी गुर्वी जायते, ता धारयन शेषस्य फणा अवनमन्ति, धारणप्रयासाय श्वासनिरोधे कृते गलस्योच्छूनतया त्रुटिता रत्नावली भूमौ विकीर्णा भवति येन लोक शङ्कते यदस्य फणा एव त्रुटिता पतिताश्च, चक्षुश्रव स्तया श्रोत्राभावेन शिरास्य व्यवधानेन मिलितानि सन्ति स्तब्धानि च, तदित्थ महता श्रमेण फणिनायको भुव धारयति ॥ ४५ ॥

तलाघात द्वारा भयङ्कर युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया है ॥ ४४ ॥

निश्चय ही इस समय,

वानर वीरोंके विक्रमभारसे झुके हुए शेषनागके श्वास वायुसे मोटे गलेसे हारके रत्न टूटकर बिखर जाते है जिससे ऐसा भ्रम होता है मानो फणराशि गिर गई हो, कानके नही रहनेसे शेषनागके सिर निरन्तराल भावसे सट जाते हैं ॥ ४५ ॥

---

१ प्रहारा । २ 'विक्रमभराभुग्नो'।

(सविषादम्।) अहह, बाहुयन्त्रेणापीड्य [1]वानरराजं सुग्रीवं किमाह [2]रावणः।

[3]अस्मद्बाहुवनान्दोलसुलभं फलमाप्नुवन्।
नियुद्धलाघवक्लान्त शाखामृग सुखी भव ॥ ४६ ॥

रत्नचूडः—(सहर्षम्।) सखे, करणकौशलमोचितात्मा विपक्ष-दुर्वचनत्रुट्यमानहृदयो हृदयङ्गममभिदधाति वानरेन्द्रः।

विंशत्या युगपत्क्षमैरपि भुजैराकर्षणच्छेदयो-
[4]रच्छिन्नं दशमं शिरः कथयति च्छिन्नानि यानि क्रमात्।

बाहुयन्त्रेण बाहुबन्धनेन। आपीड्य बलाल्लिङ्गनविधया पीडयित्वा।

अस्मदिति। हे शाखामृग वानर, नियुद्धे बाहुयुद्धे क्लान्त सञ्जातश्रम, अस्माकं बाहुवनेन भुजनिवहेन य आन्दोलः कम्पनं तेन सुलभं फलं मृत्युरूपम् आप्नुवन् लभमानः सुखी भव। अन्योऽपि श्रान्तो वृक्षारोहणाक्षमो वानरः वनं कम्पयित्वा प्राप्तेन फलेन सुखीभवति, अयमपि युद्धश्रान्तो रावणबाहुनिपीडनसुलभेन फलेन मृत्युरूपेण शाश्वतं सुखमश्नुतामित्याशयः ॥ ४६ ॥

करणकौशलेन क्रियालाघवेन करपादादीन्द्रियचेष्टया। मोचितः रावणभुज-पीडनान्मुक्तीकृतः आत्मा स्वदेहो येन तथोक्तः। विपक्षस्य शत्रो रावणस्य वचनेन त्रुट्यमानं भिद्यमानं हृदयं यस्य तथोक्तश्च। हृदयङ्गमम् अतिमनोहरम्।

विंशत्येति। तव विंशत्या भुजैः विंशतिसंख्यैर्बाहुभिः युगपत् एककाले आकर्षण-च्छेदयोः दशानां तव शिरसामाकर्षणे छेदने च क्षमैः समर्थीभवद्भिरपि अच्छिन्नम्

(सविषाद) अहह !! बाहु-यन्त्रसे पीडित करके रावणने सुग्रीवसे क्या कहा ?

हमारे बाहुवनके आन्दोलनसे सुलभ फलको प्राप्त करके तुम सुखी हो जाओ, क्योंकि तुम लडते-लडते थक गये हो ॥ ४६ ॥

रत्नचूड—(सहर्ष) सखे, अपनी चतुराइसे अपनेको मुक्त करके शत्रुके वचनोंसे त्रुटित हृदय वानरेन्द्र बहुत अच्छा कह रहा है।

आपके बीस हाथ एक ही साथ आपके मस्तकोंको खींच खींचकर काट रहे थे, तथापि जो दशम सिर अच्छिन्न ही बना रह गया, आपके शिवाराधक उन दश मस्तकोंको

---

१ 'वानरराजम्' इति क्वचिन्नास्ति　　२ 'दशग्रीव'।
३ 'अस्मद्बाहु' इत्यादिश्लोकात्पूर्वं क्वचित् 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति। ४ 'अच्छिन्नदन्'।

तान्याराद्धमहेश्वराणि भवत शीर्षाणि तुल्यं दश-
च्छिन्दानो दशभिर्नखैर्यदि पुनः शाखामृगेन्द्रः सुखी ॥४७॥

अपि च रे रे राक्षस,

दशमुखवधनाट्यसूत्रधारो रघुपतिरस्य च पारिपार्श्वकोऽहम् ।
प्रकरणफलबीजभावकानाममृतभुजां [1]समुपास्वहे समाजम् ॥ ४८ ॥

अखण्डित ते तव रावणस्य दशम शिर यानि तव नव शिरांसि क्रमशश्छिन्नानि कथयति, आराद्धमहेश्वराणि आराधितशिवानि तानि सर्वाणि दशापि तव शीर्षाणि तुल्यम् समकालम् दशभिर्नखैश्छिन्दान खण्डयन् शाखामृगेन्द्रो वानरराजो यद्यह सुखी स्याम् । तव विंशतिर्भुजा एकदैव तव दशाना शिरसा छेदे आकर्षणे च क्षमा आसन्, परन्तु ते नवैव शिरांसि क्रमादच्छिदन्, इद वस्तु तवावशिष्य माण दशम शिर कथयति, सम्प्रत्यह यदि तव दशापि शिरासि समकालमेव निजैर्दशभिर्नखैश्छेत्तु प्रभवेय तदैव सुखी स्यामित्यर्थं । दशम शिरो यानि छिन्नानि कथयति तानि दशशीर्षाणीति कथ शक्य कथयितुम्, नवशीर्षाणीति वक्तव्यम्, तदत्र ग्रन्थकृत प्रमाद इव प्रतीयत इति जीवानन्दटीका । दशम शिरो यानि छिन्नानि कथयति तानि नव, कथयितृ च दशम शिर इति दशापि तव शीर्षाणी त्येव क्लिष्ट व्याख्यानमपि ग्रन्थलापनाय कर्त्तुं शक्यम् ॥ ४७ ॥

दशमुखेति । रघुपति [राम दशमुखवधस्य नाट्यस्य अभिनेयवस्तुन सूत्रधार प्रधाननट., अह सुग्रीवश्च अस्य रघुपते. सूत्रधारस्य पारिपार्श्वक 'सूत्रधारेण सहित सलाप प्रकरोति य. । सूत्रधारसमो वापि स भवेत्पारिपार्श्वक' इत्युक्तलक्षण-लक्षित, तौ आवाम् प्रकरण नाट्यम् तस्य फल प्रतिपाद्य वस्तुबीज तत्कारण तेषा भावका अनुभवितारो येऽमृतभुजो देवास्तेषा समाजम् परिषदम् समुपास्वहे आराधयाव । अभिनये प्रकरणबीजफलै सामाजिकाराधनमेव सूत्रधारपारि-पार्श्वकयो कर्त्तव्य तदत्र दशमुखवधे नाटकेऽभिनेतव्ये रामसुग्रीवौ [सूत्रधारपारि-

---

एक ही साथ अपने दश नखोंसे जब काट सकूगा, तभी मै वानरराज प्रसन्नताका अनुभव कर सकू गा ॥ ४७ ॥

अरे राक्षस,

रामचन्द्र रावण बध रूप नाटकके सूत्रधार है, और मै उनका पारिपार्श्वक हू, हम दोनों प्रकरण फल बीजके अनुभव करनेवाले देवोके ममाज को सन्तुष्ट कर रहे हैं ॥४८॥

---

१ 'समुपास्महे' ।

[1]इत्यभिदधानेनैवोत्प्लुत्य निर्दय शिरसि ताडितो रथध्वजदण्डावलम्बी कथंचिदाश्वसिमिति रावण । (सर्वतोऽवलोक्य सहर्षम् ।) सखे पश्य पश्य ।

यन्माल्यग्रथनावशेषविकलै. सन्तानकैर्नाकिनां
　　भर्त्रे [2]गर्भगमेव दाम [3]निभृतं स्वर्मालिकैर्गुम्फितम् ।
तस्मिन्नद्य दशास्यमूर्धनि नवप्रस्तावनामापदां
　　पश्यन्तो रभसौघभर्त्सितभियः क्रोशन्ति न. स्यन्दनाः ॥४९॥

पार्श्वकौ रावणवध फलम् , तदन्यायादिर्बीजम् , तत्सर्वसमाहार प्रकरणं देवाश्च तदानन्दोपभोगिन सामाजिका इति बोध्यम् ॥ ४८ ॥

यन्माल्येति । यस्य रावणस्य मूर्ध्न शिरसो माल्य दाम तस्य ग्रथनात् गुम्फनात् अवशेषाणि उर्वरितानि विकलानि त्रुटितपत्राणि विगतसौरभ्याणि च यानि सन्तानकानि देवतरुकुसुमानि तै नाकिना भर्त्रे शक्राय स्वर्मालिकै देवलोकमालाकारै गर्भगम् केशपाशान्तरगम् एव दाम माल्यम् निभृतं प्रच्छन्नभावेन गुम्फितम् रचितम् , तस्मिन् दशास्यमूर्द्धनि अद्य सम्प्रति आपदां विपत्तीना नवप्रस्तावना नवीनमवतरण पश्यन्तो नोऽस्माक स्यन्दना रथा रभसौघभर्त्सितभिय आनन्दातिरेकनिर्भीका. सन्त क्रोशन्ति घर्घरशब्द कुर्वते । पूर्वं रावणमाल्यनिर्माणावशिष्टकुसुमैर्देवमालाकारा इन्द्रस्य कृते स्वल्पपरिमाणं माल्य प्रच्छन्नभावेन निर्मान्तिस्म एतादृशी यस्य रावणस्य विभीषिकाऽऽसीत् , सम्प्रति तमेव रावणमापद्गत पश्यन्तो हर्षातिरेकापसारितभियोऽस्माकममी रथा आनन्दभयाभावादिद्योतक घर्घरशब्द कुर्वत इत्यर्थ । 'केशमध्ये तु गर्भकम्' इत्यमर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४९ ॥

यह कहते हुए वानरराजने कूदकर रावणके सिरपर निर्दय प्रहार किया, जिससे आहत होकर रावणने रथध्वज दण्डका अवलम्बन करके किसी प्रकार अपनेको सभाला । (चारो ओर देखकर) सखे, देखो देखो,

पहले रावणके लिये माल्य बनानेमे कल्पवृक्षके सभी फूल समाप्त हो जाते थे, तब देवमालाकार गण चुपके चुपके कलियोंकी माला इन्द्रको अर्पित करते थे, उसी रावणके सिर पर नवीन आपत्तिका प्रस्तावनाको देखनेवाले हमारे रथ उस विषयमें निन्दा कर रहे हैं ॥ ४९ ॥

---

१. 'इत्यभिधायानेन' ।　　२ 'गर्भकम्' ।　　३ 'निभृतै' ।

हेमाङ्गद—(सविषादम् ।) अहह, [1]सोऽप्याश्वस्य दशकण्ठेनापि मुष्टिना ताडितो मूर्च्छित कपीन्द्रो नीलहनूमद्भ्यामाश्वास्यमानोऽपसार्यते ।

रत्नचूड—सखे, प्रधनस्य [2]हि प्रथमे पर्वणि शतकृत्वो विजयन्ते पराजीयन्ते च [3]वीरा । तत्र को विषाद ।

हेमाङ्गद—(अन्यतोऽवलोक्य ।) सखे रत्नचूड, दिष्ट्या वर्धसे यदयमनुप्राप्तः

कुशिकसुतसपर्यादृष्टदिव्यास्त्रतन्त्रो
भृगुपतिसहयुध्वा वीरभोगीणबाहु ।
दिनकरकुलकेतु कौतुकोत्तानचक्षु-
र्बहुमतरिपुकर्मा कार्मुकी [4]रामभद्रः ॥ ५० ॥

आश्वास्यमान धैर्य प्राप्यमाण । अपसार्यतेऽन्यत्र नीयते ।

कुशिकसुतेति । कुशिकसुतस्य विश्वामित्रस्य सपर्यया आराधनेन दृष्ट साक्षात् कृत दिव्यास्त्रतन्त्रम् जृम्भकादिप्रयोगशास्त्र येन तादृश, भृगुपतिना परशुरामेण सह युध्वा सह युद्ध कृतवान्, वीरभोगीणबाहु वीरोचितभोगार्हभुजशाली दिनकरकुलकेतु सूर्यवशपताकास्वरूप, कौतुकोत्तानचक्षु युद्धदर्शनौत्सुक्यविस्तारितनेत्र बहुमतरिपुकर्मा आदृतशत्रुरणकौशल कार्मुकी धनुर्धरश्च रामभद्र उपगत इति पूर्वोक्तेनान्वय । 'केतुश्चिह्नपताकयो' इत्यमर ॥ ५० ॥

हेमाङ्गद—(सविषाद) रावणने आश्वस्त होकर वानरराजपर मुष्टि-प्रहार किया, वानरराज उस प्रहारसे मूर्छित हो गये, उनको नील तथा हनूमान् सभाल रहे हैं ।

रत्नचूड—युद्धके प्रथम पर्वमें वीर हजार बार हारते जीतते है, उसमें विषाद कैसा ?

हेमाङ्गद—(दूसरी ओर देखकर) तुम्हारे सौभाग्यसे यह आगये,

विश्वामित्रके चरणोंमे जिन्होंने अस्त्र विद्या सीखी, जो परशुरामसे लडे, जिनके बाहुओंको वीर भोग प्राप्त है वह उत्सुक नयनोवाले तथा रावणके युद्धकी प्रशसा करनेवाले सूर्यकुलकेतु धनुर्धर राम ॥ ५० ॥

---

१. 'सोऽपि' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'हि' इति क्वचिन्नास्ति ।
३ 'महावीरा'। ४ 'रामदेव'।

रत्नचूड —(सहर्षं राममवलोक्य रावणं प्रति ।) [1]राक्षसराज,

वालेनापि विलूनधूर्जटिधनुःस्तम्भेन बाहूष्मभि-
येन स्वेदयता मनोहरमृजूचक्रे मुनिर्भार्गवः ।
सम्प्राप्तो रघुनन्दनः किमपरं तेनाधुना नेष्यते
धन्यो वालिसमानकर्तृकवधश्लाघातिभूमिं[2] भवान् ॥५१॥

हेमाङ्गद —(सकौतुकम् ।) सखे, [3]तूष्णीमास्वहे तावत् । शृणुव किं ब्रवीति रावणः । (कर्णं दत्त्वा ।) कथमेवमाह । साधु रे क्षत्रियडिम्भ, साधु ।

यत्कन्यामभिलष्यता निमिपतेर्न स्थाणवीयं मया

वालेनेति । येन बालेन अप्राप्तयौवनावस्थेनापि विलून खण्डितो धूर्जटे शिवस्य धनुःस्तम्भो येन तादृशेन हरधनुर्भञ्जकेन बाहूष्मभि भुजशौर्योष्मणा स्वेदयता स्वेदार्द्रीकुर्वता मुनिर्भार्गव परशुरामो मनोहर रम्यं यथा स्यात्तथा ऋजूचक्रे सरलता प्रापित, स रघुनन्दन सम्प्राप्त समागत, अपर किम् अन्यत् किमुच्यताम्, तेन रघुनन्दनेन धन्य भाग्यवतामग्रगण्यो भवान् रावणो वालिनो वधस्य कर्त्रा समान कर्त्ता यस्य तादृशेन वधेन श्लाघातिभूमिं प्रतिष्ठातिशयं नेष्यते प्रापयिष्यते, यो बाल एव हरधनुरभञ्जयत्, यश्च यथा वंशाद्यनृजु वह्निस्वेदनादृजूक्रियते तथा स्वभुजवीर्योष्मणा स्वेदयित्वा भगवन्तं परशुराममृजूचकार, असौ रामो युद्धभूमिमागत, असौ भवन्तं वालिनमिव हत्वा 'वालिवधकर्त्रा रावणो हत' इति प्रतिष्ठातिशयं प्रापयिष्यतीत्यर्थ । अत्र रावणस्तुत्या रामप्रकर्षो व्यञ्जित, विजेतव्योत्कर्षप्रकाशनस्य विजेतृत्कर्षप्रकाशनस्वाभाव्यादिति बोध्यम् ॥ ५१ ॥

तूष्णीम् आस्वहे मौनमाश्रयाव । क्षत्रियडिम्भ क्षत्रियशिशो ।

यत्कन्यामिति । यत् निमिपते जनकस्य कन्या सीता नाम अभिलष्यता काम-

रत्नचूड—(सहर्ष रामको देखकर रावणसे) बालक होकर भी जिसने शिवधनुष तोडा, जिसने अपने बाहु वीर्यकी गर्मीसे स्वेदित करके—परशुरामको सीधा कर दिया, वही राम आगया है, और क्या कहें, वह तुमको भी बालिके हन्ता द्वारा मारे जानेका गौरव प्राप्त करायेगा ॥ ५१ ॥

हेमाङ्गद—(कौतुकसे) मित्र, अब हम चुप हो जायं । सुनें की यह रावण क्या कहता हैं । (कान देकर) क्यों, यही तो कह रहे हैं—साधु रे क्षत्रिय बालक, साधु,

बाहुकी लीलासे तौल कर नीचे रख दिया है कैलासको जिसने ऐसा मैंने निमिपतिकी

१ 'रे राक्षसराज'।　　२ 'श्लाघ्यातिभूमिम्'।　　३. 'आस्व'।

दोर्लीलातुलितावतारितहरग्राव्णापि रुग्णं धनु' ।
तद्द्रक्ष्यन्त्यधुना कियन्तमवधि यावद्भवानित्यमी
देवेन्द्रद्विपदानदुर्दिनभिदो रौद्रार्चिषो मार्गणा ॥ ५२ ॥

(सविस्मयम् ।) कथमद्यापि तृणीकृतजगत्त्रय स एवास्य तावान-हङ्कारग्रन्थि' ।

रत्नचूड·—(सोत्प्रासस्मितम् ।) [1]सखे कथमिदमेव भवन्तं विस्मापयते।
मानाध्मातः स्वां किलोत्कृत्य तावन्मूर्धश्रेणीमेकशेषोत्तमाङ्ग· ।

यमानेन मया रावणेन दोर्लीलया भुजविलासेन तुलित भारमवधारयितुमुत्थापितः पश्चादवतारित हरग्रावा कैलासपर्वतो येन तथाभूतेनापि कैलासोत्थापनक्षमेणापि स्थाणवीय धनुर्हरधनुर्न रुग्णम् न भग्नम्, तत् तस्मात् अधुना देवेन्द्रद्विपस्य ऐरावतस्य दान मदवारि तस्य दुर्दिन वृष्टि तद्भिद· तच्छोषिण रौद्रार्चिष तीव्र-प्रतापा अमी मार्गणा मम शरा· कियन्तम् अवधि काल यावत् भवानिति द्रक्ष्यन्ति । सीतेच्छया मया कैलासोत्तोलनसमर्थेनापि शाम्भवं धनुर्यन्न खण्डित तदधुना मम सुरगजदानवारिशोषणपटिष्ठा अमी तीव्रज्वालावर्षिणो बाणा भवान् कियन्त काल यावन्मम पुरस्तिष्ठतीति द्रष्टुमिच्छन्ति, अचिरेणैव भवन्तमिमे मम बाणा सहरिष्यन्तीति यावत् । 'ग्रावाणौ शैलपाषाणौ' इत्यमर । शार्दूल-विक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ५२ ॥

तृणीकृतजगत्त्रय लोकांस्त्रीनपि तृणाय मन्यमान । अहङ्कारग्रन्थि अभिमान-बन्ध । विस्मापयते आश्चर्ये निमज्जयति ।

मानाध्मात इति । मानेन आध्मात पूर्ण अतिमानी अय रावण किल स्वा निजा मूर्धश्रेणी शिर परम्पराम् उत्कृत्य छित्त्वा एकशेषोत्तमाङ्ग अवशिष्टैकमस्तक

कन्याको चाह करके भी शिवधनुर्भङ्ग नहीं किया, सो आज हमारे यह इन्द्र द्विपके मदवारिको शुष्क कर देनेवाले यह हमारे बाण देखेंगे कि तुम कितनी दूर तक इस दिशामें आसके हो, कितना शस्त्र कौशल तुमने हासिल किया है ? ॥ ५२ ॥

(सविस्मय) क्यों अभी भी त्रिजगत् तृण समझनेवाला इसका अभिमान पूर्ववत् है ।

रत्नचूड—(सहास उलाहनेके स्वरमे) क्यों आप इतनेहीसे विस्मित हो गये ?
इस अभिमानी रावणने अपने सभी मस्तकोंको काटकर जब एक मस्तक शेष रह

---

१. 'सखे' इति क्वचिन्नास्ति ।

स्त्रीमर्धाङ्गे वञ्चयित्वा मुखेन प्रीतः शम्भोरेकपादे पपात ॥ ५३ ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य च सवितर्कम् ।) भगवतो दिवस्पतेरिव रथो दाशरथिमुपतिष्ठते ।

हेमाङ्गद —(दृष्ट्वा सहर्षम् ।) सखे, स एवायं किं न पश्यसि । लोचनमार्गसहस्रचन्द्रकस्तबकितमाहेन्द्रकवचहस्तो मातलिः । (क्षणं निर्वर्ण्य विहस्य च ।)

विविधमणिमयूखमञ्जरीभिः कृतसुरचापसहस्रसंनिपाते ।
अधिसमरमहारयद्विमाने निजमपि कार्मुकमत्र देवराजः ॥ ५४ ॥

छिन्ननवशिराः, अर्धे हरगौरीरूपस्य शिवस्यार्धभागे स्त्रीम् गौरीम् वञ्चयित्वा त्यक्त्वा प्रीतः प्रसन्नः सन् शम्भोः एकपादे दक्षिणचरणे मुखेन निपपात मस्तकेन प्रणतवान् रावणेन दशसु नव शिरांसि छिन्नानि, एकेन शिरसा अर्धनारीश्वरस्य शम्भोः पादद्वयप्रणामस्य युगपदशक्यक्रियतया पार्वत्याः पादम् विहाय महादेवस्य पादे स्व शिरः स्थापयामास तेन च प्रसादमन्वभूदित्यर्थः ॥ ५३ ॥

दिवस्पतेः इन्द्रस्य ।

लोचनेति । लोचनानां नेत्राणां मार्गसहस्रैः सहस्रसंख्यकानामिन्द्रनेत्राणां सहस्रसंख्यकैः मार्गैः चन्द्रकैः रन्ध्रैः स्तवकितः गुच्छीकृतः माहेन्द्रकवचो हस्ते यस्य तादृशः । मातलिः इन्द्रसूतः ।

विविधेति । देवराजः इन्द्रः अधिसमरः युद्धक्षेत्रे विविधानां विचित्राणां मणीनां मयूखमञ्जरीभिः किरणनिवहैः कृतः आरोपितः सुरचापसहस्रस्य सहस्रसंख्यकेन्द्रधनुषां सन्निपातः समावेशो यत्र तादृशे अत्र विमाने निजं कार्मुकं धनुरपि अहारयत् प्रेषयामास । इन्द्रोऽत्र रथे स्व चापमपि प्रेषयति न कवचमात्रमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

गया तब महादेवके अर्धाङ्गमें वर्त्तमान पार्वतीको वञ्चित करके रावणने अपना दशम मस्तक शिवके चरणोंपर रख दिया ॥ ५३ ॥

(ऊपरकी ओर देखकर वितर्कके साथ) मालूम पड़ता है इन्द्रका रथ रामके पास आरहा है ।

हेमाङ्गद—(देखकर सहर्ष) सखे, वही तो है क्या तुम नहीं देख रहे हो ? मातलि अपने हाथोंमें इन्द्रके हजार नेत्रोंके लिये बनाये गये हजार छिद्रोंसे युक्त इन्द्रका कवच लिये हुए हैं । (थोड़ीदेर देखकर सहास)

नानाप्रकार की मणिमयूख-मञ्जरियोंसे सहस्र इन्द्रचापोंसे युक्त प्रतीत होने वाले अपने इस रथ पर इन्द्रने अपना धनुष भी युद्धमें भेजा है ॥ ५४ ॥

(आकाशे कर्णं दत्वा ।) किमाह रावणप्रतीहार —[1]अरेरे पुरुहूतसूत,

दर्पोऽयं भवत. सुरासुरचमूदो काण्डकण्डूविष-
　　ज्वालाजाङ्गलिकेन जङ्गलभुजा पत्यापि न त्याजित ।
येनैन्द्रे रथवर्मणी रघुशिशोरस्योपनीते त्वया
　　राजद्विष्टमिदं विधाय स कथं शक्रोऽपि वर्तिष्यते ॥ ५५ ॥

रत्नचूड —(श्रुतिमभिनीय ।) किमाह राम —[2]सत्यमिद भो । यच्छील [3]स्वामी तच्छीलास्तस्य प्रकृतय । [4]यदेवमपि स्वामिनो [5]मूलोच्छेदिना दुर्नयेन विकत्थन्ते ।

रावणप्रतीहार –रावणद्वारपालो रावणसूतो वा । पुरुहूतसूत–देवेन्द्रसारथे ।

दर्पोयमिति । सुरासुराणा देवदानवाना याश्चम्व सेनास्तासा ये दो काण्डा भुजदण्डा तेषा कण्डू एव विषज्वाला तस्या जाङ्गलिकेन विषप्रशमनविद्याविदा जङ्गलभुजा मासाशिना पत्या रावणेन अपि अय भवतो दर्प अहङ्कार न त्याजित न शमित , येन त्वया ऐन्द्रे रथवर्मणी स्यन्दनं कवच च अस्य रघुशिशो रामस्य उपनीते उपायनीकृते, इदं राजद्विष्टम् राजद्रोह रावणस्य शत्रवे रथवर्मप्रदानरूप विधाय शक्रोऽपि कथ वर्त्तिष्यते जीविष्यति, देवदानवसैन्यभुजवीर्यदर्पप्रशमनपरेण राक्षसराजेनापि तव दर्पो न शान्ति नीतो यदत्र रामाय त्वमिन्द्रस्य रथ कवच चानीतवानसि, आस्ता नाम तव कथा, एतादृश राजद्वेष विधाय शक्रोऽपि कथ मात्मान रक्षिष्यतीति भाव । 'जाङ्गली विषविद्यायाम्' इति मेदिनी । 'जङ्गलं पिशितेऽस्त्रियाम्' इति च ॥ ५५ ॥

यच्छील यादृशस्वभाव । तच्छीला तादृशस्वभावा । प्रकृतय प्रजा । मूलो

(आकाशमे कान देकर) रावणका द्वारपाल क्या कहरहा है ? अरे इन्द्रसूत,

देवदानव सैन्यके बाहु–दण्डके विष की दवा करने वाले वैद्य राक्षसराजसे भी तुम्हारा यह दर्प शमित नही हुआ, कि तुमने यह इन्द्रके रथ, कवच इस राघवशिशुके पास लाने का साहस किया है, इस राजद्वेषको करके तुम्हारा मालिक शक्र किस प्रकार रह सकेगा ? ॥ ५५ ॥

रत्नचूड—(सुननेका अभिनय करके) रामने क्या कहा ? ठीक है यह, जिस स्वभावके राजा हो—उनके भृत्य भी उसी स्वभावके होते हैं, जिससे यह रावणके द्वारपाल स्वामीकी जड काटनेवाले दुर्नयसे अभिमान दिखा रहे हैं ।

---

१ 'अरेरे' इत्यस्मात्पूर्व क्वचित् 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति ।

२ 'सत्यम्' इत्यस्मात्पूर्वं क्वचिन्नास्ति 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति एवमग्रेऽपि ।

३ 'प्रभु' ।　　४ 'तदेवम्' ।　　५ 'मूलोच्छेदेन' ।

हेमाङ्गदः—(आकाशे कर्णं दत्त्वा ।) किमाह रावणः—अरे तापसवटो

क्रोधेन [1]ज्वलिता मुहूर्तमनु[2] च स्वैरेव निर्वापिताः
क्लीबैरश्रुमहोर्मिभिर्मखभुजां पत्युः सहस्रं दृशः ।
यैर्दृष्टा भुवनत्रयीविजयिभिः सर्वंकषाः सन्त्यमी
ते सम्प्रत्यपि मे नयापनययोर्निर्वाहमूलं भुजाः ॥ ५६ ॥

रत्नचूडः - (कर्णं दत्त्वा विहस्य ।) किमाह रामः—
छित्त्वा मूर्ध्नः किमिति स वृतो धूर्जटिर्यद्यमीषां
दोःस्तम्भानां त्रिभुवनजयश्रीरियं वास्तवी ते ।
मूर्धानो वा न खलु भवता दुर्लभाः सम्भवेयु-

च्छेदिना समूलविनाशकारिणा । विकत्थन्ते आत्मश्लाघां कुर्वते ।

क्रोधेनेति भुवनत्रयीविजयिभिः त्रिभुवनविजेतृभिः यैः भुजैः मुहूर्तं क्षणम् क्रोधेन ज्वलिता दीपिता, अनु तत्पश्चात् स्वैरेव निजैः एव क्लीबैः फलानुत्पादकतया वन्ध्यैः अश्रुमहोर्मिभिः नयनवारिधाराभिः निर्वापिता निरूष्मीकृता इन्द्रस्य सहस्रं दृशः नेत्राणि दृष्टा, सर्वंकषाः सर्वविद्रावणाः तेऽमी मम भुजाः नयापनययोः सुनीतिदुर्नीत्योः निर्वाहे सम्पादने मूलं कारणम् इदानीमपि सन्ति । ये मम बाहवोऽवमाने क्रोधं कृ वापि किमपि कर्तुमशक्ततया रुदन्तमिन्द्रं दृष्टवन्तः, सर्वविद्रावणा ममामी ते भुजा नीत्याऽनीत्या वा वर्त्तितुं क्षममाणाः सन्त्येव, तैरेव त्वां हनिष्यामीति भावः ॥ ५६ ॥

छित्त्वेति । अमीषां ते तव रावणस्य दोःस्तम्भानाम् बाहुदण्डानाम् इयं त्रिभुवनजयश्रीः वास्तवी सत्या स्वसामर्थ्यसिद्धा, तदा मूर्ध्नः स्वशिरांसि छित्त्वा स धूर्जटिः किमिति वृतः किमर्थं प्रार्थितो वरदानायेति शेषः, भवतो रावणस्य मूर्धानो

हेमाङ्गद—(आकाशमें कान देकर) रावण क्या कहता है—रे तापसवटु,

जिन्हें ने इन्द्रके हजार नयनोंको कोपसे प्रज्वलित होते तथा अपने अकार्य-साधक अश्रु-जलमें बुझते भी देखा है वे हमारे त्रिभुवनविजयी तथा नीति-अनीतिके मूल यह हाथ अभी भी अक्षुण्ण हैं ॥ ५६ ॥

रत्नचूड—(कान लगाकर सहास) रामने क्या कहा ?

यदि तुम्हारे हाथोंमें वस्तुतः यह विजयश्री थी तो तुमने शिवकी आराधनामें अपने सिर चढ़ाकर क्यों वर माँगा था ? अथवा सिर तो तुम्हारे लिये दुर्लभ होने नहीं हैं

---

1 'ज्वलना' ।　　2 'अपि च' ।

यद्देवस्य त्वमसि जगतां शिल्पिनोऽपि प्रपौत्रः ॥ ५७ ॥

यत्पुनर्ब्रवीषि 'सम्प्रत्यपि ते भुजा सन्ति' इति तदधुनैव ज्ञास्यन्ते ।

हेमाङ्गद—(कर्णं दत्त्वा ।) किमाह रावण—अरेरे राजन्यडिम्भ भवत पुराणपितामहेन बहु तावदनरण्येनैव ज्ञातम् । इदानी भवानपि ज्ञास्यति ।

रत्नचूड—(कर्णं दत्त्वा विहस्य[1] ।) किमाह राम [2]अरेरे राक्षसीपुत्र

न दूये नः पूर्वं नृपतिमनरण्यं यदवधी-
र्जयो वा मृत्युर्वा युधि भुजभृतां क परिभवः ।

मस्तकानि वा न दुर्लभा दुरापा सभवेयु स्यु, यद् यस्मात् त्व जगता शिल्पिनो जगत्स्रष्टुर्ब्रह्मण प्रपौत्रोऽसि । यदि तवेय त्रिभुवनविजयलक्ष्मीर्यथार्था स्वसामर्थ्यसिद्धा चास्ति तत्किमर्थं स्वशिरासि शिवायोपहृत्य वरमयाचथा, स्वसामर्थ्येनैव प्रार्थ्यमानार्थप्राप्ते सम्भवात्, अथवा तवाय शिरश्छेदनव्यापारो न साहसिकतामूलो यतस्तव शिरासि अनायासलभ्यानि सन्ति यस्त्व ब्रह्मप्रपौत्रो भवसीत्यर्थ । महादेवप्रीतये न त्वया शिरासि च्छिन्नानि, किन्तु शिरसा सुलभतयेति सोल्लुण्ठनोक्ति । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ५७ ॥

राजन्यडिम्भ क्षत्रियशिशो । पुराणपितामहेन वृद्धवृद्धपितामहेन पूर्वजेन । बहु ज्ञातम् मम भुजबल साधुपरिचितम् । अनरण्यो नाम रामपूर्वजो रावणेन हत इति प्राचीनवार्ता ।

न दूये न इति । न अस्माक पूर्वं पूर्वपुरुष नृपतिम् अनरण्य तन्नामान राजानम् यत् त्वम् अवधी' हतवान्, तत् ततो न दूये न सन्तापमनुभवामि, जयो वा मृत्युर्वा युधि युद्धे भुजभृता बाहुबलशालिना क परिभव कीदृशोऽपमान युद्धे जये मृत्यौ वा न परिभवस्य स्थानं तत्रान्यतरनिश्चयात्, अतोऽनरण्यवधो न मम

क्यों कि तुम विश्वनिर्माता ब्रह्माके ही प्रपौत्र ठहरे ॥ ५७ ॥

हेमाङ्गद—(कान लगाकर) रावणने क्या कहा ? अरे क्षत्रियकुमार, तुम्हारे पुराणपितामह अनरण्यने बहुत कुछ समझा था, अब तू भी समझ जायगा ।

रत्नचूड—(कान लगाकर सहास) रामने क्या कहा ? अरे राक्षसीपुत्र,

मुझे इसका ताप नहीं है कि तुमने हमारे पूर्वज अनरण्य नामक नृपका बध किया, युद्धमें जय हो अथवा मृत्यु, वीरोका इससे अनादर नहीं होता है । मुझे इसका खेद

---

१ 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'रे रे' ।

जित्वा तु त्वां कारागृहविनिहितं हैहयपते
पुलस्त्यो यद्भिक्षामकृत कृपणस्तद् व्यथयति ॥५८॥

हेमाङ्गद—(कर्णं दत्त्वा ।) किमाह रावणः—आः क्षत्रियबटो वाचाट कथमपूर्वशिल्पी रजनीचरेन्द्रचरितचन्द्रेऽपि लक्ष्म लिखसि। तदद्य न भवसि। (ससम्भ्रममवलोक्य।) कथमुपक्रान्तमेव शरसहस्रदुर्दिनं मन्दोदरीदयितेन।

रत्नचूड—कथं मैथिलीवल्लभेनापि [1]प्रत्युपक्रान्तमेव। (विहस्य।)

पतन्ति [2]रामभद्रेण खण्डिता रावणेषवः।
पूर्वार्धैः फलिभिर्वेगात्पश्चार्धैः [3]पक्षिभिश्चिरात्॥ ५९॥

परितापमूलमित्यर्थः। तु किन्तु पुलस्त्यः तव पितामहः कृपणो दीनः सन् हैहयपते कार्त्तवीर्यस्य कारागृहविनिहितं कारागारनिक्षिप्तं जितं पराभूतं त्वां भिक्षाम् अकृत भिक्षाया याचितवान् तत् पुलस्त्यकर्तृकं तव भिक्षणं स्मर्यमाणं सन्मम परितापं जनयतीति सोल्लुण्ठनं वचनम् ॥ ५८॥

वाचाट, बहुगर्ह्यभाषिन्। अपूर्वशिल्पी—नूतनश्चित्रनिर्माता। रजनिचरेन्द्रचरितचन्द्रे राक्षसराजरावणकीर्त्तिशशिनि।

शरसहस्रदुर्दिनम् शरसहस्रवर्षणम्।

पतन्तीति रामभद्रेण खण्डिताः रावणेषवः रावणस्य शराः फलिभिः लोहाग्रवद्भिः पूर्वार्द्धैः वेगात् जवात् पक्षवद्भिः पश्चार्धैश्च चिरात् विलम्बात् पतन्ति। यो भागो लोहघटिततया भारवान् स प्राग् लघुश्च पश्चान्निपतति, बाणस्य खण्डिततया तत्तद्भागानां पृथक्पतनमिति बोध्यम् ॥ ५९॥

होता है कि हैहयराज तुमको जीतकर कैद कर रखा था, तब तुम्हारे पितामह पुलस्त्यने जाकर भीखके रूपमें तुम्हें मांगा था ॥ ५८॥

हेमाङ्गद—(कान लगाकर) रावणने क्या कहा? आः क्षत्रिबटु, वाचाल क्यों, तू तो अपूर्व शिल्पी है जो रावणके कीर्त्ति-चन्द्रमें भी कलङ्क चित्रित कर रहा है। अतः तुम अब जीवित नहीं रह सकोगे, (घबड़ाहटके साथ देखकर) क्यों, इस रावणने बाण-वृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया।

रत्नचूड—क्यों रामने भी जवाब देना प्रारम्भ कर दिया।

राम द्वारा खण्डित रावणके बाण पूर्वार्ध-फल भागमे पहले गिरते हैं और पश्चार्ध पक्ष-भागमे बादमें गिर रहे हैं ॥ ५९॥

---

[1] 'प्रक्रान्तमेव'। [2] 'रामचन्द्रेण'। [3] 'पत्त्रिभिः'।

किं च—

अक्षेषु केतुदण्डे च सारथौ च हयेषु च ।
[1]खेलन्ति राक्षसेन्द्रस्य स्यन्दने रामपत्त्रिणः ॥ ६० ॥

हेमाङ्गद —(सभयम् ।) अहह ।

अन्धकारीकृतव्योमा बाणवर्षेण रावणः ।
रामारूढं तिरोधत्ते शताङ्गं शातमन्यवम् ॥ ६१ ॥

(चिरं दृष्ट्वा सविस्मयम् ।) सखे,

नानाविधानि शस्त्राणि शस्त्रैर्नानाविधैरपि ।
इमौ हि प्रतिकुर्वाते न कश्चिदतिरिच्यते ॥ ६२ ॥

रत्नचूड —एवमेतत् ।

अक्षेष्विति अक्षेषु चक्रेषु, केतुदण्डे ध्वजवंशे, सारथौ सूते, हयेषु अश्वेषु च राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य स्यन्दने रथे रामपत्त्रिणो रामस्य बाणाः खेलन्ति, रामबाणा रावणस्य स्यन्दनं सर्वत आवृण्वन्तीत्यर्थः ॥६० ॥

अन्धकारीति । बाणवर्षेण शरासारवर्षेण अन्धकारीकृतव्योमा आच्छादिताकाशः रावणः रामारूढं रामवाहनतां गतम् शातमन्यवं शक्रसम्बन्धिशताङ्गं रथं तिरो धत्ते आच्छादयति, 'शताङ्गः स्यन्दनो रथः' इत्यमरः । शतमन्योरिदं शातमन्यवम् , 'शतमन्युर्दिवस्पतिः' इति चामरः ॥ ६१ ॥

नानाविधानीति । इमौ रामरावणौ नानाविधानि बहुप्रकाराणि शस्त्राणि नानाविधैः शस्त्रैः प्रतिकुर्वाते निवारयतः कश्चित् तयोरेकः कश्चन न अतिरिच्यते न विशिष्यते ॥ ६२ ॥

और—रावण रथके धुरी, ध्वजदण्ड, सारथि तथा अश्वों पर रामके बाण खेल रहे हैं ॥ ६० ॥

हेमाङ्गद—(भयके साथ) अहह !! अपनी बाणवृष्टिसे आकाशको अन्धकाराकीर्ण बनानेवाला यह रावण रामाध्यासित इन्द्र-रथको छिपा दे रहा है ॥ ६१ ॥

(बडी देर तक देखकर साश्चर्य) सखे,

ये दोनों नानाविध शस्त्रोंका उत्तर नानाविध शस्त्रोंसे दे रहे हैं, इनमें कोई भी घट बढ नहीं रहा है ॥ ६२ ॥

रत्नचूड—यह ऐसी बात है ।

---

१ 'पतन्ति' ।

यद्रावणो बहुभिरेष भुजैः करोति
तद्राघवः प्रतिकरोति भुजद्वयेन ।
कर्म द्वयोर्यदपि तुल्यफलं तथापि
रक्षोभटाद्दशगुणं नरवीरशिल्पम् ॥ ६३ ॥

हेमाङ्गदः—([1]विहस्य ।) सखे,

विंशत्यापि भुजैरेष द्वौ भुजावभियोधयन् ।
अदूषितद्वन्द्वयुद्धमर्यादो दशकन्धरः ॥ ६४ ॥

(सखेदभयं च ।) कथमयं रावणो माहेन्द्रस्यन्दनात्
तस्याखिलभीमस्य[2] ध्वजदण्डस्य लाञ्छनम् ।

यद्रावण इति । एष रावणः बहुभिः भुजैः विंशत्या भुजैः यत् करोति अस्त्रप्रहारादि विधत्ते रामः तत् सर्वमपि रावणकृतं भुजद्वयेन प्रतिकरोति निवारयति । यद्यपि द्वयोः रामरावणयोः कर्म व्यापारः तुल्यफलं समानफलम् , तथापि रक्षोभटात् रावणात् नरवीरशिल्पम् रामस्य युद्धकौशलम् दशगुणम् । रामस्य द्वौ बाहू, रावणस्य च विंशतिस्ते, रावणो यद्विंशत्या भुजैः करोति रामस्तदेव द्वाभ्यां भुजाभ्यामिति सिद्धमेव रावणशिल्पापेक्षया रामशिल्पस्य दशगुणत्वमिति भावः ॥ ६३ ॥

विंशत्याऽपीति । एष दशकन्धरो रावणः विंशत्यापि भुजैः रामस्य द्वौ भुजौ अभियोधयन् युद्धे प्रवर्त्तयन् अदूषितद्वन्द्वयुद्धमर्यादः अक्षतद्वन्द्वयुद्धप्रतिष्ठः दशकन्धरो वर्त्तत इति शेषः । द्विभुजो रामो विंशतिभुजश्च रावण इति द्विभुजेन विंशतिभुजस्य युद्धं कथं द्वन्द्वयुद्धं कथयितुं शक्यं, तथापि स्वं युद्धं द्वन्द्वयुद्धं कथयन् रावणो न लज्जत इति चित्रमित्यर्थः, परिहासोक्तिरियम् ॥ ६४ ॥

माहेन्द्रस्यन्दनात् इन्द्ररथात् ।
तस्याखिलेति । दर्पदीप्तः अभिमानसमिद्धः रावणः क्षुरप्रेण तदाख्येन शस्त्रेण

रावण जो कार्य बीस हाथोंसे करता है राम उसका उत्तर दो हाथोंसे देते हैं, इस प्रकार यद्यपि दोनोंके फल तुल्य हैं तथापि रावणकी रणकुशलतासे रामकी रणकुशलता दशगुनी प्रमाणित हो रही है ॥ ६३ ॥

हेमाङ्गद—(महास) सखे,

रावण अपने बीस हाथोंसे द्विभुज रामके साथ युद्ध करता है फिर भी उसने द्वन्द्व युद्धकी मर्यादा नहीं नष्ट की है ॥ ६४ ॥

(खेद तथा भयके साथ) शत्रु-सैन्यको भयभीत करनेवाले रामके ध्वजदण्ड पर

---

१. 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति ।　　२ 'अरिभयभीमस्य', 'अरिभयभूतस्य' ।

दर्पदीप्त. क्षुरप्रेण मायूरं पिच्छमच्छिनत् ॥ ६५ ॥

रत्नचूड —(सहर्षम् ।) सखे, पश्य पश्य कुलिशकेतुकेतनविमा[1]-ननाविलक्षक्रुद्धेन—

दिक्पालद्विपदर्पदानलहरीसौरभ्यगर्भानिलै
पक्षैरेव समस्तराक्षसकथाकल्पान्तकर्णेजपा ।
दीयन्ते रघुपुङ्गवेन कतिचित्पौलस्त्यमौलिष्वमी
पौलोमीनयनाम्बुसीकरकणावग्राहिणो मार्गणा ॥ ६६ ॥

तस्य प्रसिद्धस्य अरिबलभीमस्य शत्रुसैन्यभयङ्करस्य रामस्यन्दनस्य ध्वजदण्डस्य लाञ्छनम् चिह्नम् मायूर पिच्छम् बर्हम् अच्छिनत् खण्डितवान् ॥ ६५ ॥

कुलिशेति । कुलिशकेतो इन्द्रस्य केतन ध्वजदण्डस्तस्य विमानना लाञ्छन मयूरपिच्छच्छेदनात्मकोऽपमानस्तत विलक्ष लज्जित क्रुद्धश्च तेन ।

दिक्पालेति । रघुपुङ्गवेन रामेण दिक्पालद्विपानाम् ऐरावतादिदिग्गजाना दर्पेण बलगर्वेण या दानलहरी मदवारिधारा तस्या सौरभ्य सुगन्धो गर्भे अभ्यन्तरे गर्भे येषा तादृशा अनिला वायवो येषा ते तथोक्ता (येषा बाणपक्षाणा प्रयोगे जाते दिग्गजाना चिरशुष्काणि दानवारीणि प्रवर्त्तितानि भविष्यन्ति, तन्मन्ये तद्बाणपक्षेषु दिग्गजदानवारिसुगन्धपूर्णा वायवो निहिता स्यु) तादृशे पक्षे पुङ्खै समस्तराक्षसकथाकल्पान्तकर्णेजपा सम्पूर्णराक्षसेक्षसेतिहासावसानसूचका समस्तरक्षोविलय सूचयन्त. पौलोमीनयनाना शचीनेत्राणां येऽम्बुसीकरकणा अश्रुविन्दवस्तेषामवग्राहिण प्रतिबन्धकरा राक्षसविनाशेन पौलोमीरुदननिवर्त्तका कतिचित् मार्गणा बाणा रघुपुङ्गवेन रामेण पौलस्त्यमौलिषु रावणशिरस्सु दीयन्ते निक्षिप्यन्ते । रामेण रावणस्य मस्तकेषु कतिचिद् बाणास्तादृशा प्रह्वियन्ते ये निजपुङ्खान् दिक्पालगजदानवारिसुगन्धानिलपूर्णान् धारयन्ति, ये च 'राक्षसवृत्त-प्रलयस्य सूचनामिव ददति, ये च पौलोमीनयनाम्बुवृष्टिं प्रतिबध्नन्ति इत्याशय ।

वर्त्तमान मयूरपिच्छ रूप चिह्नको इस दर्पी रावणने क्षुरप्र नामक अस्त्रसे काट डाला ॥६५॥

रत्नचूड—(सहर्ष) सखे, देखो, इन्द्रके ध्वजदण्डके अपमानसे लज्जित तथा कुपित—

रघुनायकने रावणके मस्तकोंपर कुछ ऐसे बाण रख दिये जो बाण दिक्पालसबन्धी गजोंके दानवारिसे सुगन्धिपूर्ण एव समस्त राक्षस-समूहके प्रलयकी सूचना अपने पक्षोंसे देनेवाले हैं, तथा जिन बाणोंने इन्द्राणीके नयनोंके अश्रु प्रवाहको बन्द कर डाला है ॥६६॥

---

१ 'अवमानवैलक्ष्य–' 'अवमाननाविलक्ष–' ।

हेमाङ्गदः—(सखेदाद्भुतम् ।) कथं किरीटपरम्परापरिभवममृष्यमाणेन बाणवर्षाद्वैतमातन्वता राक्षसराजेन

विदेहकन्याकुचकुम्भकोटिकठोरतासाक्षिणि सायकोऽयम् ।
रामस्य जन्मान्तरमेलकारश्रीकौस्तुभे वक्षसि हा निखातः ॥६७॥

(सम्यगवलोक्य ।) सखे,

एकेनैव निवातकङ्कटभिदा लङ्कापतेः पत्त्रिणा
विद्धोऽयं यदि नाम कोऽपि जगतामुल्लाघनो राघवः ।
चक्षुर्वर्त्मसहस्रनिःसरदसृग्धारौघझाङ्कारिणा[1]

कर्णजपः सूचकः स्यात्' इत्यमरः । 'मौलिर्मूर्धकिरीटयोः' इति धरणिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

किरीटेति । किरीटानां मुकुटानां परम्परा श्रेणिस्तस्याः परिभवं बाणप्रहाररूपमनादरम् । अमृष्यमाणेन असहमानेन । बाणवर्षाद्वैतम् सर्वतो बाणवृष्टिम् ॥

विदेहकन्येति । विदेहकन्यायाः सीतायाः कुचौ स्तनौ कुम्भौ इव तयोः कोटेः अग्रभागस्य साक्षिणि प्रत्यक्षानुभवितरि जन्मान्तरे विष्णुरूपजन्मनि मेलकारौ सङ्गिनौ श्रीकौस्तुभौ तदाख्यमणी यस्य तादृशे विष्णुरूपजन्मनि श्रिया कौस्तुभेन च युक्ते रामस्य वक्षसि हृदये (रावणेन) अयम् सायको बाणो निखातः निक्षिप्तः । हा खेदे ॥ ६७ ॥

एकेनैवेति । एकेनैव निवातकङ्कटभिदा अनिदृढकवचभेदिना लङ्कापतेः पत्त्रिणा बाणेन जगतामुल्लाघनः रावणादिराक्षसविनाशद्वारा लोकत्रयनैरुज्यकारी कोऽपि राघवोऽयं यदि नाम विद्धः, तु किन्तु चक्षुषा वर्त्मसहस्रात् इन्द्रस्य दृशाम् अबाधः प्रत्यक्षं जायतामिति विचार्य तद्वर्मणि निर्मिताद्रन्ध्रसहस्रात् निःसरन् निर्गच्छन् यः

हेमाङ्गद—(खेद तथा आश्चर्यसे) क्यों, किरीट-समुदायके अपमानसे कुपित तथा अनवरत बाणवृष्टि करनेवाले राक्षसराजने—

हाय, विदेहकन्याके कुचकुम्भोंकी कठोरताके साक्षी तथा जन्मान्तरमें लक्ष्मी तथा कौस्तुभसे मिलन करनेवाले रामके हृदय पर अपना बाण रोप दिया ॥ ६७ ॥

(अच्छी तरह देखकर) सखे, दृढकवचभेदी रावणके एक ही बाणसे यदि जगत्को नीरुज बनानेवाले राम विद्ध होगये, तब वह इन्द्रके कवचमें बने सहस्र नेत्र मार्गोंसे खूनकी धार बहाकर हजार व्रणोंको विवृत कर रहे हैं ॥ ६८ ॥

---

१. 'सात्कारिणा' ।

माहेन्द्रेण तु वर्मणा विवृणुते वीर सहस्रं व्रणान् ।। ६८ ।।

रत्नचूड –(महर्षम् ।) राघवेणापि

सीतास्तनस्तवककुङ्कुमपङ्कलोप[1]-
सङ्कल्पपातकिनि वक्षसि रावणस्य ।
न्यस्त शरो विबुध[2]कुञ्जर[3]दन्तघात
रूढव्रणार्वुदचतुष्टयमध्यवर्ती ।। ६९ ।।

हेमाङ्गद —(कर्णं दत्त्वा सविस्मयम् ।) [4]एकेन सव्यपाणिना विशिखमुत्खाय किमाह रावण —साधु रे मनुष्यडिम्भ साधु ।

असृग्धारौघ रक्तप्रवाहसमुदायस्तेन झाङ्कारिणा झाङ्कारशब्दकरेण माहेन्द्रेण वर्मणा कवचेन वीरो राम सहस्र व्रणान् विवृणुते प्रकाशयति । यद्यपि रावणबाणेन राम एकत्रैव विद्ध इत्येकमेवासौ व्रण धत्ते परन्तु शक्रवर्मण सहस्रच्छिद्रतया प्रतिच्छिद्र रक्त वहतीति रक्ताक्तच्छिद्रसहस्रयुक्ततनुरय राम सहस्र व्रणान् प्रकाशयतीत्युक्तम् । 'उरश्छद कङ्कटक', 'उल्लाघो निर्गतो गदात्' इत्युभयत्रामर ॥ ६८ ॥

सीतास्तनेति । सीताया स्तनौ स्तवकाविव पुष्पगुच्छाविव तयो कुङ्कुमपङ्कस्य काश्मीरद्रवस्य लोपे अपसारणे रामवधद्वारा वैधव्य विधाय तामालिङ्ग्य वा तत्कुचस्थ कुङ्कुमपङ्कापसारणे य सङ्कल्प दृढेच्छा तत्पातकिनि मनसा पापपरे रावणस्य वक्षसि (राघवेणापि) विबुधकुञ्जर ऐरावतस्तस्य चतुर्भिर्दन्तै घात प्रहारस्तेन रूढस्य जातस्य व्रणार्वुदानाम् व्रणचिह्नमासपिण्डानाम् चतुष्टय तन्मध्यवर्त्ती मध्यस्थ शरो न्यस्त क्षिप्त । रामोऽपि रावणस्य हृदये बाण क्षिप्तवान्, यत्र हृदये सीतामालिङ्गितु राम हत्वा सीता विधवा कर्त्तु वा सङ्कल्पेन पाप सक्रान्तम्, यत्र चैरावतदन्तचतुष्टयप्रहारकृतव्रणार्बुदचतुष्टय विद्यमान तत्रेति बोध्यम् । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ६९ ॥

रत्नचूड—(सहर्ष) राघवने भा—

सीताके स्तनों पर किये गये कुङ्कुमपङ्कको लुप्त करनेके सङ्कल्पसे पातकयुक्त रावणके हृदय पर देवगजके दन्तघातसे उत्पन्न व्रणचिह्न-चतुष्टयके मध्यमें बाण रख दिया ॥ ६९ ॥

हेमाङ्गद—(कान लगाकर) एक ही वामहस्तसे बाण उखाडकर रावणने क्या कहा ? साधु अरे नरशिशु, साधु,

---

१ 'लेप-' । २. 'वारण-' । ३ 'दन्तपात-' ।
४ 'एकेनापि सव्येन पाणिना', एकेन सव्येन', 'एकेन सव्यपाणिना तमुत्खाय' ।

त्रैविक्रमं सकलदानवजीवितव्य-
विद्यासमाप्तिलिपिरेष सुदर्शनो मे ।
यस्मिन्निपत्य हृदये दलितारजाल-
ज्योतिस्तुषारमयमाभरणं बभूव ॥ ७० ॥

तस्मिन्नपि रुधिरदर्शनं कुर्वाणेन भवता दर्शितेयं सुरासुरवीराति-[1]शायिनी हस्तवत्ता ।

रत्नचूडः—अहह, विपक्षगिरामुद्गारेण सर्वग्रन्थिगुरुणा दूरं [2]दीप्य-मानस्य—

सुविनिहितचन्द्रहासव्रणकिणवलयोपहसितहारेषु ।

त्रैविक्रम इति । सकलानां दानवानां जीवितव्यं जीवनम् एव विद्या तस्याः समाप्तिलिपिः अवसानलेखरूपः एष त्रैविक्रमः विष्णुसम्बन्धी सुदर्शनं चक्रं नाम यस्मिन् मम हृदये निपत्य पतित्वा दलितं खण्डशो भूतं मदीयवज्रोरःसङ्घर्षण-त्रुटितम् आरजालं चक्रप्रान्तसमूहो यस्य तथाभूतम् अत एव ज्योतिस्तुषारमयं भास्वरशीतलम् आभरणं बभूव । यच्चक्रं राक्षसजीवनसमापकं प्रथते तदपि वैष्णवं सुदर्शनाभिधं चक्रं ममोरसि प्रहृतं सत् वज्रोरःसंघर्षेण त्रुटितारजालं भूत्वा यत्र मम हृदये भास्वरवर्णमतिशीतलं चाभरणं जातं तत्रापीत्यग्रिमेण सम्बन्धः ॥७०॥

रुधिरदर्शनं कुर्वाणेन—शोणितं प्रकटयता । सुरासुरवीरातिशायिनी देवदान-वातिक्रमणी । हस्तवत्ता—प्रशस्तहस्तशालिता ।

विपक्षगिराम्—शत्रुवचसाम् । उद्गारेण उच्चारणेन । सर्वग्रन्थिगुरुणा—सर्वैर्ग्रन्थिभिर्महता । दूरम्—अतिमात्रम् । दीप्यमानस्य—प्रकाशमानस्य ।

सुविनिहितेति । सुविनिहितः शिवाराधनावसरे स्वशिरश्छेदनार्थं सुष्ठु धृतो यश्चन्द्रहासो नाम निजखड्गस्तस्य व्रणकिणवलयेन शुष्कव्रणचिह्नसमुदयेन उप-

सकल दानवोंके जीवन-लेखको समाप्त करनेवाला विष्णुका सुदर्शन चक्र जिस हमारे वक्षपर गिरकर सकल दाँतोंके टूट जानेसे तेजपूर्ण शीतल आभरण बन गया था ॥ ७० ॥

उसीपर तुमने रक्त-दर्शन कराकर सकल देवदानवजयिनी वीरता प्रकट की है ।

रत्नचूड—अहह ! शत्रुके वचनोंसे अत्यन्त कुपित—

रामके बाण-समुदाय अच्छी तरह विन्यस्त चन्द्रहास-व्रणचिह्नोंमें हारका उपहास

१. 'वाहिनी' । २ 'देदीप्यमानस्य', 'कम्पमानस्य' ।

रामस्य मार्गणगणा पतन्ति दशकण्ठकण्ठेषु ॥ ७१ ॥

हेमाङ्गद —(सचमत्कारम् ।) सखे, पश्य पश्य—अनुरूपवीरस[1]वादप्रमोदभरद्विगुणितावष्टम्भसंक्षोभितभुवनत्रयस्य निरन्तरप्रहीयमाण[2]बाणपञ्जरमध्यवर्तिना रामभद्रेण क्रीडाशकुन्तकौतुकं [3]पूर्यते राक्षसराजस्य । नूनमिदानीम्

उदञ्चन्न्यञ्चद्भूविवृतनिभृतानामनुफणं
मणीनां विद्युद्भिः क्षणमुषितपातालतिमिरः ।

हमिति स्वरूपशोभया निन्दितो हारो येषु तादृशेषु—शिरश्छेदधृतचन्द्रहासक्षतसमुत्पन्नव्रणकिणवलयतिरस्कृतहारशोभेषु—दशकण्ठकण्ठेषु रावणगलेषु रामस्य मार्गणगणा बाणसमूहा पतन्ति ॥ ७१ ॥

अनुरूपेति । अनुरूपो योग्यो यो वीरसंवादः सुभटमिलनं तेन यः प्रमोदभरः आनन्दातिशयः तेन द्विगुणितः द्विगुणीभूतः योऽवष्टम्भः गर्वः तेन संक्षोभितं सञ्चालितं भुवनत्रयं येन तथोक्तस्य । राक्षसराजस्य रावणस्य । निरन्तरप्रहीयमाणानाम् अनवरतं क्षिप्यमाणानाम् बाणानां पञ्जरस्य मध्ये वर्त्तते तच्छीलेन—रावणमुक्तबाणगणरूपपञ्जरमध्यस्थितेन । क्रीडाशकुन्तकौतुकम्-क्रीडापक्षिविनोदः । पूर्यते-सम्पाद्यते । अन्योऽपि क्रीडापक्षी पञ्जरमध्ये तिष्ठति, तद्वदयं रामोऽपि बाणपञ्जरमध्यस्थतया रावणस्य क्रीडाशकुनिविनोदं करोतीत्यर्थः ।

उदञ्चदिति । भुजगानामधिपतिः शेषनागः उदञ्चन्ती रावणे स्थिरे तत्पदन्यासजनितभाराधिक्यविरहे उपरि गच्छन्ती न्यञ्चन्ती रावणकृते पदन्यासे भाराधिक्येन अधोगच्छन्ती च या भूः पृथिवी तया विवृतानाम् प्रकाशितानां च उन्नमने प्रकाशितानां तथाऽधोनमने निह्नुतानाञ्चेत्यर्थः । अनुकरणं प्रतिभोगं मणीनां मूर्धस्थरत्नानां विद्युद्भिः प्रभाभिः क्षणमुषितपातालतिमिरः कियत्कालापहृताधो-

करनेवाले रावणके कण्ठोंमें गिर रहे है ।

हेमाङ्गद—(चमत्कृत होकर) सखे देखो देखो, अनुरूप वीर-संवादजन्य आनन्दसे दुगुने उत्साह द्वारा भुवनको संक्षोभित करनेवाले रावणके निरन्तर क्षिप्त बाणोंमे राम पञ्जरगत पक्षी की तरह मालूम पड रहे हैं । निश्चय ही इस समय—

ऊपर नीचे होती हुई पृथ्वीके द्वारा प्रकाशित तथा गोपित फणशाली भुजगोंके

१ 'प्रमोदद्विगुणित-' । २ 'पञ्जरवर्तिना' । ३ 'आपूर्यते' ।

भुजक्रीडावल्गद्दशमुखपदन्यासगरिम-
प्रगल्भैर्निःश्वासैरजनि भुजगानामधिपतिः ॥ ७२ ॥

रत्नचूडः—(सभयमवलोक्य ।) सखे, एवमेतत् ।

रक्षोविक्षोभवेगोच्छलितजलनिधिव्यक्तमातङ्गचक्र-
क्रुध्यद्दिङ्नागमुक्तोद्धरण[1]गुरुभरामद्य नागाधिराजः ।
अङ्गैरङ्गेषु मग्नैरविरलवलिना वामनेनातिपीना

भुवनान्धकारं, भुजक्रीडया बाहुलीलया वल्गन् सञ्चरिष्णुर्यो दशमुखो रावणस्तस्य पदन्यासगरिम्णा पादक्षेपप्रभवगौरवेण प्रगल्भैर्दीर्घतां गतैर्निश्वासैः अजनि जातः । अयमाशयः—रावणे बाहुलीलाप्रदर्शनरसिके तत्पदन्यासजनितगौरवेण यदा पृथ्वी नमति तदा शेषफणामणयः पृथ्व्या सन्निहितया निह्नूयन्ते तदा शेषः स्वफणामणि-प्रभाभिः पातालवर्त्तितमोऽपाकर्त्तुं न प्रभुर्भवति, यदा च रावणः स्थिरीभवति तदा पृथिव्यामुन्नतायां शेषफणामणयो विवृता भवन्ति तदा शेषस्तत्प्रभाभिः पातालस्थितं तमो नाशयति, तदित्थं शेषनागो रावणपदन्यासगौरवप्रसूतनिःश्वा-सानुसारं पातालवर्त्तितमः कदाचिन्नाशयति कदाचिन्न नाशयतीत्यनित्यप्रकाशतां गत इति ॥ ७२ ॥

रक्षोविक्षोभेति अद्य अधुना नागाधिराजो वासुकिः रक्षसां विक्षोभश्चलनं तज्जन्यवेगेनोच्छलितः उत्क्षिप्तजलराशिः अत एव च तुच्छीभूतो यो जलनिधिः सागरस्तत्र व्यक्ताः प्रकटीभूता ये मातङ्गचक्राः गजसमूहाः तेभ्यो विपक्षशङ्कया क्रुध्यन्तो ये दिङ्नागाः दिग्गजास्तैर्मुक्तं त्यक्तमुद्धरणमुपरिधारणं तेन गुरुभरामति-भारवतीम् उर्वीम् पृथ्वीम् अविरलवलिना निरन्तरमांससङ्कोचरूपत्रिवलीसंयुक्तेन वामनेन खर्वेण अतिपीना अतिस्थूलेन देहेन फणफलकपरीणाहं फणसमूहविस्तारम् अपह्नुवानः गोपयन् अङ्गेषु लग्नैः निलीनैः अङ्गैः बिभर्त्ति धारयति । युद्धे चलत्सु

फणमणियों द्वारा पातालके अन्धकारको शेषनाग दूर करते हैं, क्योंकि बाहु-लीलासे गर्वित रावण अपने पदन्यासके गौरवसे उनके श्वासकी वृद्धि कर रहा है ॥ ७२ ॥

रत्नचूड—(सभय देखकर) सखे, ठीक कहते हो,

रावण-पक्षगत राक्षसोंके सचरण-वेगसे उछलते हुए सागरमें मातङ्ग समुदाय प्रकट होता है जिससे कुपित होकर दिग्गज पृथ्वीका धारण छोड देते है, तब केवल शेषके ही ऊपर पृथ्वीका सारा भार आ पडता है अतः उनके अङ्ग अङ्गोंमें समाने लगते है, बलियाँ निकल आती हैं गर्दन वामन तथा मोटी हो उठती हैं, इस प्रकार किसी तरह

१. 'गुरुतराम्'।

देहेनापह्नुवानः फणफलकपरीणाहमुर्वीं बिभर्ति ॥ ७३ ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य ।) कथमितस्ततो वैमानिकैरपक्रम्यते[1] गगनतलात् ।

हेमाङ्गदः—(सचमत्कारम् ।) अहो त्रिभुवन[2]भयङ्करमायोधनमुपक्रान्तं महावीराभ्याम् । तथा हि ।

ध्यायत्ययं गाधिसुतादधीतान्दिव्यास्त्रमन्त्रान्मनुवंशवीरः ।
ब्रह्मोपदिष्टामिह [3]शस्त्रविद्यामसौ [4]तदाकाङ्क्षति राक्षसेन्द्रः ॥७४॥

[5]तदावामप्यपसराव । (इत्यपसृत्यासाते ।)

राक्षसेषु समुच्छलति सागरजले प्रकाशीभवत्सु मातङ्गचक्रेषु प्रतिपक्षशङ्कया कुप्यद्भिर्दिङ्नागैः परित्यक्ते उपरिधारणव्यापारे प्रवृद्धभागाया भुवि भारोऽधिको नेति बोधयितुं भाराधिक्येन विस्तीर्यमाणमपि फणसमूहं निरन्तरवलियुक्तेन खर्वेण स्थूलेन च देहेन गोपयन् अथ शेषनागोऽङ्गेषु स्वाङ्गानि मज्जयन्महता क्लेशेन पृथ्वीं धारयतीत्यर्थः । 'पीवा च स्थूलपीवरे' इत्यमरः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ७३ ॥

वैमानिकैः व्योमयानरथितैः । अपक्रम्यते अपस्रियते ।

त्रिभुवनभयङ्करम् लोकत्रयभयजनकम् । आयोधनं युद्धम् । उपक्रान्तम् प्रारब्धम् ।

ध्यायत्ययमिति । अयं मनुवंशवीरः मनुवंशश्रेष्ठः रामः गाधिसुतात् विश्वामित्रात् अधीतान् शिक्षितान् दिव्यास्त्रमन्त्रान् जृम्भकादिप्रयोगोपनिषदः ध्यायति स्मरति, असौ राक्षसेन्द्रः इह रणक्षेत्रे तदा रामेण दिव्यास्त्रमन्त्रेषु स्मर्यमाणेषु ब्रह्मोपदिष्टाम् ब्रह्मणा पूर्वं शिक्षिताम् शस्त्रविद्याम् आकाङ्क्षति आलोचयितुमिच्छति, तदित्थमुभावपि भीषणं युद्धं प्रक्रमेते इत्याशयः ॥ ७४ ॥

फणमण्डलको विस्तारित करके वह पृथ्वीका धारण करते हैं ॥ ७३ ॥

(ऊपरको ओर देखकर) क्यों, वैमानिकगण आकाशसे इधर-उधर भाग रहे हैं ।

हेमाङ्गद—(चमत्कृत होकर) दोनों महावीरोंने त्रिभुवन भयङ्कर युद्ध प्रारम्भ कर दिया है । क्योंकि—

रामचन्द्र विश्वामित्रके पास पढे गये दिव्यास्त्र-मन्त्रोंका ध्यान कर रहे हैं, और रावण ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट शस्त्रविद्याका स्मरण करता है ॥ ७४ ॥

अतः हमलोग भी यहाँ से चलें । (हटकर खडे हो जाते हैं)

---

१. 'आक्रम्यते गगनतलम्', 'अपाक्रम्यते' । २. 'भङ्गभयकरमुपक्रान्तम्' ।
३ 'चास्त्रविद्याम्' । ४ 'तदाभ्यस्यति' । ५. 'तदावामुपसृत्यास्वहे' ।

हेमाङ्गदः—(समन्तादवलोक्य ।) सखे, [1]यथा भुवनसंक्षोभस्तथा तर्कयामि—तामिस्रं भानवीयेन, भानवीयं राहवीयेण, राहवीयं वैष्णवीयेन, वैष्णवीयं पौष्पकेतवेन, पौष्पकेतवं च[2] पाशुपतेनास्त्रमस्त्रेण प्रतिकुर्वाणयोः [3]पुलस्त्यककुत्स्थकुलैकवीरयोस्तुमुलमायोधनं वर्तते ।

रत्नचूडः—[4]सखे, कृतिप्रतिकृतीनामविशेषेऽपि जेतव्यमिति रामस्य मर्तव्यमिति रावणस्य निर्णयनिर्भरोऽयं सर्वास्त्रमोक्षः । विशिखमुखोपस्थायिनीनां च [5]पुनर्देवतानामबलीयानाटोपः [6]कल्प्यते । तथा हि ।

यद्दैवतं क्षिपति पत्त्रिषु राक्षसेन्द्रः

भुवनसंक्षोभः भुवनानां संभ्रमः । तामिस्रम् रात्रिदेवताकम् । भानवीयेन सूर्यदैवतेन । राहवीयेण राहुदैवतेन । पौष्पकेतवेन कन्दर्पदेवताकेन, विष्णुः स्वपुत्रे सदय इति वैष्णवास्त्रप्रतीकाराय कामदेवताकमस्त्रं प्रयुज्यते । प्रतिकुर्वाणयोः प्रतिप्रहरतोः । पुलस्त्यकुलैकवीरो रावणः, ककुत्स्थकुलैकवीरो रामश्च तयोः । तुमुलम् अतिभीषणम् ।

कृतिप्रतिकृतीनाम् अस्त्रप्रयोगप्रत्यस्त्रप्रयोगाणाम् । अविशेषे साम्ये निर्णयनिर्भयः निश्चयाधीनः । सर्वास्त्रमोक्षः सर्वप्रहरणप्रयोगः, रामो जेतव्यमिति निश्चित्य शस्त्राणि प्रयुङ्क्ते, रावणश्च अत्र शरे रामेण मर्त्तव्यमिति निश्चयेन तथाकारीत्याशयः । विशिखमुखोपस्थायिनीनाम् शरसंपाताप्रवर्त्तिनीनाम् अबलीयान् दुर्बलः । आटोपः गर्वो रोषो वा ।

यद्दैवतमिति । राक्षसेन्द्रो रावणः पत्रिषु शरेषु मध्ये यद्दैवतमस्त्रं क्षिपति

हेमाङ्गद—(चारों ओर देखकर) सखे, भुवनके संक्षोभको देखकर मैं सोचता हूँ तामिस्र अस्त्र मानवीय अस्त्रसे, भानवीय राहवीयसे, राहवीय वैष्णवीयसे, वैष्णवीय पौष्पकेतवीयसे, पौष्पकेतवीय पाशुपत अस्त्रसे, इस प्रकार अस्त्रसे अस्त्रका प्रतीकार करनेवाले रावण तथा रामका भीषण युद्ध हो रहा है ।

रत्नचूड—अस्त्र-प्रयोग तथा प्रति प्रयोगके समान होने पर राम जीतनेका निश्चय करके सर्वास्त्र-प्रयोग कर रहे हैं और रावण इसलिये सर्वास्त्र-प्रयोग कर रहा है कि मरना है । बाणके आगे चलनेवाले अधिष्ठातृदेवोंमें किसी प्रकार का संरम्भ नहीं देखा जाता है । क्योंकि—

जिस देवताके बाणका प्रयोग रावण करता है वह देवता स्नेहसे रामके पास धीरेसे

---

१. 'यथायम्' । २. 'च' इति क्वचिन्नास्ति । ३. 'पौलस्त्यकाकुत्स्थकुलजयोः' ।
४. 'सखे' इति क्वचिन्नास्ति । ५. 'देवतानां पुनः' । ६. 'कथयति' ।

स्नेहेन तद्रघुपतेर्मृदु संनिधत्ते ।
यां देवतामुपदधाति च रामभद्र-
स्त्रासादसौ दशमुखस्य शनैरुपैति ॥ ७५ ॥

(नेपथ्ये ।)

यद्यत्कृत्तं दशमुखशिरस्तस्य [1]तस्यैव कान्तौ
संक्रामन्त्यामतिशयवती शेषवक्त्रेषु लक्ष्मी ।
यो यः कृत्तो दशमुखभुजस्तस्य तस्यैव वीर्य
लब्ध्वा दृप्यन्त्यधिकमधिकं बाहव शिष्यमाणाः ॥ ७६ ॥

([2]नेपथ्ये कलकल ।)

उभौ—(सहर्षरोमाञ्चमाकर्ण्य ।) अये, शब्दोपलम्भमवर्तकेन[3] कर्मणा निर्मितानि [4]त्रिभुवनकोषस्य कोऽयमिन्द्रियाणि प्रीणयति ।

प्रयुङ्क्ते तद् रघुपते रामस्य स्नेहेन प्रेम्णा मृदु कोमल सन्निधत्ते उपसरति । रामभद्रश्च या देवताम् उपदधाति बाणेऽभिमन्त्रयति, असौ देवता त्रासात् रावणभयात् शनैर्मन्दम् उपैति रावणस्य समीप याति । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ७५ ॥

यद्यदिति । यत् यत् दशमुखस्य रावणस्य शिर कृत्त रामबाणैश्छिन्न तस्य तस्य एव छिन्नस्य शिरस कान्तौ दीप्तौ सक्रामन्त्या लब्धाया सत्याम् शेषवक्त्रेषु अवशिष्टेषु मुखेषु लक्ष्मी कान्ति अतिशयवती पूर्वापेक्षयाऽधिका दृश्यते इति शेष, यो य दशमुखभुज रावणबाहु कृत्त रामेण छिन्नस्तस्यैव वीर्य बल लब्ध्वा शिष्यमाणा छिन्नावशिष्टा· बाहव अधिक दृप्यन्ति पूर्वापेक्षयाऽधिक गर्व प्रकटयन्ति । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ७६ ॥

शब्दोपलम्भेति । 'कोऽय त्रिभुवनकोषस्य शब्दोपलम्भसवर्त्तकेन कर्मणा निर्मि-

---

आता है और राम जिस देवताके बाणका प्रयोग करते हैं वह देवता डरसे रावणके पास धीरे धीरे पहुँचता है ॥ ७५ ॥ (नेपथ्यसे)

रावणके जो सिर कट गये उनकी कान्ति शेष सिरोंमें आजाती है अत शेष सिरोंकी शोभा बढ जाती है । इसी प्रकार जो बाहु कट जाते है उनका बल शेष बाहुओंको मिल जाता है अत शेष बाहु अधिक गर्वित हो उठते हैं ॥ ७६ ॥

दोनों—(हर्षकृत रोमाञ्चसे सुनकर) अये, शब्दज्ञानजनक अपने भीषण कर्मसे यह कौन त्रिभुवन श्रोत्रेन्द्रियको तृप्त कर रहा है ।

---

१. 'तस्येव' । २. 'नेपथ्ये कलकल.' इति क्वचिन्नास्ति । ३ 'सवर्तकैककर्मणा' ।
४ 'कोऽयमिन्द्रियाणि प्रीणयति त्रिभुवनस्य' ।

(पुनर्नेपथ्ये कलकलः ।)

उभौ—(सभयाद्भुतम् ।) अये, कथमयं कपटकण्ठीरववैकुण्ठकण्ठकठोरकोलाहलकाहलो महानिर्घोषः [1]प्रजाकोषभङ्गमपर्वणि [2]प्रक्रमते । नूनं चेदानीं कालकूटोपदिग्धैरिव कण्ठध्वनिभिरेव मूर्च्छयतो भुवनानि भैरवस्य स्मरति सभयमद्य परमेष्ठी ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

दिव्यास्त्रैर्भूर्भुवःस्वस्त्रितयडमरणोड्डामरैर्योधयित्वा
लूनोत्क्षिप्तैः शिरोभिर्दशभिरभिनभो दर्शितैकादशार्कः ।

नानीन्द्रियाणि प्रीणयति इत्येवमन्वयः, त्रिभुवनकोषस्य लोकत्रयस्य शब्दोपलम्भसवर्त्तकेन शब्दप्रत्यक्षकारणीभूतेन शब्दश्रवणशक्तिजनकेन कर्मणा प्रागाचरितेन शुभकर्मणा अदृष्टेन निर्मितानि इन्द्रियाणि श्रोत्राणि कोऽयं प्रीणयति हर्षयति, यस्य शब्दश्रवणजनकमदृष्टं भवति तस्यैव श्रोत्रमुत्पद्यते इति श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दोपलम्भककर्मनिर्मितत्वं कथितम् ।

कपटेति । कपटेन छलेन कण्ठीरवः सिंहः एतादृशो वैकुण्ठो नारायणस्तस्य कण्ठान्निर्गतः कठोरो महान् कोलाहलस्तद्वत् काहलः कटुध्वनिः, महानिर्घोषः प्रचण्डशब्दः अपर्वणि असमये प्रजाकोषभङ्गम् त्रिलोकसंहारम् प्रक्रमते आरभते । नूनं निश्चयेन अद्य सम्प्रति परमेष्ठी ब्रह्मा सभयं कालकूटोपदिग्धैः विषलिप्तैः इव कण्ठध्वनिभिः स्वकण्ठनादैः एव भुवनानि लोकान् मूर्च्छयतः मूर्च्छां प्रापयतः भैरवस्य संहारदेवस्य हरस्य स्मरति । ब्रह्मा संहाराय हरं स्मरति तस्यैवायं कण्ठध्वनिराकर्ण्यते इत्याशयः ।

दिव्यास्त्रैरिति । काकुत्स्थेन रामेण भूर्भुवः स्वस्त्रितयस्य भूरादिसंज्ञकलोकत्रयस्य यत् डमरणं चमत्करणं तत्र उड्डामरैः अतितेजस्विभिः दिव्यास्त्रैः ब्राह्मादिभिरायुधैः

(फिर नेपथ्यमें कोलाहल)

दोनों—(भय तथा आश्चर्यके साथ) अये, क्यों, यह कपटसिंह बने हुए भगवान्‌के कण्ठ-कोलाहलकी तरह भीषण निर्घोष असमयमें प्रजाओंका प्रलय करनेको उद्यत होरहा है । निश्चय ब्रह्माने डरकर इस समय विषदिग्ध-कण्ठ-ध्वनिसे जगत्‌को मूर्च्छित करनेवाले भैरवकी यादकी है ।

काकुत्स्थेनावकीर्णो निजविशिखशिखायोगपीठोपहूत
ब्रह्मास्त्रेणाधिशेते रजनिचरपतेर्वीरशय्यां कबन्धः ॥ ७७ ॥

उभौ—(श्रुत्वा सहर्षसम्भ्रममूर्ध्वमवलोक्य [1]सविस्मयमन्योन्यम् ।) पश्य पश्य प्रलयकालकरालकालानलज्वालापुञ्जपिञ्जराणि रावणशिरांसि । (सत्वरमुपसृत्य [2]चाधस्तात्पश्यत ।)

हेमाङ्गदः—(सकरुणम् ।) हा महावीरप्रकाण्ड लङ्केश्वर, [3]पर्यवसितोऽसि ।

योधयित्वा युद्धं कारयित्वा निजविशिखशिखा स्वबाणाग्रभाग एव योगपीठं योगासनं तत्र उपहूतम् आमन्त्रितं यद् ब्रह्मास्त्रं तेन लूनोत्क्षिप्तैः खण्डितैः ऊर्ध्वं क्षिप्तैश्च दशभिः शिरोभिः अभिनभः आकाशे दर्शितैकादशार्कः प्रकटावलोकितैकादशभानुबिम्बः अवकीर्णः भूमौ पातितो रजनिचरपतेः रावणस्य कबन्धः छिन्नमस्तकः वपुः वीरशय्याम् रणभुवम् अधिशेते आश्रित्य स्वपिति । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरे' इत्यमरः । दशरावणशिरांस्येकश्च प्राकृतः सूर्य इत्येकादश सूर्यदर्शनम् । रामो भूरादिलोकत्रितयचमत्कारकतेजोधारिभिस्तैस्तैरस्त्रैः चिरं योधयित्वा सम्प्रति स्वबाणाग्रभागरूपयोगासनामन्त्रितब्रह्मास्त्रो रावणस्य दशापि शिरांसि च्छित्त्वा वियत्युत्क्षिप्तवान्यैर्वियत्येकादश (दशरावणशिरांसि एकश्च वास्तविकः सूर्यः) सूर्या अदृश्यन्त । एतादृशोऽयं छिन्नशिरा रावणकबन्धो रणभूमिमाश्रित्य शेत इति । स्रग्धरावृत्तमेतत् ॥ ७७ ॥

प्रलयकाले सृष्टिसंहारसमये करालो भीषणो यः कालानलः प्रचण्डाग्निः तस्य ज्वालापुञ्जवत् प्रभामण्डलवत् पिञ्जराणि पिङ्गलवर्णानि वीरप्रकाण्ड प्रशस्तवीर । 'प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ । प्रशस्तवाचकान्यमूनी'त्यमरः । पर्यवसितः समाप्तः ।

दस मस्तकोंसे आकाशमें एकादश सूर्यका दर्शन कराकर, अपने बाणके अग्रभागमें ब्रह्मास्त्रका आवाहन करनेवाले रामके द्वारा बिखेर दिया गया यह रावणका कबन्ध वीर-शय्यापर पड़ा है ॥ ७७ ॥

दोनों—(सुनकर हर्ष-सम्भ्रमके साथ ऊपर देखकर साश्चर्य परस्पर) देखो देखो, प्रलयकाल-कराल-कालाग्निकी ज्वालाकी तरह पीताभ रावणके सिर, (समीप आकर नीचे देखते हैं)

हेमाङ्गद—(करुण स्वरमें) हा महावीर लङ्केश्वर, समाप्त हो गये,

---

१ 'सविमर्शम्' । २ 'च' इति क्वचिन्नास्ति । ३ 'च' इति क्वचिन्नास्ति ।

भिन्नैरावणगन्धसिन्धुरशिरःसम्पातिभिर्मौक्तिकैः
शश्वद्विश्वजयप्रशस्तिरचनावर्णावलीशिल्पिने ।
नाकान्तःपुरिकाकपोलविलसत्काश्मीरपत्राङ्कुर-
[1]श्रीविन्यासविलासभीषणभुजस्तम्भाय तुभ्यं नमः ॥७८॥

(निर्वर्ण्य ।) सखे रत्नचूड,

भुवं पतितपङ्क्तिकन्धरकबन्धपीडाभरा-
न्निजावनमनक्रमोन्नमितचक्रवालाचलम् ।

भिन्नैरावणेति । (हे रावण,) भिन्नः युद्धे विदारितः यत् ऐरावणगन्धसिन्धुरस्य ऐरावताख्यगन्धगजस्य शिरो मस्तकं ततः सम्पातिभिः स्खलद्भिर्मौक्तिकैः मुक्ताफलैः शश्वत् सततं विश्वजयस्य त्रिभुवनविजयस्य या प्रशस्तिरचना प्रशंसालिपिः तस्याः वर्णावलीनाम् अक्षरपङ्क्तीनाम् शिल्पिने निर्मात्रे नाकान्तःपुरिकाणां स्वर्गरमणीनां कपोलेषु विलसन् शोभमानः यः काश्मीरपत्राङ्कुरः कुङ्कुमद्रवकृतपत्रावलीप्ररोहः तस्य श्रीविन्यासेन शोभासमर्पणेन यो विलासः क्रीडा तस्य भीषणो भयङ्करो भुजस्तम्भो बाहुदण्डो यस्य तथाभूताय तुभ्यं नमः । अयमाशयः—ऐरावतकुम्भविदारणविकीर्णमुक्तावलियों　निजविश्वविजयप्रशस्तिरचनायामक्षराणि लिखति, यश्च स्वर्गाङ्गनाकपोलेषु कृते काश्मीरपत्राङ्कुरे श्रियो विलासं भयजननेन निवर्त्तयति, अर्थाद्यद्भयेन स्वर्गाङ्गना स्वकपोलेषु पत्रावलीर्न रचयन्ति, तादृशाय तुभ्यं रावणाय नमः । इति ॥ ७८ ॥

भुवमिति । कद्रोः तदाख्यायाः दक्षकन्यायाः कश्यपस्त्रियः अपत्यानि काद्रवेयाः सर्पास्तेषामधिपः वासुकिः अर्धं कुण्डलितः सङ्कोचितः विग्रहो देह एव आधारकः आश्रयस्तेन प्रतीष्टम् अवलम्बितम् फणमण्डलं फणसहस्रं यस्य तथोक्तः सन् पतितं भूमौ गतं पङ्क्तिकन्धरस्य दशग्रीवस्य यः कबन्धः शिरःशून्यशरीरम् तेन पीडाभरात् व्यथातिशयात् निजेन स्वकीयेन अवनमनक्रमेण उन्नमिता चक्रवाला-

---

विदारित ऐरावत-मस्तकसे गिरनेवाले मौक्तिकोंसे विश्वविजय-प्रशस्तिकी रचना करनेवाले स्वर्ग-रमणियोंके कपोलों पर विद्यमान काश्मीर पत्राङ्कुरकी शोभाविन्यासको भीषित करनेवाले भुजोंसे युक्त तुझ रावणको नमस्कार है ॥ ७८ ॥

(देखकर) सखे रत्नचूड,

पङ्क्ति-क्रमसे पतित गर्दनवाली देहके भारसे पृथ्वी नीचे झुकती जारही है जिससे दिक्-चक्रवाल उन्नत होते जारहे हैं, इस प्रकार शेषनागके ऊपर पृथ्वीका भार बढ़ता

---

१. 'विनाश' ।

महीवलयमर्धकुण्डलितविग्रहाधारक-
प्रतीष्टफणमण्डलो वहति काद्रवेयाधिप ॥ ७९ ॥

रत्नचूड —सखे, सर्वमतिशायि रावणस्य। पुरापि खलु

चलति [1]जगतीजैत्रे यत्र स्वभोगिचमूभटै-
र्वलयितमहादेहस्तम्भो बिभर्ति भुवस्तलम्।
प्रचलदखिलक्ष्माभृन्मूलोपलव्यतिघट्टितो-
ल्बणमणिशिलाजल्पाकीभि फणाभिरहीश्वरः ॥ ८० ॥

चला· कुलपर्वता यस्मिन् तत् यथा तथा महीवलय भूमण्डलं वहति धारयति। शेषनाग अर्धकुण्डलिते निजे देहे फणमण्डलमवलम्ब्य रावणशरीरपातेन भाराधिक्येन यथा यथा शेषस्य फणा नमन्ति तथा तथा कुलाचला ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, पृथ्वीमण्डले शेषफणानमने सत्यधो व्रजति कुलाचला उपरि भवन्ति यत्र तादृश भूवलय धारयतीत्यर्थ। रावणकबन्धभरेण महीवलयस्याधोगमने कुलपर्वताना-मुच्चत्व जातमिति भाव। पृथ्वीवृत्तम्–'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु' इति तल्लक्षणम् ॥ ७९ ॥

अतिशायि लोकोत्तरम्।

चलतीति। यत्र यस्मिन् जगतीजैत्रे विश्वविजयिनि रावणे चलति स्थानात्स्थानान्तर गच्छति सति अहीश्वर सर्पराजो वासुकि स्वभोगिचमूभटै स्वीयसर्पसैनिकै वलयितमहादेहस्तम्भ वेष्टितविशालदेह सन् प्रचलतां रावणचरणविन्यासभरात् अधोगच्छताम् अखिलक्ष्माभृता सकलपर्वताना मूलोपलै· मूलदेशस्थप्रस्तरै· व्यतिघट्टिता सङ्घृष्टा अत एव उल्वणा तीव्रप्रकाशा मणिशिला फणस्थमणिरूपशिलास्तासा जल्पाकीभि कथयित्रीभि फणाभिर्भुवस्तल बिभर्त्ति। रावणे चलति सति भीता सर्पभटा· स्वमधीशं वासुकि परिवृत्य तिष्ठन्ति, किञ्च रावणचरणभारात्सर्वे पर्वता अधो गच्छन्ति, तन्मूलपर्वतशिलासङ्घर्षवशात् तीव्रप्रकाशा भवन्ति

जा रहा है जिसे वह अर्धकुण्डलित शरीर होकर फण मण्डलके द्वारा धारण करते हैं ॥७९॥

रत्नचूड—मित्र! रावणका सब कुछ लोक विलक्षण ही रहा, पहले भी,

जब रावण विजय यात्रामें चलता था, तब शेषनाग अपने वीर नाग सैनिकोंसे अपने शरीरको वेष्टित करके पृथ्वीका भार वहन करते थे, उस समय उनकी फणायें प्रचलित मनरत पर्वतोंके मूल देशोंसे घषित होकर मणि-शिलाकी तरह प्रतीत होने लगती थीं ॥८०॥

---

१. 'जगता जैत्रे'।

इदानीं [1]पुनरुत्क्रान्तवायुरतिदुर्वहो देहबन्धः ।

हेमाङ्गदः—(अन्यतोऽवलोक्य ।) कथमियं दशकन्धरस्य कबन्धाभिमुखी शोकविक्लवा मन्दोदरी निशाचरीभिरपकृष्यते । (कर्णं दत्त्वा । आकाशे ।) कष्टम् । चपलकपिकुलानुक्रियमाणकरुणकाकुप्रकार[2]कातरस्वरा [3]मन्दोदरी किमाह महावीरवरवर्णिनी—

भूयिष्ठानि मुखानि चुम्बति भुजैर्भूयोभिरालिङ्ग्यते
चारित्रव्रतदेवतापि भवता कान्तेन मन्दोदरी ।

वासुकेः फणामणयः, तादृक्तीव्रमणिधराभिः फणाभिरसौ वासुकिः पृथ्वीं बिभर्ति- इति भावः ॥ ८० ॥

उत्क्रान्तवायुः देहविनिर्गतप्राणवायुः । देहबन्धः कबन्धः ।

कबन्धाभिमुखी शरीराध्युषितदेशगामिनी । शोकविक्लवा शोकविह्वला । अवकृष्यते अन्यतो नीयते ।

चपलेति । चपलेन स्वभावचञ्चलेन कपिकुलेन वानरसमूहेन अनुक्रियमाणः अनुकृत्यावर्त्यमानः करुणः दुःखोद्रेकशाली काकुप्रकारः अतिदीनरूपः कातरः आर्त्तिव्यञ्जकश्च स्वरो यस्याः सा तथोक्ता । महावीरवरवर्णिनी महावीरस्य रावणस्य धर्मभार्या ।

भूयिष्ठानीति । हे लङ्केन्द्र रावण, चारित्रव्रतदेवता पातिव्रत्यनियमाधिष्ठात्री सती सत्यपि मन्दोदरी कान्तेन स्वपतिना दशमुखशालिना विंशतिभुजेन च भवता

इस समय तो प्राणवायुके निकल जानेसे रावणकी देह और भारी हो गई,

हेमाङ्गद—(दूसरी ओर देखकर) क्यों, यह शोकमग्ना मन्दोदरी रावणकी लाशकी ओर बढ रही है । (कान लगाकर)

हा कष्ट ! चपलकपिगण मन्दोदरीके रुदनकी नकल कर रहे हैं, महावीर-भार्या मन्दोदरी क्या कहती है—

आपके कान्त होनेसे पतिव्रता रहकर भी मन्दोदरी बहुत बाहुसे आलिङ्गन तथा बहुत मुखोंका चुम्बन प्राप्त करती थी, आपने मुझ मन्दोदरीको वचन दिया था कि म

---

१ 'अपक्रान्तदेहवायुर्दुर्वहोऽयम्' । २ 'कातरतरस्वरा' ।
३ 'मन्दोदरी' इति क्वचिन्नास्ति ।

हा लम्बोदरकुम्भमौक्तिकमणिस्तोमैर्ममैकावली-
शिल्पे वागधमर्णिकस्य भवतो लङ्केन्द्र निद्रारस ॥ ८१ ॥

उभौ—(सखेदम् ।) इदमशक्यानुभवं चक्षुःश्रोत्रस्य । प्रतिकृतानां विद्विषामपि व्यसनमतिमात्रं हृदयमर्माणि च्छिनत्ति । (सविमर्शम् ।) अहह, न किंचिदनीषत्करं नाम कृतान्तस्य ।

वन्दारुवृन्दारकवृन्दबन्दीमन्दारमालामकरन्दबिन्दून् ।

हेतुभूतेन भूयिष्ठानि बहूनि दशमुखानि चुम्बति भूयोभिः विंशत्या भुजैः आलिङ्ग्यते आश्लिष्यते । यद्यपि सत्या बहुमुखचुम्बनस्यानेकभुजालिङ्गनस्य वा सुखं दुर्लभं तथापि दशमुखेन विंशतिभुजेन च पत्या त्वया सा तत्सुखं प्रापितेत्यर्थः । हा खेदे, लम्बोदरस्य गजाननस्य कुम्भे ये मौक्तिकमणयस्तेषां स्तोमैः समूहैः मम एकावली एकसरं माल्यम् तस्याः शिल्पे विरचने वाचा वचनेन अधमर्णिकस्य ऋणं धारयतस्तव रावणस्य निद्रारसः निद्रायामनुरक्तिः कथमभूदिति शेषः । गजाननं विजित्य तत्कुम्भविनिर्गतमौक्तिकैः एकावलीं विरचय्य तव कण्ठे परिधापयिष्यामीति वचसा स्वीकृतैकावलीसमर्पणरूपमृणमपरिशोध्य तव निद्राकुलता निद्रारूपान्याङ्गनासक्तिर्वा खेदस्य विषयः । प्रियं बहुमुखचुम्बनं बहुबाहुकृतालिङ्गनं च दत्तवता त्वयैकमिदमेकावलीप्रदानं कथं विस्मर्यते इति खेदस्य विषय इत्याशयः । 'एकावल्येकयष्टिका' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८१ ॥

अशक्यानुभवम् ज्ञातुमशक्यम् । चक्षुःश्रोत्रस्य चक्षुःश्रवसः । चक्षुषा द्रष्टुं श्रोतुं च न शक्यतेऽतोऽतीव व्यथकमिदमिति व्यज्यते ।

प्रतिकृतानाम् पराजितानाम् । विद्विषाम् शत्रूणाम् । व्यसनम् विपत् । हृदयमर्माणि हृदयस्थकोमलतमभागान् । छिनत्ति विदारयति । अनीषत्करम् कष्टसाध्यम् ।

वन्दारुवृन्दारकेति । वन्दारवः चरणपतिता या वृन्दारकवृन्दवन्द्यः देवसमूहानां

तुमको गणेशके मस्तकस्थित मौक्तिकका एक सूत्रहार बना दूँगा, उसे पूरा किये विना आप क्यों सो गये ॥ ८१ ॥

दोनों—(सखेद) आँखों तथा कानोंके लिए यह देखना तथा सुनना कठिन है। परास्त किये गये शत्रुओंके भी व्यसनसे हृदय छिद जाता है, अहह, यमराजके लिए कुछ भी करना कठिन नहीं है ।

यही मन्दोदरी चरणपर गिरनेवाली देववन्दिनियोंके मस्तकस्थित मन्दारपुष्प-सम्बन्धी

मन्दोदरीयं चरणारविन्दरेणूत्करैः कर्करतामनैषीत् ॥ ८२ ॥

(नेपथ्ये ।)

नीयन्ते वनदेवताभिरमरक्षोणीरुहो नन्दनं
नीतो [1]वल्लभपालकेन च निजामुच्चैःश्रवा मन्दुराम् ।
रक्षोभिश्च [2]विभीषणप्रणयिभिः कारागृहान्मोचित[3]-
स्वर्वन्दीवदनावलोकनिबिडव्रीडो बिडौजाः कृतः ॥ ८३ ॥

हठहृता अङ्गना तासां मन्दारमालाया केशस्थितमन्दारपुष्परचितमाल्यस्य ये मकरन्दबिन्दवः पुष्परसकणा तान् चरणारविन्दरेणूत्करैः स्वपादकमलधूलीपटलैः इयं मन्दोदरी कर्करताम् कठोरताम् अनैषीत्, यस्या मन्दोदर्या पतन्तीनां देवबालानां शिरोमन्दारमकरन्दबिन्दवो मन्दोदरीचरणकमलपरागैर्मिलिताः सन्तः कठोरतां यान्ति तादृश्यपीयं मन्दोदरी कालचक्रेण करुणं विलपतीति नास्त्यसाध्यं यमराजस्येति भावः । 'कर्करः कठिनेऽन्यवत्' इति मेदिनी ॥ इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ८२ ॥

नीयन्त इति । वनदेवताभिर्वनाधिष्ठातृदेवताभिः अमरक्षोणीरुहो देवतरवः नन्दनं देवोद्यानं नीयन्ते प्राप्यन्ते, वल्लभपालकेन प्रियमन्दुरापालेन उच्चैःश्रवा नाम इन्द्राश्वः निजां मन्दुरां वाजिशालां नीतः प्रापितः, विभीषणप्रणयिभिः विभीषणसुहृद्भिः रक्षोभिः बिडौजा इन्द्रः कारागृहान्मोचितानाम् स्वर्वन्दीनाम् स्वर्गस्थहठहृतमहिलानाम् वदनावलोकनेन मुखवीक्षणेन निबिडा अधिका व्रीडा लज्जा यस्य तथाभूतः एता मया न मोचिता इति लज्जायुतः कृतः इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

मकरन्द बिन्दुओंको स्वचरण-कमलकी धूलियोंसे कठोर बना दिया करती थी ॥ ८२ ॥

(नेपथ्यमें)

वनदेवता देववृक्षोंको नन्दनवन लिये जा रहे हैं, इन्द्रकी अश्वशालाके अध्यक्षने उच्चैःश्रवाको अपनी अश्वशालामें पहुंचा दिया है । विभीषण-पक्षपाती राक्षसगण देववन्दियोंको कारावाससे मुक्त कर दिया है और जब वे स्वर्ग पहुंचे, तब उनके मुँह देखकर इन्द्रको अपने पराक्रमराहित्यके स्मरणसे लाज लगने लगी ॥ ८३ ॥

१. 'बल्लव-' । २ 'प्रभृतिभिः' । ३ 'मोचित' ।

रत्नचूडः—(सहर्षम् ।) सखे, तदेहि । [1]लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवास्तव्य बन्धुवर्गमीक्षावहे[2] । (इति [3]परिक्रामन्तौ विलोक्य सहर्षमन्योन्यम् ।)

सखे पश्य पश्य । [4]प्रहारजर्जरवलीमुखाच्छभल्लगोलाङ्गूलग्रामस[5]वल्गनवल्गितसुग्रीवो लक्ष्मणनिहितधन्वा[6] विभीषणभुजावलम्बी विजयश्रिया किमपि प्रदीप्तरमणीयो [7]रामभद्र । अय हि सम्प्रति

पौलस्त्यन्यस्तशक्तिव्रणकिणकणिकालक्ष्मणो लक्ष्मणोर -
पीठान्निर्मुक्तलज्जो विबुधपुरवधूक्लृप्तपुष्पाभिषेक. ।

लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवास्तव्यम् रावणस्य कारागृहे बहुकालान्निवसन्तम् । बन्धुवर्गम् स्वजनसमुदयम् । ईक्षावहे पश्याव ।

प्रहारेति प्रहारै रावणशराघातैर्जर्जरा अतिव्यथिता ये वलीमुखा वानरा अच्छभल्ला भल्लूका गोलाङ्गूला वानरभेदा तेषा ग्रामस्य समूहस्य सवल्गने सान्त्वने वल्गित सचेष्ट सुग्रीवो यस्य तथोक्त, लक्ष्मणनिहितधन्वा लक्ष्मणार्पितकार्मुक । प्रदीप्तरमणीय प्रखरतेजा रम्यश्च ।

पौलस्त्येति । पौलस्त्येन रावणेन न्यस्ता प्रहृता या शक्ति अस्त्रभेद तया यो व्रण क्षतं तस्य किणकणिका किणलेश लक्ष्म चिह्न यत्र तस्मात् लक्ष्मणोर पीठात् लक्ष्मणस्य वक्षःस्थलात् निर्मुक्तलज्ज अपगतत्रप (शक्तिविद्ध लक्ष्मणोरो विलोक्य लक्ष्मणोज्जीवनेऽपि रामस्य लज्जा न गता इदानीं रावणे हते सा लज्जा गतेति भाव.) विबुधपुरवधूभि सुराङ्गनाभि क्लृप्त कृत पुष्पैरभिषेक. स्नपन यस्य

रत्नचूड—सखे, तो चलो, रावणके कारागृहमें बहुत दिन रहकर आये हुए बन्धुओंको देखें। (चलते हुए देखकर सहर्ष) सखे देखो देखो,

प्रहारसे क्षत विक्षत वानर अच्छभल्ल गोलाङ्गूल-समुदायसे युक्त सुग्रीवके साथ लक्ष्मणके हाथोंमें अपना धनुष देकर विभीषणका हाथ पकडे हुए राम विजयलक्ष्मीसे कुछ अधिक रमणीय हो गये हैं, सम्प्रति यह—

पौलस्त्य-प्रहृत शक्ति नामक अस्त्रके चिह्नसे चिह्नित लक्ष्मणकी छातीसे लज्जाको दूर

१ 'लङ्केश्वराधिवासचिरप्रवासव्यग्रम्', 'लङ्केश्वरकारागृहाधिवासचिरप्रवासवास्तव्यम्', 'लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवासव्यग्रबन्धुवर्गम्' । २ 'समीक्षावहे' ।

३ 'परिक्रामत' । ४ 'प्रहारविद्ध-' । ५ 'सवर्गणव्यग्रित' ।

६ 'विनिहित-' । ७ 'रामदेव' ।

सद्यो नप्तारमन्यं रजनिचरपुरीभद्रपीठप्रतिष्ठं
　　दृष्ट्वा तुष्यत्पुलस्त्यो जगति विजयते जानकीजानिरेकः ॥८४॥

(इति [1]निष्क्रान्तौ ।)

इति [2]दशग्रीवनिग्रहो नाम षष्ठोऽङ्कः ।



तथोक्तः, सद्यः तत्क्षणात् अन्यं नप्तारं पौत्रं विभीषणम् रजनिचरपुर्याः लङ्कायाः भद्रपीठे सिंहासने प्रतिष्ठा यस्य तादृशं लङ्काराज्याभिषिक्तं दृष्ट्वा हृष्यन् प्रसन्नः पुलस्त्यो यस्य तथोक्तश्च एकः अद्वितीयो जानकीजानिः जानकी जाया यस्य तादृशो रामो जगति विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । 'नृपासनं यत्तद् भद्रासनम्' इत्यमरः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ८४ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे'
षष्ठाङ्क'प्रकाशः'



भगाकर देवबालाओं द्वारा पुष्पवृष्टिसे अभिषिक्त होकर, दूसरे नाना विभीषणको राक्षस-पुरी राज्यपर प्रतिष्ठित हुए देखकर पुलस्त्यद्वारा प्रशंसित यह अद्वितीय वीर रामचन्द्र विजयश्री सम्पन्न हो रहे हैं ॥ ८४ ॥

षष्ठ अङ्क समाप्त ॥



१ 'निष्क्रान्ता', 'निष्क्रान्ताः सर्वे'।　　२ 'दशास्यनिग्रहो नाम'।

सप्तमोऽङ्कः

(नेपथ्ये ।)

तमिस्रामूर्च्छालत्रिजगदगदंकारकिरणे
रघूणां गोत्रस्य प्रसवितरि देवे सवितरि ।
पुर स्थे दिक्पालै· सह परगृहावासवचना-
त्प्रविष्टा वैदेही दहनमथ शुद्धा च निरगात् ॥ १ ॥

अयमपि—

एकैकानि शिरांसि राक्षसचमूचक्रस्य हुत्वा निजे

तमिस्रेति । तमिस्रा तामसी रात्रिरेव मूर्च्छा निष्क्रियतासम्पादिका तद्वत् यत् जगत् तस्य अगदङ्कारा नैरुज्यसम्पादका किरणा यस्य तादृशे तामसी-निशानिष्क्रियजगन्निश्रेष्टताहरै किरणैरुपेते रघूणां गोत्रस्य वशस्य प्रसवितरि प्रवर्त्तके देवे सवितरि सूर्ये दिक्पालै इन्द्रादिभि सह पुर स्थे अग्रवर्तिनि पश्यति सति परगृहे राक्षसराजभवने य आवास' कियन्त काल यावत् स्थिति तद्वचनात् तन्निमित्तकनिन्दावाक्यात् हेतो वैदेही सीता दहनम् अग्नि प्रविष्टा । अथ प्रवेशा-नन्तर शुद्धा पवित्रा निरगात् बहिर्गता । यस्य सूर्यस्य करा तामसीरात्रिनिष्क्रि-यस्य जगत्रयस्य सक्रियतासम्पादनेन मूर्च्छामिव निवर्त्तयन्ति, यश्च सूर्यो रघुवंश-स्यादिपुरुष , तस्मिन् सूर्ये दिक्पालै सह साक्षिणि सति परगृहावासप्रभवचरित्र निन्दाकलङ्क प्रक्षालयितुं सीता वह्नि प्रविष्टा तत्र शुद्धा च ततो निरगादित्यर्थ । 'सिध्मादिभ्यश्चे'ति लचि मूर्च्छालपदम् । अगदङ्कारो भिषक्, 'कारे सत्यागदस्य' इति मुम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १ ॥

एकैकानीति । राघवो राम राक्षसचमूचक्रस्य 'राक्षससेनासमुदायस्य एकैकानि

(नेपथ्यमें)

अन्धकारमे डूब हुए लोकत्रयको प्रकाशित करनेवाला किरणोंस युक्त भगवान् सूर्यके उदित होनेपर जो सूर्य रघुवशके आदि पुरुष है उनके प्रकाशित होते ही, समस्त दिक्-पालोंके सामने, सूर्यको साक्षी रखकर राक्षसगृहवासरूप निन्दा वचनसे मुक्ति पानेके लिये वैदेहीने आगमें प्रवेश किया और शुद्ध होकर निकल आई । अग्नि परीक्षामें अपनेको शुद्ध साबित करके प्रमाणित कर दिया कि उनके प्रति प्रचारित कलङ्ककी बात केवल कल्पनामात्र थी ॥ १ ॥

रामने राक्षसोंकी सेनाके मस्तकोंद्वारा एक एक करके प्रतापाग्निमें होम किया, जिसमें

तेजोऽग्नौ दशकण्ठमूर्धभिरथो निर्माय पूर्णाहुतिम् ।
अद्य स्वस्त्ययनं समाप्य जगतो 'लङ्केन्द्रबन्दीकृतां
सीतामप्यवलोक्य शोकरभसव्रीडाजडो राघवः ॥ २ ॥

क्रमेण च—

सहैव सुग्रीवविभीषणाभ्यां सौमित्रिसीतापरिपूर्णपार्श्वः ।
उपैति वैवस्वतवंशवृत्तमेध्यामयोध्यामथ पुष्पकेण ॥ ३ ॥

शिरासि निजे तेजोऽग्नौ स्वप्रतापानले हुत्वा होम कृत्वा अथ तदनन्तर दशकण्ठमूर्द्धभिर्दशभी रावणशिरोभि पूर्णाहुति पूर्णहोम निर्माय समाप्तिकालिकी पूर्णाहुति च कृत्वा जगत स्वस्त्ययन मङ्गलकृत्य समाप्य लङ्केन्द्रबन्दीकृतां रावणेन कारागृहे स्थापिताम् सीताम् अपि अवलोक्य दृष्ट्वा अद्य सम्प्रति शोकेन—व्यर्थमिमे निरपराधा राक्षसा मया हता इति दु खेन, रभसेन विशुद्धाया सीताया लाभाज्जायमानेन प्रमोदेन, व्रीडया निष्करुणेन मया स्वत शुद्धाऽपि सीता जानतापि वह्निप्रवेशकष्ट प्रापितेति लज्जया च जड विमुग्ध अस्तीति शेष । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २ ॥

सहैवेति । अथ सीता वह्निप्रवेशकृतशुद्ध्यनन्तरम् एव सुग्रीवविभीषणाभ्याम् सह सौमित्रिर्लक्ष्मण सीता च ताभ्या परिपूर्णौ सम्भृतौ पार्श्वौ सव्येतरभागौ यस्य तथोक्त राम. वैवस्वतवंशस्य सूर्यकुलस्य वृत्तेन चरित्रेण मेध्याम् पवित्रीकृताम् अयोध्याम् पुष्पकेण तदाख्येन कुवेरस्य वायुयानेन उपैति आगच्छति । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३ ॥

रावणके दशमस्तकोंकी पूर्णाहुति पडी, आज उसका स्वस्त्ययन समाप्त हुआ, जिससे जगत‍्का कल्याण होगा, भगवान् रामने इस प्रकार सभी कार्य सम्पन्न करके रावण द्वारा बन्दी बनाई गई सीताको भी देखा, इस समय उनके हृदयमें शोक, आनन्द और लज्जाकी भावनासे जडतासी पैदा हो रही है । सकुल-राक्षसोंके वधसे शोक, सीताप्राप्तिसे हर्ष तथा विशुद्धा सीताको भी अग्निप्रवेश करानेके कारण लज्जा हुई ॥ २ ॥

क्रमश भगवान् रामचन्द्र सुग्रीव और विभीषणके साथ लक्ष्मण तथा सीतासे युक्त होकर सूर्यवशी राजगणके सुचरितोंसे पावित इस अयोध्यापुरीकी ओर पुष्पक बिमान द्वारा आ रहे हैं ॥ ३ ॥

१ 'बन्दीकृता' ।

(युग्मम्)

(ततः प्रविशति विमानयानेन विजयाभिरामो रामः सीतालक्ष्मणौ सुग्रीव-विभीषणौ च ।)

सुग्रीवः—(रामं प्रति ।) देव,

किं कुर्वाणपयोधिसेवितगृहोद्यानाधुनालोक्यतां
लङ्केयं रघुवंशविक्रमकथाबीजप्ररोहस्थली ।
देवेनात्र दशाननस्य दशभिश्छिन्नैः शिरोभिः क्रमा-
देकैकेन शतं शतं शतमखस्यामोदिता दृष्टयः ॥ ४ ॥

रामः—देवि वैदेहि, दृश्यतामितो लङ्का पूर्वेण सुवेलं पश्चिमेन ।

किङ्कुर्वाणेति । किङ्कुर्वाणः किङ्करः आज्ञानुवर्त्ती यः पयोधिः सागरस्तेन सेवितानि गृहोद्यानानि यस्याः तादृशी तथा रघुवंशविक्रमकथायाः रघुवंशपराक्रमगाथायाः प्ररोहस्थली उत्पत्तिक्षेत्रम् इयं लङ्का अधुना सम्प्रति देवेन भवता रामेणालोक्यतां दृश्यताम्, अत्र भवता छिन्नैर्दशाननस्य दशभिः शिरोभिः एकैकेन शिरसा शतमखस्य इन्द्रस्य शतं शतं दृष्टयः क्रमात् आमोदिताः प्रसन्नीकृताः । इन्द्रस्य प्रथमाः शतं दृष्टयः एकेन छिन्नेन शिरसा आनन्दिताः, तदनन्तरं द्वितीयाः शतं दृष्टयो द्वितीयेन शिरसा च्छिन्नेनेत्येवक्रमेण सहस्रमपि दृष्टयो दशभिः शिरोभिश्छिन्नैरामोदिता इति विवक्षितोऽर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

लङ्का पूर्वेण—लङ्कातः पूर्वस्यां दिशि । सुवेलं पश्चिमेन सुवेलपर्वतात् पश्चिमायां च दिशि दृश्यतामित्यर्थः ।

(विजयश्रीसम्पन्न भगवान् राम, सीता, लक्ष्मण और सुग्रीव तथा विभीषणका विमानद्वारा प्रवेश)

सुग्रीव—(रामसे) देव,

यह सागर किङ्करकी तरह जिस लङ्काके गृहोद्यानकी सेवा किया करता है, जिस लङ्कामें रघुवंशके विक्रमका बीज अङ्कुरित हुआ, यह वही लङ्का है, आप कृपया देख लें। आपने इसी लङ्कामें रावणके एक-एक शिरको काटकर प्रत्येक शिरसे इन्द्रकी सौ सौ आँखोंको आनन्दित किया ॥ ४ ॥

राम—देवि वैदेहि, इधर देखो, लङ्काके पूर्व तथा सुबेल पर्वतके पश्चिममें तुम्हें चाहने

त्वदर्थीयक्रव्यात्कपिकुलकबन्धव्यतिकरै
　　करालेयं भूमिर्भुवनभयमद्यापि तनुते ।
अभूवन्नम्भोधेरिह रुधिरमय्यो युवतयः
　　सहस्रं साहस्रास्त्रिदिवयुवतीनां च पतय ॥ ५ ॥

अपि च—

उद्यम्य दृष्टनिजपन्नगरत्नमात्रा-
　　नस्त्राणि चन्दनतरूनुपरि भ्रमन्तः ।
द्यां ज्योतिरिङ्गणमयीमिह मेघनाद-

त्वदर्थीयेति । त्वम् सीता एव अर्थः प्रयोजनं यस्य स त्वदर्थीयो रावणः रामश्च तयोर्यै क्रव्यात्कपिकुले राक्षसवानरसमुदायौ तयोः समुदाययोः कबन्धव्यतिकरैः छिन्नशिरोदेहराशिसमिश्रणैः कराला भीषणा इयं समरभूमिः अद्यापि युद्धे निवृत्तेऽपि भुवनभयं त्रिलोकीभीतिं तनुते करोति, इह अत्र समरभूमौ रुधिरमय्यः शोणितरचिताः सहस्रं सहस्रसंख्याकाः अम्भोधेर्युवतयः सागरस्य स्त्रियोऽभूवन् अजायन्त, त्रिदशयुवतीनां देवाङ्गनानां च साहस्राः सहस्रपरिमाणाः पतयोऽभूवन् । सीतामर्थयमानानां कपीनां क्रव्यादानाञ्च मृतानां तनवोऽत्र युद्धक्षेत्रे सह मिलिताः सन्तीति युद्धसमाप्तावपीदं युद्धक्षेत्रं त्रिभुवनभयं जनयति, किञ्चात्र रणक्षेत्रे सहस्रं शोणितनद्यः सहस्रं युद्धे मृताः देवाङ्गनाभिः पतित्वेन वृताश्चाजायन्त वीरा इत्यर्थः । 'शतमानविंशतिकसहस्रादण्' इति अण्प्रत्यये सहस्रमेव साहस्राः शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५ ॥

उद्यम्येति । इह अस्मिन् समरक्षेत्रे कपयो वानरसैनिकाः मायातमोभिः मायाकल्पितान्धकारैः अपलपितां छन्नाम् द्याम् आकाशम् दृष्टम् निजं स्ववर्तिपन्नगरत्नमात्रम् सर्पफणामणिमात्रम् यत्र तादृशान् दृश्यमानमणिमात्रप्रकाशान् चन्दनतरून् अस्त्राणि चन्दनवृक्षरूपप्रहरणानि उद्यम्य उत्थाप्य उपरि आकाशे भ्रमन्तः सन्तः ज्योतिरिङ्गणमयीम् खद्योतव्याप्ताम् वितेनुः कृतवन्तः । अत्र रणक्षेत्रे मेघनादेन

वाले रावण तथा रामके पक्षसे लड़नेवाले कपिगण एवं राक्षसोंकी लाशोंके परस्पर सम्मिलित हो जानेसे अति भयङ्कर बनी यह भूमि अब भी संसारको भयभीत कर रही है, यहाँसे सैकड़ो रुधिर की नदियाँ प्रवाहित होती रही हैं, और देवबालाओं द्वारा वृत होनेवाले हजारों वीर यहाँ वीरगतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ५ ॥

और—मेघनादने जब युद्धमें मायाद्वारा अन्धकार फैला दिया था, तब हमारे कपि [illegible] चन्दनतरू प्रहरण हाथमें ले लेते थे, चन्दनतरु पर लिपटे हुए सर्पोंकी फणामणियाँ

[1]मायातमोपलपितां कपयो वितेनु ॥ ६ ॥

सीता—अज्जउत्त, अवि इध ज्जेव्व भुअङ्गपासबन्धन सीदाए अणुहाविदा तुह्मे। [आर्यपुत्र, अपि इहैव भुजङ्गपाशबन्धन सीतयानुभाविता यूयम्।]

रामः—आ मैथिलि, आम्।

चर्वितपीनाह्विगणष्ठणिति[2] विनिष्ठ्यूतफणिमणिरभीक्ष्णम्।
[3]घनबन्धनवैधुर्यं व्यधुनोदिह [4]नौ स विहगेन्द्रः ॥ ७ ॥

मायातमसा व्योम्नि आवृते सति यदा किमपि कुत्रापि नादृश्यत तदा वानरसैनिका चन्दनतरूनस्त्रीकृत्योपरि भ्रमितुमारभन्त, तत्र चन्दनतरुषु स्थितानां सर्पाणा फणामणय एव केवला अदृश्यन्त, तदित्थं व्योम्नि सर्पमणिप्रकाशाः खद्योता इव प्रतीयन्ते स्मेति भाव । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ६ ॥

इहैव। अत्रैव समरक्षेत्रे । भुजङ्गपाशबन्धनम् नागपाशबन्धनम् सीतया अनुभाविता सीताहेतुनैव यूयमपि नागपाशैरबध्यध्वमिति भाव ।

आमिति स्मरणस्वीकृत्योरभिव्यञ्जकमव्ययम्।

चर्वितेति। इह अत्र प्रदेशे चर्वित पीन' स्थूलोऽहिगणो नागसमुदायो येन तथोक्त', अभीक्ष्णम् पुन पुन ठणितिशब्दानुकृति' तादृशशब्दपूर्वकम् विनिष्ठ्यूतफणिमणि· उद्गीर्णसर्पफणररन स विहगेन्द्रो गरुड नौ आवयो रामलक्ष्मणयोः घनबन्धनवैधुर्यं दृढनागपाशबन्धजनितवैक्लव्यम् व्यधुनोत् दूरीकृतवान्। अत्रैवावयोर्नागपाशबद्धयोर्निरस्तसमस्तव्यापारयोश्च सतोर्विह्वलतामालोक्य सत्वर-

---

ही केवल उस अन्धकारमे प्रकाश देनी थी, वह ऐसा लगता था मानों जुगनुओंका प्रकाशमय हो, उन फणमणियोंके प्रकाशसे आकाश प्रकाश दीखने लगता था ॥ ६ ॥

सीता—आर्यपुत्र, क्या यहीं पर सीताके कारण आप लोगोंको नागपाशमें बँधना पडा था।

राम—हाँ सीते हाँ,

उस समय गरुडने हमारे बाधनेवाले साँपोंकी मोटी देहोंको चबा डाला, उनके फणमणियोंको उगल दिया, इस प्रकार उस पक्षिराजने हमारे महान् बन्धन कष्टोंको दूर किया ॥

---

१ 'तमोवलयिताम्'। २ 'ठगिति'। ३. 'अहिबन्धन–'।
४. 'ना विहगपुगेन्द्र', 'नः स विहगेन्द्र'।

(विमृश्य 'सस्मितम्'।) अहो वैषम्यमस्या जाते'।

द्वे तावत्करणे रसान्रसयितुं शब्दांश्च रूपाणि च
श्रोतुं द्रष्टुमथैकमिन्द्रियमुरोगत्यै निगूढं पदम्।
अन्येष्वप्यशनेषु सत्सु जगतः प्राणा स्वदन्तेतरां
मातः कद्रु यदि प्रसौति भवती भूयः सुतानीदृशान् ॥८॥

मुपगतो गरुडो बन्धनरज्जुभाव गतान् सर्पान् चर्वित्वा तदीयफणामणीन् भक्ष-यितुमयोग्यतयोद्गीर्य चावा बन्धनमुक्तानकार्षीदित्यर्थ । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ७ ॥

द्वे तावदिति रसान् रसनीयद्रव्याणि रसयितुमास्वादयितु तावत् द्वे करणे जिह्वाद्वयरूपे साधने, अथ शब्दान् श्रोतुम् रूपाणि श्वेतपीतादीनि च द्रष्टुम् एकम् एकम् इन्द्रियम् चक्षूरूपम्, उरोगत्यै उरसा पुर प्रसर्पणाय निगूढ प्रच्छन्न गुप्त पदम् चरणम्, अन्येषु अशनेषु भोज्यद्रव्येषु सत्स्वपि जगत प्राणा वायव स्वदन्तेतराम् अतिस्वादिष्ठा प्रतीयन्ते, मात कद्रु, यदि भूय पुन भवती ईदृशान् सुतान् प्रसौति जनयति, (नान्या माता ईदृशान्सुतान् प्रसौति) धन्यासि मात कद्रु, यदीदृशान् पुत्रान्प्रसूषे नान्या मातेदृशान्पुत्रान् प्रसोतुमर्हति, त्वया हि ये पुत्रा प्रसूतास्तेषां द्वे जिह्वे अन्येषामेकैव रसना, तव सुताना सर्पाणां चक्षु श्रवस्तया शब्दान् श्रोतु रूपाणि द्रष्टु चैकमेवेन्द्रिय चक्षू-रूपम्, अन्येषा तु शब्दान् श्रोतुमपर श्रोत्रम् रूपाणि द्रष्टु चापरं चक्षुरिन्द्रियम्, अन्येषां गत्यै पाद प्रकटदृश्यस्तव पुत्रास्तु प्रच्छन्नै पादैरुरसा सर्पन्ति, अन्ये विविधानि द्रव्याण्यश्नन्ति तव पुत्रास्तु तानि तानि द्रव्याणि परित्यज्य जगत्-प्राणमात्राशिनस्तदित्थ लोकविलक्षणास्तव सुतास्तेन त्व धन्येति तात्पर्यम्, शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ८ ॥

(सोचकर मुस्कुराहटके साथ)

हे मात कद्रु, तुम ही ऐसे पुत्रोंको उत्पन्न कर सकती हो, दूसरी माता ऐसे पुत्रोंको नहीं उत्पन्न कर सकती है, ससारके सभी प्राणियोंको एक रसनेन्द्रिय होता है, तुम्हारे पुत्रोंको दो रसनेन्द्रिय होते हैं, ससारके अन्यान्य प्राणी शब्द तथा रूपका प्रत्यक्ष अलग-अलग इन्द्रियों द्वारा किया करते हैं, परन्तु तुम्हारे पुत्र शब्द और रूप दोनोंका प्रत्यक्ष चक्षुरूप एक इन्द्रियसे ही करते है। अन्यान्य भक्ष्य द्रव्योंके रहनेपर भी तुम्हारे पुत्रोंको जगत्प्राण (वायु) ही अच्छे लगते है, इस तरह तुम्हारे पुत्र लोकविलक्षण हैं ॥ ८ ॥

१ 'सविस्मितम्'।

(सर्वे हसन्ति ।)

सीता—(सस्नेहस्मित लक्ष्मणमवलोक्य राम प्रति ।) अज्जउत्त, सोमित्तिकित्तिकन्दलीए उप्पत्तिखेत्त कदरो उण सणिवेसो। [आर्यपुत्र, सौमित्रिकीर्तिकन्दल्या उत्पत्तिक्षेत्र कतर पुन सन्निवेश ।]

राम—(सहर्षरोमाञ्चम् ।) देवि मैथिलि अयमितो हस्तदक्षिणेन दशरथदशकन्धरस्कन्धावारैकप्रवीरयोर्लक्ष्मणमेघनादयोर्द्वन्द्वयुद्ध[1]व्यतिकरसाक्षी सुवेलपाद. ।

सीता—जहि एव्व

अणुराअरोमकण्टअसेअजलेहि णिसाअरी कावि ।
उद्दीविअणिव्वाविअदइदच्चिदाणलमनु मरेदि ॥ ९ ॥
[यत्रैव, अनुरागरोमकण्टकस्वेदजलैर्निशाचरी कापि ।

सौमित्रीति। सौमित्रेर्लक्ष्मणस्य कीर्त्तिर्यशस्तस्या या कन्दली अङ्कुरस्तस्या, उत्पत्तिक्षेत्रम् उद्भवस्थानम्। सन्निवेश स्थानम्। कुत्र स्थाने लक्ष्मणो मेघनाद विजित्य स्व यश प्रसिद्ध चकारेत्यर्थ ।

हस्तदक्षिणेन दक्षिणहस्तदिशि । दशरथदशकन्धरस्कन्धावारैकवीरयो दशरथस्कन्धावारो रामसैन्यम्, दशकन्धरस्कन्धावारश्च तत्सैन्यम्, तयो एकवीरयो अद्वितीयशूरयो· लक्ष्मणमेघनादयो । द्वन्द्वयुद्धव्यतिकरसाक्षी द्वन्द्वयुद्धस्य साक्षाद् द्रष्टा । सुवेलपाद सुवेलाख्यपर्वतस्य प्रत्यन्तदेश ।

अनुरागेति। कापि निशाचरी राक्षसस्त्री अनुरागात् प्रेमप्रकर्षात् यानि रोम-

---

(सभी हसते है)

सीता—(स्नेहपूर्वक मुस्कुराहटके साथ लक्ष्मणकी ओर देखकर रामसे) आर्यपुत्र लक्ष्मणकी कीर्त्तिलताका उत्पत्तिस्थान किधर पडता है ?

राम—(हर्षसे रोमाञ्चित होकर) देवि मैथिलि, इधर दायें हाथकी ओर दशरथ तथा रावणके सेना सन्निवेशोंके प्रधान वीर लक्ष्मण एव मेघनादके द्वन्द्वयुद्धका साक्षी सुवेलगिरिकी यह उपत्यका है।

सीता—जहाँ पर,

एक राक्षसी अनुरागसे उत्पन्न रोमाञ्चोंसे चितानलको प्रज्वलित करती है और अश्रु जलसे बुताती है इस प्रकार वह राक्षसी उस चितानलमे घुलघुलकर जल रही है ॥ ९ ॥

---

१ 'व्यतिकरैक-'।

उद्दीपितनिर्वापितदयितचितानलमनु म्रियते ।]

राम—आ जानकि, आम्। इदमेव तल्लक्ष्मणवीरलक्ष्मीस्वयंवर-कौतुकागारम्। इह हि

आनीतद्रोणशैलेन सौमित्रेः शल्यहारिणा।
अक्रियन्त जगन्त्येव निःशल्यानि हनूमता॥ १०॥

सीता—(स्मृतिमभिनीय सानुरागम्।) अज्जउत्त, किक्किन्धेसरकन्धावारधुरन्धरो रहुउलकुडुम्बविहुरबन्धू सो कहिं हणूमन्तो। [आर्यपुत्र, किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारधुरंधरो रघुकुलकुटुम्बविधुरबन्धुः स कुत्र हनूमान्।]

कण्टकानि रोमाञ्चाः स्वेदजलानि सात्त्विकभावात्मकघर्मबिन्दवश्च तैः उद्दीपितो निर्वापितश्च यो दयितचितावह्निः तम् अनुम्रियते अनुप्रविश्य म्रियते इत्यर्थः। प्रेमप्रकर्षोद्भिन्नरोमाञ्चैश्चितानलो ज्वलति स्वेदजलेन च निर्वाति तादृशं चितानलमनुप्रविश्य म्रियत इत्यर्थः, पत्युः सह मरणमत्र विवक्षितम्॥ ९॥

लक्ष्मणवीरलक्ष्मीस्वयंवरकौतुकागारम् लक्ष्मणेन यत्र विक्रम्य वीरलक्ष्मी परिगृहीता तत्स्थानम्।

आनीतेति। आनीतः द्रोणशैलः पर्वतविशेषो येन तथोक्तेन सौमित्रेः लक्ष्मणस्य शल्यहारिणा शल्यास्त्रव्यथा निवारितवता हनूमता जगन्ति त्रयो लोका एव निःशल्यानि उद्धृतदुःखशल्यानि अक्रियन्त कृतानि। लक्ष्मणस्य शल्यमुद्धृत्य जगत्त्रयमुज्जीवितं हनूमतेति भावः॥ १०॥

किष्किन्धेश्वरस्य सुग्रीवस्य स्कन्धावारधुरन्धरः सैनिकाग्रणी। रघुकुलकुटुम्बे रघुवंशपरिवारे यो विधुरः विपन्नस्तस्य बन्धुः सुहृत्॥

राम—हाँ जानकि, हाँ, यही है वह स्थान जहाँपर लक्ष्मणने वीरलक्ष्मीका वरण किया था। यहींपर,

हनूमान्ने द्रोणादि नामक सञ्जीवनी औषधिका आधारपर्वत लाकर लक्ष्मणको अपनीतशल्य किया था, लक्ष्मणको अपनीतशल्य करके हनूमान्ने संसारको ही विशल्य कर दिया था॥ १०॥

सीता—(स्मरणका अभिनय करके) आर्यपुत्र, किष्किन्धानाथकी सेनाके नायक तथा रघुवंशके दुःखापहर्त्ता वह हनूमान् कहाँ है?

रामः—देवि [1]निमिराजनन्दिनि,

क्षुण्णे निशाचरपतौ रविबिम्बवर्ती
तातो मया दशरथः स्वयमेव दृष्टः ।
तस्याज्ञया रघुपुरीं प्रहितः पुरैव
राज्याभिषेकविधिसंभृतये हनूमान् ॥ ११ ॥

(विमानवेगनाटितकेन ।) देवि[2], प्रणम्यतामयमितो भगवानम्बुराशिः ।

लक्ष्मीरस्य हि यादः कृष्णोरस्थाऽपि सुभटभुजवसतिः ।
इन्दुः स च मृडचूडामणिरपि जगतामलङ्कारः ॥ १२ ॥

निमिराजनन्दिनि विदेहतनये ।

क्षुण्णे इति । निशाचरपतौ राक्षसेन्द्रे रावणे क्षुण्णे क्षयं प्रापिते सति रविबिम्बवर्त्ती सूर्यमण्डलस्थस्तातो दशरथो मया रामेण स्वयम् एव दृष्टः साक्षात्कृतः, तस्य तातदशरथस्याज्ञया राज्याभिषेकविधिसम्भृतये राज्याभिषेकोपकरणसम्पादनाय हनूमान् पुरा पूर्वम् एव रघुपुरीम् अयोध्यां प्रहितः प्रेषितः । अतोऽसौ दर्शयितुं न शक्य इत्यर्थः ॥ ११ ॥

लक्ष्मीरिति । कृष्णोरस्थापि कृष्णहृदयवासिनी अपि सुभटभुजवसतिः । वीरजनभुजदण्डनिवासिनी लक्ष्मीः सम्पत्, स च मृडचूडामणिः शङ्करशिरोभूषणम् अपि जगताम् अलङ्कारो भूषणम् इन्दुश्चन्द्रश्च अस्य सागरस्य यादो जलजन्तुः । अत्र सागरे जलजन्तुसाधारण्येन वसन्तावेव लक्ष्मीचन्द्रौ लोके तावतीं प्रतिष्ठां गतावित्यहो श्लाघ्यानुभावोऽयं सागर इत्याशयः ॥ १२ ॥

राक्षसराजके मारे जानेपर मैंने स्वयं पूज्य पिताजीको रविबिम्बमें देखा, उनकी आज्ञासे राज्याभिषेककी सामग्रियोंको प्रस्तुत करनेके लिए हनुमान्‌को पहले ही अयोध्या भेज दिया गया है ॥ ११ ॥

(विमानकी गतिमें वेग देखकर) देवि, इधर देखो, यह सागर है, इसे प्रणाम करो, इस सागरकी कन्या लक्ष्मी भगवान्‌के हृदयमें रहकर भी वीरोंके भुजदण्डोंमें वास किया करती है, और इसका चन्द्रमा शिवशिरोभूषण होकर भी संसारको अलंकृत किया करता है ॥ १२ ॥

---

१ 'जानकि'। २ 'देवि पार्थिवि'।

(सविमर्शं च ।)

स्यादेव तोयममृतप्रकृतिर्यदि स्या
न्नैकान्तमद्भुतमिदं पुनरद्भुतं नः ।
लक्ष्मीतुषारकरकौस्तुभपारिजात-
धन्वन्तरिप्रभृतयो यदपां विवर्त ॥ १३ ॥

अपि च देवि,

आकण्ठदृष्टशिरसाप्यविभाव्यपृष्ठ-
पार्श्वोदरेण चिरमृग्भिरुपास्यमान ।
नाभीसरोरुहजुषा चतुराननेन

स्यादेवेति । यदि तोय जलम् अमृतप्रकृति अमृतसमानगुणम् स्यात् स्यादेव युक्तमेव तस्यामृतसमानगुणत्वम्, इदम् जलस्यामृतप्रकृतित्वम् न एकान्तमद्भुतम् अत्याश्चर्यम्, पुन किन्तु न अस्माकमद्भुतम् , केवल वयमेव जलस्यामृतप्रकृतित्व-माश्चर्यं मन्यामहे न पुनरिद वस्तुतस्तथेत्यर्थ । यत् यस्मात् लक्ष्मी श्री तुषा-रकरश्चन्द्र , कौस्तुभो मणिभेद , पारिजातो देवद्रुम , धन्वन्तरिर्वैद्यकविद्याप्रवर्त्तक , एतत्प्रभृतय अस्य सिन्धोरपा विवर्त्त जलस्य परिणाम , यदि लक्ष्म्यादीना जनक जल तदा तस्यामृतसमगुणत्व नायुक्तमिति भाव । 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादि'ति विश्व ॥ वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ १३ ॥

आकण्ठेति । अत्र समुद्रे अरविन्दनाभ पद्मनाभो विष्णु आकण्ठदृष्टशिरसा कण्ठपर्यन्तं दृष्टमस्तकेनापि अविभाव्यपृष्ठपार्श्वोदरेण चतुर्मुखतया शिरस्सु कण्ठ-पर्यन्त दृश्यमानेष्वपि सकलशिरोऽनुरूपपृष्ठपार्श्वदेशोदराद्यवयवा यस्य न शक्यन्ते विभावयितु तादृशेन नाभीसरोरुहजुषा नाभिकमलस्थितेन चतुराननेन ब्रह्मणा चिरम् बहुकालपर्यन्तम् ऋग्भि वैदिकमन्त्रै उपास्यमान वन्द्यमान सन्

(थोडा सोचकर) पानी यदि अमृतके समान गुणवाला है तो वह वैसा हो सकता है, इसमें हमको आश्चर्य नहीं होता है, आश्चर्य तो हमको तब होता है जब हम देखते है कि लक्ष्मी, चन्द्रमा, कौस्तुभमणि, पारिजातवृक्ष तथा धन्वन्तरि आदि भी पानीसे ही पैदा हुए हैं ॥ १३ ॥

और, देवि सीते,

ब्रह्मा भगवान्के नाभिकमलमें रहते है, भगवान ब्रह्माकी गर्दन तक देख सकते है परन्तु पृष्ठ, पार्श्व, उदर आदि अङ्ग भगवान्की दृष्टिमे नहीं आते है, इस प्रकार अर्धदृष्ट

शेते किलात्र भगवानरविन्दनाभः ॥ १४ ॥

(सीता वन्दते ।)

लक्ष्मण —यत्सत्यमुत्सर्पिणी[1] धर्मोत्तराणा सिद्धि
जरयतु जगत्कल्पोच्छित्तौ पिपर्तु पयोधरा-
न्वहतु बडवावक्त्रज्योतिर्दधातु सुधाभुज ।
भवतु वपुषा यावांस्तावानगस्त्यरुषा पुन
र्निधिरयमपामीषत्पानस्तपांसि नमोऽस्तु वः ॥ १५ ॥

शेते निद्राति । अस्मिन् सागरे ब्रह्मणा स्तूयमानो विष्णु शेते, ब्रह्मा हि तन्नाभिस्थित , विष्णुना ब्रह्मणो मुखानि दृश्यन्ते पर तदनुकूला अन्ये पृष्ठाद्यवयवा न दृश्यन्ते, तत्र कारणद्वय सम्भवति, तत्रैक तावत्तेषा पृथगभाव एव, भावेऽपि नाभिस्थितस्य वस्तुन शयानो जन केवलमुपरितन भागमेव साक्षात्कर्तुमीशो नाधस्तनमपि भागमिति । शेष सुगमम् । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ १४ ॥

उत्सर्पिणी वर्धमाना । धर्मोत्तराणाम् धर्मप्रधानानाम् धर्मनिष्ठानाम् ॥

जरयत्विति । अयम् अपानिधि समुद्र कल्पोच्छित्तौ सृष्टिसहारसमये जगत् जरयतु पयसा प्लावयित्वा सहरतु, पयोधरान् पिपर्तु जलप्रदानेन पालयतु, बडवावक्त्रज्योति बडवानलम् वहतु धारयतु, सुधाभुजो देवान् दधातु अमृतप्रदानद्वारा पुष्णातु, वपुषा यावाँस्तावान् यत्परिमाणस्तत्परिमाणो वा भवतु, पुन किन्तु अगस्त्यरुषा अगस्त्यमुनिकोपेन अय सागर ईषत्पान अनायास पातुं शक्य , हे तपासि व युष्मभ्य नम , तद् धन्यं तपो यत्प्रभावेण विस्तीर्णमपि जगत्सहारसमर्थमपि सागरमगस्त्यकोप पातुमक्षमत, तदस्तु नमस्तपस इत्यर्थ हरिणीवृत्तम् ॥ १५ ॥

ब्रह्मा जिन्हे ऋचाओं द्वारा आराधित किया करते है, वे पद्मनाभ भगवान् विष्णु इस सागरमे सोते है ॥ १४ ॥

(सीता प्रणाम करती है)

लक्ष्मण—यह ठीक बात है कि धार्मिक पुरुषोंकी सिद्धि उत्तरोत्तर बढा करती है, यह सागर प्रलयकालमे जगत्को अपनेमे छिपाले, मेघोंको पूर्णकाम किया करे, बडवानलको पोसे, अमृत पिलाकर देवोंको पुष्ट करे, और चाहे जैसा आकार क्यों न बनाले, किन्तु कुपित होनेपर अगस्त्यने उसे सरलतासे पी लिया, हे तपस्ये तुम्हे नमस्कार है ॥ १५ ॥

---

१ 'उपसर्पिणी' ।

राम —(सबहुमानम् ।) [1]वत्स, किमुच्यते—

मुने कलशजन्मनो जयति कापि गम्भीरता
यया चुलकमम्भसामपि निधिं समुत्पद्यते ।
अमुष्य पुनरीश्महे न विवरीतुमुत्तुङ्गतां
यया भवति नोच्चकैरहह सोऽपि विन्ध्याचलः ॥ १६ ॥

अपि च वत्स, दुरवगाहगम्भीरस्वभावानि महतां चरितानि । तथा हि ।

जगद्विगमघस्रघस्मरसहस्रभानुप्रभा-
परिक्वथितपिण्डितो लवणकूटमेवार्णवः ।

मुनेरिति । कलशात् कुम्भात् जन्म यस्य तथोक्तस्य मुनेरगस्त्यस्य कापि अनिर्वाच्या गम्भीरता जयति यया अगस्त्यगम्भीरतया अम्भसांनिधिः सागरोऽपि चुलकं गण्डूषमात्रं करधृतजलं समुत्पद्यते, अतिशायिनी गम्भीरताऽगस्त्यस्य यत्समीपे समुद्रोऽपि चुलुकमात्रस्वरूपो जातः इत्यर्थः । पुनः अस्यागस्त्यस्य उत्तुङ्गतां विशालताम् विवरीतुं वर्णयितुं न ईश्महे न प्रभवामः, यया उत्तुङ्गतया सोऽपि सुमेरुस्पर्धयोत्तिष्ठमानोऽपि विन्ध्याचलः उच्चकैः उन्नतो न भवति, यदीयोत्तुङ्गता विन्ध्यमपि नमयामासेत्यर्थः ॥ पृथ्वीवृत्तम् ॥ १६ ॥

जगदिति । अयम् अर्णवः सागरः जगतः संसारस्य विगमस्य नाशस्य यः घस्रः दिनं तत्र घस्मरः सर्वसंहारकः सहस्रभानुः सूर्यस्तस्य प्रभया तेजसा परिक्वथितः अतितरां पाकं प्रापितः ततश्च पिण्डितः पिण्डाकारतां नीतः सन् लवण-

राम—(आदरके साथ) वत्स लक्ष्मण, क्या कहना है,

कलशजन्मा अगस्त्यमुनिमें कुछ इस प्रकारकी गम्भीरता है जिससे उनके आगे समुद्र उनके गण्डूषके रूपमे हो गया, उनकी उत्तुङ्गताका भी वर्णन करनेमे हम असमर्थ हैं, जिसके आगे विन्ध्याचल भी ऊंचा नहीं हो सका ॥ १६ ॥

और भी देखो वत्स, महान् जनके चरितकी गम्भीरता स्वभावतः दुर्बोध हुआ करती है, क्योंकि—

प्रलयके दिनोंमें संसारको दग्ध करनेवाले हजार सूर्योंकी किरणोंसे पक्व होकर तथा क्वथित होकर समुद्र लवणका पहाड बन गया, और महादेवके भालनेत्रकी आग

१ 'वत्स' इति क्वचिन्नास्ति ।

अथ क्षणमभूदथ ज्वलति कालरुद्रानले
चटच्चटदिति स्फुटन्न भवति स्म यावत्क्षणात्[1] ॥ १७ ॥

सीता—अज्जउत्त, जलणिहिमज्झवट्टिणो लङ्कापोदअस्स जम्बुदीवोवसजमणसिङ्खलेव्व को एसो पडिहासदे। [आर्यपुत्र, जलनिधिमध्यवर्तिनो लङ्कापोतस्य जम्बूद्वीपोपसयमनश्रृङ्खलेव क एष प्रतिभासते।]

राम—देवि [2]मेदिनीनन्दिनि, पतितपौलस्त्यजगद्विजयकेतुदण्डानुकारी ककुत्स्थकुटुम्ब[3]दुःखसविभागदायादस्य [4]वानरपते कर्तिनमयोऽय महासेतु।

कूटम् लवणराशिरेव क्षणमभूत् अथ कालरुद्रानले सहारकरुद्राग्नौ ज्वलति सति चटच्चटत् इति एतादृशशब्दपूर्वक स्फुटन् यावत् न भवतिस्म अदृश्यता गतोऽभूत्। अय सागर प्रलयदिने प्रागत्युग्रसूर्यप्रभया क्वथ्यमान सन् लवणपिण्डाकार लभते अथ सोऽपि लवणपिण्डो रुद्रनेत्राग्नौ ज्वलति सति चटचटशब्द कृत्वा समाप्ति याति, इत्यर्थ। पृथ्वीवृत्तम् ॥ १७ ॥

जलनिधिमध्यवर्त्तिन सागरमध्यस्थस्य। लङ्कापोतस्य लङ्कारूपवहित्रस्य। जम्बूद्वीपेन भारतेन उपसयमन बन्धन तत्र श्रृङ्खला लौहरज्जु इव ॥

मेदिनीनन्दिनि पृथ्वीतनये।

पतितपौलस्त्येति। पतित भूमौ गत य पौलस्त्यस्य रावणस्य जगद्विजयकेतुदण्ड विश्वविजयपताका तदनुकारी तत्तुल्य यावत्पौलस्त्यो जीवतिस्म तावत्तस्य

जब जलने लगी तब वह लवणरूपमे परिणत समुद्र चटचट शब्द करके, न जाने, कहा चला गया, अदृश्य हो गया ॥ १७ ॥

सीता—समुद्रके बीचमे वर्त्तमान इस लङ्कारूप जहाजको जम्बूद्वीपके साथ बाधनेकी कडोके समान लगनेवाला यह क्या दिखलाई दे रहा है ?

राम—हे धरातनये, गिरे हुए रावण विजयध्वजके समान प्रतीत होनेवाला, यह महासेतु है जो ककुत्स्थ वशके दु खमे समान भाग लेनेवाले सुग्रीवकी कीर्त्ति है।

---

१ अस्माच्छ्लोकादग्रे क्वचित्पुस्तकेषु 'अपि च, अचिन्त्या पन्थान• किमपि महता मन्धकरिपोर्यदक्ष्णोऽभूज्ज्योतिस्तदकृत कथामप्यमदनाम्। मुनेर्नेत्रादत्रेर्यदजनि पुनर्ज्योतिरहह प्रतेने तेनेद मदनमयमेव त्रिभुवनम् ॥' अय श्लोको वर्तते। २ 'धरित्रीनन्दिनि'। ३ 'दु खविभाग-'। ४ 'वानरपते• सुग्रीवस्य कीर्तिमयोऽय'।

सीता—(सहर्षम् ।) दिट्ठिआ अज्जउत्तदंसणपच्चासाए बन्धप्परोहणमहोसहं सेदुबन्धो दीसइ । (अञ्जलिं बद्ध्वा ।) भअवं, णमो दे ।
[दिष्ट्या आर्यपुत्रदर्शनप्रत्याशाया बन्धप्ररोहणमहौषधं सेतुबन्धो दृश्यते ।]

राम —देवि विश्वम्भरासम्भवे, पश्य पश्य ।

यथा दूरापातित्रिदिव[1]युवतीनेत्रसुलभा-
मपां भर्ता हारावलिवलयलक्ष्मीं वितनुते ।
तथायं माणिक्यस्फटिककनकग्रावशिखरै-
रशून्यात्मा सेतुः [2]प्रभवति महानायक इव ॥ १८ ॥

केतुदण्डोऽप्युन्नत आसीन्मृते तस्मिन्नसौ पतित इत्याशयेनेदं विशेषणम् । ककुत्स्थकुटुम्बो रघुकुलम् तस्य यद् दुःखं सीताहरणजं तस्य संविभागे तुल्यांशविभागे दायादस्य भागग्राहिणः अंशहरस्य । रघुवंशसमदुःखस्य तन्मित्रतया सुग्रीवस्य विशेषणमिदम् । कीर्त्तनमयः कीर्त्तिस्वरूपः ।

बन्धप्ररोहणमहौषधम् स्थापनोत्पादकम् । अत्र सेतौ बध्यमान एव मम हृदये भवद्दर्शनप्रत्याशा जातेति भावः ।

विश्वम्भरासम्भवे धरातनये ।

यथा दूरेति । अपां भर्त्ता समुद्रः यथा दूरापाति दूरागतम् यत् त्रिदशयुवतीनेत्रम् व्योमचारिदेवाङ्गनानयनम् तेन सुलभां सुखं प्रमेयाम् हारावलिवलयलक्ष्मीम् धरित्रीकण्ठगतस्रगुपमां वितनुते, तथा अयं सेतुः माणिक्यशिखरैः स्फटिकशिखरैः कनकग्रावशिखरैश्च अशून्यात्मा पूरितावयवः महानायकः मध्यमणिरिव प्रभवति । अयमाशयः–यथामुं सागरं सुदूरव्योमदेशसञ्चारिण्यो देवबाला दूरपातिना नेत्रेण पृथिव्या हारवलयं प्रतियन्ति तथाऽयं महासेतुरपि तत्तन्मणिमय-

सीता—(खुश होकर) भाग्यवश आपको देखनेकी आशाको मजबूत बनानेमें महौषधिका काम करनेवाले इस सेतुके दर्शन हो रहे हैं । (हाथ जोडकर) भगवन्, आपको नमस्कार करती हूं ।

राम—हे पृथ्वीपुत्रि, देवि, देखिये—

जैसे दूर देशमें रहनेवाली देवाङ्गनाओंकी आंखें सागरको हारके रूपमें देखती हैं, उसी तरह यह सेतु माणिक्य, स्फटिक तथा सुवर्णके शिखरोंसे बना हुआ होनेके कारण उस हारका सुमेरु सा प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

१ 'त्रिदशयुवती' । २ 'विभवति' ।

अपि चास्मिन्बध्यमाने

शैलप्रवेशात्प्र[1]चलीभवद्भिः कल्लोलकूटैरभिताडितानाम् ।
आसीन्निवृत्त्याचलगामिनीनामम्भोधिरेव प्रभवो नदीनाम् ॥ १९ ॥

(सुग्रीवं प्रति ।) सखे,

तथा सेतुश्रद्धोत्कलितकपिनिक्षिप्तशिखरि-
प्रतिष्ठावर्धिष्णु क्षणमथ नदीभिः प्रतिवहन् ।

प्रस्तरघटितावयवतया हारवलयगतमध्यमणिरिव प्रतीयत इति । 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इत्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १८ ॥

शैलप्रवेशादिति । शैलाना सेतुनिर्माणायाहृताना पर्वताना प्रवेशात् समुद्रवारिमध्ये प्रवेशात् प्रचलीभवद्भि चञ्चलता गतै कल्लोलकूटै तरङ्गराशिभि अभिताडितानाम् आहतानाम् अत एव निवृत्य पराङ्मुखीभूय अचलगामिनीनाम् यत एव पर्वतादायातास्तत्पर्वताभिमुखमेव गच्छन्तीनाम् नदीनाम् पर्वतोद्भवानामपि अम्भोधि सागर एव प्रभव उद्गमस्थानम् आसीत्, नदीना पर्वता प्रभवा समुद्रश्च गम्य इति नियम , परमत्र सागरे शैलप्रवेशात् कल्लोलताडनेन परावृत्य नद्य सागरात्पर्वतानेव प्रस्थिता इति सागर एव उत्पत्तिस्थानतया प्रतीयत इत्यर्थ । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ १९ ॥

तथेति । तथा सेतुश्रद्धया तादृशेन सेतुनिर्माणानुरागेण उत्कलितै उत्कण्ठापरवशै कपिभिर्नलादिभिर्वानरै निक्षिप्ताना यत कुतश्चिदानीय धृताना शिखरिणा पर्वतानाम् प्रतिष्ठया स्वान्तरवस्थानेन वर्द्धिष्णु वर्धनशील, क्षण कियन्तं काल

जब समुद्र बाधा जा रहा था तब,

पर्वतोके गिरनेसे चञ्चल होनेवाले तरङ्गसमूहोंसे ताडित होकर उल्टी नदियॉं फिर पर्वतोन्मुखी होकर बहने लगी, उस समय वे नदिया ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों उनका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही हो ॥ १९ ॥

(सुग्रीवके प्रति) सखे सुग्रीव,

वानरोंको समुद्रमें सेतु बॉंधनेकी बडी उत्कण्ठा थी वे पर्वतोंको ला-लाकर सागरमें डालने लगे जिससे सागरका जल फूलने लगा, और सागर नदियोंके साथ उनकी धाराओं में भी बहने लगा, इस प्रकार उसकीप्रतिष्ठा बढी, परन्तु जब उखाडे गये पर्वतोंकी मूल-

---

१. 'प्रवलीभवद्भिः' ।

समुत्खातक्षोणीधरकुहरपूर्तिव्यतिकर-
प्रमृष्टाहंकारः स्मरति तदवस्थो निधिरपाम् ॥ २० ॥

सुग्रीव.—देव, भवच्चरितचित्रशालिकायामस्माकं चेतसि किं किं नाम न लिखितमस्ति । अपि च ।

[1]सेतूद्योगे सपदि [2]लवणादन्यमन्तस्तिमिभ्य
कालेनापां मधुरमपि हि स्वादमुद्भेदयन्त्यः ।
शैलक्षेपोच्छलितसलिलव्यूहतुच्छे समन्ता-
द्वारां पत्यौ [3]पटुतररयं निम्नगाः संनिपेतु. ॥ २१ ॥

यावत् नदीभि सह प्रतिवहन् प्रतिकूलदिशा गच्छन् अथ अनन्तर समुत्खाताना सेतुकरणाय उत्पाटिताना क्षोणीधराणा पर्वताना विवराणां पूर्त्तें व्यतिकरेण सम्बन्धेन प्रमृष्टाहङ्कार अपगतजलवृद्धिगव अपानिधि सागर तदवस्थ प्राचीनां दशा गत इति स्मरसीत्यर्थ । पर्वतागमेन जले वर्धमाने समुद्रो नदीभि सहैव प्रतिकूलप्रवाहो जात, परन्तु यदोत्पाटितपर्वतमूलस्थलविवरभरणे तदीय जल शोषित तदासौ पुनरपि प्रकृति प्रपन्न इति स्मरसीत्यर्थ । वाक्यार्थ स्मरते. कर्म । 'कुहर सुषिर विलम्' इत्यमर ॥ २० ॥

भवच्चरितचित्रशालिकायाम् भवत्कीर्त्या चित्रिताया भवद्यश कथाभृतायामस्मदन्तर्वृत्तौ । भवत्कीर्त्तिकथापूरित इत्यर्थ ।

सेतूद्योग इति । सेतोर्बन्धस्य उद्योगे उपक्रमे सपदि तत्क्षणात् शैलानाम् पर्वतानाम् क्षेपात् पातनात् उच्छलितै सलिलव्यूहै जलराशिभि तुच्छे स्वल्पजले वाराम्पत्यौ सागरे निम्नगा नद्य कालेन उपयुक्तसमयेन अन्तस्तिमिभ्य अन्तर्गतेभ्यस्तिमिमत्स्येभ्य लवणादन्यम् क्षारभिन्नम् मधुर मिष्टम् अपा स्वादमुद्भेदयन्त्य प्रकटीकुर्वत्य पटुतररय महता वेगेन सन्निपेतु पतिता । सेतुनिर्माणपत्र-

---

स्थली-रूप खाइयोको पूर्ण करते-करते उसका सारा जल खप गया तब उसका जलकृत अहङ्कार समाप्त हो गया और वह सागर फिर पूर्वदशाको प्राप्त हो गया ॥ २० ॥

सुग्रीव—देव, हमारे हृदय आपके चरितरूप चित्रोंकी चित्रशाला है, उसमें क्या क्या न लिखा है ? और—

सेतु बाँधनेके सिलसिलेमे पानीका स्वाद खारा था, उसे जब पर्वतोंके डाले जानेपर समुद्रका सारा जल ऊपर उछल गया तब जगह खाली देखकर नदियाँ वेगसे आ गई, और मत्स्योंको मधुर पानी चखनेका मौका दिया ॥ २१ ॥

---

१. 'सेतूद्योगात्'।　२ 'अन्यमन्य'।　३ 'पटुतरममू'।

विभीषण —देव मनुवशमौक्तिकमणे,

सद्य. पीत्वा दरीभिर्जल[1]विमथ चिराद्दृष्टमैनाकबन्धु-
प्रीतिप्रौढाश्रुपूरद्विगुणमहिमभिर्निर्झरै पूरयन्त ।
ये विन्यस्ता पुरस्तान्निशि निशि निवहैरोषधीनां ज्वलद्भि-
स्ते दृश्यन्ते तदात्वोषितकपिशिबिरस्मारिण सेतुशैला.॥२२॥

सीता—(सस्मितम् ।) अज्जउत्त, गोरीगुरुणो गिरिन्दस्स जुवराओ

तेषु क्षिप्यमाणेषूच्छलति जलराशौ सागरस्य स्वल्पावशिष्टजलतया तिमयो यावल्ल-वणमय जलस्वादमनुभवन्ति तावदेव हि तेभ्यो मधुर सागरजलस्वादमुद्भेदयन्त्यो नद्य सागरे न्यपतन्नित्यर्थं । यावत्पत्युरयशो दारिद्र्यकृत वर्धते तावत्तत्पत्न्य स्वधनैस्तत्प्रतिष्ठा रक्षन्तीति ध्वन्यते । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ २१ ॥

सद्य इति । पुरस्तात् सेतुनिर्माणप्रथमप्रहरे विन्यस्ता सागरे क्षिप्ता (सेतु-शैला) सद्य पातसमकालम् दरीभि गुहाभि जलधि सागरजल पीत्वा अथ जलधिपाने कृते दृष्टे मैनाके नाम बन्धौ समुद्रगर्भस्थमैनाकरूपस्वसुहृद्दर्शनेन य प्रीतिप्रौढ आनन्दोत्थ अश्रुपूर नेत्रजलप्रवाहस्तेन द्विगुणितमहिमभि द्विगुणी-भूतमहत्त्वशालिभिर्निर्झरै. पूरयन्त सागर समेधयन्त सेतुशैला सेतुधृता. पर्वता , ते निशि निशि प्रतिरात्र ज्वलद्भिर्दीप्यमानै. ओषधीना निवहै समूहै तदात्वे सेतुबन्धकाले उषिताना वास कृतवताम् कपीना वानराणा शिबिरस्य सेनासन्निवेशस्य स्मारिण स्मारका दृश्यन्ते । ये पर्वता सेतवे समुद्रे क्षिप्यमाणा-स्तत्कालमेव सागरस्य जल स्वदरीभिर्निपीय तद्गर्भस्थितस्वसुहृन्मैनाकदर्शन-जातानन्दाश्रुप्रवाहद्विगुणीभूतस्वनिर्झरजलै सागर पुनरप्यपूरयन्, निशि निशि ज्वलद्भि स्वावस्थितौषधिभिश्च ये तत्कालतत्रोषितवानरसैन्यस्मारण पिङ्गलवर्णस्व-प्रभया कारयन्ति, ते पर्वता विलोक्यन्त इत्यर्थ । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २२ ॥

गौरीगुरो पार्वतीपितु । गिरीन्द्रस्य पर्वतराजस्य हिमालयस्य । युवराजो

विभीषण—हे देव मनुवशभूषण,

समुद्रमें जो पर्वत डाले जाते थे वे समुद्रका पानी अपनी कन्दराओंमे भर लिया करते थ, फिर समुद्रकी उदरदरीमें जब उन्हे अपने मित्र मैनाकके दर्शन होते थे तब उनके आनन्दाश्रु प्रवाहकृत झरनोके बहनेसे समुद्र भर जाता था । उन पर्वतोंपर बहुत सी ओषधिया रातमे अभी भी प्रज्वलित होती है और उन्हे देखकर उस समय वहाँ रहनेवाले कपियोंकी याद हो आती है ॥ २२ ॥

सीता—आर्यपुत्र, गौरीके पिता पर्वतराजके युवराज मैनाकका पक्ष नही कटा फिर भी

१ 'जलनिधिमचिर'।

जलणिहिगब्भवसदी मेणाओ जाणामि पक्खच्छेअ पि विणा थावरीभूदो।
[आर्यपुत्र, गौरीगुरोर्गिरीन्द्रस्य युवराजो जलनिधिगर्भवसतिर्मैनाको, जानामि पक्षच्छेदमपि विना स्थावरीभूत'।]

राम—([1]विहस्य।) आ जानकि, आम्।

क्रौञ्चं [2]विमुच्य पुत्रं च पितरं च हिमालयम्।
प्रविश्य जलधिं पक्षौ [3]रक्षताऽनेन किं कृतम्॥ २३॥

सीता—(हसन्ती पुष्पकं प्रति।) विमाणराव, गअणमग्गचंकमणकोदूहलुल्लसिअमाणसाह्मि। ता उण्णमेहि दाव। [विमानराज, गगनमार्गचङ्क्रमणकौतूहलोल्लसितमानसास्मि। तदुन्नम तावत्'।]

रामः—(सकौतुकस्मितम्।) देवि [4]रत्नगर्भागर्भरत्नशलाके, पश्य पश्य।

ज्येष्ठो युवा च पुत्र। जलनिधिगर्भवसति समुद्रगर्भस्थ। स्थावरीभूत. जङ्गमतावर्जितो जात। पक्षेषु सत्स्वपि स्थावर सवृत्त इत्याशय।

क्रौञ्चमिति। क्रौञ्च तन्नामप्रसिद्ध पुत्रम् हिमालय नाम पितरञ्च विमुच्य विहाय जलधौ सागरे पक्षौ स्वीयौ रक्षताऽनेन मैनाकेन किं कृतम्, पक्षच्छेदरूपापदुपस्थिताया पुत्रस्य पितुश्च रक्षा विहाय स्वमात्ररक्षा कुर्वतोऽस्य मैनाकस्य किं गौरवम्, स्वाश्रितरक्षापूर्वकात्मरक्षाया एव वीरजनादरणीयत्वात्स्वप्राणरक्षामात्रं कापुरुषकार्यमनेनाचरितमिति भाव॥ २३॥

गगनेति। गगनमार्गे आकाशपथे चङ्क्रमण तिर्यग्भ्रमण तत्र कौतुकम् उत्कण्ठा, तेन उल्लसितमानसा पूर्णहृदया। उन्नम उपरि भव। रत्नगर्भा पृथिवी तस्या गर्भस्य रत्नशलाकामणिद्युतिस्तद्रूपे, पृथ्वीपुत्रीतिविवक्षा।

वह स्थावर तो हो गये, यह आप जानते हैं?

राम—(हसकर) हाँ जानकी हाँ,

इस मैनाकने पुत्र क्रौञ्च तथा पिता हिमालयको छोडकर अपनी रक्षा यदि कर ही ली तो क्या किया? उचित तो यह था कि अपनी रक्षा भी करते साथ ही पुत्र तथा पिताकी रक्षा भी करते॥ २३॥

सीता—(हसती हुई, पुष्पकके प्रति) विमानराज, आकाशमार्गसे चलनेकी उत्कण्ठा हो रही है, थोडा ऊपर उठिये।

राम—(उत्सुकताके साथ हसकर) हे पृथ्वीकी पुत्रि सीते, देखो—जैसे जैसे यह

---

१ 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति। २ 'विलुप्य'। ३. 'नन'।
४ 'रत्नगर्भागर्भरत्नशलाके' इति क्वचिन्नास्ति।

यथा यथा परं व्योम विमानमधिरोहति ।
तथा तथाऽपसर्पन्ति परत परितो दिशः ॥ २४ ॥

किं च—

आसन्नतपनाश्यानत्वच. पुष्पकपीडिताः ।
गगनार्णवयादांसि [1]स्तिम्यन्ति स्तनयित्नव ॥ २५ ॥

[2]अपि च—

अमी ते गम्भीरस्तनितरवरौद्रा नयनयो-
रनायुष्यं पुष्यन्त्यवतमसमुच्चैर्जलमुचः ।

यथा यथेति । यथा यथा विमानम् पुष्पकाख्यमिदं व्योमयानम् पर व्योम उपरितनमाकाशदेशम् अधिरोहति गच्छति उपरि सर्पति, तथा तथा तत्क्रमेण दिश परितोऽपसर्पन्ति चतुर्दिश पलायमाना भवन्ति विस्तार लभन्त इत्यर्थ ॥२४॥

आसन्नेति । आसन्नेन समीपवर्त्तिना तपनेन सूर्येण तत्तेजसा आश्याना शुष्कश्यामीकृतास्त्वच इव त्वच उपरितनभागा येषा ते तथोक्ता पुष्पकपीडिता अनेन वायुयानेन खण्डिता गगनार्णवयादांसि समुद्रोपमे सागरे जलचरजन्तुवत्प्रतीयमाना स्तनयित्नवो मेघा स्तिम्यन्ति आर्द्रीभूता शब्दायन्ते । यद्यपि दैवादिक स्तिम् धातुरार्द्रीभावमात्रार्थकस्तथाप्यत्रार्द्रीभावपूर्वके शब्दे प्रयोग प्रसङ्गोपपादनार्थो बोध्य इति रुचिपति । जीवानन्दस्तु अन्तर्भावितण्यर्थत्वमास्थायार्द्रीकुर्वन्तीत्यर्थमाह ॥ २५ ॥

अमी त इति । गम्भीर धीर स्तनितम् गर्जितम् एव रवस्तेन रौद्रा भीषणा. उच्चै महान्तश्च अमी मेघा तव नयनयो अनायुष्यम् अनायु प्रयोजकम् दर्शनव्याघातकरम् अवतमसम् अल्पमन्धकारम् पुष्यन्ति जनयन्ति, मेघास्तव दृक्शक्तिप्रतिबन्धकर तम सृजन्तीत्यर्थ, इन्दोश्चन्द्रस्य उपरि ऊर्ध्वं परम् अधश्च

विमान ऊपर आकाशमें उठता जा रहा है, वैसे वैसे दिशायें दूर भागती चली जा रही हैं ॥ २४ ॥

और, समीपस्थित सूर्यकी किरणोसे जिनकी त्वचा सूख गई है, जिन्हे हमारा यह पुष्पक विमान पीडित कर रहा है, जो आकाशरूप सागरके जलजन्तु-सदृश प्रतीत होते है, ऐसे मेघ कुछ गीला-सा स्वर निकाल रहे है ॥ २५ ॥

और, जिन मेघोंके ऊपर पडनेवाली चन्द्रिकासे आकाशमें आभा तथा अन्धकारमय

1 'तिम्यन्ति'। 2. 'अपि च' इति क्वचिन्नास्ति ।

विसर्पद्भिर्येषामुपरि परमिन्दोः परिमलै-
रसंबाधज्योत्स्नातिमिरचयचित्रं वियदभूत् ॥ २६ ॥

सुग्रीवः—(अधोऽवलोक्य सकौतुकं रामं प्रति ।) देव, [1]दूरादवागवलोकय तावत् ।

निह्नुतोन्नतनतप्रविभक्तिः स्वस्ववर्णविनिविष्टपदार्था ।
अम्बुराशिपरिवेषवती भूश्चित्रकुट्टिममिव प्रतिभाति ॥ २७ ॥

अपि च देव,

विसर्पद्भिः प्रसारिभिः येषां मेघानां परिमलैः विमर्दैः असम्बाधा प्रसारशालिनी ज्योत्स्ना दीप्तिः तिमिरचयश्च तन्मयं चित्रं वियदभूत्, येषां मेघानां चन्द्रस्योपरि नीचैश्च प्रचारेण वियति क्वचिच्चन्द्रप्रभाकृतं धावल्यं क्वचिच्च तमःकृतं मालिन्यं तदुभयसम्पर्ककृतं चित्रत्वं विजृम्भत इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २६ ॥

निह्नुतेति । निह्नुता गोपिता उन्नतनतयोः उच्चनीचयोः प्रविभक्तिर्विभागो यत्र तादृशी अविभाव्यमाननिम्नोन्नतविभागा सर्वत्र समेव प्रतीयमानेत्यर्थः, स्वस्ववर्णेषु निजपीतश्वेतादिरूपेण विनिविष्टा अवस्थिता पदार्था यत्र तादृशी दूरतया वर्णभेदमात्रं प्रतीयते न पदार्थानां जातिः, श्वेतं पीतं इत्येतावन्मात्रं व्यवच्छिद्यते न घटपटत्वादिकं यत्र तथोक्तेति भावः । अम्बुराशिपरिवेषवती समुद्रवेष्टिता भूः पृथिवी चित्रकुट्टिममिव विचित्रवर्णन्यासं कुट्टिमं भूमिकर्म इव प्रतिभाति । दूराद् दृश्यायां भुवि उन्नतनतविभागो न ज्ञायते पदार्थाश्च वर्णमात्रेण ज्ञायन्ते न पृथग् जात्या, तदित्थमियं समुद्रपरिवेष्टिता धरा विचित्रं कुट्टिममिव प्रतीयत इत्युपमा ॥ २७ ॥

चित्र उपस्थित हो रहा है ऐसे ये मेघ गम्भीर गर्जनसे भाषणता धारण करके आखोंकी शक्तिको कम करनेवाले अन्धकारकी सृष्टि करते हैं ॥ २६ ॥

सुग्रीव—(नीचे देखकर, कुतूहलसे रामके प्रति) देव, दूरसे तनिक नीचेकी ओर देखें

पृथ्वीपर ऊच नीच स्थलका विभाग समाप्त हो रहा है, सभी पदार्थ केवल अपने वर्णमें रह गये है आकारभेद लुप्त हो रहा है, इस प्रकार यह समुद्रवेष्टिता पृथ्वी चित्रमय पक्की भूमि सी दीख रही है ॥ २७ ॥

और, देव,

---

१ 'दूरादर्वागवलोकय', 'दूरादवलोकय' ।

अयमनेन महोदधिभोगिना वलयितो वसुधाफणमण्डलः।
जगदनर्घमवाप्य भवादृशं किमपि रत्नमहंकुरुतेतराम् ॥ २८ ॥

सीता—(पुरो दर्शयन्ती।) को एसो कप्पाणलज्जालाकलावकढिज्जमाणजलणिहिलवणत्थवकणिम्मलअब्भलिहसिहरसहस्समहुरो महीहरो पलोइज्जदि। [क एष कल्पानलज्वालाकलापक्कथ्यमानजलनिधिलवणस्तबकनिर्मलाभ्रलिहशिखरसहस्रमधुरो महीधरः प्रलोक्यते।]

विभीषण—देवि,

पुरः प्रालेयशैलोऽयं यस्मिन्मकरकेतवे।

अयमनेनेति। अयम् वसुधाफणमण्डलः पृथ्वीरूपः फणसमुदयः महोदधिभोगिना समुद्ररूपसर्पेण वलयितः वेष्टितः जगदनर्घम् संसारेऽमूल्यम् भवादृशं किमपि रत्नम् अवाप्य अहङ्कुरुतेतराम् नितरां गर्वायते। यथा कोऽपि सर्पःफणस्वरत्नेन गर्वमुद्वहति तथैव वसुधारूपोऽयं समुद्ररूपसर्पेण वलयितः फणमण्डलोऽमूल्यं त्वादृशं रत्नमासाद्य गर्वं धारयतीत्यर्थः। 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षितं द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ २८ ॥

कल्पानलेति। कल्पानलस्य प्रलयाग्नेः ज्वालाकलापेन शिखासमुदायेन क्वथ्यमानस्य समधिकं ताप्यमानस्य जलनिधेः समुद्रस्य लवणस्तवकः लवणपुञ्जः तद्वत् निर्मलेन अभ्रलिहेन व्योमचुम्बिना शिखरसहस्रेण शिखरसमुदयेन मधुरः मनोहरः। महीधरः पर्वतः। प्रलोक्यते दृश्यते, कोयं पर्वतो दृश्यते यः प्रलयाग्निक्वथितसागरोत्पन्नलवणराशिरिव धवलैः शिखरगणैः प्रतीयत इत्यर्थः।

पुर इति। पुरः अग्रेऽयं प्रालेयशैलः हिमालयो नाम पर्वतो वर्त्तते यस्मिन् हिमालये मकरकेतवे कामदेवाय मृतसञ्जीवनी पुनःप्राणदायिनी ओषधिः कामस्य पुनर्जन्मकारिणी दुर्गा पार्वती अजायत जाता, सोऽयं पर्वतो हिमालयो यत्र पार्वती जाता यया हरकोपानलदग्धोऽपि कामः महादेवद्वारा पुनर्जीवितः, महौ-

---

यह समुद्ररूप नागराज द्वारा वलयित वसुधारूप फणमण्डल संसारमें अनुपम अमूल्य आप सरीखे रत्नको प्राप्त करके अनिर्वचनीय अहङ्कार प्रकाशित कर रहा है ॥ २८ ॥

सीता—(आगे दिखलाकर) यह कौन-सा पर्वत दीख रहा है जो प्रलयानलकी ज्वालावलीसे क्वथित होनेवाले सागरके जलसे प्रस्तुत लवणकी तरह स्वच्छ तथा ऊंचे शृङ्गोंसे आकाशको छूता हुआ मालूम पडता है।

विभीषण—देवि, यह वही हिमालय पर्वत है जिसपर कन्दर्पको पुनरुज्जीवित करने-

मृतसंजीवनी दुर्गा महौषधिरजायत ॥ २९ ॥

सीता—(सकौतुकम् ।) अवि इध ज्जेव चन्दसेहरणअणाणले आहुदीभूदो भअव मम्महो। [अपि इहैव चन्द्रशेखरनयनानले आहुतीभूतो भगवान्मन्मथ ।]

विभीषण.—आ [1]देवि, आम् । इयमुत्तरेण देवदारुवनलेखा विषमशरदुरन्तसाक्षिणी ।

पुरा पुरां भेत्तुरिह त्रिनेत्रीश्रृङ्गाटके तुल्यरुषि स्थितेऽपि ।
[2]धग्धग्धगित्यज्वलदेकमन्ये तद्धूमपीडामपि नासहेताम् ॥ ३० ॥

षधिरपि मृतसञ्जीवनी भवति, नयनानलदग्ध कामो महादेवेन गौर्यां परिणीतायां देहीकृत इति बोध्यम् ॥ २९ ॥

चन्द्रशेखरनयनानले महादेवनेत्रवह्नौ । आहुतीभूत हवनीयद्रव्यमभूत् ।

उत्तरेण उत्तरस्या दिशि । देवदारुवनलेखा देवदार्वाख्यवृक्षश्रेणी । विषमशर-दुरन्तसाक्षिणी कामदेवदहनस्य साक्षिभूता प्रत्यक्षदर्शिका ।

पुरा पुरामिति । इह अस्मिन् देवदारुकानने पुरां भेत्तु त्रिपुरारे त्रिनेत्रीश्रृङ्गाटके नेत्रत्रयरूपवारिकण्टके वह्निस्थापनप्रज्वालनाद्युचितपात्रभेदे तुल्यरुषि समान-कोपावलम्बिनि स्थितेऽपि एकम् नयनम् धग्धग्धग् इति एतदानुपूर्वीकशब्दपूर्वकम् अज्वलत् जज्वाल, अन्ये ज्वलतो नयनात् भिन्ने नयने तस्य ज्वलतोऽग्ने धूमपीडाम् धूमसम्पर्कज कष्ट न असहेताम् न सोढुमक्षमेताम् । महादेवस्य त्रिषु नेत्रेषु एक कोपकलुषमपि जात परमपरे पूर्ववदेव ध्यानमग्ने अतिष्ठतामित्यर्थ. ॥३०॥

वाली मृतसजीवनी महौषधिके रूपमें पार्वतीने जन्म लिया ॥ २९ ॥

सीता—(कुतूहलके साथ) यहाँ ही महादेवकी नेत्राग्निमें कामदेव आहुति बन गया था ।

विभीषण—हाँ देवि, हाँ, यही उत्तरकी ओर दीखनेवाली देवदारुवनपरम्परा उस भीषण घटनाकी साक्षिणी है ।

यहीं पूर्वकालमें महादेवकी तीनों आँखें एक रूपमें कुपित हो गई थीं, परन्तु उनमे एक ही आँख धक्-धक्-धक् करके जलने लगी, और दो आखें उस आगके धूमकी व्यथाको भी नहीं सह सकी ॥ ३० ॥

---

१. 'जानकि'। २. 'धगद्धगित्यज्वलदेक'।

राम —किमुच्यते ।

नीललोहितललाटलाञ्छने लोचने जयति कोपपावकः ।
रक्षितस्य जगदन्तहेतवे यस्य संज्वलनमात्मभूरभूत् ॥ ३१ ॥

सीता—(राम प्रति ।) अज्जउत्त, तधा णिरणुक्कोसो कध उण पडिणिवुत्तो महादेवो देवीए । [आर्यपुत्र, तथा निरनुक्रोश कथ पुन प्रतिनिवृत्तो महादेवो देव्यै ।]

राम —

स्मरपरिभवनि सहायदीर्घैरथ सुभगङ्करणैरियं तपोभि ।
तदकृत यदसौ निजेऽपि देहे जयति जगत्पतिरात्मना द्वितीयः॥३२॥

नीलेति । नीललोहितस्य हरस्य ललाटलाञ्छने भालभूषणभूते लोचने कोपपावक क्रोधाग्निर्जयति, जगदन्तहेतवे त्रिभुवनसहाराय रक्षितस्य यस्य कोपाग्ने आत्मभू कामदेव सज्वलनम् सन्धुक्षणकाष्ठम् अभूत् यथा वह्निना पश्चात् कार्यं करिष्यन् केनापि काष्ठेन त रक्षति तथैव जगत्सहाराय रक्षितस्य कोपाग्ने कामदेव एव सधुक्षणकाष्ठतामभजतेत्यर्थं ॥ ३१ ॥

निरनुक्रोश निर्दय । प्रतिनिवृत्त कोपान्निवृत्त (यत्पार्वती प्रत्यग्रहीत्)

स्मरपरिभवेति । स्मरस्य कामदेवस्य परिभवेन दहनात्मनाऽपमानेन असहायै सहायकरहितै दीर्घैर्महद्भि सुभगङ्करणैरसुभगा अपि सुभगा कर्त्तुं समर्थै तपोभि तद् एतादृश कठिन कर्म अकृत कृतवती यत् यस्मात् जगत्पति निजेऽपि देहे स्ववपुष्यपि आत्मना द्वितीय सद्वितीय अर्धनारीश्वर जयति । यदा पार्वती तप प्रारेभे तदा तस्या कामोऽपि सहाय आसीदित्यसौ अकठोरतया अवर्त्तत, यदा पुन कामो दग्धस्तदाऽसहायतया सा तपोमात्रमवलम्बनमालोक्य दीर्घ तपश्चक्रे, तेन

राम—क्या कहा जाय, महादेवके ललाटपर वर्त्तमान नेत्रकी कोपाग्निकी जय हो, जिसे प्रलयकालके लिये सुरक्षित रखनेके लिये ही महादेवने उसमें कामदेवरूप इन्धन डाल दिया था ॥ ३१ ॥

सीता—(रामके प्रति) उस प्रकार निर्दय होकर भी फिर महादेव पार्वतीको मिल कैसे गये ?

राम—कन्दर्पके जला दिये जानेपर असहाय होकर पार्वतीने अपना तप बढा दिया, और कुछ ऐसा कार्य किया जिससे उसकी सुन्दरता बढ गई और बाध्य होकर महादेवको उसे अपना अर्धाङ्गिनी बनाना ही पडा ॥ ३२ ॥

विभीषण—([1]सपरिहासम् ।)

चिरमनया तपसित्वा कपालविषविषधरैकचित्तस्य ।
चक्रे हरस्य मूर्तिं फलमर्धं फलदमर्धं च ॥ ३३ ॥

सीता—(विहस्य तं प्रति सकौतुकम् ।) कदरस्सिं उण सणिवेसे भअवदीए सव्वमङ्गलाए पाणिग्गहणमङ्गलं आसी ।

विभीषणः—इदं पुरस्तादोषधिप्रस्थं नाम नगराजनगरम् । अत्र हि—

सम्प्रदातरि महौषधीमये भूधरे सुखमुवाह पार्वतीम् ।
[2]मूढकङ्कणफणीन्द्रनिर्भयां तारकेश्वरकिशोरशेखरः ॥ ३४ ॥

तत्तपसा शिवस्तथा प्रीतो यथा पार्वतीमर्धाङ्गभाजमकरोत् इत्यहो धन्यं तत्तप इत्यर्थः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

चिरमनयेति । अनया पार्वत्या चिरं सुदीर्घकालपर्यन्तं तपसित्वा तपः कृत्वा कपाले नरशिरःकङ्काले विषे विषधरे च एकम् अनन्यभावानुरक्तं चित्तं यस्य तादृशस्य कपालधारणविषपानविषधरालङ्करणमात्रानुरागिणः हरस्य मूर्त्तिं शरीरम् अर्धं फलम् लभ्यम् अर्धं च फलदं फलप्रदं चक्रे । तपस्याप्रसन्नेन शिवेन पार्वती स्ववपुषोऽर्धे निवेशिता, तथा च तपस्याफलमर्धं शरीरमजनि, अर्धं चावशिष्यमाणं शिवांशभूतं वपुः फलदातृरूपं स्थितम्, तदित्थमर्धस्य फलात्मकत्वमर्धस्य फलदातृत्वमकल्पयदित्याशयः ॥ ३३ ॥

सम्प्रदातरीति । महत्यः ओषधयः लताविशेषास्तन्मये तद्बहुले महौषधिगणपूर्णे भूधरे हिमालये पर्वते सम्प्रदातरि दानकर्त्तरि सति तारकेश्वरश्चन्द्रः स एव किशोरो बालः स शेखरः शिरोभूषणं यस्य तादृशो बालचन्द्रभूषणः शिवः मूढः ओषधिसान्निध्यवशाद् भीततया किमपि चेष्टितुमशक्तो यः कङ्कणफणीन्द्रः शिवकर-

---

विभीषण—(परिहासके साथ) कपाल तथा विषधरके साथ रमनेवाले शिवको भी चिरकालतक तपस्या करके पार्वतीने इस प्रकार अपनाया कि उन्हें अपना आधा अङ्ग ही तपस्याके फलके रूपमें पार्वतीको देना पड़ा, आधे अङ्गसे ही वह तप ,फलदायक रहे ॥३३॥

सीता—(मुस्कुराकर—विभीषणके प्रति) वह कौन सा स्थान है जहाँ पार्वतीका विवाह सम्पन्न हुआ था ।

विभीषण—यह आगेवाला ओषधिप्रस्थ नामक हिमालयका नगर है, यहीं पर महौषधियोंसे भरे हुए हिमालय कन्यादान कर रहे थे, इसीसे महादेवके साप डरकर छिप गये, पार्वती निर्भय बैठी रही, अतः महादेव पार्वतीका पाणिग्रहण कर सके ॥ ३४ ॥

---

१. 'सहासम्' । २. 'गूढ.', 'मुग्ध' ।

राम·—आं देवि, इहैव

पितरि निजतुहिनसंपत्कल्पितहेमन्तविभ्रमे गौरी ।
निर्मदभुजङ्गभूषणमभीषणं प्रियकरं भेजे ॥ ३५ ॥

सीता—(सस्मितम् ।) अज्जउत्त, अवि एदस्सि जेव्व मअणतणुदहणप इअणिरप्पणो फुडमविस्ससन्तीए गोरीए चन्दचूडो सघडिदो णिअसरीरेण । [आर्यपुत्र अप्येतस्मिन्नेव मदनतनुदहनव्यतिकरनिरात्मीय स्फुटमविश्वसन्त्या गौर्या चन्द्रचूड सघटितो निजशरीरेण ।]

राम·—(विहस्य ।) आ देवि,

वलयीभूतसर्पस्ततो निर्भयाम् अभयभीताम् पार्वतीम् सुखम् अक्लेशम् उवाह पाणौ गृहीतवान् । महादेवेन पार्वत्या पाणौ गृह्यमाणाया शिवकरस्थे सर्पे सव्यापारे कदाचित् पार्वती बिभियात्ततश्च तत्पाणिग्रहणम् सुखसाध्य न स्यात्, परं महौषधिमये हिमालये दातरि सन्निहितमहौषधिनिवहप्रभावात् निश्चेष्टकल्पे वलय सर्पे पार्वत्या भयोदयस्याभावेन शिवस्ता सुख पर्यणैषीदित्यर्थं । रथोद्धतावृत्तम्, 'स्यान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति तल्लक्षणम् ॥ ३४ ॥

पितरीति । निजतुहिनसम्पदा स्वप्रालेयसमृद्धया कल्पित कृत· हेमन्तविभ्रम· हेमन्तर्तुविलासस्तद्भ्रमो वा येन तादृशे पितरि स्थिते सति गौरी पार्वती निर्मद· शैत्याधिक्येनोपशमितविषगर्वो यो भुजङ्ग सर्प स भूषण कङ्कणो यत्र तादृशं तथा चाभीषणं भयाजनकं स्वपत्युर्हस्त भेजे जग्राह । पितृसम्बन्धिहेमन्तसम्पादक प्रालेयवैभवेन हरकरस्थभूषाभुजगे निर्विषमदे सति अभयङ्कर प्रियतमस्य हस्तं शिश्रिये गौरीति भाव· । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ३५ ॥

राम—हाँ देवि सीते, यहीपर—

पार्वतीके पिता हिमालयने अपने बर्फके प्रतापसे हेमन्तका समय ला दिया, अत· महादेवके सार्पोका विष उतर गया, फलत पार्वती निर्भयभावसे अपने प्रियतमका हाथ पकड सकीं ॥ ३५ ॥

सीता—(मुस्कुराकर) आर्यपुत्र, क्या इसी जगह कन्दर्पकी देह जलाकर महादेवने जो निर्ममता प्रकटकी थी उसीपर विश्वासरहित होकर गौरीने महादेवको अपने शरीरसे जोड लिया ।

राम—(मुस्कुराकर) हाँ देवि,

एतस्यां हि तुषारभूधरशिरःसीम्नि प्रियार्धेन च
स्वेनार्धेन च तादृशे पशुपतौ वृत्तेऽर्धनारीश्वरे ।
शेषेणार्धयुगेन सप्रहसनं गौरीसखीभिस्तदा
चक्रे दक्षिणवामयोर्विनिमयादन्योऽर्धनारीश्वरः ॥ ३६ ॥

अपि च—

[1]संभोगानतिरिच्यमानविभवो यद्विप्रलम्भो रस-

एतस्यामीति । एतस्याम् अत्र तुषारभूधरस्य हिमालयपर्वतस्य शिखरसीम्नि शृङ्गप्रदेशे (अत्रैव हिमालयशृङ्गे) प्रियार्धेन गौरीदेहार्धभागेन स्वेन अर्धेन स्वीयदेहार्धभागेन च तादृशे स्वतपोरक्षार्थं काममक्षिज्वालाया होमं कृतवति अपि पशुपतौ अर्धनारीश्वरे अर्धाङ्गधृतपार्वतीस्वरूपे वृत्ते जाते सति तदा तत्र समये सप्रहसनं सोपहासम् शेषेण अवशिष्टेन अर्धयुगेन पार्वत्याः शिवस्य चार्धार्धभागाभ्याम् दक्षिणवामयोर्विनिमयात् व्यत्यासं कृत्वा अन्यो द्वितीयोऽर्धनारीश्वरश्चक्रे । सोऽयं शिवो, यः पूर्वमात्मनस्तपसि स्त्रियः सन्निधानमपि विघ्नममन्यत, सम्प्रति प्रियार्धघटितनिजदेहार्धधरः सम्पद्यत इति सोपहासा गौरीसख्यः शिवयोरवशिष्यमाणदेहार्धद्वयेनापरमर्धनारीश्वरं व्यधात्, परं पूर्वतनेऽर्धनारीश्वरे पार्वती वामार्धे शिवश्च दक्षिणार्धे स्थितः, पश्चात्सखीभिः कृते चार्धनारीश्वरे गौर्या दक्षिणार्धरूपता तदंशस्यैव शिष्यमाणत्वात्, शिवस्य वामार्धभागता, तस्यापि तदंशमात्रशिष्टत्वादिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

संभोगेति । यत् यस्य दिव्यमिथुनस्य विप्रलम्भो रसः शृङ्गारप्रभेदभूतविप्रलम्भाख्यो रसः सम्भोगानतिरिच्यमानविभवः सम्भोगापेक्षयानतिरिक्तरूपः अर्धनारीश्वरस्य यस्य वियोगासंभवेन विप्रलम्भोऽपि संभोगातिरिक्ततया वक्तुम-

इसी हिमालय पर्वतकी सीमामें अपना आधा शरीर और पार्वतीके आधा शरीरको मिलाकर जब महादेव अर्धनारीश्वर बन गये तब पार्वतीकी सखियोंने शेष आधे आधे शरीरोंको मिलाकर एक दूसरा अर्धनारीश्वररूप प्रस्तुतकर दिया था, परन्तु परिहासार्थ सखियों द्वारा प्रस्तुत उस अर्धनारीश्वर शरीरमें पार्वतीका दक्षिण भाग तथा शिवका वाम भाग था ॥ ३६ ॥

और— जिस अर्धनारीश्वरको विप्रलम्भ रस भी संभोग स्वरूप ही हुआ करना है अर्थात् जिसके लिये शृङ्गार रसका दूसरा विप्रलम्भात्मक भेद असत्य है, परस्पर मिलित

१ 'संयोगात्'।

स्तद्दिव्यं मिथुनं परस्परपरिस्यूतं नमस्कुर्महे।
एकस्याः प्रतिबिम्बसंभृतविपर्यासे मुहुर्दर्पणे
सव्याङ्गस्थितिकौतुकं शमयति स्वामी स यत्रापरः ॥३७॥

विभीषणः—देव,

स्वच्छन्दैकस्तनश्रीरु[1]भयमतमिलन्मौलिचन्द्र फणीन्द्र-
प्राचीनावीतवाही सुखयतु भगवानर्धनारीश्वरो व ।

शक्यस्तत् परस्परपरिस्यूतम् अन्योन्यमिलितं तत् दिव्यम् विलक्षणं मिथुनम् स्त्रीपुद्वन्द्वम् नमस्कुर्महे प्रणता स्म, एकस्या गौर्या प्रतिबिम्बसभृतविपर्यासे प्रतिबिम्बे स्वस्य वामभागेऽवस्थिति दृष्ट्वा कथमयं मा वामभागे गौणे स्थापयतीति प्रतिबिम्बदर्शनकृतबुद्धिविपर्यये जाते सति मुहु वारवार दर्पणे सव्याङ्गस्थिति-कौतुकम् वामाङ्गस्थितिजन्मौत्सुक्यम् अपर स स्वामी शमयति निवर्त्तयति, यदा पार्वती स्व वामभागावस्थानं दृष्ट्वा कुप्यति तदा सम्मुखस्थे दर्पणे पश्य तत्र स्व क्व दृश्यसे ? इत्येव वञ्चयित्वा तस्या औत्सुक्य शमयति शिव इत्यर्थ । दर्पणे वामभागस्थ वस्तु दक्षिणभागे दृश्यत इति पार्वत्यपि तत्रात्मान दक्षिणभागस्था प्रतीत्यौत्सुक्य जहातीति बोध्यम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३७ ॥

स्वच्छन्देति । स्वच्छन्दा स्वतन्त्रा द्वितीयस्तनकृतस्थानसङ्कीर्णतारहिता एक-स्तनश्री एककुचशोभा यत्र तादृश, उभयमत उभयसाधारण मिलन् मौलि-चन्द्र॰ यस्य तथोक्त फणीन्द्रप्राचीनावीतवाही दक्षिणस्कन्धे तिर्यग्वर्त्तमान यज्ञसूत्रं दधान॰ भगवान् अर्धनारीश्वर व युष्मान् सुखयतु आनन्दयतु । यस्य अर्धे देहार्धे विश्वस्य जगतो दाहे व्यसन यस्य तादृश विसृमरं ज्योतिर्यस्य तादृश च,

उस दिव्य स्त्री-पुरुषको नमस्कार करता हू । जब पार्वती अपनेको दर्पणमें विपरीत दिशा (दक्षिण भाग) में अवस्थित समझने लगती है तब उन्हे महादेव यह कहकर वस्तु स्थितिसे अवगत कराते है कि तुम ठीकही हो, दर्पणमें उल्टा ही दिखाई देता है ॥ ३७ ॥

विभीषण—देव,

स्वच्छन्द रूपमें एक स्तन है, दोनों भागमें मस्तक पर चन्द्रमा विद्यमान है, दायें कन्धे पर सर्पराजरूप यज्ञोपवीत लटक रहा है, ऐसे अर्धनारीश्वर आपको आनन्दित करें, जिनके अर्धाङ्गमें ससारको जलानेवाली ज्योतिसे युक्त नयन, और आधेमें विश्वसहार

१. 'उभयदल-' ।

यस्यार्धे विश्वदाहव्यसनविसृमर[1]-ज्योतिरर्धे कृपोद्य-
द्बाष्पं चान्योन्यवेगप्रहतिसिमसिमाकारि चक्षुस्तृतीयम् ॥३८॥

अपि च—

स्वेदार्द्रवामकुचमण्डल[2]पत्त्रभङ्ग
संशोषिदक्षिणकराङ्गुलिभस्मरेणुः ।
स्त्रीपुंनपुंसकपदव्यतिलङ्घिनी[3] वः
शंभोस्तनुः सुखयतु प्रकृतिश्चतुर्थी ॥ ३९ ॥

अर्धे अपरदेहार्धे कृपोद्यद्बाष्पं विश्वदाहदर्शनजनितकृपाप्रसूताश्रु च, नयनम्, अत एव अन्योन्यवेगप्रहतिभिः परस्परवेगसमाप्तिभिः परस्परवेगसमाप्तिकृतसिमसिमाकारि तृतीयं चक्षुरस्तीति शेषः । अर्धनारीश्वरो वः सुखयतु यस्यैक एव स्तनः उभयोः साधारणश्चन्द्रः शिरसि, दक्षिणस्कन्धे तिर्यग्लम्बमानं यज्ञोपवीतं च विद्यते, किञ्च यस्यैकत्र नयने विश्वदहनव्यासक्तं प्रसृमरं च ज्योतिः, अपरत्र नयने च विश्वदाहदर्शनोदितकरुणाजन्यं बाष्पम्, आभ्यामग्निबाष्पाभ्यां परस्परव्याहतशक्तिभ्यां तृतीयं नयनं सिमसिमशब्दयुतं चास्तीत्यर्थः । सिमसिमेतिशब्दानुकरणम्, अग्नौ जलसंयोगे परस्परशक्तिव्याघातजन्मा तादृशः शब्दो जायते, तदिह तृतीयनेत्रस्य सिमसिमाकारितोक्ता ॥ ३८ ॥

स्वेदार्द्रेति । स्वेदार्द्रः सात्त्विकभावोदितस्वेदपूर्णो यो वामकुचमण्डलपत्त्रभङ्गः वामस्तनस्थितपत्रावलीविरचना तस्य संशोषी तदार्द्रताहरः दक्षिणकराङ्गुलिभस्मरेणुः दक्षिणकराङ्गुलिस्थविभूतिधूलिर्यत्र तादृशी ।

वामार्धे पार्वती दक्षिणार्धे शिवः इत्यर्धनारीश्वरस्य मूर्त्तिस्तत्र शिवे पार्वतीकुचे पत्रावलीं रचयति सति वामभागस्थकुचमण्डले सात्त्विकभावरूपो यः स्वेदः उदयते तस्य शिवकरस्थाङ्गुलिलग्नभस्मरेणुना शोषणं क्रियत इत्यर्थकमिदं विशेषणम् ।

स्त्रीपुंनपुंसकपदव्यतिलङ्घिनी तत्तल्लिङ्गत्रयव्यतिरिक्ता अत एव चतुर्थी प्रकृतिः शम्भोस्तनुर्वः सुखयतु, सा हि तनुर्न स्त्रीरूपा पुरुषलिङ्गधारणात्, न

देखनेसे उत्पन्न दयाके आंसू, एवं इन दोनोंके परस्पर मिलनसे तृतीय नेत्रमें सिमसिमाहट उत्पन्न हुआ करती है ॥ ३८ ॥

और—अर्धभागस्थ सात्त्विकभावोत्थित वामकुचमण्डल पर वर्त्तमान पत्त्रावलीको जिसके दक्षिणभागस्थ अङ्गुलिमें लग्न भस्म सुखाता है, ऐसे महादेवकी वह देह जो स्त्रीपुंनपुंसकसे विलक्षण चतुर्थ लिङ्गकी है, आपको आनन्दित करे ॥ ३९ ॥

---

१ 'विसृमरज्योतिः'।　२ 'पत्त्रभङ्गी-'।　३ 'लङ्घनीया'।

([1]अन्यतश्च दर्शयन् ।)

आधत्ते दनुसूनुसूदनभुजाकेयूरवज्राङ्कुर-
व्यूहोल्लेखपदावलीवलिमयैरङ्गैर्मुदं मन्दर ।
आधारीकृतकूर्मपृष्ठकषणप्रक्षीणमूलोऽधुना
जानीम परत· पयोधिमथनादुच्चैस्तरोऽयं गिरि· ॥४०॥

राम —(निर्वर्ण्य सस्मितम् ।)

तत्तादृक्फणिराजरज्जुकषणं संरूढपक्षच्छिदा-

पुंरूपा स्त्रीचिह्नकुचादिसत्त्वात्, नापि नपुसकरूपा उद्भूतस्त्रीत्वपुस्त्वव्यञ्जकचिह्न-शालित्वात्तदित्थमियं चतुर्थी प्रकृतिरिति बोध्यम् ॥ ३९ ॥

आधत्त इति । मन्दर गिरिविशेष दनुसूनुर्दानवस्तत्सूदनो निहन्ता विष्णुस्तस्य भुजासु चतुर्षु बाहुषु ये केयूरा· अङ्गदा तेषा वज्राङ्कुरव्यूहै हीरकाङ्कुरनिचयै· उल्लेखेन घर्षणेन या पदावली रेखासमूह स एव ‘वलय उदरस्थरेखाविशेषा· तन्मयैरङ्गै मुदम् दर्शकजननयनानन्दम् आधत्ते जनयति, समुद्रमन्थनसमये मन्थानभूतोऽय मन्दराचलो विष्णुना बाहुभिर्धृत इति तस्य विष्णुबाहुस्थितकेयूर-खचितहीरकै सङ्घर्षण जात येन तत्र रेखा जाता यास्तदुदरस्थरेखावत्प्रतीयमाना भवन्ति, एतादृशोऽय मन्दराचलो नयनान्यानन्दयतीत्यर्थ । अय गिरिर्मन्दरः आधारीकृत समुद्रमथनकाले आधारतां नीत यत्कूर्मपृष्ठ तेन कषणात् घर्षणात् प्रक्षीण मूलं यस्य तथाभूत , अतश्च पयोधिमथनात् समुद्रमथनात् पूर्वम् उच्चैस्तर· अतिमहान् आसीदिति अधुना जानीम । अयमाशय –विष्णुना समुद्रमथनसमये कूर्मपृष्ठ पात्रीकृतं तत्र मन्थानभूतस्य मन्दरस्य मूल घृष्ट सत् क्षयं गतम् , अतः सम्प्रतीद वक्तु शक्यं यन्मन्दरो यत्परिमाण सम्प्रति विलोक्यते, समुद्रमथनात्पूर्वं ततो महानासीदिति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४० ॥

तत्तादृगिति । अयं मन्थाचल मन्दर तत्तादृक् तथाविधम् फणिराजरज्जुकषणं

(दूसरी ओर दिखाकर) दानवोंके सहार करनेवाल भगवान् विष्णुके भुजमें वत्तमान केयूरमें खचित हीरेकी रगडसे चिह्नित यह मन्दराचल आखोको आनन्दित कर रहा है, इसके नीचे जो कूर्मराज हैं उनकी पीठमें घिसने रहनेसे इसकी जड घिस गई है, मै समझता हूँ, समुद्र मन्थनसे पूर्वकालमें यह मन्दराचल बहुत ऊचा पहाड रहा होगा ॥४०॥

राम –(देखकर तथा मुस्कुराकर) उस तरहके सर्परूपरज्जुके घर्षणको जिससे पक्षच्छेदवाली जगहमें मर्मान्तिक पीडा होती होगी, इस मन्दराचलने कैसे सहन किया ?

---

१ ‘अग्रतश्च’ ।

घातारुंतुदमप्यहो कथमयं मन्थाचलः सोढवान् ।
एतेनैव दुरात्मना जलनिधेरुत्थाप्य पापामिमां
लक्ष्मीमीश्वरदुर्गतव्यवहृतिव्यस्तं जगन्निर्मितम् ॥ ४१ ॥

सीता—([1]सोद्वेगम् ।) इमिणा ज्जेव्व मत्थुसेसीकिदुदुद्धसाअरेण चन्दमुद्धरिअ पउसिदभत्तणो इत्थिआजणस्स उवरि चारहली विढत्ता । [अनेनैव मस्तुशेषीकृतदुग्धसागरेण चन्द्रमुद्धृत्य प्रोषितभर्तृकस्य स्त्रीजनस्योपरि चारहली विस्तीर्णा ।]

(सर्वे हसन्ति ।)

वासुकिनागरूपरज्जुकृत घर्षणम् सरूढ विरूढो य पक्षच्छिदाघात पक्षच्छेदनव्रणः तत्र अरुन्तुदम् अतिव्यथकम् अपि कथ सोढवान् सोढुमशकत् । व्रणे विरूढेऽपि तत्स्थान घर्षणासहिष्णु तिष्ठति, पक्षच्छेदव्रणस्थाने वासुकिरज्जुकृतघर्षणकष्टं नितान्तव्यथाकरमपि न जाने केन बलेनायं मन्दरोऽसहतेति भाव । एतेनैव दुरात्मना दुष्टचित्तेन मन्दरेण जलनिधे समुद्रात् पापा चापल्येन दुर्वृत्ताम् लक्ष्मीम् उद्धृत्य बहिरानीय जगत् विश्वम् ईश्वरो धनी दुर्गतो दरिद्र इति व्यवहृत्या व्यपदेशेन व्यस्त दु स्थ निर्मितम् , यद्ययं दुष्टहृदयो मैनाक समुद्रात्पापाचारा लक्ष्मीं नोद्धरेत् तदा जगतीश्वरदरिद्रव्यवहारकृत कष्ट न केनापि लब्धं स्यादित्याशय ॥ ४१ ॥

मस्तुशेषीकृतदुग्धसागरेण क्षीरसमुद्र मथितवता, मस्तु तक्रविशेष । 'मण्डं दधिभवं मस्तु' इत्यमर । प्रोषितभर्तृकस्य विरहिण । चारहली पौरुषम् । देश्यशब्दोऽयम् । अयमेव मन्दराचल प्रयासमाधाय क्षीरसागरं मथित्वा च ततश्चन्द्रमुद्धृत्य विरहिस्त्रीजनेषु स्वपौरुष चन्द्रद्वारा तत्कष्टजननसामर्थ्यरूप प्रकटीकृतमित्यर्थ ।

इसी पापी मन्दराचलने इस पापा लक्ष्मीको सागरसे निकालकर दुनियामें धनी निर्धनका व्यवहार जारी किया जिससे यह विश्व व्यस्त है ॥ ४१ ॥

सीता—(उद्वेगके साथ) इसी मन्दरने क्षीरसागरको तक्र बनाकर चन्द्रमा निकाला और उसके द्वारा विरहिणी स्त्रियोंपर अपना पराक्रम प्रकट किया ।

(सभी हसते हैं)

---

१ 'सावेग ससभ्रमम्' ।

विभीषण.—(तदेव रामसूक्तं भावयन् ।) अहह ।

प्रक्षेप्तुमुदधौ लक्ष्मीं भूयोऽपि वलते मन. ।
किं तु प्रक्षिप्त एवायं पुनरायाति चन्द्रमा ॥ ४२ ॥

(विमृश्य चाकाशे ।)

कस्मैचित्कपटाय कैटभरिपूरःपीठदीर्घालयां
देवि त्वामभिवाद्य कुप्यसि न चेत्तत्किंचिदाचक्ष्महे ।
यत्ते मन्दिरमम्बुजन्म किमिदं विद्यागृहं यच्च ते
नीचान्नीचतरोपसर्पणमपामेतत्किमाचार्यकम् ॥ ४३ ॥

प्रक्षेप्तुमिति । लक्ष्मीरेव जगतीश्वरदरिद्रव्यवहारप्रवर्त्तकतया कष्टबीजमिति विभाव्य मन. भूयोऽपि लक्ष्मीमुदधौ सागरे प्रक्षेप्तुम् पातयितु वलते चेष्टते, परन्तु क्षिप्तापि सा पुनरागच्छेत् यत —प्रक्षिप्त कालेन समुद्रे पातित एवाय चन्द्रमा पुनरायाति बहिस्तथैवेय क्षिप्तापि पुनर्बहिरागच्छेदिति परिश्रमवैयर्थ्यं सभाव्येय लक्ष्मी सागरे न क्षिप्यत इत्याशय ॥ ४२ ॥

कस्मैचिदिति । हे देवि लक्ष्मि, चेत् यदि न कुप्यसि क्रुद्धा भवसि तत् तदा कस्मैचित् कपटाय केनापि च्छलेन (किमपि वञ्चन कर्त्तुम्) कैटभरिपोर्नारायणस्य उर.पीठम् विशालपीवरम् वक्ष एव दीर्घालयश्चिरकालिकावासो यस्यास्तादृशी त्वाम् अभिवाद्य नमस्कृत्य किञ्चिदाचक्ष्महे कथयाम. पृच्छाम , यत् ते अम्बुजन्म कमलम् मन्दिरम् गृहम् , किमिद विद्यागृहम् शिक्षणशाला ? यच्च ते नीचान्नीचतरोपसर्पणम् नीचातिनीचपात्रोपसरणम् किमेतत् अपाम् जलानाम् आचार्यकम् अध्यापनपाटवम् ? हे लक्ष्मि, किमपि वञ्चन मनसि निधाय हरेर्वक्षसि चिराद् वसन्तीं भवन्तीमिद प्रष्टुमिच्छामि यत्तव कमल गृह तदिद किन्तव विद्यागृह,

---

विभीषण—(रामकी उसी उक्तिको याद करता हुआ) अहा !

इच्छा तो होती है कि इस लक्ष्मीको फिर उसी सागरमें फेंक दूँ, परन्तु ऐसा इसलिये नहीं कर रहा हू कि व्यर्थ होगा, फिर यहीं चली आवेगी, चन्द्रमा तो सागरमें फेंक देनेपर फिर भी आ ही जाता है ॥ ४२ ॥

(कुछ सोचकर आकाशकी ओर) किसी बडे कपटको लक्ष्य बनाकर भगवान् विष्णुकी छातीमें रहनेवाली लक्ष्मी देवि, यदि आप बिगडे नहीं तो आपको, नमस्कार करके पूछूंगा कि आप जो कमलवासिनी बनी हुई हैं सो कमल आपका विद्यागृह है क्या ? और आप जो नीचे से नीचे उतरती जाती हैं सो इस कलामें आपके आचार्य जल तो नहीं हैं ॥ ४३ ॥

लक्ष्मणः—(सहासम् ।) हन्त, सुरासुर[1]मल्लभटीतूर्यतालनर्तकी सकलराजकुलखलीकारखर्जूला [2]साहसिकजनसहस्रशस्त्रान्धकारखेलनखद्योती मधुमथनजीमूतविलासविद्युल्लता किमेवमुपालभ्यते । इय हि

गुणवद्भिः सह संगममुच्चैःपदमाप्तुमुत्सुका लक्ष्मीः ।
वीरकरवालवसतिर्ध्रुवमसिधाराव्रतं चरति ॥ ४४ ॥

यच्च त्वया नीचान्नीच उपस्त्रियते तदद्भि शिक्षितासि किम्? यथा कमलानि बहिर्मनोहराण्यन्त कण्टकाकीर्णनालानि च तथैव त्वमप्यापातरम्या पर्यन्तवैरस्यावहा चासीति, किञ्च यथाऽऽपो नीचाभिमुख्यस्तथैव त्वमपि नीचाभिमुखी तदिद कि त्वया अद्भ्य' शिक्षितम् इत्यर्थ ॥ ४३ ॥

सुरासुरेति । सुरासुरमल्लाना देवदानववीराणा भटीतूर्यम् रणवाद्यभेदस्तत्र तालेन नर्त्तकी नर्त्तनशीला । सकलाना राजकुलाना नृपसमुदायाना खलीकारे वञ्चने खर्जूला कण्डूतिधारिणी तदासक्ता सकलराजन्यकवञ्चिकेत्यर्थ । साहसिका जना वीरजना तेषा सहस्रस्य शस्त्रान्धकारेषु अनवरतशरवर्षणकृतान्धकारेषु खेलने क्रीडने खद्योती ज्योतिरिङ्गणपक्षिणी, यथा खद्योती तमसि खेलति तथेयमपि लक्ष्मीर्वीरजनशरवर्षणान्धकारे खेलतीति बोध्यम् । मधुमथनो विष्णुरेव जीमूतो मेघस्तेन सह विलासे क्रीडाकर्मणि विद्युल्लता चपला । उपालभ्यते—निन्द्यते आक्रुश्यते ।

गुणवद्भिरिति । वीरकरवालवसति साहसिकजनखड्गनिवासिनी लक्ष्मी ध्रुवं निश्चयेन गुणवद्भि' गुणिजनै सह सङ्गमम् एव उच्चै पदम् उन्नत स्थानम् आप्तुमुत्सुका लब्धुमुत्कण्ठिता (सती) असिधाराव्रत करवालधारायामवस्थितिरूपं नियम चरति पालयति । अन्योऽप्युन्नतपदप्राप्तये यत्किञ्चिद्व्रतं पालयत्येवमियमपि लक्ष्मीर्गुणवज्जनसङ्गमरूपमुच्चै पद प्राप्तुमेव साहसिकजनखड्गधारानिवासात्मक व्रत पालयतीत्यर्थ । हेतूत्प्रेक्षाऽत्रालङ्कार ॥ ४४ ॥

लक्ष्मण—(हँसकर) अहा! देव-दानव युद्धमें बजनेवाले वाद्योंके तालपर नाचनेवाली, सकलराजगणको परिभवमें डालनेके लिये व्यग्र रहनेवाली, साहसी जनोंके शस्त्रान्धकारमे जुगनूकी तरह प्रतीत होनेवाली तथा मधुसूदनरूप मेघके साथ विलास-रसिका चपला इस लक्ष्मीको आप क्यों कोस रहे हैं? यह तो—

गुणवानोंके साथ निवासरूप उन्नत पदको प्राप्त करनेके लिये व्यग्र यह लक्ष्मी वीरजनोंके खड्गोंमें रहकर असिधारा व्रत करती रहती है ॥ ४४ ॥

---

१ 'मल्लरभटी'। २ 'साहसिकसहस्र-'।

सीता—(साभ्यसूयमिव ।) णिअदेव्वदुव्विलासविआरालसो लोओ लच्छीदेवीए दुज्जसवअणाइं गाएदि । (पुरो दर्शयन्ती ।) को एसो दीसदि दिअसकूडीकिदजोण्हाविच्छद्दपडिरूवो गिरी । [निजदैवदुर्विलास-विचारालसो लोको लक्ष्मीदेव्या दुर्यशोवचनानि गायति । क एष दृश्यते दिवसकूटीकृतज्योत्स्नाविच्छर्दप्रतिरूपो गिरिः ।]

विभीषणः—देवि,

सोऽयं कैलासशैलः स्फटिकमणिभुवामंशुजालैर्ज्वलद्भि-
श्छाया पीतापि यत्र प्रतिकृतिभिरुपस्थाप्यते पादपानाम् ।
यत्रोपान्तोपसर्पत्तपनकरधृतस्यापि पद्मस्य मुद्रा-
मुद्दामानो दिशन्ति त्रिपुरहरशिरश्चन्द्रलेखामयूखाः ॥ ४५ ॥

रामः—हन्त, शतधा [1]दृश्यमानोऽपि न चक्षुरकौतुकं करोति ।

निजदैवेति । **निजदैवदुर्विलासस्य स्वभाग्यदोषस्य विचारे विवेके अलसोऽक्षमः दुर्यशोवचनानि—अकीर्त्तिकथाः । दिवसकूटीकृता दिनसमूहतां प्रापिता । ज्योत्स्ना चन्द्रिका तस्या विच्छर्दः विस्तारः तत्प्रतिरूपः तत्समानः । राशीकृतदिवससमूह-कान्तिविस्तारवद्भासुर इत्यर्थः ।**

सोऽयमिति । **सोऽयं कैलासशैलः कैलासपर्वतः (दृश्यते) यत्र कैलासे स्फटिकमणिभुवाम् स्फटिकशिलासम्भूतानाम् पादपानाम् वृक्षाणां ज्वलद्भिः अतिदीप्तैः अंशुजालैः मयूखनिवहैः पीता निगीर्णाऽपि छाया वृक्षच्छाया प्रतिकृतिभिः प्रतिबिम्बैः उपस्थाप्यते प्रकटीक्रियते । अत्र कैलासे स्फटिकमणिशिलासु स्थितानां वृक्षाणां छाया प्रभानिलीनतया नावभासते केवलं तस्याः प्रतिबिम्बमात्रमालोक्यमानं तत्सद्भावं प्रत्याययतीत्यर्थः । यत्र कैलासे उपान्ते प्रान्तदेशे उपसर्पतः सञ्च-**

सीता—(असूयाके साथ) अपने भाग्यके दोषसे आलसी बना हुआ आदमी लक्ष्मीको गालियाँ दिया करते हैं । (आगे दिखलाती हुई) दिनमें इकट्ठी हुई सूर्य किरणोंकी तरह चमकनेवाला यह कौन सा पर्वत दीख रहा है ?

विभीषण—देवि, यह वही कैलास पर्वत है जहाँ पर स्फटिकमय भूमिमें पैदा होनेवाले वृक्षोंकी छाया केवल प्रतिबिम्बमें ही देखी जाती है, और जहाँ समीपमें घूमनेवाले सूर्यके हाथमें रखे गये कमलको भी महादेवके सिरपर रहनेवाले चन्द्रमाकी किरणें सङ्कुचित कर देती हैं ॥ ४५ ॥

---

१. 'दृश्यमानेन चक्षुः'; 'दृश्यमानो न चक्षुः' ।

गिरिः कैलासोऽयं दशवदनकेयूरविलस-
न्मणिश्रेणीपत्त्राङ्कुरमकरमुद्राङ्कितशिलः ।
अमुष्मिन्नारुह्य स्फटिकमयसर्वाङ्गविमले
निरीक्षन्ते यक्षाः फणिपतिपुरस्यापि चरितम् ॥ ४६ ॥

अपि च—

दशमुखभुजदण्ड[1]मण्डलीनां [2]दृढपरिपीडनपीतमेखलोऽयम् ।

रत तपनस्य सूर्यस्य करैर्धृतस्यापि सूर्यहस्तस्थितस्यापि पद्मस्य कमलस्य उद्दामानः अतिस्वच्छा त्रिपुरहरशिरश्चन्द्रलेखाः शङ्करशिरोवर्त्तिशशाङ्कलेखाः मुद्रां दिशन्ति सङ्कोचं जनयन्ति । सूर्योऽप्यत्र समीपेन चरति, तत्करस्थमपि कमलमत्र तीव्राभिर्हरशिरश्चन्द्रलेखाभिः सङ्कोचमञ्चतीत्यर्थः ॥ स्रग्धरावृत्तम् ॥४५॥

अकौतुकम् उत्कण्ठारहितम्, अत्र पर्वते शतशो दृष्टेऽपि दर्शनोत्कण्ठा न निवर्त्तत इत्यहो रामणीयकमस्येत्यर्थः ।

गिरिरिति । अयं कैलासो नाम गिरिः दशवदनस्य रावणस्य केयूरेषु अङ्गदेषु विलसन्तीनां स्फुरन्तीनाम् मणिश्रेणीनां हीरकपङ्क्तीनां पत्राङ्कुरमकरमुद्राभिः उट्टङ्कितमकराकृतिभिः अङ्किता शिला यस्य तादृशः, अस्य कैलासस्य रावणेनोत्तोलनं कृतमिति तद्बाहुकेयूरसमूहस्थितहीरकोट्टङ्कितमकरमुद्राभिरस्य कैलासस्य शिला अङ्किताः समजनिषतेत्यर्थः, स्फटिकमयसर्वाङ्गविमले स्फटिकमयतया सर्वतः स्वच्छे अमुष्मिन् कैलासे आरुह्य आरोहणं कृत्वा यक्षाः देवयोनिविशेषाः फणिपतिपुरस्य नागलोकस्यापि चरितम् कार्यकलापम् ईक्षन्ते चक्षुषा पश्यन्तीति पर्वतस्यास्य सर्वाङ्गधवलतयाऽत्र स्थिता अधोभुवनस्यापि वृत्तं पश्यन्ति सर्वाङ्गधवलस्यास्य दृक्शक्तिप्रतिबन्धकत्वविरहादिति भावः ॥ ४६ ॥

दशमुखेति । दशमुखस्य रावणस्य भुजदण्डमण्डलीनां दण्डोच्छ्रितविशालभुजसमुदायानां दृढपरिपीडनेन गाढयन्त्रणेन पीता कृशौ कृता अतिघर्षिता मेखला मध्यभागो यस्य तथोक्तोऽयं कैलासः स्फटिकगिरिः गिरिशस्य जलगृहकवितर्दिका-

---

राम—अहा ! इसे सौ वार देखनेके बाद भी आखोंकी उत्कण्ठा शान्त नहीं होती है ।

यह वही कैलास पर्वत है जो रावणके केयूरमें वर्त्तमान मणिगणके पत्राङ्कुरमें बने मकराकृति चिह्नोंसे अङ्कित है, तथा सभी अवयवोंमें श्वेतवर्ण जिस कैलास पर चढकर यक्षलोग नागलोकका चरित भी देखा करते हैं ॥ ४६ ॥

---

१ 'मण्डलीभिः' । २. 'निविडनिपीडन' ।

जलगृहकवितर्दिकासुखानि स्फटिकगिरिर्गिरिशस्य निर्मिमीते ॥ ४७ ॥

विभीषणः—(सीता प्रति ।) देवि, दृश्यन्ताममी

कैलासाद्रितटीषु धूर्जटिजटालंकारचन्द्राङ्कुर-
ज्योत्स्नाकन्दलिताभिरिन्दुदृषदामद्भिर्नदीमातृकाः ।
गौरीहस्तगुणप्रवृद्धवपुषः पुष्यन्ति धात्रेयक-
भ्रातृस्नेहसहोढषण्मुखशिशुक्रीडासुखाः शाखिनः ॥४८॥

सुखानि सलिलगृहवेदिकासुखानि निर्मिमीते करोति, पुरा रावणे भुजदण्डै कैलासमुत्तोलयति सति तद्भुजदण्डमण्डलीभिर्मेखलासु दृढ निपीडिततया उपरि प्रवहमाननिर्झरजलप्लावनात् स्रवज्जलधारतया कैलासोऽय जलगृहवेदिकाकृत्य हरस्य सम्पादयतीत्यर्थ ॥ ४७ ॥

कैलासाद्रितटीष्विति । कैलासाद्रितटीषु कैलासपर्वततटेषु स्थिता शाखिनो वृक्षा धूर्जटे शिवस्य जटानाम् अलङ्कार भूषणभूतो यश्चन्द्राङ्कुरश्चन्द्रलेखा तस्य ज्योत्स्नाभि कौमुदीभि कन्दलिताभि समेधिताभि इन्दुदृषदाम् चन्द्रकान्त-मणीनाम् अद्भि जलराशिभि नदीमातृका प्लाविता पोषिताश्च, तथा गौर्या हस्त-गुणेन हस्तलालनपाटवेन प्रवृद्ध वृद्धि गत वपु शरीर येषा तथोक्ता, तथा धात्री वृक्षाणाम् उपमाता गौरी तस्या अपत्यम् धात्रेयक स चासौ भ्राता चेति धात्रेयकभ्राता स्कन्दस्तस्य स्नेहेन सहोढ सहप्राप्तं षण्मुखशिशुना बालकार्त्तिके-येन क्रीडासुखं विनोदो येषाम् तथाभूताश्च पुष्यन्ति विकसन्ति । कैलासपर्वत-तटीषु स्थिता वृक्षा महादेवशिरोवर्त्तिचन्द्रकलाद्रुतचन्द्रकान्तमणिजलै सिक्ततया प्रवृद्धा गौर्या पोषिततया पुष्टवपुष धात्रीभूतोमातनयकार्त्तिकेयेन सह क्रीडमानाश्च सन्तो विकसन्तीत्यर्थ । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४८ ॥

रावण जब अपने भुजदण्डोंसे कैलासकी मेखलाको जोरोसे पीडित कर देता था तब इसके भीतरसे पानी ऊपर निकलकर प्रवाहित होने लगता था, उस समय यह कैलास महादेवको स्नानागारका सुख प्रदान किया करता था ॥ ४७ ॥

विभीषण—(सीताके प्रति) देवि, इधर देखें—

कैलास पर्वतकी तलहटीमें महादेवके सिरको भूषित करनेवाले चन्द्रमाकी कलासे निर्गत चन्द्रिका द्वारा स्पृष्ट चन्द्रमणियोंके जलस्रावसे नदीमातृक बननेवाले, तथा जिन्हें पार्वतीने अपने हाथोंसे पाला-पोसा है और जो साथ-साथ खेलनेवाले कार्त्तिकेय रूप अपने भाईके साथ बालक्रीडाका सुख भोग चुके हैं—ऐसे यह वृक्ष फूल रहे हैं ॥ ४८ ॥

अपि चास्य नित्यमधित्यकावासी परमेश्वरः ।

सहस्राक्षैरङ्गैर्नमसितरि नीलोत्पलमयी-
मिवात्मानं मालामुपनयति पत्यौ मखभुजाम् ।
जिघृक्षौ च क्रीडारभसिनि कुमारे सह गणै-
र्हसन्वो भद्राणि द्रढयतु मृडानीपरिवृढः ॥ ४९ ॥

किं च ।

यन्नाट्यभ्रमिघूर्णमानवसुधाचक्राधिरूढे भृशं
मेरौ पार्श्वनिवि[1]ष्टवासरनिशाचक्रे परिभ्राम्यति ।
तैजस्यस्तडितो भवन्तु शतशो दृष्टा हि जाता कथं

सहस्राक्षैरिति । मखभुजा देवानां पत्यौ स्वामिनीन्द्रे सहस्राक्षैः नेत्रसहस्रयुतैः अङ्गैः शरीरावयवैर्नमसितरि प्रणामं कुर्वति अतश्च स्वम् आत्मानं नीलोत्पलमयीं मालाम् नीलकमलस्रजमिव उपनयति उपहरति सति, क्रीडारभसिनि खेलनप्रिये कुमारे कार्त्तिकेये च जिघृक्षौ नीलोत्पलस्रजमिव प्रतीयमानामिन्द्रतनुं ग्रहीतुकामे गणैः प्रमथवर्गैः सह हसन् मृडानीपरिवृढः शिवः वो युष्माकं भद्राणि शुभानि द्रढयतु अव्याहतानि करोतु। सहस्रनयनयुतमिन्द्रस्याङ्गं नीलकमलमालयत्वे प्रतीतमिति भ्रान्तिमान्स्फुटोऽलङ्कारः । चक्षुषामुत्पलसाम्याच्च तदङ्गानामुत्पलमालारूपता । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४९ ॥

यन्नाट्येति । यस्य नाट्ये नर्त्तने भ्रमिर्भ्रमणं ततो घूर्णमानं भ्रमत् यत् वसुधाचक्रम् भूमण्डलमेव चक्रम् तत्राधिरूढे मेरौ पार्श्वयोर्निविष्टं वासरनिशाचक्रं यस्य तादृशे (तस्मिन्मेरौ) परिभ्राम्यति सति शतशः बहुधः तैजस्यो भास्वररूपास्तामस्यः

और इस कैलासकी अधित्यकामें महादेव नित्य वास किया करते हैं—

सहस्र नेत्रोंसे अलङ्कृत अपने अङ्गोंसे जब इन्द्र महादेवको प्रणाम करते है तब ऐसा लगने लगता है मानो वह नील कमलकी माला महादेवको उपहृत कर रहे हों, और उस नीलकमलमालाके समान प्रतीत होनेवाले इन्द्रके आनत शरीरको खेलनेमें रसिक कुमार उठाकर ले लेना चाहते हैं तब जिन्हे हसी लगने लगती है ऐसे महादेव आपका कल्याण करें ॥ ४९ ॥

और—जिस महादेवके नृत्यमें घूमने लगने पर सारा ससार घूमने लगता है फलतः सुमेरु पर्वत भी घूमने लग जाता है, जिसपर दोनों पार्श्वोंमें चन्द्रमा तथा सूर्य वर्त्तमान

१ 'पार्श्वनिवेशि-', 'पार्श्वनिवासि-'।

तामस्योऽपि स वः पुनातु जगतामन्त्येष्टियज्वा विभुः ॥५०॥

लक्ष्मण.—

जयति परिमुषितलक्ष्मा भयादनुपसर्पतेव हरिणेन ।
इह केसरिकरजाङ्कुरकुटिला हरमौलिविधुलेखा ॥ ५१ ॥

सीता—(सपरिहासम् ।) एदस्स ददसूअणरकरोडिमुण्डमालामण्डणस्स मसाणवासिणो भूसणता ज्जेव्व रोहिणीवल्लहस्स कलको, कि

मलिनवर्णाश्च तडितो विद्युत भवन्तु जायन्ताम्, ता कथ दृष्टा जाता , स जगताम् अन्त्येष्टि यज्वा दाहक विभुर्भगवान् व पुनातु । यस्य शिवस्य नृत्ये भ्रमणेन वसुध भ्रमतीति तत्र स्थितौ मेरुरपि भ्रमति, मेरोर्द्वयोर्भागयोर्दिवसनिशयोरवस्थितिरिति तयोरपि भ्रमण भवति, भ्रमत्योश्च दिवसनिशयोर्विपये लोकास्सन्दिहते यदिमारतैजस्यस्तामस्यश्च विद्युत , (दिनानि तैजस्यो निशश्च तामस्यो विद्युत) तदित्थं यदीय नृत्यं विश्वविस्मयकर स संसारदाहक शिवो व पुनात्वित्यर्थ । अन्त्येष्टिर्दाह इति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

जयतीति । इह अस्मिन् कैलासतटे हरमौलिविधुलेखा शिवशिरश्चन्द्रकला केसरिण सिहस्य करजाङ्कुरो नखाङ्कुरस्तद्वत् कुटिला वक्रा, (अस्तीति शेष. तद्भयादेव) भयात् सिहनखाभचन्द्रलेखादर्शनेन सिहसद्भावभ्रमजन्यभयात् अनुपसर्पता समीपमनागच्छता हरिणेन परिमुपितलक्ष्मा अकलङ्का जयति । अत्र कैलासे चन्द्रलेखा अकलङ्का, यत सा सिहनखकुटिला, तत्र सिहनखभ्रान्त्या हरिणा न समीपमुपसर्पन्ति, समीपमागता हरिणा एव तु शशिन कलङ्कतया मतास्तदभावेऽकलङ्का एव विधुलेखेत्यर्थ ॥ ५१ ॥

रहते हैं । उनके घूमने लगनेसे सुमेरुके एक भागमें प्रकाशमय तथा एक भागमें अन्धकारमय विजलियाँ नाचने लगती हैं, ऐसे ससारके प्रलयरूप यज्ञको सम्पन्न करनेवाले महादेव आपको पवित्र करें ॥ ५० ॥

लक्ष्मण—महादेवके सिरपर सिंहके नखकी तरह कुटिल चन्द्रकलाको देखकर भयभीत हरिण उस चन्द्रकलाके पास नहीं आता है, इस प्रकार वह हरिण रूप कलङ्कसे मुक्त चन्द्रकला बहुत सुन्दर दिखाई पडती है ॥ ५१ ॥

सीता—(परिहासके साथ) इक महादेवका भूषण बनना ही रोहिणीवल्लभ चन्द्रमा के लिये कलङ्ककी बात है जो महादेव साँप तथा नरकपालको भी अपना भूषण बनाते हैं, फिर चन्द्रमामें हरिणरूप कलङ्कका होना न होना एक सा है ।

तवस्सिणा कुरङ्गएण । [एतस्य दन्दशूकनरकरोटिमुण्डमालामण्डनस्य श्मशानवासिनो भूषणतैव रोहिणीवल्लभस्य कलङ्क, कि तपस्विना कुरङ्गकेण ।]

बिभीषणः—(विहस्य ।) शङ्के भगवानपि न मृगाङ्कमलकारकामः कलयति । [1]तथा हि ।

> **सहचरपिशाचपरिषत्प्रसत्तये कामचारतो रजनीम् ।**
> **कारयितुमिव कपाली शिरसि निशाकरमयं वहति ॥५२॥**

(सर्वे हसन्ति ।)

राम—(सबहुमानम् ।)

> **श्रीकण्ठस्य कपर्दबन्धनपरिश्रान्तोरगग्रामणी-**

दन्दशूका· सर्पा· नरकरोटय कपालास्थीनि मुण्डमाला च भूषणानि यस्य तादृशस्य । चन्द्रमसोऽयमेव कलङ्को यदसौ शिवस्य तस्य भूषण यो हि सर्पैर्नरमुण्डमालाभिश्च युक्त, कुरङ्गस्तस्य कलङ्क इति कथयित्वाऽलमित्यर्थं ।

अलङ्कारकाम भूषणेच्छु, शिवेन शशी नालङ्कारार्थं रक्षित अपि तु कार्यान्तरार्थं तत्कार्यमग्रेतनश्लोकेनाह ।

सहचरेति । अय कपाली शिव सहचराणा नित्यसङ्गिनाम् पिशाचानां भूतानां परिषद समूहस्य प्रसत्तये प्रसन्नतायै कामचारत स्वेच्छया रजनी रात्रि कारयितुम् विधापयितुम् इव शिरसि निशाकर वहति, यदा तदा पिशाचेच्छानुसारं रात्रिं विधातुमेव शिव शिरसा चन्द्रं वहति, तस्य गोपनप्रकाशनाभ्यां रात्रेरभावभावयो सुकरत्व मनसिकृत्यैवाय शिवस्य चन्द्रधारणप्रयास इत्यर्थं ॥ ५२ ॥

श्रीकण्ठस्येति । श्रीकण्ठस्य शिवस्य कपर्दो जटाजूट तस्य बन्धनेन सयमनेन परिश्रान्त श्रमखिन्नो य उरगग्रामणी सर्पराजो वासुकि· तेन सन्दष्टा कवलि-

---

विभीषण—(हसकर) मैं समझता हू कि महादेव भी अलङ्कारकी इच्छासे चन्द्रमाको नहीं धारण करते हैं, वह तो—

चन्द्रमा को इसलिये मस्तकपर धारण करते है कि अपनी इच्छाके अनुसार रात्रिका निर्माण करके अपने साथ रहनेवाले पिशाचोंको प्रसन्न करें ॥ ५२ ॥

(सभी हसते हैं)

राम—(आदरके साथ) महादेवके द्वारा जटाजूट बाँधनेके समय परिश्रान्त होकर

---

१. 'तथाहि' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'शिरोनिशाकर' ।

संदष्टां मुकुटावतंसकलिकां वन्दे कलामैन्दवीम् ।
या बिम्बप्रतिपूरणाय परितो निष्पीड्य संदंशिका-
यन्त्रेणेव ललाटलोचनशिखिज्वालाभिरावर्त्यते ॥ ५३ ॥

(पुष्पक प्रति ।) विमानराज, [1]मनागुन्नम्यताम् । [2]आलोकयतु मैथिली सुमेरुशिखराणि ।

विभीषणः—(सीता प्रति ।) देवि पश्य पश्य ।

मेरोर्मेदुरयन्ति संमदमधःसंपातिभिर्ज्योतिषा-
माटोपैर्विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृतोऽधित्यकाः ।

ताम् मुकुटावतसकलिकाम् शिरोभूषणे कलिकामिव भासमानाम् ऐन्दवी चान्द्रमसी कला वन्दे, या कला बिम्बप्रतिपूरणाय सम्पूर्णमण्डलता प्रापयितुम् परित उभयो पार्श्वयो. निष्पीड्य दृढ धृत्वा सदशिकायन्त्रेण 'सडसी' इति प्रसिद्धेनोष्णपदार्थसन्निधिप्रापिणा यन्त्रेण इव ललाटलोचनशिखिज्वालाभि भालस्थनयनाग्नि शिखाभि आवर्त्यते द्रवीक्रियते। यथा सुवर्णादि न्यूननिम्नाशपूर्तये सदशधृत बह्नावावर्त्यते येन द्रुते तस्मिन्पूर्यते निम्नाशस्तथैवाय चन्द्र कपर्दसयमनपरिश्रान्तवासुकिभक्षिताशपूर्त्तये हरभालनयनाग्निशिखाभिरावर्त्यते येन द्रुते तत्र पूर्ति. स्यादिति भाव । 'कपर्दोऽस्य जटाजूट', 'ग्रामणीर्नापिते प्रभौ' इत्युभयत्रामर, उत्प्रेक्षालङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५३ ॥

मेरोरिति । अध सम्पातिभि अध सञ्चारिभि ज्योतिषा सूर्यादीना तेजसा नक्षत्राणां वा आटोपै तेज समूहै. विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृत. शाखोपरिवर्त्त-

---

जब भूषणनाग महादेवकी चन्द्रकलाको चूसकर निष्कलङ्क बना देते हैं तब उनके बिम्बको पूर्ण करनेके लिए सदशसे पकडकर उसे महादेवके तृतीय नयनपर उलटाया जाता है जिससे उनका चूसा गया तेज फिरसे उनमें आ जाय, ऐसे चन्द्रबिम्बको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५३ ॥

(पुष्पकके प्रति) विमानराज, थोडा और ऊपर उठें, मैथिली सुमेरु शिखरोंको भी देख ले।

विभीषण—(सीताके प्रति) देवि, देखिये देखिये—

नीचेकी ओर पडनेवाली प्रभाके विस्तारसे वृक्षोंकी शाखाओंपर जिनकी छाया पडा करती है ऐसी मेरुकी अधित्यकायें आनन्द प्रदान करती है, जब जब प्रतिमासमें देवों

---

१ 'उत्क्षम्यताम्', 'उत्ताम्यताम्' । २. 'अवलोकयतु' ।

निष्पीतासु च मासि मासि विबुधैरिन्दोः कलासु क्रमा-
दुद्दामप्लवमानलाञ्छनमृगच्छिन्नाग्रदर्भाङ्कुराः ॥ ५४ ॥

लक्ष्मण —(सीता प्रति ।)

एतासु पर्वतनितम्बतटीषु पश्य
मध्यंदिनेऽपि हरिचन्दनवाटिकेयम् ।
पक्षस्थितद्युमणिबिम्बतयातिदीर्घ-
च्छायावितानमधुरा मुदमादधाति ॥ ५५ ॥

मानवृक्षच्छायावत्य, मासि मासि विबुधैर्देवै इन्दो कलासु क्रमात् पीतासु भक्षितासु उद्दामम् उच्छृङ्खलम् प्लवमानेन कूर्दता लाञ्छनमृगेण शशिकलङ्कतया मतेन हरिणेन छिन्नाग्रा दर्भाङ्कुरा कुशप्ररोहा यासु तथोक्ताश्चाधित्यका मेरोः सम्मदम् आनन्द मेदुरयन्ति वर्धयन्ति । अयमर्थ —यदा ज्योतिरूर्ध्व तदाऽधश्छाया यदा चाधोज्योतिस्तदोपरिच्छायेति नियमेनात्र मेरोरुन्नतया शैलाग्रस्थितवृक्षाणा-मधोज्योतिषा सञ्चारादूर्ध्वमेव तरूणा छायेति 'विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृत' इत्युक्तम् । चन्द्रे पूर्णे कलङ्करूपस्य मृगस्य तत्र प्रतिबद्धगतिकतया दर्भाङ्कुरा अक्षता, यदा चाय चन्द्र प्रतिमास्ममरै पीयते तदा लाञ्छनमृगोऽयमुद्दामं भ्रमन् अधित्यकास्थितान्दर्भाङ्कुरान् चर्वयतीति चाधित्यकाविशेषणान्तरम् । अन्य-त्सुगमम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५४ ॥

एतास्विति । एतासु पर्वतनितम्बतटीषु सुमेरुकटकप्रदेशेषु इय हरिचन्दनवाटिका देवदारुवनश्रेणी मध्यन्दिने मध्याह्नेऽपि पक्षस्थितद्युमणिबिम्बतया पार्श्वे सूर्यमण्डल-सद्भावेन अतिदीर्घच्छायावितानमधुरा लम्बायमानच्छायाविस्तारमनोज्ञा मुदम् आदधाति कुरुते । अन्यत्र प्रात सायकालयोर्वृक्षच्छाया दीर्घा, अत्र तु रवेः पार्श्वस्थतया मध्याह्नेऽपि दीर्घाच्छायेति हर्षकारणम् । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रे' इत्यमर' ॥ ५५ ॥

द्वारा चन्द्रमाका सारा अमृतकला पी ली जाती है तब तब स्वतन्त्रभावसे विचरण करनेवाले मृगगण यहाँके दर्भाङ्कुरोको चर जाया करते है ॥ ५४ ॥

लक्ष्मण—(सीताके प्रति) आप देखिये—इस पर्वतके नितम्ब देशमें वर्त्तमान यह हरिचन्दनवृक्षों की पक्ति पार्श्वदेशमें अवस्थित सूर्यबिम्बसे ससपृष्ट होते रहनेके कारण मध्यदिनमें भी लम्बी छाया फैलाती है जो बडी अच्छी लगती है ॥ ५५ ॥

अपि च ।

भूमेः स्वर्णतया फलोत्तरतरुस्मेरस्य मेरोस्तटी
सीमन्तोऽयमनूरुसारथिरथप्रस्थानघण्टापथः ।
अस्मिन्नुद्ध्रियते कथंचन हयैरुद्दामचण्डातप-
ज्वालाजालविलीनकाञ्चनशिलाजम्बालमग्नः प्रधिः ॥५६॥

(निरूप्य च सहर्षस्मितम् ।) कथमुपर्युपरि [1]पुष्करावर्तकानभ्रमुवल्लभः (विमृश्य ।)

अद्यायं विबुधेन्द्रबान्धववधूसंभुक्तसंतानक-
स्रग्दाम्नीममरावतीं विहरते निर्वैरमैरावणः ।

भूमेरिति । भूमेः स्वर्णतया काञ्चनमयतया फलोत्तरैः फलपूर्णैः तरुभिः स्मेरस्य विकसितस्य आह्लादितस्येत्यर्थः । सुमेरोः अयं तटीसीमन्तः तटरेखा अनूरुसारथेः सूर्यस्य रथप्रस्थाने स्यन्दनसञ्चारे घण्टापथः राजमार्गः, सुमेरुतटवर्त्मना सूर्यरथसञ्चारो भवतीति तत्तटस्य सूर्यरथप्रस्थानघण्टापथत्वमुक्तम् । अस्मिन् घण्टापथे मेरौ वा उद्दामचण्डातपानाम् उत्कटप्रचण्डसूर्यकिरणानाम् ज्वालाजालेन विलीना द्रवीभूता या काञ्चनशिला सैव जम्बालः कर्दमः तत्र मग्नः प्रधिः रथनेमिः हयैः सूर्याश्वैः कथञ्चन महता प्रयासेन उद्ध्रियते । काञ्चनशिलासु द्रुतासु कर्दमभावं गतासु मग्ना रथनेमिः सूर्याश्वैर्महता प्रयासेनोपरि नीयत इत्यर्थः । 'घण्टापथो राजमार्गः', 'नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्युभयत्रामरः ॥ ५६ ॥

अद्यायमिति । अद्य सम्प्रति अयम् ऐरावणः सुरगजः विबुधेन्द्रस्य देवराजस्य बान्धवा देवास्तेषां वधूभिः सुराङ्गनाभिः सम्भुक्तम् यथोपयोगं निषेवितं सन्तानकस्रजाम् देवतरुपुष्पमालानां दाम समूहो यस्याः तादृशीम् अमरावतीम् स्वर्ग-

और—स्वर्णमय भूमि होनेके कारण फलसमृद्ध वृक्षोंसे हँसता हुआ यह सुमेरुका मध्यभाग ऐसा लगता है मानो यह सूर्यके रथके चलनेका राजमार्ग हो, इस सुमेरुरूप राजमार्गमे प्रचण्ड सूर्यकरसे सोनेके पिघल जानेसे जब रथ स्वर्णपङ्क मग्न हो जाता है तब उसमेंसे सूर्यके घोडे बहुत श्रमसे रथको बाहर लाते हैं ॥ ५५ ॥

(देखकर हर्षसे हँसते हुए) क्या पुष्करावर्त्तकके भी ऊपर ऐरावत आगया है ।

इन्द्रके बान्धवजनोंकी स्त्रियाँ जिन देवतरुओंके पुष्पोंकी मालायें पहना करती हैं, उन सन्तानकतरुओंसे युक्त अमरावतीमें आज ऐरावन बिना रोक-टोकके भ्रमण कर

1. 'पुष्करावर्तकानाम्' ।

यं दोर्मात्रपरिच्छदो युधि मुदोत्क्षिप्य प्रतीच्छन्मुहुः
संतेने दशभिर्निजैरपि मुखैः सांराविणं रावणः ॥ ५७ ॥

सुग्रीव —सत्यमगोचरे गिरां दशकण्ठक्रीडितानि ।

एकैके निवसन्ति ते भुजभृतः कस्मै [1]निगृह्णामहे
वीरक्षेत्रमियं पुनर्वसुमती पौलस्त्यमाबिभ्रती ।

नगरीम् निर्वैरं निर्विरोधं विहरते भ्रमति । दोर्मात्रपरिच्छदो बाहुमात्रसहायो रावणः युधि युद्धे यम ऐरावणं मुदा अनायासम् उत्क्षिप्य उपरि क्षिप्त्वा मुहुः पुनः पुनः प्रतीच्छन् गृह्णन् दशभिर्निजैर्मुखैरपि सांराविणं सम्भूय शब्दं सिंहनादं वितेने कृतवान् । यमैरावणं विनैवास्त्रसाहाय्यं गृहीत्वा वियति विक्षिप्य ततः पतन्तं च तं गृहीत्वा पुनस्तथैव विक्षिप्य च रावणो दशभिर्निजैर्मुखैर्भीमरवमकृत, सोऽयं देवगजः सम्प्रति हते रावणेऽमरावतीं भ्रमति, यत्र देवाङ्गनाः सन्तानकतरुपुष्पमाल्यैः स्ववपूंषि प्रसाधयन्ति इत्याशयः । स्रग्दाम इत्युभयोस्तुल्यार्थतया दामपदमत्र समूहार्थकमास्थेयम् । विहरते क्रीडायामकर्मकतया भ्रमणार्थतया प्रयोगो बोध्यः, 'सांराविणमि'त्यत्र 'अभिविधौ भाव इनुण्', 'अणिनुणः' इत्यण् । 'संरावो बहुभिः कृतः' इत्यमरः । 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये इति मेदिनी, 'सन्तानः कल्पवृक्षश्च' इत्यमरः ॥ ५७ ॥

अगोचरे गिराम्—वाचाम् अविषये । वक्तुं न शक्यानीत्यर्थः ।

एकैक इति । एकैके प्रसिद्धास्ते भुजभृतो वीरा निवसन्ति पृथिव्यां सन्ति कस्मै कं वीरमुद्दिश्य निगृह्णामहे कुत्सां कुर्मः, कोऽपि न निन्दामर्हति, पुनः किन्तु इयं वसुमती पृथ्वी पौलस्त्यम् रावणम् आबिभ्रती धारयन्ती एव वीरक्षेत्रम् वीरभूमिः, सन्तु नाम बहवो वीरास्तेषु कोपि न निन्दापात्रम्, परमस्या

रहा है, इसी ऐरावतको लडाईके मैदानमें रावण ऊपर फेंककर लोकता था और जोरोंसे दशमुखोंसे भयङ्कर शब्द किया करता था ॥ ५७ ॥

सुग्रीव—रावणकी वीर-क्रीडाओंका वर्णन नहीं हो सकता है ।

एकसे एक वीर पृथ्वी पर रहते हैं किसके-किसके विषयमें क्या कहा जाय, परन्तु रावणको धारण करनेसे ही यह पृथ्वी वीरक्षेत्र कही जाती है । बालीने युद्धके लिये ललकारनेवाले रावणकी जो दुर्दशाकी थी, उसको हम देखते हैं इसलिये कि दो आखें हैं

१ 'निगृह्णीमहे', 'निगृह्णामहे ।

बाली त्वाह्वयमानमेनमपि यच्चक्रे कृते चक्षुषी
पश्याम श्रवसी कृते च शृणुमस्तद्वक्तुमल्पे वयम् ॥५८॥

राम'—(सबहुमानम् ।)

स किं वाच्यो बाली भुजकुलिशमूलेन [1]दशतो
दशग्रीवं यस्य प्रतिजलधि संध्याविधिरभूत् ।
कथं वा निर्वाच्यः स च दशमुखो यस्य दमने
मनागासीद्वालिव्ययचरितमेवोपकरणम् ॥ ५९ ॥

भुवो वीरप्रसूप्रतिष्ठामूल रावण एवेति भाव, बाली तु एनम् रावणमपि आह्वयमानम् बलगर्वेण स्पर्धमानम् यत् याहवपराभवगत कक्षानिक्षिप्त चक्रे तत् चक्षुषी नयने द्वे कृते विधात्रा रचिते इति पश्याम, श्रवसी द्वे श्रोत्रे विधात्रा कृते इति शृणुम, तत रावणस्य बालिना कृतमवस्थान्तरम् वक्तु वाचाऽभिधातुम् वयम् अल्पे असमर्था । श्रवणे चक्षुषी च द्वे स्त इति दृष्ट श्रुतञ्च, एकेनैव मुखेन तु रावणपरिभवो बालिपराक्रमश्च वक्तु न शक्यते, बहुभिरेव मुखै वक्तु शक्य इति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५८ ॥

स किवाच्य इति । स बाली किंवाच्य कथ वर्णनीय, यस्य बालिनो भुजकुलिशमूलेन वज्रोपमबाहुमूलेन दशग्रीव रावण दशत पीडयत प्रतिजलधि समुद्रे समुद्रे सन्ध्याविधि सन्ध्यावन्दनकर्म अभूत् । तस्य बालिनो वर्णन कथ क्रियता यो रावण कक्षादेशे निक्षिप्य सर्वेषु सागरेषु सन्ध्यावन्दनकृत्यं कृतवानिति भाव । स दशमुखो वा कथ निर्वाच्यो वर्णनीयो यस्य दशमुखस्य दमने रामकर्तृके निग्रहे मनाक् सूक्ष्मभावेन बालिव्ययचरितम् बालिविनाशनम् एव उपकरणम् सामग्री आसीत् । रावणवधार्थमेव मया बाली हत, अन्यथा बालिसहायस्य तस्य वधोऽशक्यसम्पादन स्यादिति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५९ ॥

और इसीलिये सुनते है कि दो कान है, उसका वर्णन नही कर सकते है क्योंकि जीभ अधिक है ही नही ॥ ५८ ॥

राम—(आदरके साथ) उस बालीके बारेमें क्या कहा जाय जिसने अपने कक्षमें रावणको दबाकर सप्त समुद्रमे सन्ध्यावन्दन सम्पन्न किया, रावणका ही वर्णन कैसे किया जाय जिसके दमनमें बालिवध ही सहायक उपकरण हुआ । बालीका बध इसीलिये किया गया कि रावण मारा जासके ॥ ५९ ॥

---

१ 'दधतो' ।

सीता—(रामं प्रति ।) अज्जउत्त, किं उण एदं दलिदकप्पूरसलाआमलक्कगोरअं गअणङ्गणे दीसइ । [आर्यपुत्र, किं पुनरेतद्दलितकर्पूरशलाकाखण्डगौरं गगनाङ्गणे दृश्यते ।]

विभीषणः—(सीतां प्रति ।) देवि, चन्द्रलोकोपकण्ठमधिरूढो विमानराजः । दृश्यतां [1]च भगवानयम् ।

यं प्राक्प्रत्यगवागुदक्षि ककुभां नामानि संबिभ्रतं
ज्योत्स्नाजालझलज्झलाभिरभितो लुम्पन्तमन्धं तमः ।
प्राचीनादचलादितस्त्रिजगतामालोकबीजाद्बहि-
र्निर्यान्तं हरिणाङ्कमङ्कुरमिव द्रष्टुं जनो जीवति ॥ ६० ॥

दलितेति । दलितं भग्नं यत् कर्पूरशलाकाखण्डम् तद्वत् गौरं स्वच्छम् चन्द्रलोकोपकण्ठम् चन्द्रलोकस्य समीपदेशम् ॥

यं प्रागिति । यम् प्राची पूर्वा, प्रतीची पश्चिमा, अवाची दक्षिणा, उदीची उत्तरा एव दिशः, तानि प्राक्प्रत्यगवागुदक्षि ककुभां नामानि संबिभ्रतम् निरूपयन्तम् (यश्चन्द्रः स्वोदयादिना प्राच्यादिनामानि निरूपयति, तदुदयादिसंबन्धमूलकत्वात्प्राच्यादिव्यवहारस्य, प्राच्यादिशब्दैर्दिशामभिधानं प्रयोजयतीत्यर्थः, तम्) ज्योत्स्नाजालझलज्झलाभिः कौमुदीनिवहप्रभाभिः अन्धं तमो गाढान्धकारं लुम्पन्तं विनाशयन्तम् इतः अस्मात् प्राचीनात् पूर्वदिगवस्थितात् अचलात् सुमेरुपर्वतात् जगताम् आलोकबीजात् प्रकाशदायकात् निर्यान्तं प्रकटीभवन्तम् अङ्कुरमिव प्ररोहमिव बालं हरिणाङ्कम् चन्द्रं द्रष्टुम् जनो जीवति । प्रागादिदिगभिधानानि स्वोदयादिना निरूपयतो निजकौमुदीनिवहेनान्धं तमो लुम्पतो बालचन्द्रस्याङ्कुर-

---

सीता—(रामके प्रति) आर्यपुत्र, यह आकाशमें चूर्ण किये गये कर्पूर खण्डकी तरह स्वच्छ क्या दीख रहा है ?

विभीषण—(सीताके प्रति) देवि, चन्द्रलोकके समीपमें हमारा विमान पहुँच गया है, देखो यह भगवान् चन्द्रमा—

जो चन्द्रमा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओंका नामकरण करता है, और जो ज्योत्स्नाकी झलमलाहटसे अन्धकारको लुप्त करता है । जो प्राची दिशामें वर्त्तमान तथा संसारको आलोक प्रदान करनेवाले उदयाचलसे निकल रहा है, इसी चन्द्रमाको देखनेके लिये यह विश्व जीना है ॥ ६० ॥

---

१ 'च' इति क्वचिन्नास्ति ।

[1]अपि च—

स श्रीकण्ठकिरीटकुट्टिमपरिष्कारप्रदीपाङ्कुरो
देव कैरवबन्धुरन्धतमसप्राग्भारकुक्षिम्भरि ।
संस्कर्ता निजकान्तिमौक्तिकमणिश्रेणीभिरेणीदृशां
गीर्वाणाधिपते सुधारसवतीपौरोगव प्रोद्गात् ॥ ६१ ॥

अपि च—

प्राणायामोपदेष्टा सरसिरुहवने यौवनोन्मादलीला-

स्येव जगदालोकबीजादस्मादेव प्राचीदिगवस्थितात्सुमेरोरुदयो भवति, य चन्द्र द्रष्टुमेव लोको जीवन धारयति, अयमेव जगज्जीवातुभूतस्य चन्द्रस्योदयस्थानं सुमेरुरित्यर्थं । 'स्यादास्फाले झलज्झला', 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्युभयत्र हारावल्यमरौ । अन्योऽप्यङ्कुरो बीजान्निर्गच्छति अयमपि अङ्कुरोपमो बालश्चन्द्रो जगदालोकबीजात्सुमेरोर्निर्गच्छतीति रूपकबीजम् । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥६०॥

स श्रीकण्ठेति । श्रीकण्ठस्य शिवस्य किरीटम् भालदेश एव कुट्टिम गृहाभ्यन्तर भाग तस्य परिष्कारे प्रकाशने प्रदीपाङ्कुर स्वल्पदीप, यथा दीपेन गृहकुट्टिम' प्रकाश्यते तथा शिवकिरीटस्य चन्द्र प्रकाशक इति रूपकार्थ । कैरवबन्धु कैरव कुलविकासकर, अन्धतमसप्राग्भारेण अन्धकारराशिना कुक्षिम्भर' स्वोदरपूरक. सकलतमोविध्वसीत्यर्थ, निजकान्तय एव मौक्तिकमणय तेषा श्रेणीभि समुदायै. एणीदृशा वनिताना सस्कर्त्ता प्रसाधक कान्तिवर्धक, गीर्बाणाधिपते इन्द्रस्य सुधारसवत्या अमृतपाकागारस्य पौरोगवो महानसाध्यक्ष स देवश्चन्द्र प्रोद्गात् उदयं गत इत्यर्थः । 'रसवती पाकस्थान महानसम', 'पौरोगवस्तदध्यक्ष' इत्युभयत्रामर । मालारूपकमलङ्कार ॥ ६१ ॥

प्राणायामेति । सरसिरुहवने कमलकुले प्राणायामोपदेष्टा प्राणायामोपदेशक. निमीलनकर, यौवनोन्मादे या लीला विलासा तदर्था या गोष्ठय तत्र पीठमर्दः

महादेवके भालदेशरूप सहनको चमकानमें दीपका कार्य करनेवाला, कैरवोंका मित्र, अन्धकार-समुदायका सहारक, अपनी किरणरूप मुक्तामणियोंसे सुन्दरियोंको सुसज्जित करनेवाला, तथा इन्द्रकी अमृत पाकशालाका प्रधानपाचक चन्द्रमा निकल आया ॥ ६१ ॥

यह चन्द्रमा कमल बनको मौन मुद्राका उपदेश देता है, यौवनकी मत्तलीलाका

---

१ 'अपि च' इति क्वचिन्नास्ति ।

गोष्ठीनां पीठमर्दस्त्रिभुवनवनितानेत्रयोः प्रातराशः ।
कामायुष्टोमयज्वा शमितकुमुदिनीमौनमुद्रानुरागः
शृङ्गाराद्वैतवादो विभवति भगवानेष पीयूषभानुः ॥ ६२ ॥

लक्ष्मणः—(विलोक्य सकौतुकम् ।)
कर्णोत्तंसयवाङ्कुरं करतले कृत्वा हसित्वा मिथः
संहूत पुरुहूतपौरयुवतीवर्गेण कौतूहलात् ।
'आसार्तिक्षुभितोऽयमङ्कहरिणः कुर्वीत किं किं कला-

प्रवर्त्तक सहायभेद, त्रिभुवनवनिताना लोकत्रयस्थितानां रमणीनां नेत्रयो प्रातराश प्रातर्भोजनम् सादरदर्शनविषय, कन्दर्पाय आयुष्टोम आयुर्बर्द्धको याग, तेन यज्वा याज्ञिक कामजीवनशक्तिबर्द्धक, शमित समाप्ति नीत कुमुदिन्या मौनमुद्रानुराग मौनावस्थाप्रीतिर्येन तादृश कुमुदिनीमौनमुद्राभञ्जकस्तद्विकासक, शृङ्गाराद्वैतम् शृङ्गार एवैको रसो नान्य इति वादी कथनपर शृङ्गारसाम्राज्य-समर्थक एष भगवान् पीयूषभानु सुधाकर विभवति स्व वैभव विस्तारयति । 'निमीलितदृङ्मौनी प्राणायाम समाचरेत्' इत्युक्तदिशा कमलनिमीलकस्य चन्द्रस्य सरसिरुहप्राणायामोपदेशकत्वमुक्तम् । 'पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः । शृङ्गारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायका' इति भरतोक्तदिशा कामगोष्ठीविधौ चन्द्रमस पीठमर्दत्व तत्सहायकतोक्तम् । प्रातराशोक्ति सादरसेव्यताध्वननाय । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ६२ ॥

कर्णोत्तसेति । पुरुहूतस्य इन्द्रस्य पौरयुवतीवर्गेण सुराङ्गनागणेन कौतूहलात् कुतुकात् कर्णोत्तस स्वकर्णभूषणीकृतो यवाङ्कुर तम् करतले कृत्वा स्वहस्ते निधाय मिथ परस्पर हसित्वा सहूत आकारित आसार्त्या बुभुक्षापीडया क्षुभित चलित अयम् अङ्कहरिणश्चन्द्रक्रोडवर्त्ती कलङ्कमृग अजस्रम् बहुधा घटनाया

जिसमें प्रदर्शन किया जाता है ऐसी गोष्ठियोंका यह पीठमर्द प्रबन्धक है, ससारकी युवतियोंका आखोको आहार देनेवाला है, कामकी आयु-वृद्ध्यर्थ याग करनेवाला, कुमुदिनियोका मौन मुद्राका भग करनेवाला तथा शृङ्गाराद्वैतवादका समर्थक यह सुधाकर अपना प्रताप प्रकट कर रहा है ॥ ६२ ॥

लक्ष्मण—(देखकर कौतुकसे) कानमे पहने गये यवाङ्कुरोंको हाथोंमें लेकर परस्पर मुस्कुराकर यदि कौतूहलवश इन्द्रपुरकी युवतियाँ चन्द्रमाके अङ्कचारी हरिणको बुलावे,

१ 'आशाति–' ।

कन्थामिन्दुमयीमजस्रघटनोद्घाटश्लथावस्थिताम् ॥ ६३ ॥

सुग्रीव —

रोमन्थप्रचलौष्ठसंपुटसुखासीनश्चिरं कौतुकाद्-
दृष्ट्वा सिद्धवधूभिरङ्कहरिणस्तालैरथो[2]त्त्रासितः ।
मा भाङ्क्षीदनुमासनव्यघटनानि संधिबन्धं वपु
शीतांशो क्षुभितस्तु शल्यवदयं दुःखाय वर्तिष्यते ॥ ६४ ॥

अवयवयोजनाया उद्घाटेन सञ्चालनेन श्लथावस्थिताम् श्लथीकृतावस्थाम् इन्दुमयी चान्द्री कलाकन्थाम् किं किं कुर्वीत । का का दशामानयेत् । यदि देवाङ्गना स्वकर्णावतंसयवाङ्कुरं करतले निधाय चन्द्रकलङ्कमृगम् आह्वयेत्तदा बुभुक्षितस्य मृगस्य सत्वरोपसर्पणप्रयासैश्चालिता चन्द्रकला कन्था अवयवयोजनाया शैथिल्येन दुर्गतामवस्थामधिगच्छेदिति, अन्यापि कन्था केनचिदत्यर्थं चालिता सती विशीर्यदवयवा भवतीति चन्द्रकलाया कन्थाया क्षुधितमृगसञ्चालनया विशीर्णावयवत्वकृत दौःस्थ्य जायेतेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

रोमन्थेति । चिरं दीर्घकाल रोमन्थेन भक्षितस्याकृष्य पुनश्चर्वणेन प्रचल चञ्चल यद् ओष्ठपुटम् यथा तथा सुखासीन रोमन्थ वर्त्तयन् सुखासीन अथ सिद्धवधूभिः देवयोनिविशेषाङ्गनाभिः कौतुकाद् दृष्ट्वा तालैः करतलशब्दैरुत्त्रासित भीषित अयम् अङ्कहरिणो लाञ्छनमृग अनुमास प्रतिमास नव्यघटनया मासे मासे क्षयो वृद्धिश्चेति नवनिर्माणेन निःसन्धिबन्धम् अदृढीभूतम् शीतांशोर्वपु मा भाङ्क्षीत् काम भग्न न कुर्यात्, किन्तु क्षुभित सन् चञ्चलता गतोऽसावङ्कमृगः शल्यवत् हृदये निहित शल्यास्त्रमिव दुःखाय वर्त्तिष्यते भविष्यति, रोमन्थपरायणोऽयं हरिण कियत कालात्कथं सुखमास्ते न चलत्यपीति कौतुकाद् यदि

तो भूखा हुआ यह अङ्कहरिण बारबार शरीर-सञ्चालन करके इस चन्द्रमारूप कन्थाकी कैसी दशा करदे, नहीं कहा जा सकता है ॥ ६३ ॥

सुग्रीव—रोमन्थ (चबाये गये खाद्यको पुन चबाना) कालमे ओठ चलाता तथा आरामसे बैठा हुआ हरिण यदि सिद्ध युवनियों द्वारा ताली पीटकर भयभीत कर दिया जायगा, तब यह चञ्चल हो उठेगा, उसके चञ्चल हो जानेसे प्रतिमास नवीनरूपमें सङ्घटित होनेवाला यह चन्द्रमाका शरीर टूट भले ही न जाय, परन्तु उस स्थितिमें वह हरिण चन्द्रमाके हृदयमें शल्यकी तरह कष्टप्रद होगा ॥ ६४ ॥

१ 'घटनादुद्यच्छ्लथावस्थिताम्' । २ 'बहुत्रासित', 'अथोल्लासित' ।

अपि च।

एतस्य कलामेकाममृतमयूखस्य पार्वतीरमणः।
वर्णावलिमिव वहति प्रतिमासं घट्यमानस्य ॥ ६५ ॥

रामः—(सादरं प्रणम्य।)

त्वं गीर्वाणगणाय नित्यममृतश्राद्धं भवद्दीधिति
धात्रीकर्म च वीरुधां विदधती धत्ते जगज्जीवितम्।
सोम त्वामनिधाय मूर्धनि भवेत्कः कालकूटं गिल-
न्कण्ठे तच्छलकालपाशवलयालीढोऽपि मृत्युञ्जयः ॥ ६६ ॥

सिद्धवधूभिरस्य शशिनोऽङ्कमृगः करतालिकाभिर्भीषितः स्यात्तदा चलेत् चलिते च तस्मिन् प्रतिमासनूतननिर्माणतयाऽदृढबन्धं शशिनः शरीरं कामं भग्नं न भवेत्, परं क्षुभितेन तेन मृगेणान्दोलिततया हृदयशल्यमवश्यमुत्पद्येत शशिन इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

एतस्येति। पार्वतीरमणः शम्भुः प्रतिमासं घट्यमानस्य नवीनरूपेण निर्मीयमाणस्य अमृतमयूखस्य चन्द्रस्य एकां कलां वर्णावलिम् इव—यावतो वारानयं घटितस्तावदक्षरपङ्क्तिमिव वहति शिरसा धारयति। आर्यावृत्तम् ॥ ६५ ॥

त्वङ्गीर्वाणेति। हे सोम चन्द्र, त्वम् गीर्वाणगणाय देववृन्दाय नित्यं सततम् अमृतश्राद्धम् अमृतरूपं श्रद्धादत्तं हव्यम्, (देवाश्चन्द्रं पिबन्तीति चन्द्रस्य अमृतहव्यत्वमुक्तम्) भवतश्चन्द्रस्य दीधितिः मयूखः वीरुधां लतौषधीनां धात्रीकर्म उपमातृकार्यं पोषणादि विदधती जगज्जीवितम् संसारस्य प्राणान् धत्ते धारयति परिपालयतीत्यर्थः। त्वाम् मूर्धनि शिरसि अनिधाय अधृत्वा कालकूटं हालाहलं गिलन् भक्षयन् तच्छलेन भक्षितहालाहलव्याजेन कालपाशवलयालीढः यमराजबन्धनरज्जुगृहीतः अपि को मृत्युञ्जयो मृत्युविजयी स्यात्? हे चन्द्र, त्वं देवानां

प्रतिमास नवीन रूपमें सङ्घटित होनेवाले इस चन्द्रमाकी एक कलाको भगवान् शिव अपने मस्तकपर वर्णावलिकी तरह धारण किया करते हैं ॥ ६५ ॥

राम—(सादर प्रणाम करके) हे चन्द्रदेव, आप देवोंके लिये प्रत्यह अमृत-श्राद्ध हैं, और आपकी किरणें लता-वृक्षादिकोंका लालन पालन करके जगत्के जीवनकी रक्षा करती है, आपको अगर सिर पर नहीं धारण करते तो कौन शक्ति थी जिसके बलसे महादेव कालकूट निगल कर भी उसीके बहाने कालपाशसे वेष्टित होकर भी मृत्युञ्जय बने रह जाते ॥ ६६ ॥

(सीता प्रति ।)

नेत्राणां मधुपर्कसत्त्रमुदधे सर्वाङ्गमेदस्करः
श्रृङ्गारस्य रसायनं मखभुजां पीयूषगञ्जापतिः ।
देवः किं स्तुमहे महेश्वरशिरोनेपथ्यरत्नाङ्कुरः
क्षीरोदार्णवशुक्तिमौक्तिकमयं दाक्षायणीनायकः ॥ ६७ ॥

सीता—(हसन्ती) अज्जउत्त, समाणकुलसीलरूवजोव्वणाण वि सवत्तीण सीसे दिण्णो धण्णाए दक्खगोत्तधवलाए रोहिणीए चलणो। जेण रोहिणीरमणो ज्जेव्व भअवं चन्दो सुणीअदि । [आर्यपुत्र, समानकुल-

---

सुधारूप हव्य विद्यसे तद्भक्षणात्तेषां प्रीतेरुदयात्, तव दीधितिरोषधिपोषिणीति द्वारा त्वं जगज्जीवितपालकोऽसि, कालकूटपायी शिव कालकूटव्याजेन यमपाशबद्ध-गलो भूत्वापि यन्न मृतस्तत् तव मूर्धस्थाया कलाया विजृम्भितम्, यदि विधुः शिरसि नाभविष्यत्तदा कालकूटपायी शिव कथं मृत्युं व्यजेष्यतेति भाव । शार्दूल विक्रीडित वृत्तम् ॥ ६६ ॥

नेत्राणामिति । नेत्राणां लोकलोचनानां मधुपर्कसत्त्रम् दधिघृतमधुप्रस्तुतसर्व-हृद्यवस्तुयज्ञ, (य वीक्ष्य लोचनानि मधुपर्कतृप्तिमनुभवन्ति तादृश) उदधे सागरस्य सर्वाङ्गमेदस्कर सर्वावयववृद्धिकर (सागर शशिन उदये बर्द्धते इति स तथोक्त) श्रृङ्गारस्य रसायन पुष्टिकर, मखभुजा देवाना पीयूषगञ्जापति. सुधामद्यशालाऽध्यक्ष (देवाश्चन्द्रकलामृत पिबन्तीति चन्द्रस्य पीयूषगञ्जापति-त्वमुक्तम्) महेश्वरशिरस. हरमूर्ध्न नेपथ्ये भूषणे रत्नाङ्कुर हीरकखण्डरूप., क्षीरोदार्णव क्षीरसागर एव शुक्तिस्तस्या मौक्तिकम् मुक्ताफलम्, अयम् देवो दाक्षायणीनामश्विन्यादिताराणा नायक पति, अस्तीति शेष., अस्य चन्द्रस्य किं स्तुमहे स्तुतिं कथं कुर्म ? अशक्या स्तुतिरस्येत्यर्थ । 'सत्त्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च', 'गञ्जा तु मदिरागृहम्', 'दाक्षायण्योऽश्विनीत्यादितारा.' इति सर्वत्रामर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ६७ ॥

समानकुलशीलरूपयौवनानाम्—कुलगौरवे शीलबले रूपसम्पदि यौवन-

(सीताके प्रति) लोकलोचनोंके लिये मधुपर्क सत्रस्वरूप, समुद्रको सर्वाङ्गमे वृद्धि-प्रदान करनेवाला, श्रृङ्गारका पोषक एव देवोके लिये मदिरालयाध्यक्ष स्वरूप यह चन्द्रमा महादेवके मस्तक पर अलङ्कारका कार्य करता है क्योकि यह क्षीरसमुद्ररूप शुक्तिमे उत्पन्न मौक्तिक है, इसकी कितनी स्तुति की जाय ॥ ६७ ॥

सीता—(हसती हुई) आर्यपुत्र, समान कुल शील-रूप यौवन-सम्पन्न अपनी

शीलरूपयौवनानामपि सपत्नीनां शीर्षे दत्तो धन्यया दक्षगोत्रधवलया रोहिण्या चरणः । येन रोहिणीरमण एव भगवाश्चन्द्रः श्रूयते ।]

राम —(विहस्य ।) आ जानकि,

प्रियोपभोगतुल्येऽपि ताराणां सप्तविंशते ।
धत्ते किमपि [1]सौभाग्यमञ्जरीमिह रोहिणी ॥ ६८ ॥

(स्पर्शं च रूपयन् ।)

दलितकुमुदकोषोदञ्चदूष्मोपचार-
क्षणशमितचकोरीचन्द्रिकापानजाड्याः ।

शोभाया च समानाम् । शीर्षे शिरसि । दक्षगोत्रधवलया दक्षगोत्रप्रकाशिकया । अन्यासु बह्वीषु स्त्रीषु सतीष्वपि यदयं चन्द्रो रोहिणीरमणशब्देन व्यवह्रियते तदिदं तस्याः सौभाग्यमितरसपत्नीदुर्लभं सत्—तस्या विजयं व्यञ्जयति ॥

प्रियोपभोगेति । इह जगति रोहिणी नाम चन्द्रस्त्रीषु तारास्वन्यतमा सप्तविंशते-स्ताराणाम् सप्तविंशतिसंख्यानामश्विन्यादीनाम् प्रियोपभोगतुल्येऽपि प्रियसंभोग-रूपसुखसाम्ये सत्यपि रोहिणी किमपि इतरसपत्नीविलक्षणं सौभाग्यमञ्जरीम् सौभाग्यख्यातिं धत्ते, रोहिणी सौख्ये समाऽपि सौभाग्येऽतिरिच्यते सपत्नीभ्य इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

दलितेति । दलितात् विकसितात् कुमुदकोषात् कैरवमध्यभागात् उदञ्चताम् उद्गच्छताम् ऊष्मणाम् उपचारेण सेवया क्षणात् शीघ्रं शमितं शान्तिं नीतं चकोरी-णाम् पक्षिभेदस्त्रीणाम् चन्द्रिकापानजाड्यं याभिस्तास्तथोक्ता, (रात्रिं यावच्चन्द्रिका-रूपातिशीतवस्तुपानाज्जडीभूतानां चकोरीणां जाड्यं प्रातः कुमुदकोषनिर्गतोष्म-सेवनेन निवर्त्तते, प्रातर्जायमाने चकोर्यो जडतां विहाय चेतयन्ते, मन्ये कुमुद-

---

सपत्नियोंके सिरपर रोहिणीने पैर रख दिया क्योंकि उसपर चन्द्रमाकी बडी प्रीति है क्योंकि उन्हे समार 'रोहिणीरमण' नामसे पुकारा करता है ।

राम—(हसकर) हाँ जानकी,

प्रियोपभोग सुख सभाके लिये तुल्य ही है परन्तु सत्ताइस तारोमे रोहिणीका कुछ ऐसा सौभाग्य ही है कि लोग चन्द्रमाको रोहिणीरमण कहते है ॥ ६८ ॥

(स्पर्शका अनुभव करते हुए) विकसित होनेवाले कुमुद-कोषसे निकलनेवाली गर्मीके सेवनसे तत्काल शमित कर दिया है चकोरियोंके चन्द्रिकापान-जनित जाडेको जिमने, ऐसी,

---

१ 'सौभाग्यै सौरभ्यमिह'।

अभिसृमरमृगाक्षीमूकदूत्यः स्वदन्ते
शशिमणिमकरन्दोत्कन्दलाश्चन्द्रभासः ॥ ६९ ॥

अपि च—

[1]तै सर्वज्ञीभवदभिसृतानेत्रसिद्धाञ्जनैर्वा
नीरन्ध्रैर्वा त्रिभुवनदृशामन्धपट्टैस्तमोभिः ।
व्याप्तं पृथ्वीवलयमखिलं क्षालयन्नुच्छलद्भि-
र्ज्योत्स्नाजालैरयमुदयते शर्वरीसार्वभौमः ॥ ७० ॥

अपि च [2]जगतामनुग्रहाय
उदयति कलमन्द्रैः कण्ठनालैरलीनां

कोषोष्मोपचारेणेव तासां जाड्यं शमितमिति भावः) अभिसृमरा अभिसारिका या मृगाक्ष्यो रमण्यस्तासां मूकदूत्यो विनैव शब्दं दूतीकर्मत्वरणं कुर्वाणाः शशिमणीनां चन्द्रकान्तानां मकरन्देन अमृतरसस्रावेण उत्कन्दला सञ्जातप्ररोहा इव चन्द्रभासः चन्द्रकिरणाः स्वदन्ते प्रीतिं जनयन्तीत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् ॥ ६९ ॥

तै सर्वज्ञेति । अयं शर्वरीनाथः निशापतिश्चन्द्रः सर्वज्ञीभवन्तीनाम् अखिलकामकलाविज्ञानात् सर्वज्ञताभिमानशालिनीनाम् , अतिचतुराणामित्यर्थः , नेत्रसिद्धाञ्जनैः सिद्धाञ्जनमौषधविशेषो येन तमस्यपि दृश्यते, तादृशे , कृष्णाभिसारिकास्तमस्येव कान्तानभिसरन्तीति तमसस्तन्नेत्रसिद्धाञ्जनरूपत्वमुक्तम् । नीरन्ध्रैः सान्द्रैः त्रिभुवनदृशाम् नेत्राणाम् अन्धपट्टैः अन्धत्वसम्पादकाच्छादनरूपैर्वा तैः तमोभिः व्याप्तम् अखिलं समस्तं पृथ्वीवलयम् भूमण्डलम् उच्छलद्भिः विकासं गच्छद्भिः ज्योत्स्नाजालैः प्रभाभरैः क्षालयन् धावयन् श्वैत्यं नयन् उदयते उदयं गच्छति । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ७० ॥

उदयतीति । मदमुखराणाम् मदेन वाचालानां चकोरीणां तोषे सन्तोषणे

अभिसार करनेवाली युवतियोंकी मूकदूतियाँ, एवं चन्द्रकान्तमणिके मकरन्दोंसे पल्लवित होनेवाली यह चन्द्रकिरणें बड़ी अच्छी लग रही है ॥ ६९ ॥

अतिशय चतुर अभिसारिकाओंको आखोंके लिये सिद्धाञ्जन स्वरूप तथा त्रिलोकको अन्धा बनानेवाले घने अन्धकारसे व्याप्त धरामण्डलको अपनी उछलती हुई किरणोंसे धोकर स्वच्छ बना देनेवाला यह रात्रिका नाथ चन्द्र उग रहा है ॥ ७० ॥

यह चन्द्रमा ससारकी भलाईके लिये उग रहा है, यह चन्द्रमा कुमुदकी कलियोंपर

---

१ अयं श्लोकः क्वचिदग्रिमश्लोकादनन्तरं वर्तते ।

२ 'जगतामनुग्रहाय' इति क्वचिन्नास्ति ।

कुमुदमुकुलकेषु व्यञ्जयन्नङ्गहारान् ।
मदमुखरचकोरीतोषकर्मान्तिकोऽयं
तुहिनरुचिरधामा दक्षिणं लोकचक्षुः ॥ ७१ ॥

[1]इदं चास्य—

प्राचीनाचलचुम्बिचन्द्रमणिभिर्निर्व्यूढपाद्यं निजै-
र्निर्यासैरुडुभिर्निजेन वपुषा दत्तार्घलाजाञ्जलि ।
अन्तः प्रौढकलङ्कतुच्छमभितः सान्द्रं परिस्तीर्यते
बिम्बादङ्कुरभग्ननैशिकतमःसंदोहमिन्दोर्महः ॥ ७२ ॥

कर्मान्तिकः कर्मायत्तः चकोरीसन्तोषकर इत्यर्थः । दक्षिणः प्रीतिप्रदः लोकानां चक्षुः, तुहिनैः रुचिरं धाम यस्य स तुहिनरुचिरधामा चन्द्रः कलमन्द्रैः मधुरगभीरैः अलीनां कण्ठतालैः भ्रमराणां सङ्गीतक्रियाभिः कुमुदमुकुलकेषु कुमुदकोरकेषु अङ्गहारान् अङ्गविक्षेपान् गीतध्वनिश्रवणानन्दजनितानन्दव्यञ्जकशिरश्चालनानि व्यञ्जयन् आविर्भावयन् उदयति । भ्रमराणां मधुरगभीरैः स्वरैः कुमुदमुकुलानि चलानि कुर्वन्, मदमुखरचकोरीसन्तोषकरः शीतकरश्चन्द्र उदयत इत्याशयः । 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपः' इत्यमरः । मालिनीवृत्तम् ॥ ७१ ॥

प्राचीनेति । प्राचीनाचलं पूर्वदिगवस्थितमुदयाद्रिं चुम्बन्ति सम्बध्नन्ति ये तैश्चन्द्रकान्तमणिभिः निजैर्निर्यासैः स्वदेहच्युतजलरूपसारभागैः निर्व्यूढपाद्यम् सम्पादितपादोदकक्रियम्, उडुभिः नक्षत्रैः स्ववपुषा स्वकायेन दत्तः अर्घरूपो लाजाञ्जलिर्यस्मै तथोक्तम्, अन्तः प्रौढकलङ्कतुच्छम् अभ्यन्तरस्थितोत्कटकलङ्कहीनम्, अङ्कुरभग्ननैशिकतमःसन्दोहम् अङ्कुरावस्थाविनाशितरात्रितमःपटलम् महः तेजः सान्द्रम् सत् इन्दोश्चन्द्रस्य बिम्बात् मण्डलात् अभितः समन्ततः

भ्रमरोंके मधुर गम्भीर कण्ठनालोंसे अङ्गविक्षेप व्यञ्जित कर रहा है, मतवाली होकर मुखरित होनेवाली चकोरियोंको सन्तुष्ट कर रहा है और लोकोंकी आखोंको दर्शनशक्ति-सम्पन्न बनानेवाला है ॥ ७१ ॥

यह चन्द्रमाका तेज,

उदयाचल पर वर्तमान चन्द्रकान्तमणि द्वारा दिये पाद्य तथा अपने सारस्वरूप तारों द्वारा अपने शरीरोंसे समर्पित अर्घलाजाञ्जलि प्राप्त करनेवाला, अन्तः कलङ्कशून्य, एवं समूल अन्धकारका नाशक समस्त दिशाओंमे व्याप्त हो रहा है ॥ ७२ ॥

---

१ 'इदं चास्य' इत्यारभ्य 'मलकुद्दामगौरं जसम्' इत्यन्तः पाठः केषु चित्पुस्तकेषु 'सेतूपक्रम-७-८४' इत्यादिश्लोकादग्रे वर्तमानादनन्तरं वर्तते ।

[1]एन च—

मृगराजकरजभङ्गुरकिंशुककलिकावतंसिकाः सुदृशः ।
भयसंकुचदङ्कहरिणबहलोज्ज्वलमिन्दुमीक्षन्ते ॥ ७३ ॥

विभीषणः—

इन्दोरेककलाया रुद्रेणोद्धृत्य मूर्धनि धृतायाः ।
स्थानमिव तुच्छमेतत्कलङ्करूपेण परिणमते ॥ ७४ ॥

परिस्नीर्यते प्रसरति । यस्मै महसे उदयाचलवर्त्तिचन्द्रकान्तमणयः स्वाङ्गस्रुत-जलरूपं पाद्यमर्पयन्ति, उडूनि स्ववपुषाऽर्घलाजाञ्जलिमुपहरन्ति, यदन्न कलङ्क-हीनम्, येन रात्रितमोऽङ्कुरावस्थायामेव विनाश्यते, तदिदं महश्चन्द्रबिम्बात्सर्वतः प्रसरतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् । ताराणां शुभ्रवर्त्तुलत्वाल्लाजत्वव्य-पदेशः ॥ ७२ ॥

मृगराजेति । सुदृशो रमण्यः मृगराजस्य सिंहस्य करज इव नख इव भङ्गुरा कुटिला या किंशुककलिका पलाशकोरकः अवतंसः कर्णभूषणं यासां तथाभूताः कर्णयोः सिंहनखकुटिलपलाशकोरकं भूषणं विधाय भयेन पलाशकोरके सिंहन-खभ्रमजन्येन सङ्कुचन् अङ्कहरिणः । लाञ्छनमृगस्ततो बहलोज्ज्वलं समधिक-प्रकाशं हरिणे आयताङ्गे स्वल्पः प्रकाशः तदङ्गैश्चन्द्रायामाधिकाशनिह्नवात्, सङ्कु-चिताङ्गे तु लाञ्छनमृगे स्वल्पस्यैव चन्द्रायामस्यावृत्त्या बहुप्रकाशं चन्द्रम् ईक्षन्ते पश्यन्ति । आर्यावृत्तम् ॥ ७३ ॥

इन्दोरिति । रुद्रेण हरेण उद्धृत्य आहृत्य मूर्धनि स्वमस्तके धृतायाः स्थापि-तायाः इन्दोश्चन्द्रमसः एककलायाः एकस्याः कलायाः एतत् तुच्छं रिक्तं स्थानं कलङ्करूपेण परिणमते पर्यवस्यति । महादेवेन या चान्द्री कलाऽऽहृत्य स्वशिरसि धृता रिक्तं तत्कलास्थानमेव लोकाः कलङ्कं बुध्यन्त इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

मृगराजके नखकी तरह कुटिल किंशुक-कलिकाको भूषण बनानेवाली युवतियाँ भयभीत होकर सङ्कुचित अङ्गवाले अङ्क मृगसे युक्त अत एव अधिकदीपित चन्द्रमाको देख रही हैं ॥ ७३ ॥

विभीषण—चन्द्रमाकी एक कलाको उठाकर महादेवने अपने सिर पर रख लिया, उसीका रिक्त स्थान कलङ्कके रूपमें प्रतीत होता है ॥ ७४ ॥

---

१ 'एव च'।

(विहस्य रामं प्रति ।)

रोदसीकूपमण्डूकः कियदेष प्रकाशते ।
चन्द्रमा यदयं देव त्वत्कीर्तेः प्रतिगर्जति ॥ ७५ ॥

सीता—(सस्मितम् ।) जाणामि अज्जउत्तस्स कित्तिकन्तीहिं पडिस्पद्धं कदुअ पराजिदेण सपदि भवअदा हरिणङ्केण कलङ्कसघदी विढत्ता । [जानाम्यार्यपुत्रस्य कीर्तिकान्तिभिः प्रतिस्पर्धां कृत्वा पराजितेन सम्प्रति भगवता हरिणाङ्केन कलङ्कसंहतिरर्जिता' ।]

(सर्वे हसन्ति । रामः स्मयते ।)

सीता—(रामं प्रति ।)

सारम्भं सिरिवच्छलञ्छणभुआपज्जत्थमन्थाअल-
क्खोभोच्छलिददुद्धसिन्धुलहरीगब्भच्छईसच्छअम् ।

रोदसीति रोदस्यौ द्यावाभूमी एव कूपस्तस्य मण्डूकः भेकः आकाशपृथ्व्यन्तरालमात्रचरः एष चन्द्रमाः कियत्प्रकाशते किंपरिमाणप्रकाशो विद्यते यत् येनायं, हे देव राम, त्वत्कीर्त्तेः त्वद्यशसः प्रतिगर्जति सादृश्यमभिमन्यते इत्यर्थः । कूपमण्डूको यथा कूपमात्रचरस्तथैवायं चन्द्रः पृथ्वीं दिवं च केवलां प्रकाशयापि समस्तब्रह्माण्डप्रकाशस्य तव यशसः स्पर्धते इत्यहो चन्द्रस्य बालिशत्वमिति भावः ॥ ७५ ॥

हरिणाङ्कसंहतिः कलङ्कसमूहः । भवत्कीर्त्तिकृतपराजयापमान एव कलङ्कश्चन्द्रस्येत्यर्थः ।

सारम्भमिति । सारम्भं प्रथममेव श्रीवत्सलाञ्छनस्य विष्णोर्भुजाभिः पर्यस्तः संचालितो यो मन्थाचलः मन्दरपर्वतः तत्क्षोभेण तत्कृतालोडनेन उच्छलितस्य आलोडितस्य दुग्धसिन्धोः क्षीरसागरस्य लहरीणां तरङ्गाणां गर्भस्य मध्यभागस्य

(हसकर रामके प्रति) पृथ्वी तथा आकाशरूपी कूपका मण्डूक यह चन्द्रमा कितना प्रकाशित होता है जिससे यह आपकी कीर्त्तिसे बराबरी करनेका साहस करता है ॥ ७५ ॥

सीता—(मुस्कुराकर) मैं समझती हूँ, आपकी कीर्त्तिके साथ प्रतिस्पर्धा करके पराजित होने पर ही चन्द्रमाने यह कलङ्क अर्जित कर लिया है ।

(सभी हसते हैं, राम मुस्कुराते है)

सीता—(रामके प्रति) समुद्रमथन के प्रारम्भकालमें भगवान् विष्णुके भुजदण्डोसे सञ्चालित मन्दराचलरूप मन्थान दण्डसे मथित क्षीर समुद्रके गर्भकी छविके समान स्वच्छ,

को गायेदि ण दे रहूणँ पहुणो अन्धारपक्खन्तरा-
सन्तुट्टन्तमिअङ्कमण्डलमलक्कुद्दामगोरं जसम् ॥ ७६ ॥

[सारम्भ श्रीवत्सलाञ्छनभुजापर्यस्तमन्थाचल-
क्षोभोच्छलितदुग्धसिन्धुलहरीगर्भच्छविसद्दशम् ।
को गायति न ते रघूणा प्रभोरन्धकारपक्षान्तरा-
सन्त्रुट्यन्मृगाङ्कमण्डलखण्डोद्दामगौर यश ॥]

राम—(सहर्षस्मितम् ।) अयि प्रिये प्रियवादिनि,

चन्द्रलोकादपि परं पदमारोपयन्ति माम् ।
अमूरमृतबिन्दूनामनुप्रासास्तवोक्तय· ॥ ७७ ॥

विभीषणः—(सानुरागम् ।)

अद्योर्वीतलमूलघर्षणवशादुन्मृष्टचूडामणि-
श्रेणिश्रीपरिपीतपीवरतम·पूरे पुरे भोगिनाम् ।

च्छविभि सदृक्षम् नितान्तधवलम्, अन्धकारपक्षस्य अन्तरा मध्ये सत्रुटयत् क्षीयमाणम् यत् मृगाङ्कमण्डलम् चन्द्रबिम्ब तस्य खण्डवत् उद्दामगौरम् अतिभासुरम् रघूणा प्रभोस्ते तव यश को न गायति ? सर्वोऽपि गायति तव यशो यदादावेव विष्णुकरनिहितमन्दराचलकृतान्दोलनसञ्चालितसागरलहरीगर्भगौरम् कृष्णपक्षमध्यक्षीणचन्द्रखण्डवदतिस्वच्छमिति भाव ॥ मालोपमालङ्कार ॥ ७६ ॥

चन्द्रलोकादिति । हे प्रिये, अमृतबिन्दूनाम् अनुप्रासा अनुरूपा अमू तवोक्तय वचनानि माम् चन्द्रलोकादपि पर पदम् आरोपयन्ति प्रापयन्ति । त्वदीया प्रशसोक्तिपरम्परा श्रुत्वाऽहमात्मान चन्द्रलोकादप्युपरिवर्त्तमान प्रत्येमि, इति भाव ॥७७॥

अद्योर्वीतलेनि । अद्य सम्प्रति उर्वीतलस्य पृथ्वीतलस्य मूलेन आद्यधोभागेन घर्षणवशात् सततमृष्टत्वात् उन्मृष्टाना धवलीकृताना चूडामणिश्रेणीना भोगरत्नसमूहाना श्रिया कान्त्या परिपीतो नि शेषविनाशित तम पूरोऽन्धकारराशिर्यत्र

शुक्ल पक्षके अतिरिक्त पक्षके मध्यमें वर्त्तमान चन्द्रमण्डल-खण्डकी तरह चमकदार, रघुवश श्रेष्ठ आपकी कीर्त्तिको कौन नहीं गाता है ॥ ७६ ॥

राम—(हर्षसे मुस्कुराते हुए) अये प्रियवादिनि प्रियतमे,

अमृतकी बूदोंसे परिपूर्ण तुम्हारी यह मधुरोक्तियाँ मुझे चन्द्रलोकसे भी ऊपरके स्थानमें पहुँचा रही है ॥ ७७ ॥

विभीषण—(प्रेमसे) आज पृथ्वीके मूल भाग द्वारा घर्षण होनेसे सर्प चूडामणियोंके मृष्ट हो जानेके कारण अति प्रकाशशाली मणियों द्वारा आलोकित पाताल लोकमें नागराज

कर्णाभावनिरस्तकुण्डलरवव्यासङ्गमाधुन्वता
मूर्ध्नः पन्नगपुंगवेन सुभगं त्वत्कीर्तिराकर्ण्यते ॥ ७८ ॥

(विहस्य[1] ।)

भोगीन्द्रः प्रमदोत्तरङ्गमुरगीसङ्गीतगोष्ठीपु ते
कीर्तिं देव श्रृणोतु विंशतिशती यच्चक्षुषां वर्तते ।

तादृशे भोगिना सर्पाणां पुरे नागलोके पन्नगपुङ्गवेन नागराजेन वासुकिना चक्षु-श्रवस्तया कर्णाभावेन निरस्त अपगत कुण्डलभरव्यासङ्ग कुण्डलसमुदयप्रत्यूहो यत्र तथा मूर्ध्नं स्वफणामण्डलानि आधुन्वता सुभग साधु त्वत्कीर्त्तिस्तव यश आकर्ण्यते श्रूयते । पाताले स्थितस्य वासुके फणामणयो भूमूलघर्षणेन मृष्टतया समेधितदीप्तय सन्तो निश्शेष तत्रत्य तमो नाशयन्ति, तदेवमुज्ज्वलालोके तत्र पाताले पन्नगराजस्तव यशोगीतमाकर्णयति स्वशिरासि चानन्दातिरेकेण धुनोति, शिर कम्पने तदा कियान् विघ्नोऽप्यभविष्यत् यदि तस्य कर्णा अभविष्यन्, प्रतिमुख द्वौ कर्णाविति सहस्रमुखस्य द्विसहस्री कर्णानामभविष्यत्ततश्च तावता कुण्डलाना धारणे भाराधिक्याच्छिर कम्पन कष्टसाध्य स्यात्पर तु चक्षु श्रवस्तया कुण्डलकथैव नास्तीति सानन्दमय वासुकि शिरासि कम्पयँस्तव यश श्रृणोतीति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ७८ ॥

भोगीन्द्र इति । हे देव, भोगीन्द्र सर्पराजो वासुकि उरगीसङ्गीतगोष्ठीपु भुज गाङ्गनाकृतसङ्गीतसमारोहे उत्तरङ्गम् उद्गतकौतुक यथा स्यात्तथा ते तव रामस्य कीर्त्तिं श्रृणोतु यत् यत तस्य वासुके चक्षुषा विंशतिशती सहस्रद्वय वर्त्तते, तस्य सहस्रमुखतया द्विसहस्री नयनाना विद्यत इत्यसौ चक्षु श्रवस्तया प्राप्तद्विसहस्र-श्रवणसाधनेन्द्रिय सानन्द भुजङ्गीभिर्गीयमान तव यश श्रोतुमर्हतीत्यर्थ । तु किन्तु सहस्राक्ष इन्द्र कर्णद्वयीदु स्थ द्वाभ्यामेव कर्णाभ्या विद्यमानाभ्या दुरवस्थ

वासुकि कान नहीं होनेके कारण कुण्डलके बखेडेमे मुक्त होकर सरलतासे मस्तकोंको हिलाहिलाकर आपके चरित गीतका श्रवण करते है ॥ ७८ ॥

आनन्द-विभोर होकर नागाङ्गनायें जब आपकी कीर्त्तिका गान प्रारम्भ करती है तब नागराज इसलिये उसे खूब सुन पाते है कि उनको दो हजार आँखें है उन्हींमे उनको सुनना भी है । परन्तु प्रसन्न होकर देवाङ्गनायें यदि आपकी कीर्ति गाने लगेंगी तो भी

---

[1] 'विहस्य च'।

रक्ताभि सुरसुन्दरीभिरभितो गीतां तु कर्णद्वयी-
दुःस्थ श्रोष्यति नाम किं स हि सहस्राक्षो न चक्षुः[1]श्रवाः ॥७९॥

राम०—([2]विलक्षस्मितेन विभीषणसूक्तमनुगृह्य चन्द्रं सीतामुखं च [3]क्षणमालोक्य [4]स्वगतम् ।)

आरब्धे [5]दयितामुखप्रतिसमे निर्मातुमस्मिन्नपि
व्यक्तं जन्मसमानकालमिलितामंशुच्छटां वर्षति ।

अतो रक्ताभिः सानुरागाभिः सुरसुन्दरीभिर्देवाङ्गनाभिः अभितो गीता तव कीर्त्तिं किं नाम कथं नाम श्रोष्यति श्रोतुं पारयिष्यति हि यतः यस्मात् सहस्राक्षः चक्षुःश्रवाः न । इन्द्रस्य सन्ति सहस्रमक्षीणि परं दृशा तस्य श्रवणशक्तिहीनतया सुरसुन्दरीगीयमानभवत्कीर्त्तिश्रवणे वासुकेरिव सुविधा न सभाव्येति तात्पर्यम् । पूर्वोक्तादविपरीतं वृत्तम् ॥ ७९ ॥

आरब्ध इति । अस्मिन् रोहिणीपरिवृढे रोहिणीनाथे चन्द्रे दयितानां रमणीनाम् मुखानां प्रतिसमे अनुरूपे समाने निर्मातुम् आरब्धे सति (विधातरि स्त्रीमुखसमानच्छविं चन्द्रमुपक्रममाणे सति) अस्मिन्नपि चन्द्रे जन्मसमानकालमिलिताम् जन्मकालसङ्गताम् स्वल्पामंशुच्छटां वर्षति सति जायमानस्यैव चन्द्रस्य बालकिरणे

इन्द्र बेचारा कैसे सुन सकेगा उसे हजार आँखें है भी फिर भी वह आँखो से सुन नहीं जो पाता है ॥ ७९ ॥

राम—(लज्जायुक्त हसीके साथ विभीषणकी उक्तिको स्वीकार करके चन्द्रमा तथा सीताके मुखकी ओर देखकर स्वगत)

ब्रह्माने मेरी प्रियाके मुखके समान चन्द्रको बनाना प्रारम्भ किया था, जब बाल चन्द्रमा बना, तभी उसको जो थोडी सी कान्ति मिली उसीसे उसने अपना प्रकाश फैलाना

---

१. क्वचित् अस्माच्छ्लोकादग्रे 'अपि च, अद्य स्वर्गिवधूगणे गुणमय त्वत्कीर्तिमत्युज्ज्वलामुच्चैर्गायति निष्कलङ्किमदशामापत्स्यते चन्द्रमा । गीताकर्णनमोदमुक्तयवसग्रासाभिलाषोऽधुना स्वामिन्नङ्कमृग कियन्त्यपि दिनान्येतस्य वर्तिष्यते ॥ अपि च, 'गीयन्ते यदि पन्नगीभिरभितस्त्वत्कीर्तयस्तद्द्वय तुष्टा एव परतु चेतसि चमत्कारोऽयमारोहति । तासां तादृशभावभङ्गवलनासस्थानसन्दर्शिनि व्यालेन्द्रे रसधूतमूर्धनि मही चक्रं पुनर्भ्राम्यति ॥' इति श्लोकद्वयमधिकमस्ति ।

२ 'सविलक्षस्मितम्' । ३ 'क्षणम्' इति क्वचिन्नास्ति ।

४ 'स्वगतम्' इति क्वचिन्नास्ति । ५ 'दयितानन–' ।

आत्मद्रोहिणि रोहिणीपरिवृढे पर्यङ्कपङ्केरुहः
संकोचादतिदुःस्थितस्य न [1]विधेस्तच्छिल्पमुन्मीलितम् ॥८०॥

(सीतां प्रति ।)

अनेन रम्भोरु [2]भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य ।
ऊनस्य नूनं परिपूरणाय तारा स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः ॥ ८१ ॥

प्रसरति सतीत्यर्थः । पर्यङ्कपङ्केरुह विधातृवासास्पदभूतकमलस्य सङ्कोचात् निमीलनात् अतिदुःस्थितस्य अत्यन्तदुरवस्था गतस्य विधेः ब्रह्मण आत्मद्रोहिणि आवाससङ्कोचकतया शत्रुभूते चन्द्रे तत् प्रारभ्यमाण शिल्पम् । न उन्मीलति न सम्पद्यति । अयमाशय –यदैव ब्रह्मा वनितावदनसमानम् इन्दु निर्मातुमारभत, तदा उत्पद्यमान एव बालश्चन्द्रः स्वबालप्रभया ब्रह्मण आवासकमल समकोचयत्, ततश्चाश्रयकमले सङ्कुचति सति दुरवस्थो ब्रह्मा चन्द्रनिर्माणे स्व कौशलं पल्लवयितु न प्राभूत्, आत्मद्रोहिणि चन्द्रे तस्य वीतस्नेहत्वान्नहि स्नेहहीन कृत्य फलति, अत एव चन्द्रो न रमणीतुलामृच्छति, यद्यय चन्द्रो ब्रह्मावासकमल न समकोचयिष्यत्तदा ब्रह्मा स्वस्थः समनोबन्ध कदाचिदिन्दु रमणीवदनसम निर्मातुमपारयेदपीति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ८० ॥

अनेनेति रम्भे कदलीस्तम्भौ इव ऊरू यस्यास्तत्सम्बोधने हे रम्भोरु सीते, भवन्मुखेन भवत्या वदनेन सह तुलया धृतस्य तुलायामारोपितस्य तुषारभानो शीतकरस्य ऊनस्य हीनपरिमाणस्य हीनरुचेश्च परिपूरणाय समताप्रापणाय नूनं प्रतिमानखण्डाः सजातीयवस्तुशकलोपमा ताराः स्फुरन्ति । यथा सुवर्णादौ तोल्यमाने न्यूनताया पूर्त्तये पृथक्प्रतिमानखण्डा सुरक्षिता स्थाप्यन्ते तथैव तव मुखेन सह तोल्यमानस्य चन्द्रस्य पूर्त्तये प्रतिमानखण्डभूतास्तारा विधात्रा स्थापिता इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ ८१ ॥

प्रारम्भ कर दिया ब्रह्माका आवासभूत कमल मुद्रित हो गया, फलतः अपनी हानि करनेवाले उस चन्द्रमाको ब्रह्मा नहीं बना सके, ब्रह्माका वह शिल्प सफल नही हो सका । ८० ॥

(सीताके प्रति) हे सीते, ब्रह्माने चन्द्रमाके साथ तुम्हारे मुखकी तुलना करनेके लिये दोनोंको अलग अलग पलडे पर चढा दिया और यदि चन्द्रमामें कमी आयेगी तब उसे पूर्ण करनेके लिये तत्समान वस्तुके कुछ खण्डके रूपमे यह तारे रख छोडे ॥ ८१ ॥

---

१ 'तच्चित्रमुन्मीलितम्' 'तच्छिल्पमुन्मीलति' । २ 'तवाननेन' ।

किं [1]चान्यदपि—

गोत्रे साक्षादजनि भगवानेष यत्पद्मयोनिः
शय्योत्थायं यदखिलमहः प्रीणयन्ति द्विरेफान् ।
एकाग्रां यद्दधति भगवत्युष्णभानौ च भक्तिं
तत्प्रापुस्ते सुतनु वदनौपम्यमम्भोरुहाणि ॥ ८२ ॥

सीता—(स्मेरावनतमुखी ।) अज्जउत्त, कध उण सपुण्णमण्डलमीरिसं चन्दमवमण्णिअ कलामेत्तं भअवदा भूदणाहेण चूडामणीकिदं आसी ।
[आर्यपुत्र, कथं पुनः सपूर्णमण्डलमीदृशं चन्द्रमवमत्य कलामात्रं भगवता भूतनाथेन चूडामणीकृतमासीत्' ।]

राम—([2]सप्रहासम् ।) प्रिये जानकि, त्रयाणामपि [3]जगतामुप-

गोत्र इति । यत् यतः पद्मः योनिरुत्पत्तिस्थानं यस्य तादृशः ब्रह्मा गोत्रे पद्मरूपे स्वकुले साक्षात् स्वयम् अजनि, यत् शय्योत्थायं शय्याया उत्थाय विकसितमात्रम् अखिलम् अहः समग्रं दिनं यावत् पद्मानि द्विरेफान् भ्रमरान् प्रीणयन्ति मकरन्दैस्तर्पयन्ति, यत् भगवति उष्णभानौ एकाग्राम् अनन्यभावां भक्तिं दधति अनुरागं धारयन्ति, तत् अम्भोरुहाणि पद्मानि हे सुतनु सुन्दरि सीते, ते तव वदनौपम्यं मुखसादृश्यं प्रापुः प्राप्नुवन्ति । ब्रह्मा कमलाना सगोत्र इति तद्वयया भ्रमरप्रीणनरूपपरोपकृत्या सूर्यभक्त्या च पद्मानि त्वन्मुखसादृश्यमलभन्तेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

चूडामणीकृतम् शिरोभूषणं विहितम्, पूर्णचन्द्रलाभे संभवति कलामात्रधारणस्य । बुद्धिदारिद्र्यसूचकतया प्रश्नः ।

उपजीव्य जीवनाधायकः । शिवनिर्माल्यं लोको न सेवते सकले चन्द्रे शिवेन

और भी—

इन कमलोंके वंशमें ब्रह्माने साक्षात् जन्म ग्रहण किया, शय्यामें उठकर यह कमल प्रतिदिन दिन भर भ्रमरोंको तृप्त करते है, एकाग्र दृष्टिसे भगवान् सूर्यकी ओर देखनेका व्रत धारण करते है, इसीलिये, हे सुन्दरि, यह कमल तुम्हारे मुखकी समता प्राप्त कर सके हैं ॥ ८२ ॥

सीता—(मुस्कुराहटके साथ मुँह नीचे करके) आर्यपुत्र, भगवान् शङ्करने पूर्णचन्द्रमण्डलको छोडकर इस कलामात्र चन्द्रमाको क्यों शिरोभूषण बना लिया ?

राम—(हसकर) प्रिये जानकि, यह चन्द्रमा तीनों लोकोंका आधार है। यदि पूरे

१ 'चैतान्यपि'। २. 'सप्रहासम्' इति कचिन्नास्ति । ३ 'लोकानाम्'।

जीव्योऽयममृतदीधितिः । यदि पुनः समग्रमेन मौलिना पिनाकपाणिरधारयिष्यत्, [1]अङ्ग शिवनिर्माल्य[2]मनुपभोग्य एवायमभविष्यत् ।

(सर्वे हसन्ति ।)

रामः—किं च भवत्यापि [3]मासप्रमितो दृश्यत एवायं

पीयूषाश्रपणं जगत्त्रयदृशामालातलेखालवो
विश्वोन्माथहुताशनस्य ककुभामुद्घाटनी कुञ्चिका ।
वीरेषु प्रथमा च पुष्पधनुषो रेखा मृगाक्षीमुख-
श्रीणां च प्रतिराजबीजमधिकानन्दी नवश्चन्द्रमाः ॥८३॥

शिरोभूषणीकृते तस्मिन्निर्माल्यबुद्ध्या लोको न तमुपजीवेदित्येतदर्थमेव कलामात्रमीश्वरेण भूषणीकृतमित्युत्तराशयः ।

मासप्रमितः मासं प्रमितः प्रतिपच्चन्द्रो मासं परिच्छेत्तुमारब्धवान् इत्यर्थः । आदिकर्मणि निष्ठा ।

पीयूषेति । नवः प्रत्यग्रोदितः चन्द्रमाः जगत्त्रयदृशाम् लोकत्रयीनयनानाम् पीयूषाश्रयणम् अमृतस्थाली, विश्वेषां जनाना सर्वेषाम् उन्माथे सन्तापने हुताशनः वह्निरूपो यः कामः तस्य आलातलेखालव अङ्गारराजिकणः, कामाग्नेरुल्मुकस्य लेश इव, ककुभा दिशाम् उद्घाटिनी प्रकटयित्री कुञ्चिका दिग्विभागकारीत्यर्थः । वीरेषु वीरगणमध्ये पुष्पधनुषः कन्दर्पस्य प्रथमा रेखा जगति के के वीरा इति गणनायां काम एव प्रथमो वीर इति सूचनार्थं कल्पितो बिन्दुरित्यर्थः । मृगाक्षीणां सुन्दरीणाम् या मुखश्रियस्तासां प्रतिराजः प्रतिपक्षिभूतो राजा, तस्य बीजम्,

---

इस चन्द्रमाको महादेव अपने सिर पर रख लेते तब तो निर्माल्य बनकर यह चन्द्रमा अनुपभोग्य हो जाता ।

(सभी हँसते हैं)

राम—और मासको प्रारम्भ करनेवाले इस चन्द्रमाको तुम भी देख ही रही हो ।

तीनों लोककी आंखोके लिये अमृत स्थाली स्वरूप, समस्त विश्वके विरही जनोको सतानेवाले काम नामक अग्निकी चिनगारी के समान, दिशाओं को खोलने वाली तालीके सदृश, कन्दर्पके वीरभटोंमें प्रथम गणनीय, एवं मृगाक्षीके मुखके साथ स्पर्धा करनेवाला यह नवीन चन्द्रमा देखा जाता है ॥ ८३ ॥

---

१ 'अङ्ग' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'अनुपयुक्त'। ३ 'मास प्रमितो', 'मास प्रति'।

सीता—(अनुमोदमाना ।) अज्जउत्त, परिपुण्णा गुणिणो जहि कहि पि सोहन्ति। खीणा उण सीसमारुहन्ति त्ति हरजडाचन्दो ज्जेव्व पढम णिदसणम्। [आर्यपुत्र, परिपूर्णा गुणिनो यस्मिन्कस्मिन्नपि शोभन्ते। क्षीणा पुन शीर्षमारोहन्तीति हरजटाचन्द्र एव प्रथम निदर्शनम्।]

रामः—(विहस्य) देवि [1]महाकुलक्षत्रियसभवे, एवमेतत्।

[2]सेतूपक्रमसंभ्र[3]माहृतगिरिप्रक्षेपवेगोच्छल-
न्नि शेषाम्बुपरिस्फुटोदरदरीगम्भीरिमा सागर ।
चक्रे गोष्पदवद्विलङ्घितवतोऽप्यन्तर्भयं मारुते
पूर्णत्वादतिरिच्यते हि महतस्तुच्छस्य दुर्लङ्घ्यता ॥८४॥

आद्या प्ररोहावस्था, अत एवाधिकानन्दी अधिकप्रीतिदो दृश्यत इति पूर्वतनगद्यांशेनान्वय । मालारूपकमलङ्कार ॥ ८३ ॥

परिपूर्णाः कलापूर्णा । यस्मिन् कस्मिन् यत्र कुत्र। यथा पूर्णश्चन्द्रो यत्र तत्रैव राजते क्षीण पुनर्बालचन्द्रो मृडशिर आरूढस्तेन प्रमीयते। यत्पूर्णो गुणी यत्र तत्र स्वगुण प्रकाशयति, क्षीणगुणस्तु लोकानतिक्रमितु सदैव सचेष्टस्तिष्ठतीत्याशय । महाकुलक्षत्रियसभवे क्षत्रियाणा महति कुले प्रसूते।

सेतूपक्रमेति । सेतो समुद्रे रचितस्य बन्धस्य उपक्रमे प्रारम्भे सम्भ्रमेण वेगेन आहृतानाम् आनीय निक्षिप्ताना गिरीणां पर्वताना प्रक्षेपवेगेन उच्छलन्ति उपरि गच्छन्ति निश्शेषाणि समग्राणि अम्बूनि जलानि तैर्हेतुभि परिस्फुट सुव्यक्त उदरमेव दरी गुहा तस्या. गम्भीरिमा गम्भीरत्व यस्य तथोक्त सागर गोष्पदवत् गोपदपरिमितजलाधारवत् विलङ्घितवत तीर्णवतो मारुते हनूमत. अपि अन्तर्भय चक्रे, हि यत. महतो गम्भीरस्य तुच्छस्य रिक्तता गतस्य दुर्लङ्घ्यता पूर्णत्वात्,

---

सीता—(अनुमोदन करता हुइ) आयपुत्र, पूणगुणा जहाँ कहा भा भले दीखते ह, क्षीण होनेवाले ही सिरपर चढ जाते हैं, इसमे चन्द्रमा ही प्रथम दृष्टान्त है।

राम—(हसकर) देवि महाकुलप्रसूते, तुम ठीक कहती हो।

सेतुबन्धनके उपक्रममें जल्दी-जल्दी लाकर डाले गये पर्वतोंके प्रक्षेपसे उछलने वाले पानीके ऊपर उठ जानेसे साफ दृश्य हो रहा है, गम्भीर उदरदेश जिसका ऐसा यह सागर हनूमान्को भी भयभीत कर देता था, जिस हनुमान्ने इस सागरको गोष्पदकी तरह पार कर लिया था—इससे सिद्ध होता है कि पूर्णकी अपेक्षया रिक्त अधिक दुर्लङ्घ्य होता है ॥ ८४ ॥

---

१. 'महाक्षत्रिय-', 'महाक्षत्रियकुल-'। २ 'सेतुप्रक्रम'। ३ कौतुक।

(नेपथ्ये ।)

[1]देव, त्वर्यता त्वर्यताम् । संनिधत्ते [2]खलु भगवद्वसिष्ठगृहीतो मङ्गलाभिषेकमुहूर्तः ।

रामः—(आकर्ण्य ।) [3]कथमयोध्याया प्रत्यावृत्तो मारुतिरस्मास्त्वरयति ।

सीता—(सहर्षम् ।) अज्जउत्त, कथ अञ्जणाणन्दणो तुवरावेदि । ता भअवं पुप्फअ, अवणम । मेइणीसणिहिदगमणमग्गेण गच्छह्म । [आर्यपुत्र, कथमञ्जनानन्दनस्त्वरयति । तद्भगवन् पुष्पक, अवनम । मेदिनीसन्निहितगमनमार्गेण गच्छाम ।]

पूर्त्तिदशाया अतिरिच्यते विशिष्यते । अयमाशय –हनूमान्यदा प्रथममब्धि लङ्घितवास्तदा पूर्णस्य सागरस्य गोष्पदवल्लङ्घने तस्य मनसि भय नोदित पर यदा सेतु बन्धनसमये क्षिप्यमाणगिरिवेगोच्छलज्जलभरतया सागरोदरगुहा व्यक्तदश्याऽजायत तदा रिक्तस्य तस्य लङ्घने मारुतेरपि मनसि भय पदमाधत्त, तेन पूर्णस्य महतो यावती दुर्लङ्घयता ततोऽधिका भवति दुर्लङ्घयता तस्यैव रिक्तस्येति ॥ ८४ ॥

त्वर्यताम् शीघ्रता क्रियताम् । सन्निधत्ते समीपमुपसर्पति । भगवद्वसिष्ठगृहीत भगवता वसिष्ठेन निर्णीत । मङ्गलाभिषेकमुहूर्त्त शुभराज्याभिषेकसमय. । प्रत्यावृत्त. आगत ।

अवनम अवनतो भव, नीचैः सञ्चर । मेदिनीसन्निहितगगनमार्गेण पृथ्वी-

---

(नेपथ्यमें)

देव, शीघ्रता करें, भगवान् वसिष्ठ द्वारा निर्धारित किया गया अभिषेक मुहूर्त्त समीप आता जा रहा है ।

राम—(सुनकर) क्यों, अयोध्यासे आये हुए हनूमान् हमको शीघ्रता करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं ?

सीता—(सहर्ष) आर्यपुत्र, क्या अञ्जनानन्दन शीघ्रता करनेको कह रहे है ?

---

१ 'देव, त्वर्यताम् । सनिधत्ते भगवान्वसिष्ठ. सगृहीतमङ्गला–' ।

२ 'खलु' इति क्वचिन्नास्ति । ३. 'अयोध्यात ' ।

(अधोऽवलोक्य रामं प्रति।) अज्जउत्त किं उण एदं तरुणजीमूदसामले महीवलए ममुमहणवच्छत्थले कोत्थुभकिरणत्थबअं विअ जलन्त लक्खीअदि। [आर्यपुत्र, किं पुनरेतत्तरुणजीमूतश्यामले महीवलये मधुमथनवक्षःस्थले कौस्तुभकिरणस्तबक इव ज्वलल्लक्ष्यते।]

राम—(दृष्ट्वा विभीषणं प्रति।)

तर्कुटङ्कलिखितार्कमण्डलप्रोच्छलत्कणकदम्बभासुरम्।
शिल्पशालमिव विश्वकर्मणः किं विभाति मृगतृष्णिकामयम्॥८५॥

विभीषण—देव, स एष

ज्येष्ठामूलीययात्रासरभसकरभोकाम्यकान्तारवर्त्मा

समीपस्थाकाशवर्त्मना। तरुणजीमूतश्यामले नवमेघकृष्णवर्णे। मधुमथनवक्षःस्थले भगवतो विष्णोरुरसि। कौस्तुभकिरणस्तबकः कौस्तुभाख्यमणिप्रभागुच्छः, ज्वलत् प्रकाशमानम्।

तर्कुटङ्केति। तर्कुटङ्कः यन्त्रविशेषः शाणाभिधः तेन उल्लिखितम् उद्घृष्टम् यद् अर्कमण्डलम् सूर्यमण्डलम् तस्मात् प्रोच्छलता निर्गच्छता कणकदम्बेन कणसमूहेन भासुरम् दीप्तवर्णम् विश्वकर्मणः शिल्पशालम् शिल्पगृहमिव मृगतृष्णिकामयम् मरीचिकामयम् एतत् किं विभाति शोभते, यथा कस्यापि शिल्पिनः शिल्पगृहम् घृष्यमाणलौहादिनिर्गच्छत्कणगणेन भासुरं दृश्यते, तथा विश्वकर्मणि पुरा सूर्यं चक्र आरोप्य लिखति सति तर्कुटङ्कघृष्यमाणस्य अर्कमण्डलस्योच्छलद्भिः कणगणैरिव दीप्यमानमिदं विश्वकर्मणः शिल्पगृहमिव किमिदं दृश्यत इति भावः। मरुषु मरीचिचयचाकचिक्यापहृतलोचनेषु यन्त्रगृहचालितटङ्कघृष्टसूर्यकणभासुरत्वेन यन्त्रशालात्वसंशयोऽत्र प्रातिभप्रसूततया संदेहालङ्कारमुद्भावयति। रथोद्धतावृत्तम्॥ ८५॥

ज्येष्ठामूलीयेति। ज्येष्ठामूलीयो ज्येष्ठमासः तत्र यात्राया प्रयाणे सरभसा सहर्षा

अच्छा तो भगवन् पुष्पक, नीचे उतरिये। पृथ्वी निकटवर्त्ती गगनमार्गसे चलें।

(नीचे देखकर रामसे)

आर्यपुत्र, भगवान् विष्णुके हृदयपर कौस्तुभमणिकी तरह नवमेघ-श्यामल पृथ्वी मण्डलपर जलता हुआ सा यह क्या दिखाई दे रहा है॥

राम—(देखकर विभीषणके प्रति) शानपर चढाकर खरादे गये सूर्यमण्डलसे यह मृगतृष्णामय क्या है?॥ ८५॥

विभीषण—देव, यह वही मरुभूमि है, जिस मरुभूमिके मार्गमें ज्येष्ठमासमें चलना

दूरेऽपि ज्योतिरक्ष्णोरपलपति मरुर्जाज्वलज्जाङ्गलश्री ।
विश्वद्रीचीभिरस्मिन्निबिडमुडुपते कान्तिभिः प्रस्नुवानाः
फेनायन्ते निजोष्मक्वथनपरिणमद्बुद्बुदं चन्द्रकान्ताः ॥८६॥

(सर्वे विमानावनतिं नाटयन्ति ।)

रामः—(विलोक्य सीतां प्रति ।) देवि, दक्षिणेन

सिंहलद्वीपमम्भोधिसंभूतमिदमुत्पलम् ।
माणिक्याचलकिञ्जल्करमणीयमुदीक्ष्यते ॥ ८७ ॥

या करभी उष्ट्रस्त्री तया काम्यं स्पृहणीयं कान्तारवर्त्म वनमार्गो यस्मिंस्तादृशः (ग्रीष्मे उष्ट्रजातिप्रियभोज्यकण्टकिवृक्षाः सपत्रा जायन्त इति उष्ट्रीणां कान्तारयात्रायां रभसो भवति, तादृशं च कान्तारं मरावेव भवति, कण्टकिवृक्षाणां मरुषु प्रसिद्धिरपीति बोध्यम्) जाज्वलन्ती अतिदीप्यमाना जाङ्गलश्रीः निर्जलभूमिशोभा यत्र तादृशश्चायं मरुः दूरे विप्रकर्षे सत्यपि अक्ष्णोः नयनयोः ज्योतिस्तेजः अपलपति हरति दृक्शक्तिं लुम्पतीत्यर्थः । अस्मिन् मरौ चन्द्रकान्ता नाम मणिभेदाः विष्वद्रीचीभिः सर्वतोव्याप्ताभिः उडुपतेः चन्द्रस्य कान्तिभिः प्रभाभरैः प्रस्नुवानाः द्रवीभवन्तः निजैः मरुदेशभवैरूष्मभिः यत् क्वथनम् पाकः तेन परिणमद्बुद्बुदं निर्गच्छद्बुद्बुदं यथा स्यात्तथा फेनायन्ते फेनमुद्वमन्ति । करभीणां ज्येष्ठमासीययात्रोपयुक्तवनमार्गपूर्णः प्रभाभासुरतया जाङ्गलभूमीनां दृक्शक्तिं लुम्पन्, चन्द्रकिरणप्रस्नुताः ग्रीष्मोष्मक्वथिताः अत एव बुद्बुदोपमफेनवहाश्च चन्द्रकान्ता यत्र सन्ति तादृशश्चायं मरुरेव दृश्यत इत्यर्थः । 'ज्येष्ठामूलीयमिच्छन्ति मासमाषाढपूर्वजम्' इति हारावली । 'जङ्गलो निर्जलो देशः' इति धरणिश्च । स्रग्धरावृत्तम् ॥८६॥

सिंहलेति । दक्षिणेन सिंहलद्वीपम् सिंहलद्वीपस्य दक्षिणे भागे अम्भोधिसम्भूतम् सागरसमुत्पन्नम् इदम् उत्पलम् एष रोहणगिरिः कमलवत् प्रतीयते, यत् कमलम् माणिक्याचलैः मणिमयपर्वतैः किञ्जल्कैः केशरैः रमणीयं सुन्दरम् उदी-

---

ऊटकी स्त्रियोंको बहुत अच्छा लगता है, यहाँ जलते हुए निर्जल भूमिदशकी चमक दूरमें रहकर भी आँखको चकाचौंधमें डाल देता है, और फैलती हुई चन्द्रकिरणोंसे पसीजनेवाले चन्द्रकान्त अपनी ही गर्मीसे पानीके सन्तप्त हो जानेसे बुलबुले निकाल रहे हैं ॥८६॥

(सभी विमानके उतरनेका अनुभव करते हैं)

राम—(सीताकी ओर देखकर) देवि, दक्षिणकी ओर यह सिंहलद्वीप ऐसा लगता है मानो समुद्रमें उत्पन्न कमल हो, जिसके किञ्जल्क यह माणिक्यांचल हों ॥ ८७ ॥

सीता—जहि कासकुसुमसकासो अगत्थहसो चरइ। [यत्र काशकुसुमसकाशोऽगस्त्यहसश्चरति ।]

रामः—(स्मित्वा।) आ मैथिलि, आम्। [1]इहैव रोहणगिरेरुपत्यकाया द्वितीयमायतन मुनेर्लोपामुद्रावल्लभस्य। स तत्रभवान्

बृहत्पात्रप्राप्त्या विततजलमम्भोधिमुदरे
[2]दधावीषद्ग्राह्यं किल कलशजन्मा कुलपतिः।
यमाराध्यन्विन्ध्याचलशिखरशोथैकभिषजं
विवस्वानाश्वीनं [3]गगनमविरोधात्कलयति ॥ ८८ ॥

श्यते, सिहलद्वीपस्य दक्षिणे भागे समुद्रोदित पद्मविवायं रोहणो नाम गिरिस्तस्य च केशरैरिवैत माणिक्याचलै शोभा समेधमाना दश्यत इत्याशय ॥ ८७ ॥

काशकुसुमसङ्काश काशपुष्पवदतिधवल वार्धक्ये श्वेतकेशतयेत्थमुक्तम्। रोहणगिरेरुपत्यकायाम् रोहणाख्यपर्वतासन्नभूमौ। लोपामुद्रावल्लभस्य अगस्त्यस्य, लोपामुद्राऽगस्त्यस्त्री प्रसिद्धा। तत्रभवान् पूजनीय ।

बृहत्पात्रेति। कलशजन्मा कुम्भयोनि कुलपति महामुनि ईषद् ग्राह्यं गण्डूषमात्रेण ग्रहणीयम् अम्भोधिम् समुद्रम् उदरे स्वकुक्षिदेशे बृहत्पात्रप्राप्त्या विशालाश्रयलाभेन विततजलम् विस्तृतपानीयं दधौ धृतवान् यस्यागस्त्यस्य गण्डूषमात्रेण पीत सागरस्तस्योदर विस्तृतमवकाश प्राप्य विततजलमास्तेत्यर्थः। यश्च विन्ध्याचलशिखराणाम् शोथेऽङ्गवृद्धौ उन्नमने एकभिषजम् एकमात्रवैद्यम् उपशमित विन्ध्यपर्वताङ्गवृद्धिम् विन्ध्यपर्वतस्योन्नमनमपनयन्तम् अगस्त्यम् आराध्यन् सेवमान विवस्वान् सूर्य आश्वीनम् अश्वैरेकाहगम्यम् गगनम् अविरोधात् विना

सीता—वही सिंहलद्वीप है जहाँपर कासपुष्पकी तरह स्वच्छ अगस्त्य हस विचरते है।

राम—(मुस्कुराकर) हाँ मैथिलि हाँ, इसी रोहणगिरिकी उपत्यकामें लोपामुद्रा वल्लभ अगस्त्यमुनिका द्वितीय निवास है, वह भगवान्—

घटोद्भव अगस्त्यमुनि समुद्रको आयासरहित भावसे पी गये और वह सारा सागरका जल उनके विस्तृत उदरमें फैलकर सावकाश समा गया, उन्ही अगस्त्यमुनिकी आराधना करके जो विन्ध्य पर्वतके शोथ वृद्धिके एक मात्र वैद्य हैं—भगवान् सूर्य एक दिनमें ही अपने अश्वों द्वारा आकाशको पार कर जाते हैं ॥ ८८ ॥

---

१ 'इह हि'। २. 'गाध'। ३. 'अधिरोहन्'।

अपि च—

निपीते येनाब्धौ स्तिमितगुरुभिः पक्षपटलै
प्रयत्नादुड्डीय प्रतिपदमपर्यस्तपतिताः ।
[1]विशन्तः कौलीरं कुहरमशरण्या शिखरिणः
क्षणं दृष्टास्तस्य स्तुतिषु न गिरां साहसरसः ॥८९॥

अपि च [2]यत्र शृङ्गारसार्वभौमस्य रत्नसिंहासने सिंहलद्वीपनाम्नि प्रदोषारम्भेषु

विघ्नम् कलयति पर्यटति । य सागर पीत्वा स्वोदरे सावकाश स्थापयामास, यश्च विन्ध्याचले शिखरैरुन्नमति सति तदीयामुन्नति प्रणामद्वारा प्रतिबद्ध्य सूर्यायैकेनाह्ना वियत्पर्यटनावसर ददाविति भाव । कलति कामधेनुरिति तस्यात्र गमनार्थता ॥ ८८ ॥

निपीत इति । येन अगस्त्यमुनिना अब्धौ सागरे निपीते निरवशेष पीते सति स्तिमिता आर्द्रा अत एव गुरवो भारवन्तश्च ये पक्षपटला पक्षतिसमुदया तै प्रयत्नात् प्रयासमाधाय महता प्रयासेनेत्यर्थ । उड्डीय प्रतिपदम् अपर्यस्त विपर्यस्त यथा स्यात्तथा पतिता अत एव अशरण्या रक्षारहिता शिखरिण समुद्रे स्वपक्ष रक्षार्थं निलीय वर्त्तमाना मैनाकादय पर्वता कौलीर कर्कटाख्यजनु सम्बन्धि कुहर गर्त्तविलं विशन्तो दृष्टा जनैरिति शेष । तस्यागस्त्यस्य स्तुतिषु गिरा वाचा साहसरस हठप्रवृत्तिर्न वाचस्तत्स्तुतिसाहस न कर्तुं शक्ता अशक्यत्वात्तादृशकार्यस्येत्याशय । येनागस्त्येन समुद्रे पीयमाने आश्रयापगमेन पर्वता क्लिन्नै पक्षैरुड्डीय पतन्त पतिताश्च पुन स्वरक्षार्थं कौलीरकुहर प्रविशन्तो लोकैर्दृष्टास्तस्य मुने स्तुतौ कथ वाच साहस कुर्वन्त्विति तात्पर्यम् ॥ ८९ ॥

शृङ्गारसार्वभौमस्य शृङ्गाररससम्राज, रत्नसिंहासने रत्ननिर्मितसिंहासनसमे, प्रदोषारम्भेषु निशामुखेषु ।

और—अगस्त्यमुनिने जब समुद्र पी लिया तब भीगे होनेके कारण भारी पङ्खोंसे किसी तरह उड उडकर गिरते-पडते समुद्र स्थित पर्वतगण अपने शरणीभूत जलके समाप्त हो जानेके कारण घबड़ाकर केंकडोंके विलोंमें पैठते हुए देखे गये, उस महाप्रभाव अगस्त्यमुनिकी स्तुतिमें वाणी कैसे साहस करे ? ॥ ८९ ॥

और यह सिंहलद्वीप तो शृङ्गाररसका सार्वभौम ठहरा, यहीं इस रसका रत्नसिंहासन है, यहींपर प्रदोषारम्भमें—

१. 'व्रजन्त.' । २ 'यत्र' इति क्वचिन्नास्ति ।

उदेष्यत्पीयूषद्युतिरुचिकणार्द्रा शशिमणि-
स्थलीनां पन्थानो घनचरणलाक्षालिपिभृत ।
चकोरैरुड्डीनैर्झटिति कृतशङ्काः प्रतिपदं
पराञ्च संचारानविनयवतीनां विवृणते ॥ ९० ॥

(अन्यतो दर्शयन् ।) इयमितो मौक्तिकीयानामपामाधारस्ताम्रपर्णी ।

[1]शुक्तिकागर्भसम्बन्धस्तम्भितास्तोयबिन्दवः ।
[2]भ्रमन्ति सुभ्रुवामङ्कादङ्कमस्याः प्रसूतयः ॥ ९१ ॥

उदेष्यदिति । उदेष्यत उदय प्राप्स्यत पीयूषद्युतेरमृतकरस्य चन्द्रमस रुचिकणै मयूखलेशै आर्द्रा स्रवन्त (अत एव सिक्तार्द्रा) घना सान्द्रा या चरणयो कामिनीचरणयोर्लाक्षा अलक्तकरागस्तस्या लिपिम् लेखम् बिभ्रतीति तथोक्ता शशिमणिस्थलीना चन्द्रकान्तरचितभूमीना पन्थानो मार्गा उड्डीनै चकोरै झटिति प्रतिपद प्रतिचरणक्षेप कृतशङ्का समेधितजनागमभया॰ सन्त॰ अविनयवतीना दु शीलानामभिसरन्तीना स्त्रीणाम् पराञ्च प्रतीपान् सञ्चारान् विवृणते प्रकटयन्ति । अयमर्थ —चन्द्रोदये सन्निहिते सति चन्द्रकरस्पर्शार्द्रा॰ चन्द्रकान्तमार्गा स्त्रीचरणालक्तकलेखपूर्णा भवन्ति, यदा च तत्रैव सञ्चरन्तीनामभिसारिकाणा मनासि चकोरेपूड्डीनेषु जनागमभयेन भीतानि जायन्ते तदा ता॰ द्रुतपदन्यास परा वर्त्तन्ते येन प्रतीपाश्चरणन्यासास्तत्रार्द्रे वर्त्मनि दृश्यन्त इति । शिखरिणीवृत्तम् ॥९०॥

शुक्तिकागर्भेति । शुक्तिकाना मुक्तास्फोटानां गर्भेषु मध्यभागेषु सबन्ध । कियत्कालपर्यन्त स्थितिस्तेन स्तम्भिता पिण्डीभूतास्तोयबिन्दव शुक्तिगर्भसम्बन्धपिण्डितास्तोयबिन्दव इव अस्या॰ मौक्तिकीयजलवाहिन्यास्ताम्रपर्णीनद्या॰ प्रसूतय॰ उत्पाद्या मुक्ता सुभ्रुवाम् सुन्दरीणामङ्कादङ्क भ्रमन्ति सञ्चरन्ति । यथा

उदित होनवाल चन्द्रमाकी किरणोस आर्द्र चन्द्रकान्त मणिसे बने मार्ग स्त्रियोंके चरणालक्तक द्वारा लिखे गये लेखोंसे युक्त होकर उडनेवाले चकोरोंसे स्त्रियोंके हृदयमें भयका सञ्चार करके अभिसारिकाओंको उलटे पांव लौटनेको बाधित करते हैं ॥ ९० ॥

(दूसरी तरफ दिखलाते हुए) मुक्ता पैदा करनेवाले पानीका आधार इधर ताम्रपर्णी नदी है ।

शुक्तिका गर्भभागसे सम्बन्ध होनेके कारण जमे हुए जल स्वरूप ताम्रपर्णीमें पैदा होनेवाले मौक्तिक सुन्दरियोंकी गोदोंमें घूमा करते हैं ॥ ९१ ॥

१ 'सभूत-'। २ 'भजन्ति'।

अपि च—

युवतिकुचभोगकर्मभिरुद्भूतै शुक्तिसंपुटधृतानि ।
दधतीह 'ताम्रपर्ण्या' स्थिरकरकाभावमम्भांसि ॥ ९२ ॥

सीता—अज्जउत्त, जेट्ठेति दक्खिण्णमत्तएण भअवदो साअरस्स भाईरहीपक्खपादो । पेम्मसव्वस्सणीसन्दो उण सहजसव्वङ्गमोत्तिआहरणरमणीआए तम्मपण्णीए लक्खीअदि । [आर्यपुत्र, ज्येष्ठेति दाक्षिण्यमात्रकेण भगवत सागरस्य भागीरथीपक्षपात । प्रेमसर्वस्वनि स्यन्द पुन सहजसर्वाङ्गमौक्तिकाभरणरमणीयायास्ताम्रपर्ण्या लक्ष्यते ।]

कस्याश्चन भाग्यवत्या प्रसूतिमपरा ललना स्वाङ्केषु निदधति तथैव ताम्रपर्णीप्रसूतं मुक्तागण सुभ्रुवोऽङ्कादङ्क परिक्रामयन्ति स्व स्वमङ्गं ताभिर्मुक्ताभिरलङ्कुर्वन्तीत्याशय ॥ ९१ ॥

युवतिकुचेति । इह अत्र प्रदेशे ताम्रपर्ण्या अम्भांसि जलानि उद्भूतै पूर्वजन्मवृत्तै युवतिकुचभोगकर्मभि यै कर्मभिर्युवतिकुचावस्थितिरूपो भोग प्राप्यते तादृशै पूर्वाचरितसुचरितै शुक्तिसपुटधृतानि सन्ति शुक्तिपुटगतानि भूत्वा स्थिरकरकाभावम् अद्रवशीलवर्षोपलस्वरूपत्वम् दधति धारयन्ति । पूर्वजन्मसुकृतवशात्ताम्रपर्णीजलानि शुक्तिपुटगतानि भूत्वा स्थिरकरकारूपेण परिणमन्ते या मुक्ताभूता युवतिकुचभोगमनुभवन्तीत्यर्थ , 'वर्षोपलस्तु करका' इत्यमर ॥ ९२ ॥

ज्येष्ठा पूर्वपरिणीता इति बुद्ध्या दाक्षिण्यमात्रकेण केवलेन समदर्शित्वसूचकव्यापारमात्रेण, भगवत्या भागीरथ्या पक्षपात अनुग्रह केवल स्वसमदर्शित्व प्रकटयितुमेव सागरो भागीरथ्या स्नेह प्रकाशयतीत्यर्थ , प्रेमसर्वस्वनि स्यन्द पूर्णप्रेमप्रवाह । सर्वाङ्गमौक्तिकाभरणरमणीयाया —सर्वेष्वङ्गेषु मुक्ताभरणं वहन्त्या । ताम्रपर्णी एव सागरस्याधिका प्रिया यतोऽसौ भूषितसर्वाङ्गशालिनी, प्रियानुरागफलस्य भूषणस्य तयैव लाभादित्यर्थ ।

ताम्रपर्णीका जल युवतिगणके कुचस्थलमें वास प्रदान करनेवाले अपने पूर्व पुण्योंके प्रभावसे शुक्ति सम्पुटमें रहकर स्थिर करकाका रूप धारण कर लेते है ॥ ९२ ॥

सीता—आर्यपुत्र, समुद्र भद्रताके कारण ही गङ्गाको बडी स्त्री समझकर पक्षपात करता है, नही तो समुद्रका सारा प्रेम ताम्रपर्णीपर ही प्रतीत हो रहा है क्योकि उसका सम्पूर्ण शरीर मौक्तिकाभरणोंसे लदा हुआ है ।

---

१ 'ताम्रपर्ण्याम्' ।

राम —(विहस्यान्यतो दर्शयन् ।)

रमयति मलयाचलोऽयमस्मादुपनमता पवनेन मानिनीनाम् ।
दयितविनयकूटसाक्षिणीभि स खलु सखीभिरदुष्करः प्रबोधः ॥९३॥

लक्ष्मणः—([1]अग्रे दर्शयन् ।)

स्वपाणिप्राग्भारप्रबलविततोत्तानसलिल-
स्वयंदृष्टक्रीडत्तिमिनिवहलग्नामिव घृणाम् ।
दधानस्यापीतोज्झितजलनिधेरेतदपरं
पुरो लोपामुद्रासहचरमुनेराश्रमपदम् ॥ ९४ ॥

रमयतीति । अय मलयाचल. मलयाख्य पर्वत रमयति अस्मानानन्दयति । अस्मात् मलयाचलात् उपनमता प्रवर्त्तमानेन पवनेन वायुना करणभूतेन दयित-विनयकूटसाक्षिणीभि प्रियकृतविनयप्रत्यक्षदर्शिकाभि सखीभिः मानिनीनाम् स प्रबोध मानापनय खलु अदुष्कर सुकर । अय मलयाचलो न. प्रीणयति यतश्चलितेन वायुना सहकृता सख्यो दयितकृतप्रार्थनाभिरपि मानमत्यजन्त्यो मानवत्यस्त्वरितमनुनीयन्त इत्याशय । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ९३ ॥

स्वपाणीति । स्वपाणिप्राग्भारे निजकरविस्तारे प्रबलविततम् अतिविस्तृत यत् उत्तानसलिलमगभीर समुद्रजलम् तत्र जले स्वय दृष्टा. आत्मनाऽवलोकिता ये क्रीडन्त तिमिनिवहा महामत्स्यसमूहास्तेषु लग्ना जातां घृणा दया दधानस्य धारयत इव आपीतोज्झितजलनिधे विनैव पान कृत्वा त्यक्तसागरस्य लोपामुद्रा-सहचरमुने' अगस्त्यस्य पुर. अग्रे वर्त्तमानम् एतत् अपरमाश्रमपदम् विद्यत इति शेष । अगस्त्यो यदा विस्तृते निजपाणितले सागर पिपासया धृतवास्तदा सागर-

---

राम—(हसकर दूसरी ओर दिखलाते हुए) यह है मलयाचल, यह मुझे आनन्द दे रहा है । इसपरसे बहने वाली वायुसे सखियाँ मानिनियोंके मानको सरलतासे दूर कर सकती है, जिन मानवती स्त्रियोंने प्रियतमों द्वारा किये गये बहुविनयको भी ठुकरा दिया वह स्त्रियाँ भी मलयानिलके बहनेपर सखियोंद्वारा सरलतासे मना दी जाती है ॥९३॥

लक्ष्मण—(आगेकी ओर दिखलाकर)

अगस्त्यने पीनेके लिए समुद्रको हाथमें लिया, उनके विस्तृत हाथमें फैलकर समुद्रका जल छिछला हो गया, उस पानीमें जब अगस्त्य मुनिने खेलते हुए महामत्स्योंको देखा तब उनको बडी दया आई, उसी दयासे द्रुत होकर उन्होंने समुद्रका जल पीकर तुरन्त निकाल दिया, उस लोपामुद्राके सहचर अगस्त्यमुनिका यह दूसरा आश्रमपद है ॥ ९४ ॥

---

१ 'अन्यत.'।

अपि चास्मिन्—

चतुरब्धिपानचेष्टादृष्टपिपासे मुनावुदयमाने।
पाययितुमिवात्मानं [1]विशुध्य सज्जीभवन्त्याप ॥ ९५ ॥

सुग्रीव—(सस्मितम्।)

ध्रुवमिह चतुरम्भोनिधिरचितापोशानकर्मणि मुनीन्द्रे।
भक्ष्यंमन्यानि किमपि चकम्पिरे सप्तभुवनानि ॥ ९६ ॥

जलमतिविस्तृतमभवत् तत्र मुनिना क्रीडन्तस्तिमिनिवहा प्रत्यक्षीकृतास्तेषु दयामाधायेव मुनिस्तत्सागरजलमापीतमेवोज्झितवान्, तस्य लोपामुद्रापतेरगस्त्यस्यापरमिदमाश्रमपदं पुरो दृश्यत इत्यर्थः। शिखरिणीवृत्तम् ॥ ९४ ॥

चतुरब्धीति। चतुर्णाम् अब्धीनाम् सागराणां पानचेष्टया पानप्रयासेन दृष्टा पिपासा यस्य तादृशे मुनावगस्त्ये उदयमाने उद्गच्छति सति आपो जलानि आत्मानं पाययितुमिव विशुध्य निर्मलीभूय सज्जीभवन्ति। अयमगस्त्य उदयति स हि चतुरोऽपि सागरान् पीत्वाऽपि न गतपिपासः सञ्जातस्तदसौ अस्मानपि पीत्वा गतपिपासो जायतामिति धियेव जलानि स्वं शोधयित्वा सज्जितानि भवन्तीति। अगस्त्योदये जलशुद्धिः स्वाभाविकी सैवात्रागस्त्यपिपासानिवर्त्तनेच्छाजनितत्वेनोत्प्रेक्ष्यते। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ९५ ॥

ध्रुवमिहेति। इह अस्मिन् मुनीन्द्रे मुनिश्रेष्ठेऽगस्त्ये चतुर्भिः अम्भोनिधिभिः रचितं कृतम् अपोशानकर्म भोजनपूर्वकालसम्पाद्यामृतोपस्तरणकर्म येन तादृशे सति भक्ष्यमन्यानि आत्मानं भक्ष्यं मन्यमानानि सप्तभुवनानि भूर्भुवःस्वरादीनि किमपि अनिर्वाच्यरूपेण चकम्पिरे यदा मुनिरगस्त्यश्चतुरोऽपि सागरान् पीत्वाऽपोशानकर्म निर्वर्त्तितवांस्तदाऽऽत्मानमपि भक्ष्यं मन्यमानानि सप्तापि भुवनानि—

इस अगस्त्यमुनिको देखकर तथा चारों सागरोंको पी जानेवाली इनकी पिपासाका अन्दाज करके संसारका पानी स्वच्छ होकर तैयार हो जाते हैं कि मुनिवर मुझे भी पीकर कृतार्थ कर सकें ॥ ९५ ॥

भोजनके पूर्व किये जानेवाले आचमनके रूपमें अगस्त्यने जब चारों सागरोंका पान कर लिया तब सप्तभुवनको मालूम हुआ कि कहीं हम ही न इनके भक्ष्य हों, ऐसा समझकर सप्तभुवन काँप उठे ॥ ९६ ॥

---

१. 'विशुद्धसज्जी-', 'विशुद्धिसज्जी-'।

(सर्वतोऽवलोक्य सहर्षाद्भुतम् ।) अहो चिरेणाद्य चतुर्दशलोकैकदण्डधरे धर्मासनाधिकारिणि रामदेवे दण्डकारण्यगृहमेधिना तपोवनानामृद्धय ।

राम —(सलज्जस्मित विमानवेगनाटितकेनाधोऽवलोक्य ।) कथ हिरण्यहरिणविहारकान्तारस्थलीनामुपरि प्रतिष्ठामहे ।

सुग्रीवः—(सोपहासम् ।) इय सा मारीचशरीरोपहाररक्षितात्मनो दशकण्ठस्य कपटभिक्षुवेषवि[1]डम्बनाडम्बरैकमर्मज्ञा पञ्चवटी । (सादर च ।)

अपोशानकर्मानन्तर भोजनस्य प्राप्तावसरतया कदाचिदस्मानेवाय मुनिर्भुञ्जीतेति चिन्तयाऽकम्पन्तेत्यर्थ ॥ ९६ ॥

चतुर्दशलोकैकदण्डधरे चतुर्दशभुवनशासके । धर्मासनम्–राज्यम् । दण्डकारण्यगृहमेधिनाम् दण्डकारण्यवासिना गृहिणाम् सदाराणा तपस्विनाम् । ऋद्धय –अभ्युदया ॥

हिरण्येति । हिरण्यहरिण काञ्चनमृग तस्य विहाराय विचरणाय या कान्तारस्थलयो वनभूमय· तासामुपरि ऊर्ध्वदेशे प्रतिष्ठामहे चलाम । यत्र सम्प्रति वय सञ्चरामस्तदध एव हिरण्यहरिणविहारवनस्थली अस्तीति भाव ।

मारीचशरीरोपहाररक्षितात्मन मारीचशरीर दत्त्वा सुरक्षितस्वदेहस्य, यदि रावणो मारीच मायामृग विधाय नाघातयिष्यत्तदा सीताहरणकाले रामस्याश्रम स्थित्या स्वयममरिष्यदिति रावणेन मारीचशरीरमुपहृत्यात्मा रक्षित इत्युक्तम् ॥ कपटभिक्षुवेषो मायाकल्पितपरिव्राजकरूपम् , तेन या विडम्बना वञ्चना तस्याडम्बरस्य विस्तारस्य मर्मज्ञा साक्षिणी ।

(चारों ओर देखकर हर्ष तथा आश्चर्यके साथ) अहा, बहुत दिनोंके बाद चतुर्दश भुवनशासक भगवान् रामके धर्मासनाधिकारी होनेपर दण्डकारण्यके तपस्वी गृहस्थ उत्सव मना रहे है ।

राम—(लज्जासे मुस्कुराते हुए विमानके वेगके साथ नीचे की ओर देखकर) क्यों, सुवर्ण मृग मारीचके सचारवाले वनोंसे ऊपर चल रहे है ।

सुग्रीव—(उपहासके स्वरमें) यही है वह पञ्चवटी जिसने मारीचकी देहको बलिदान करके अपनी जान बचानेवाले तथा कपटभिक्षु वेषके आडम्बरमें लगे रावणके व्यापारको आखों देखा है ।

---

१ 'विडम्बनैक-' ।

विश्वामित्रमखद्विषे च वपुषा चित्रेण पत्युर्मुखा-
दप्याकृष्टविदेहराजतनयानेत्रारविन्दाय च ।
मारीचाय नमो नमः किमपरं यस्मै कुले रक्षसां
द्वौ वारौ विभुनापि दाशरथिना चक्रे ततज्यं धनुः ॥९७॥

(सीता लज्जते ।)

राम —(प्रस्रवणाचलं दर्शयन्सीतामपवार्य ।) देवि,

नक्तं रत्नमयूखपाटलमिलत्काकोलकोलाहल-
त्रस्यत्कौशिकभुक्तकन्दरतमाः सोऽयं गिरिः स्मर्यते ।

विश्वामित्रेति । विश्वामित्रमखद्विषे कौशिकयज्ञविनाशिने, चित्रेण आश्चर्यकरेण स्वर्णमयेन वपुषा देहेन पत्युर्मुखात् रामाननात् अपि आकृष्टं स्वस्मिन्नाकृष्य नीतं विदेहराजतनयायाः सीतायाः नेत्रारविन्दं नयनकमलं येन तथोक्ताय च यस्मै मारीचाय रक्षसां कुले रक्षोदलमध्ये विभुना परमेश्वरावतारेणापि दाशरथिना रामेण द्वौ वारौ द्विधा धनुः ततज्यं धृतप्रत्यञ्चाकं चक्रे कृतम् , तस्मै मारीचाय नमो नमः । अयमाशयः—यस्मै मारीचाय सर्वानपि राक्षसान् सकृदेव चापमारोप्य मारितवतापि रामेण द्विधा धनुरारोपितम् , एकदा विश्वामित्रमखद्वेषकारिणि, अपरत्र च चित्रं वपुरादाय सीतानयनमपि राममुखादाकृष्टवति तदित्थं द्विधा रामबाण-विषयतां गताय मारीचाय नमो नम इत्याशयः ॥ ९७ ॥

नक्तमिति । नक्तं रात्रौ रत्नमयूखपाटलाः मणिगणप्रभाभिः श्वेतरक्तवर्णतां गताः मिलन्तः दूरादागत्य सङ्गताः ये काकोलाः द्रोणकाकाः तेषां कोलाहलेन कलरवेण त्रस्यन्तः भयं प्राप्नुवन्तो ये कौशिकाः घूकास्तैर्भुक्तम् अनुभूतम् कन्दरतमः गुहास्थितं तिमिरं यत्र तथोक्तः सोऽयं गिरिः प्रस्रवणः स्मर्यते ध्यानविषयीक्रियते,

---

(आदरके साथ) उस मारीचको नमस्कार है जिसके ऊपर भगवान् रामचन्द्रने दो-दो बार अपने बाण चलाये । पहली बार तब बाण चलाया था जब विश्वामित्रके यज्ञमें उपद्रव कर रहा था, और दूसरी बार तब जब वह चित्र शरीर बनाकर पञ्चवटीके वनोंमें घूम रहा था और उसके रूप पर आकृष्ट होकर सीताजीने उसकी ओर देखनेके लिये रामके मुखपरसे अपनी आखें आकृष्ट कर ली थीं ॥ ९७ ॥

(सीता लज्जित होती है)

राम—(प्रस्रवणगिरिकी ओर दिखलाते हुए सीताके पास-कानमें) देवि,

यह वही पर्वत याद आरहा है, जिस पर्वतमें रात्रिके समय रत्न किरणोंकी लालिमामें मिलित द्रोणकाको द्वारा किये जानेवाले कोलाहलोंसे डरे हुए कौशिक पक्षिगण कन्दराके

यत्राकृष्टकुचांशुके मयि रुषा वस्त्राय पत्त्राणि ते
'चिन्वन्त्या वनदेवतास्तरुलतामुच्चैर्व्यधुः कौतुकात् ॥९८॥

सीता—(स्मयमाना कपोतहस्तं कृत्वा ।) भअवदीओ जणट्ठाणदेवदाओ, एसा वो परिचारिआ जाणई पणमदि । [भगवत्यो जनस्थानदेवता, एषा वः परिचारिका जानकी प्रणमति ।]

रामः—(अन्यतो दर्शयन् ।) देवि, वन्दस्व भगवतीमितो गोदावरीम् । (जनान्तिकम् ।)

एतस्याः पुलिनोपकण्ठफलिनीकुञ्जोदरेषु स्रजं

रात्रौ यदा रत्नप्रभया श्वेतरक्तवर्णतां प्रापिता कोलाहलं कुर्वन्तश्च द्रोणकाका अत्र पर्वते सञ्चरन्ते तदा तेषां कलरवं श्रुत्वा भीताः कौशिका अस्य कन्दरागतं तमोऽनुभवन्ति, सोऽयं प्रस्रवणाख्यो गिरिरिति सम्प्रति मया स्मर्यते इत्याद्यपादद्वयस्यार्थः । यत्र प्रस्रवणे मयि आकृष्टकुचांशुके त्वदीयस्तनावरकवस्त्रमपहरति सति रुषा प्रणयकोपेन वस्त्राय कुचाच्छादनसाधनाय पत्त्राणि वृक्षलम्बितलतादलानि चिन्वन्त्याः कौतुकात् किमिदमधुनाऽऽचरतीत्युत्सुकत्वात् वनदेवताः तरुलताम् उच्चैर्व्यधुः उपरि नीतवत्यः । यत्र प्रस्रवणे निवसता मया तव स्तनवस्त्रेऽपहृते प्रणयकुपितया त्वया स्तनावरणाय लतापत्त्राणि चेतुमिष्यमाणे कौतुकवशात्तद्वनदेवतास्तरुलता आकृष्योपरि नीतवत्यः, सोऽयं गिरिः स्मर्यत इत्याशयः ॥ ९८ ॥

एतस्या इति । एतस्या गोदावर्याः पुलिनोपकण्ठे तटसमीपदेशे याः फलिन्यः

अन्धकारमें छिप जाते है, और जहांपर मैंने तुम्हारे स्तनपरके वस्त्रको खींचलिया था, कुपित होकर तुमने स्तनोंको आवृत करनेके लिये पत्ते तोडने चाहे, उसपर कुतूहलवश वनदेवताओंने वृक्षपरकी लताओंको ऊंचा उठालिया और तुम्हें विवश होकर रह जाना पडाथा ॥ ९८ ॥

सीता—(मुस्कुराकर हाथ जोडती हुई) हे जनस्थानके देवताओ, यह आपकी दासी सीता आपको नमस्कार करती है ।

राम—(दूसरी ओर दिखलाते हुए) देवि, इधर भगवती गोदावरीको नमस्कार कर लो । (चुपकेसे)

इसी गोदावरीके तटोंमें वर्त्तमान प्रियङ्गुलताके कुञ्जमे मैंने पलाशकी कलियोंसे माला

१ 'चिन्वन्त्यो'।

कृत्वा किंशुककोरकैरकरजक्रीडासहिष्णुस्तने ।
दत्त्वा वक्षसि ते मयि प्रहसति प्रौढापराधे तदा
कौमारव्रतभङ्गरोषितमपि स्मेरं तवासीन्मुखम् ॥ ९९ ॥

(सीता सलज्जस्मितं [1]मुखमवनमयति, नमति च गोदावरीम् ।)

राम —(परिवृत्यावलोकितकेन सखेदम् ।) देवि[2],

अस्मिन्माल्यवतस्तटीपरिसरे कादम्बिनीडम्बरः

प्रियङ्गुलता तासां कुञ्जोदरेषु तन्निर्मितनिकुञ्जमध्यभागेषु किंशुककोरकैः पलाशकलिकाभिः स्रजं मालां कृत्वा निर्माय अकरजक्रीडासहिष्णुस्तने नखक्षतं सोढुमशक्तेन अतिसुकुमारेण स्तनेन युक्ते ते तव वक्षसि दत्त्वा निधाय प्रौढापराधे विहितदीर्घापराधे मयि प्रहसति सति कौमारव्रतभङ्गेन सम्भोगपरित्यागरूपकौमारव्रतत्याजनेन रोषितं कुपितमपि तवाननं स्मेरं सहासम् आसीत् । अयमर्थः—अत्र गोदावरीतीरे निवसत्स्वस्मासु मया किंशुककलिकामाल्यं निर्माय नखक्षतक्रीडासहनासमर्थकोमलस्तनशालिनि तव स्तने निक्षिप्तं हसितं च, तत्र समायमभिप्राय आसीद्यदिदं किंशुककलिकामाल्यं कुटिलरक्ताभपुष्पतया नखक्षतसमुदाय इव प्रतीयते तव स्तनयोरिति पश्येति, तदीदृशप्रौढापराधकारिण्यपि मयि सुरतक्रीडावर्जनरूपकौमारव्रतपरित्याजनेन सुरतक्रीडायासासञ्जनेन रोषितमपि तवाननम् नखक्षतकिंशुककलिकयोः सादृश्येन मदीयेन विदग्धत्वेन च सहासमजनीत्यर्थः । 'तोयोत्थितं तत्पुलिनम्', 'प्रियङ्गुः फलिनी फली', 'पलाशे किंशुकः पर्णम्' 'कलिका कोरकः पुमान्' इति सर्वत्रामरः ॥ ९९ ॥

अस्मिन्निति । माल्यवतः तदाख्यस्य गिरेः अस्मिन् तटीपरिसरे समीपदेशे

बनाकर नखक्षतको नहीं सहनेवाले स्तनोंसे युक्त तुम्हारे वक्षःस्थल पर डाल दी थी, जिससे यह प्रतीत होता था कि जैसे कुटिलरक्ताभ किंशुककलियोंसे तुम्हारे स्तनोंकी कान्ति बढ रही है उसी तरह नखक्षतोंसे भी बढ सकती है, इस प्रकार माला डालकर मै हँसने लगा, मेरा अपराध महान था, फिर भी कौमार-व्रतके भङ्गसे रोषित होनेपर भी तुम्हारा मुख सहास हो उठा था ॥ ९९ ॥

(सीता लज्जा तथा हँसीसे मुख झुका लेती है, गोदावरीको प्रणाम करती है)

राम—(घूमकर देखते हुए) देवि,

इस माल्यवान् नामक पर्वतके समीपमें मेघके उमडनेपर वर्षा न भी हो पाई थी

१ 'मुखमानम्य गोदावरीं नमति' ।　　२ 'देवि' इति क्वचिन्नास्ति ।

स स्थूलंकरणो मदश्रुपयसामासीदवर्षन्नपि ।
यद्धारावलितैर्न शाखिभिरपि त्वत्पालितैर्मां तथा
दृष्ट्वा कन्दलितं न केकिभिरपि प्रारम्भि संगीतकम् ॥ १०० ॥

सीता—([1]मन्युगद्गदकण्ठग्रन्थिलस्वरा पुष्पकं प्रति ।) विमाणराअ, सीदह्मि । ण दलदि ज्जेव वज्जमअं मे हिअअम् । तथा वि तुवरेहि । एसा अन्तरीअदु दण्डआरण्णविच्छोली । [विमानराज, सीतास्मि । न दलत्येव वज्रमयं मे हृदयम् । तथापि त्वरस्व । एषा अन्तरीयतां दण्डकारण्यपङ्क्तिः ।]

रामः—(विमानवेगनाटितकेन सीतां प्रति ।) [2]देवि, इदमग्रे महारा-

अवर्षन् वृष्टिमकुर्वन्नपि कादम्बिनीडम्बरः मेघमालाविस्तारः मदश्रुपयसां मदीयनेत्रजलानाम् स्थूलङ्करणः वृद्धिकरः आसीत्, अत्र त्वद्वियोगार्त्तेन मया मेघमण्डलं दृष्ट्वा रोदितुमुपक्रान्तमासीदित्यर्थः । मां तथा रुदन्तं दृष्ट्वा यस्य कादम्बिनीडम्बरस्य धाराभिः जलसंपातैः वलितैः सिक्तैः त्वत्पालितैः त्वया पूर्वं पोषितैः शाखिभिः वृक्षैरपि न कन्दलितं न पल्लवितं धारासिक्तैः त्वत्पालितैः केकिभिर्मयूरैरपि सङ्गीतकम् न प्रारम्भि नारब्धम्, मेघमागतं दृष्ट्वा त्वद्वियोगेन मां रुदन्तं वीक्ष्य त्वत्पालिता वृक्षा मयूराश्च दुःखिनो जाता येन सिक्ता अपि वृक्षा न नवपल्लवं प्राकाशयन्न वा सिक्ता अपि मयूरा नर्त्तितुमारभन्तेत्यर्थः । 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १०० ॥

मन्युना प्राक्तनकष्टस्मरणदुःखेन गद्गदे जडे कण्ठे ग्रन्थिलः बद्धः स्वरः यस्याः स्तथाभूता सीतेत्यर्थः । अन्तरीयतां तिरोहिता भवतु । महाराष्ट्रमण्डलैकमण्डनम् देशभेदस्य महाराष्ट्रस्य मुख्यमलङ्करणम् ।

फिर भी हमारी आखोंमें पानीकी बाढ-सी आगई थी, धारा-वृष्टि होनेपर भी मुझे उस दुःखकी स्थितिमें देखकर वृक्षोंने नवपल्लव नहीं प्रकट किये थे और मयूरोंने सगीत भी छोड दिया था ॥ १०० ॥

सीता—(दुःखसे भरे गलेसे पुष्पकके प्रति) विमानराज, मैं सीता हूँ, मेरा वज्रमय हृदय फटेगा नहीं, फिर भी शीघ्रता करो जिससे यह दण्डका वनकी भूमि छिप जाय ।

राम—(विमानके वेगका अनुभव करके सीताके प्रति) महाराष्ट्र देशका अलङ्कार

१ 'मन्यूत्पीडगद्गद-' । २ 'देवि' इति क्वचिन्नास्ति ।

ष्ट्रमण्डलैकमण्डनं कुण्डिनं नाम नगरम् । इह हि

अनन्यक्षुण्णश्रीर्मलयवनजन्माऽयमनिलो
निपीय स्वेदाम्बु स्मरमकरसंभुक्तविभवम् ।
विदर्भीणां भूरिप्रियतमपरीरम्भरभस
प्रसङ्गादङ्गानि द्विगुणपुलकस्रञ्जि तनुते ॥ १०१ ॥

किं च—

[1]बिभ्रतीं कैशिकीं वृत्तिं सौरभोद्गारिणीं गिरः ।
दूराध्वानोऽपि कवयो यस्य रीतिमुपासते ॥ १०२ ॥

अनन्येति । न अन्येन क्षुण्णा जिता प्राप्ता वा श्रीः शोभा यस्य तादृश अनन्यक्षुण्णश्री अनितरसाधारणशोभः मलयवनजन्मा मलयाचलकाननप्रभवोऽयम् अनिलो वायु दक्षिणानिल स्मरमकरसंभुक्तविभवम् कामवाहनभूतमकराकृतिस्तनविरचितपत्रावलीपीतम् स्वेदाम्बु श्रमघर्मजलम् निपीय शोषयित्वा वैदर्भीणाम् भूरिप्रियतमपरीरम्भरभसप्रसङ्गात् बहुलीभूतप्रियतमालिङ्गनजनितहर्षवशात् अङ्गानि तासामेव वैदर्भीणा शरीरावयवान् द्विगुणपुलकस्रञ्जि द्विगुणीभूतरोमाञ्चानि तनुते विधत्ते। मलयोदितोऽनन्यसाधारणशोभाशाली चायं वायुर्वैदर्भीणामङ्गेषु सङ्गतः सस्तदीयमकराकृतिपत्रावलीपीतशेषमपि स्वेदाम्बु शोषयित्वा प्रियालिङ्गनानन्दजातपुलकस्रजा द्वैगुण्य विधत्ते इत्यर्थ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १०१ ॥

बिभ्रतीमिति । दूराध्वान सुदूरमार्गवर्त्तिनो भिन्नदेशीया अपि कवय कैशिकीं वृत्तिं दधानां सौरभोद्गारिणीम् सुरभिख्यातिमतीम् यस्य विदर्भदेशस्य गिरो वाण्या रीतिं वैदर्भीं नाम उपासते सेवन्ते । भिन्नदेशीया अपि कवयो यद्देशोद्भवा वैदर्भीं रीतिं सेवन्ते, या वैदर्भी सौरभोद्गारशालिनी कैशिकी वृत्तिं धारयतीत्यर्थ । 'अस्पृष्टा

यह कुण्डिन नगर आगेकी ओर दिखलाई दे रहा है ॥ यहाँ पर—

मलयानिल सबसे पहले अनुपभुक्त सौरभके साथ यहाँ आता है, कामदेवके चिह्न स्वरूप स्तनविरचित मकरने जिसके वैभवका उपभोग किया है उस स्वेद-जलको सुखा देता है वहाँकी स्त्रियोंको प्रियतमालिङ्गनमें उत्साह-वृद्धिके लिये उनके अङ्गोंमें दुगुने रोमाञ्च भी उत्पन्न कर देता है ॥ १०१ ॥

जिस विदर्भ देशकी रीति वैदर्भीको दूरदेशवर्त्ती कविगण भी अपनाते है क्योंकि वैदर्भी रीतिमें वाणीके परिमलको बढानेवाली कैशिकी वृत्ति वर्त्तमान रहती है ॥ १०२ ॥

१ 'बिभ्रत'।

विभीषणः—(दक्षिणतो दर्शयन् ।) देव, प्रणम्यतामयमन्ध्रविषय-लक्ष्म्याः [1]सप्तगोदावरहारकलापैकनायको भगवान्भीमेश्वरः । अयं हि

तत्कालारभटीविजृम्भणपरित्रासादिव [2]भ्रश्यता
वामार्धेन तदेकशेषचरणं बिभ्रद्वपुर्भैरवम् ।
तुल्यं चास्थिभुजंगभूषणमसौ भोगीन्द्रकङ्कालकै-
र्बिभ्राणः परमेश्वरो विजयते कल्पान्तकर्मान्तिकः ॥१०२॥

दोषमात्राभि समग्रगुणगुम्फिता । विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते । वृत्ति लक्षण यथोक्तम्–'या विकासेऽथ सङ्कोचे विक्षेपे विस्तरे गिराम् । चेतसो वर्तयित्री स्यात्सा वृत्ति सापि षड्विधा । कैशिक्यारभटी चैव तथा मध्यमकैशिकी । मध्यमारभटी चैव भारती सात्वती परा' । सुकुमारार्थसन्दर्भा कैशिकी तासु कथ्यते ॥१०२॥

तत्कालारभटीति । तत्काले नृत्यारम्भसमये या आरभटी प्रारम्भिकी क्रिया वृत्तिर्वा तया विजृम्भणम् कायवृद्धिस्ततो य परित्रासो भय तस्मादिव भ्रश्यता स्खलता वामार्धेन वनितारूपार्धभागेन एकशेष एकमात्रावशिष्टश्चरण पादो यत्र तादृशम् भैरव भीषण वपु' शरीर दधत् धारयन् , भोगीन्द्रस्य वासुके कङ्कालकै अस्थिभि तुल्यम् समम् अस्थिभुजङ्गमय भूषण बिभ्राण दधान असौ कल्पान्तकर्मान्तिक' कल्पप्रलये कर्मकर्त्ता विश्वसहर्त्ता परमेश्वर' शिवो विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । नृत्यप्रारम्भिकक्रियायां कायवृद्धौ क्रियमाणाया वर्द्धमान शिवस्य कायमालोक्यार्धनारीश्वरस्य तस्य देहार्धरूपभीतगौरीभागोऽधोभ्रष्टस्ततश्चैकपादावशिष्ट तस्य वपु भैरवमभूत् , किञ्च वासुकिर्नागा भूषणीकृतो भीत्या प्राणानसृजत्ततश्च तत्कङ्कालैरेवास्थिभुजङ्गभूषण ध्रियते स्म, एतादृशोऽसौ सहारकरो भगवान् शिवो जयतीत्यर्थ ॥ १०२ ॥

विभीषण—(दक्षिणका ओर दिखाते हुए) आन्ध्र देशकी लक्ष्मीरूप नायिकाके गलेमें सप्त गोदावर रूप जो हार है उसका सुमेरु यह भीमेश्वर महादेव है इन्हें प्रणाम कर लें ।

यह नृत्यारम्भकालमें शरीरकी वृद्धि देखते ही डरकर जब वामार्ध गौरीका भाग अलग जा बैठता है तब एक ही चरणवाले भयङ्कर शरीर धारण कर लेते हैं, कङ्काल तथा सर्पका भूषण ज्यों का त्यों रह जाता है क्योंकि भूषणमें आये हुए सर्प ही मरकर कङ्काल बन जाते हैं और आकारमे सर्प भी रहते ही है । इस प्रकार प्रलयकारी भीमेश्वरकी जय हो ॥ १०२ ॥

१ 'सप्तगोदावरी' । २ 'भ्राम्यता' ।

रामः—(कृताञ्जलि ।)

नृत्यारम्भपरित्रसद्गिरिसुताहीनार्धसंपूर्तये
निर्व्यूढभ्रमिविभ्रमाय जगतामीशाय तुभ्यं नमः ।
यश्चूडाभुजगेश्वरप्रभृतिभिस्तादृग्भ्रमन्तीर्दिशः
पश्यद्भिर्भ्रमघूर्णमाननयनैः शान्तोऽपि न श्रद्दधे ॥ १०४ ॥

अपि च—

क्रीडानटस्य प्रलयान्धकारैः कण्ठे निपीते तव नीलकण्ठ ।
पृथक्कबन्धं पृथगुत्तमाङ्गं नृत्यद्भयादैक्षत कालरात्रिः ॥ १०५ ॥

नृत्यारम्भेति । नृत्यारम्भे नृत्यस्योपक्रमे परित्रसन्ती भीता या गिरिसुता पार्वती तया हीनस्य परित्यक्तस्य अर्धस्य स्वदेहार्धस्य सम्पूर्त्तये पूरणाय निर्व्यूढ समापित भ्रमिविभ्रमो भ्रमणविलासो येन तथोक्ताय गौर्या भयात्त्यक्तेऽर्धभागे तद्विषयानुरागप्रकर्षेण तद्विरहासहिष्णुतया सद्य एव तत्सङ्गमाधिगमाय त्यक्तनृत्योपक्रमाय जगतामीशाय तुभ्य शिवाय नम । यो भवान् चूडाभुजगेश्वरप्रभृतिभि शिरोभूषणवासुकिप्रभृतिभि तादृक्पूर्ववदेव दिशो भ्रमन्ती पश्यद्भि भ्रमघूर्णमाननयनै भ्रान्तनयनै शान्तोऽपि निवृत्तनृत्योऽपि न श्रद्दधे निवृत्तो नृत्यादयमिति न विश्वस्य ज्ञात । भवति नृत्यान्निवृत्तेऽपि वासुकि प्रभृतिभिर्दिशो घूर्णमाना विलोकयद्भि भ्रमपतितदृष्टिभिस्तथात्वेन भवान्न प्रतीत , सम्प्रत्यपि शिवो नृत्यत्येवेति तेषा भ्रमो न निवृत्त इत्याशय' ॥ १०४ ॥

क्रीडानटस्येति । हे नीलकण्ठ, प्रलयान्धकारै कल्पान्तकालिकमहान्धकारै क्रीडानटस्य स्वेच्छागृहीतनटवेषस्य तव कण्ठे निपीते आच्छादिते सति कालरात्रि भैरवी कबन्ध शिरोहीनं वपु पृथक्, उत्तमाङ्ग शिरश्च पृथक् नृत्यत् भयात् सभयम् ऐक्षत । कण्ठे पिहिते योजकादर्शने द्वयोरपि कबन्धशिरोभागयो पृथक् पृथक् नृत्यद्रूपता विलोक्य भैरवी भीतिमभजतेति तात्पर्यम् ॥ १०५ ॥

राम—(हाथ जोडकर) जिस महादेवने नृत्यारम्भमे डरती हुई पार्वतीसे खाली अपने अर्धाङ्गको पूर्ण करनेके लिए नृत्य ही छोड दिया, और जिनके नृत्यसे निवृत्त हो जानेपर भी–मस्तकपर वर्त्तमान सर्पराजको दिशाओंको घूमती देखकर डरा सा देखकर लोगोंको विश्वास नहीं होता है कि शिवने नाचना छोड दिया है, उनको नमस्कार है ॥

क्रीडार्थ नृत्य करनेवाले शिवजीका कण्ठदेश जब प्रलयान्धकारमे विलीन हो जाता है तब महाभैरवीको मालूम पडता है सिर अलग नाच रहा है और धड अलग नाच रही है ॥

---

१ 'त्यक्तार्ध–' ।

(सर्वे नमन्ति ।)

रामः—(अन्यतो दर्शयन् ।) देवि, द्रविडमण्डल[१]मौलिमण्डनमाणिक्यमणिस्तबकमिदं काञ्चीनामधेयमायतनं मीनकेतनस्य । (सीतामपवार्य ।) इह हि

स्वेदजलपिच्छिलाभिस्तनुभिर्यूनां च शिथिलमाश्लेषम् ।
विपुलं पुलकशलाकापटलं झटिति प्रतिकरोति ॥ १०६ ॥

अपि च—

अभिमुखपतयालुभिर्ललाटश्रमसलिलैरवधूतपत्त्रलेखः ।

द्रविडेति । द्रविडमण्डलस्य द्रविडदेशस्य मौलिमण्डनं शिरोऽलङ्करणं यत् माणिक्यमणिस्तबकम् तादृशम् । आयतनं स्थानम् । मीनकेतनस्य कामदेवस्य ।

स्वेदजलेति । यूनां तरुणानां स्त्रीपुंसानां स्वेदजलैः घर्माम्भोभिः पिच्छिलाभिः तनुभिः शिथिलम् गाढतामनाप्नुवन्तम् आश्लेषम् आलिङ्गनम् विपुलं घनं पुलकशलाकापटलं रोमाञ्चरूपशलाकासमुदयः झटिति प्रतिकरोति विघटमानं घटयति समाधत्ते । काञ्चीनामधेये नगरे स्थितानां यूनां स्वेदोदयेनालिङ्गनं गाढं न संभवति पिच्छिलत्वाद्वपुषां परञ्जाते रोमाञ्चकण्टकेन पिच्छिलस्य वपुषो गाढालिङ्गनाक्षमत्वं विनिवर्त्य गाढालिङ्गनं विधाप्यत इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अभिमुखेति । अभिमुखपतयालुभिः मुखमार्गपातिभिः ललाटश्रमसलिलैः भालस्वेदजलैः अवधूता प्रोञ्छिता पत्रलेखा पत्रावलीरचना यस्मात् तथाभूतः अत एव मृदित विशुद्धनिष्कलङ्को यो हिमद्युतिश्चन्द्रस्तद्वद् निर्मलं स्वच्छं कपोलं वधूनां पुरुषायितं विपरीतरतिं कथयति प्रकटीकरोति । ललाटस्वेदपातेन पत्रावलीषु

(सभी प्रणाम करते हैं)

राम—(दूसरी ओर दिखलाते हुए) देवि, द्रविडदेशके मस्तकको अलङ्कृत करनेमें मौक्तिक स्तबककी तरह दीखनेवाला यह काञ्चीनगर कामदेवका निवास स्थान है। (सीताके प्रति दूसरोंसे छिपाकर)

यहाँपर पसीनेसे गीले शरीरों द्वारा जब युवाओंके आलिङ्गनमें बाधा पडने लगती है तब उनका रोमाञ्च उनकी मदद करता है अर्थात् रोमाञ्चके द्वारा पिच्छिलता कुछ कम बाधक हो पाती है और उन्हे आलिङ्गनमें दृढता लानेका अवसर मिल जाता है ॥ १०६ ॥

सामने गिरनेवाली ललाटपरकी जलबिन्दुओंसे जिनका पत्रावलिलेख धुल गया है

---

१ 'मौलिमाणिक्यस्तबकम्' ।

कथयति पुरुषायितं वधूनां मृदितहिम[1]द्युतिनिर्मलः कपोलः ॥ १०७ ॥

सुग्रीवः—(वामतो दर्शयन् ।) इयमितः शृङ्गारदेवतागर्भगृहमवन्तिविषयसीमन्तमौक्तिकमुज्जयिनी नाम राजधानी । [2]इह हि

कमितुरभिसृत्वरीणां गौराङ्गीणामिहेन्दुगौरीषु ।
उड्डयमानानामिव रजनिषु परमीक्ष्यते छाया ॥ १०८ ॥

अपि च—

अधस्तात्सौधानामिह हि चरतामिन्दुकिरणा-

प्रोञ्छितासु निर्मलचन्द्रवत् प्रतीयमानस्तासां काञ्चीपुरयुवतीनां कपोलः तासां पुरुषायितं कथयतीत्यर्थः, पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १०७ ॥

शृङ्गारेति । शृङ्गारस्य देवता कामदेवः तस्या गर्भगृहम् अन्तःपुरम् अवन्तिर्देशभेदः तस्य सीमन्तमौक्तिकम् केशरेखाऽलङ्कारमणिः ॥

कमितुरिति । इह उज्जयिन्याम् इन्दुगौरीषु चन्द्रकिरणोज्ज्वलासु रजनिषु रात्रिषु कमितुः कामिनः (समीपम्) अभिसृत्वरीणाम् अभिसारिकाणाम् गौराङ्गीणाम् नायिकानाम् उड्डयमानानां पक्षिणाम् छाया परं केवलं दृश्यते न शरीरम् इति भावः । गौराङ्गीषु श्वेताभिसारिकासु चन्द्रज्योत्स्नामिलितासु सतीषु तासां छायामात्रं दृश्यते न शरीरमिति तात्पर्यम् ॥ १०८ ॥

अधस्तादिति । इह उज्जयिन्याम् वनं वारंवारमुदञ्चन् विघटमानो यश्चञ्चूपुटस्तत्र निहितनेत्रा दत्तदृष्टयः युवतयः सौधानां हर्म्याणां अधस्तात् अधोभागे इन्दुकिरणान् चन्द्रकरान् चरताम् पिबताम् ज्योत्स्ना एव रसः पानीयं तस्य कुतुपः स्वल्पचर्मघटस्तस्य कौतूहलम् कुर्वन्तीति ज्योत्स्नारसकुतुपकौतूहलकृताम्

वैसा कपोल बता देता है कि यहाँकी युवतियोंने विपरीतरतिका अभ्यास किया है ॥ १०७॥

सुग्रीव—(बायीं ओर दिखलाते हुए) शृङ्गार देवताका अन्तर्गृह अवन्तिदेशका सीमन्तमौक्तिक उज्जयिनी नामकी राजधानी यह इधर दीख रहा है। यहाँ पर—

यहाँ अपने प्रियतमोंके पास चन्द्रधवल-रात्रियोंमे अभिसार करनेवाली स्त्रियोंकी छायामात्र ऐसी दीख पडती है मानों यह उडनेवाली औरतोंकी छायायें हो ॥ १०८ ॥

सौधके ऊपर खडी स्त्रियाँ नाचेके चकोरोंका चन्द्रिकापान देख रही है, वे देखती है कि चकोरोंका चोंच खुली है वे धडाधड चन्द्रिकापान कर रहे है, उन स्त्रियोंकी आँखें

---

१ 'हिमद्युतिदुमना'। 　२ 'इह हि' इति क्वचिन्नास्ति ।

न्धनोदञ्च[1]च्चञ्चूपुटनिहितनेत्रा युवतयः ।
चकोराणां ज्योत्स्नारसकुतुपकौतूहलकृता-
मुदीक्षन्ते नश्यत्तिमिरविशदाभोगमुदरम् ॥ १०९ ॥

अपि च—
इह युवतिवदनकान्तिभिराप्यायिततुन्दपरिमृज शेते ।
भुक्तापभुक्तहिमरुचिमरीचिरन्त पुरचकोर ॥ ११० ॥

चन्द्रज्योत्स्नारूपपानीयादानकुतुपक्रीडामिवाभ्यस्यताम् चकोराणाम् पक्षिभेदानाम् नश्यति तिमिरे विशद प्रकाशित आभोगोऽभ्यन्तरविस्तारो यस्य तादृशम् उदरम् उदीक्षन्ते ऊर्ध्वदेशात् पश्यन्ति । सौधाग्रस्था युवतयोऽर्वाभागे चन्द्रकिरणान् पिबत्सु चकोरेषु वारवार विघटमानेषु भूरि वा निवटमानेषु चकोराणा चञ्चूपुटेषु नेत्राणि निक्षिप्य ज्योत्स्नारूपपानीयादान कुतुपैरिव कुर्वता तेषा चकोराणा ज्योत्स्नानश्यत्तिमिरतया प्रकाशीभवदुदराभोग वीक्षन्ते । यथा क्वचन गृहे स्थित वस्तु गवाक्षे दृष्टि निक्षिप्य दृश्यते तथैवात्रत्या युवतयश्चकोराणा चन्द्रिकापानाय विघटितेषु चञ्चूपुटेषु निक्षिप्तदृष्टयो ज्योत्स्नारसादानकुतुपक्रीडामिवाचरता चकोराणामुज्ज्वलीभवन्तमुदराभोग पश्यन्तीति भाव । 'कुतू कृत्ते स्नेहपात्र सैवाल्पा कुतुप पुमान्' इत्यमर । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १०९ ॥

इहेति । इह अत्रोज्जयिन्याम् अन्त पुरचकोर भुक्ता अपभुक्ताश्च त्यक्ताश्च हिमरुचेश्चन्द्रस्य मरीचय किरणा येन तथाभूत सन्नपि युवतिवदनकान्तिभि आप्यायित पूर्ण फुल्लम् तुन्द स्वोदरं परिमार्ष्टि परामृशति यस्तथाभूत सन् शेते । अन्योऽपि भुक्तोज्झिताहार पूर्णोदरश्च यदि लौल्यात्पुनरश्नाति तदा तुन्दपरिमृजोऽलसो भूत्वा क्वचिच्छेते, अयमन्त पुरचकोरोऽपि यथारुचि चान्द्री रुचो निपीय पानाशक्त्या परित्यज्य च पुनर्दृश्यमानेषु युवतिमुखेषु तत्कान्तीरप्यायासैरास्वाद्यात्मतुन्द फुल्ल परिमृजन्नलसोऽन्त पुरे शेत इत्यर्थ ॥ ११० ॥

खुली हुई चोंचकी राहसे पेट तक पहुँच जाती है और यह भी देखता है कि पीतचन्द्र किरणोंसे चकोरोंके उदरदेशमें वर्त्तमान तम भी मिटते जा रहे है ॥ १०९ ॥

यहाँपर चकोरोंको युवतियोंके वदनोंकी कान्तिया पर्याप्त मात्रामें पानेको मिल जाती हैं जिससे उनकी बुभुक्षा शान्त हो जाती है और वे अलस हो जाते है, बादमें चन्द्रमाकी किरणोंको वह चकोर कुछ खाते कुछ इधर-उधर बिखेर देते हैं और वहीं सो जाते हैं ॥

---

१ 'चञ्चूपथ–' ।

विभीषण.—इहैवायमलकाया शाखानगरगौरवभाजि त्रिपुरदह-नाधिष्ठानप्रतिष्ठो भगवान्महाकालनाथः । अयं हि

उद्दामभ्रमिवेगविस्तृतजटावल्लीप्रणालीपत-
त्स्वर्गङ्गाजलदण्डिकावलयितं निर्माय तत्पञ्जरम् ।
संभ्राम्य[1]द्भुजदण्डपक्षपटलद्वन्द्वेन हंसायित-
स्त्रैलोक्यव्ययनाटिकानयनटः स्वामी जगत्त्रायताम् ॥१११॥

राम —(प्राञ्जलिः ।)

नमस्तुभ्यं देवासुरमुकुटमाणिक्यकिरण-

अलकायाः कुवेरपुर्याः । शाखानगरस्य उपनगरस्य गौरवं भजते तादृश्याम् अलकासमायाम् । इह उज्जयिन्याम् । त्रिपुरदहनस्य शिवस्य अधिष्ठानेन निवासेन प्रतिष्ठा ख्यातिर्यस्य तथोक्तः महाकालनाथः तदाख्यशिवलिङ्गभेदः ।

उद्दामेति । उद्दामा महाभीषणा या भ्रमिः नर्त्तनभ्रमणं तद्वेगेन विस्तृता दीर्घी-भूता जटावल्ली एव प्रणाली जलनिर्गममार्गः तस्या तद्वर्त्मना पतन्ती या स्वर्गङ्गा तस्या जलान्येव दण्डिकाः शलाकाः ताभिः वलयितं वेष्टितम् यत् पञ्जरं तत् निर्माय कृत्वा सम्भ्राम्यन् भुजदण्डावेव पक्षपटलद्वन्द्वम् तेन हंसायितः हंससाम्यं गतः त्रैलोक्यव्ययः संसारनाश एव नाटिका तस्या नयेऽभिनये नटः स्वामी शिवः जगत् त्रायताम् रक्षतु । अयमर्थः—वेगेन भ्रमणे प्रवृत्ते जटासु विस्तृतासु तद्वर्त्मना गङ्गापयस्सु सहस्रधारीभूय पतत्सु तज्जलधाराशलाभिरिव निर्मिते पञ्जरे स्थितः भ्राम्यतोर्भुजयोर्दण्डोपमयोः पक्षयोरिव प्रतीयमानयोर्हंससाम्यं गतस्त्रिलोकीसंहार-नाटकसूत्रधृत् शिवो जगत् त्रायतामिति । रूपकालङ्कारः ॥ १११ ॥

नमस्तुभ्यमिति । देवासुराणां देवानामसुराणां च मुकुटेषु किरीटेषु यानि माणि-

विभीषण—इसी उज्जयिनीमें जो अलकाके शाखानगरका गौरव धारण करती है—कामदेवको जलानेकी प्रतिष्ठा धारण करनेवाले यह महाकालनाथ रहते हैं ।

प्रचण्ड भ्रमण वेगसे फैली जटारूप प्रणाली होकर गिरते हुए आकाशगङ्गाके जलरूप काठियोंसे पञ्जर-सा बनाकर भ्रमण करनेवाले बाहुदण्डरूप पक्षोंसे हंसके समान प्रतीत होनेवाले तथा त्रिलोकके संहाररूप नाटिकाके अभिनयमें नट बननेवाले स्वामी महादेव जगत्‌का त्राण करें ॥ १११ ॥

राम—(हाथ जोड़कर) देव तथा असुरगणके मुकुटमें खचित माणिक्योंकी किरण

१. 'भुजखण्ट' ।

प्रणालीसंभेदस्नपितचरणाय स्मरजिते ।
महाकल्प[1]स्वाहाकृतभुवनचक्रेऽपि नयने
निरोद्धुं भूयस्तत्प्रसरमिव कामं हुतवते ॥ ११२ ॥

किं च—

वेगादगाद्देव तव त्रिनेत्र युग्मेतरस्मान्नयनात्कृशानुः ।
कामे तु संमोहनशस्त्रहस्ते स्वाहामनुध्याय चिरं जडोऽभूत् ॥११३॥

कयानि रत्नानि तेषां किरणा एव प्रणालीसंभेदाः जलनिर्गममार्गनिर्गतजलानि तैः स्नपितौ धावितौ चरणौ यस्य तथाभूताय प्रणिपतद्देवदानवमुकुटमणिद्युतिजलस्नपितपादद्वन्द्वायेत्यर्थः । महाकल्पे महाप्रलयकाले स्वाहाकृतं स्वहुताशे हुतं भुवनचक्रं जगन्मण्डलं यत्र तादृशेऽपि नयने निजतृतीयनेत्रे भूयः पुनः तत्प्रसरं स्वतृतीयनेत्रसञ्चारं निरोद्धुम् वारयितुमिव कामं हुतवते होमविषयं कृतवते स्मरजिते शिवाय नमः । देवदानवप्रणुतौ यश्शिवो जगन्मण्डलं सहृतवतो निजतृतीयनयनस्य प्रचारमवरोद्धुमिव कामं भस्मीकृतवान्, यद्यय कामो नात्र हूयते तदा कुपितेनानेन तृतीयनेत्रेण पुनर्जगद्भस्मीक्रियेतेति तत्प्रतारणायैव कामं भस्मीकृतवते शिवाय नमः इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ११२ ॥

वेगादिति । हे देव त्रिनेत्र शिव, तव युग्मेतरस्मात् तृतीयात् नयनात् कृशानुः अग्निः वेगात् अगात् कामसमीपं गतः किन्तु सम्मोहनशस्त्रहस्ते हस्तधृतसम्मोहननामकास्त्रे कामे स्वाहा नाम निजपत्नीम् अनुध्याय स्मृत्वा चिरं बहुकालपर्यन्तं जडः अक्रियोऽभूत् । प्रहरन्तं कामं दग्धुं त्वया तृतीयनयनात् प्रेरितोऽग्निर्वेगेन कामस्य समीपं गतस्तत्र च कामस्य हस्ते सम्मोहनं नामास्त्रमालोक्य स वह्निः स्वपत्नीस्मरणं कर्तुं बाधितो भूत्वा चिरं किङ्कर्तव्यविमूढ आसीदित्याशयः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ११३ ॥

रूप नालासे निर्गत प्रभारूप जलसे जिनके चरण स्नपित हुआ करते हैं, और महाकल्पमें भुवनमण्डलको जलानेवाले नयनके प्रसरको रोकनेके लिए ही जिन्होंने कन्दर्पको दग्ध कर दिया है ऐसे कामारिको नमस्कार ॥ ११२ ॥

हे त्रिनेत्र, आपके तृतीयनेत्रसे अनल तो बड़े वेगसे चला, कामके समीप पहुँचा, परन्तु वहाँ जब उसने कन्दर्पको सम्मोहनास्त्र लिये खडा देखा तब वह तृतीय नेत्रानल अपनी प्यारी स्वाहानामक स्त्रीको याद करने लगा इसीलिए ठिठका खडा रहा ॥ ११३ ॥

---

१ स्वाहीकृत'।

(सर्वे नमन्ति ।)

सीता—(विहस्य ।) [1]अहो तत्थभवदो ससहरसेहरस्स कवलिद-चउद्दसभुवणस्स वि ण पलाइदा अक्खिबुभुक्खा जेण भअव मअणो वि विआलिअग्गासीकिदो । [अहो तत्रभवतः शशधरशेखरस्य कवलितचतुर्दशभुवनस्यापि न पलायिता अक्षिबुभुक्षा येन भगवान्मदनोऽपि विकालिकग्रासीकृतः ।]

(सर्वे हसन्ति ।)

राम—(सविमर्शम् ।) अस्य हि भगवतः

बाणीभूतपुराणपूरुष[1]धृतिप्रत्याशया धाविते
　　विद्राति स्फुरदाशुशुक्षणिकणक्लान्ते [2]शकुन्तेश्वरे ।

शशधरशेखरस्य चन्द्रशेखरस्य । कवलितचतुर्दशभुवनस्य चतुर्दशापि भुवनानि संहृतवतः । न पलायिता न निवृता । अक्षिबुभुक्षा दृष्टिक्षुधा । विकालग्रासीकृतः मध्याह्नादिपरकालभोजनतां नीतः, यथा कृतभोजनेनापि सावशेषभोजनेच्छेन जनेन विकाले किञ्चिदल्पं भुज्यते तथैव चतुर्दशभुवनान्यप्यशित्वाऽक्षिक्षुधायामनिवृत्तायां शिवः कामदाहरूपं विकालाशनमिव कृतवानित्यर्थः ।

बाणीभूतेति । पुरा त्रिपुरदाहावसरे भगवान् विष्णुः शिवस्य बाणो जातः तत् बाणीभूतस्य शरस्वरूपं गृहीतवतः पुराणपुरुषस्य नारायणस्य धृतौ धारणे पृष्ठेन वहने या प्रत्याशा उत्कटेच्छा तया धाविते प्रस्थिते (किन्तु) स्फुरद्भिः प्रचलैः आशुशुक्षणेः अग्नेः कणैः क्लान्ते पीडिते शकुन्तेश्वरे पक्षिराजे गरुडे विद्राति पलाय-

---

(सभी प्रणाम करते हैं)

सीता—(हंसकर) महादेवकी आँखोंने चतुर्दश भुवनको ग्रास बना लिया फिर भी उनकी बुभुक्षा शान्त नहीं हुई जिससे कि उन्होंने कामदेवको जलपानके रूपमें ग्रास बना लिया ।

(सभी हंसते हैं)

राम—(विचार करके) इस महादेवका—

त्रिपुरासुरके दाहकालमें विष्णु जब उनके बाण बन गये थे तब अपने स्वामी विष्णुको अपनी पीठपर ढोनेकी लालसासे गरुड बाण बने हुए विष्णुके पास गये, परन्तु शिवजीके तृतीय नेत्र स्थित वह्निकी ज्वालासे झुलसकर भाग खडे हुए, जब वह गरुड समीप आने

---

१ 'गति-' ।　　२ 'पतङ्गेश्वरे' ।

नम्रोन्नम्रभुजंगपुंगवगुणव्याकृष्टबाणासन-
क्षिप्तास्त्रस्य पुरद्रुहो विजयते संधानसीमाश्रमः ॥११४॥

(अन्यतो दर्शयन ।) इयं च [1]करचुरिकुलनरेन्द्रसाधारणाग्रमहिषी माहिष्मती नाम चेदिमण्डलमुण्डमाला नगरी । इह हि

आश्लेषचुम्बनरतोत्सवकौतुकादि-

माने सति नम्र. गरुडोपसर्पणजन्यभयान्नत उन्नम्र तदपसरणादुन्नतश्च यो भुजङ्गपुङ्गव सर्पराज स एव मौर्वी प्रत्यञ्चा तेन व्याकृष्ट चल यत शरासनम् धनुस्तेन क्षिप्तम् अस्त्रम येन तथाभूतस्य पुरद्रुह शङ्करस्य सन्धाने शरयोजने सीमा इयत्ता तत्र श्रम विजयते । त्रिपुरारे शिवस्य त्रिपुरदाहोपक्रमे भगवान्विष्णु शरस्वरूपतां गतो वासुकिश्च प्रत्यञ्चारूपत्व गत, विष्णोर्वाहनगरुडस्तथाभूतमपि विष्णु वोढुमुत्कण्ठमानस्तत्समीपमागन्तुमुपचक्रमे समीपमुपसरन्नेवासौ तृतीय नयनज्वालयाऽवलीढसर्वावयवस्सन्द्रुतपद पलायित, समीपमागच्छतस्तस्माद् भयेन वासुकिर्नमति स्म, तस्मिन्नपक्रामति चोन्नमति स्म, तदेव तस्य वासुके. प्रत्यञ्चारूपस्य नमनोन्नमनयोर्जायमानयो शर क्षिप्तो जातस्तदा च पुन शरोऽयोज्यत पुन क्षिप्ते शरेऽन्य शरो योजित इति शरयोजनायास एव विजयते कर्तृतया वर्णितो बोध्य । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ११४ ॥

करचुरिकुल कार्त्तवीर्यार्जुनवशस्तत्र ये नरेन्द्रा राजानस्तेषा साधारणी एकभावा अग्रमहिषी ज्येष्ठा भार्या । चेदिमण्डलस्य चेदिराज्यस्य मुण्डमाला मस्तकालङ्करणभूता ।

आश्लेषेति । आश्लेष. आलिङ्गनम् चुम्बनम् रतोत्सव सुरतप्रसक्तिश्च एते

थे तब प्रत्यञ्चा बने हुए नागराज नम्र हो जात थे, और जब वह तापासहिष्णु होकर दूर चले जाते थे तब नागराज कुछ उन्नत हो जाते थे, इसलिए प्रत्यञ्चाके चलायमान होते रहनेसे बाण बहुत तेजीसे छूटने लगे, अत महादेवको तीव्रताके साथ बाण-सन्धान करना पडा, महादेवका वह श्रम विजय लाभ करे ॥ ११४ ॥

(दूसरी ओर दिखलाते हुए) करचुरी कुलके नृपतियोंकी साधारण पटरानी तथा चेदिमण्डलकी शिरोभूषण स्वरूप यह है माहिष्मती नगरी । यहाँपर आलिङ्गन, चुम्बन, रतोत्सव आदि द्यूतका पण बना करते हैं और उस द्यूत का मध्यस्थ बनना है कामदेव ।

१. 'करचुलि–' ।

क्रीडादुरोदरपणप्रतिभूरनङ्गः ।
[1]भोगस्तु यद्यपि जये च पराजये च
यूनोर्मनस्तदपि वाञ्छति जेतुमेव ॥ ११५ ॥

(विमानवेग रूपयित्वा ।) देवि,[2]

देव्या भूमेर्मृगमदमषीमण्डनं सिद्धसिन्धो
सध्रीचीयं जयति यमुना या तटैकाग्रवृत्तीन् ।
प्रेमोत्कर्षादिव पितृपतेर्भ्रातुराच्छिद्य हस्ता-
दस्ताबाधं गमयति पितुर्मण्डलं [3]चण्डभानोः ॥ ११६ ॥

आदयो यस्यास्तादृशो यो दुरोदरपण द्यूतक्रीडाशुल्कस तस्य प्रतिभू प्रवर्त्तको मध्यवर्त्ती विश्वासदायकः अनङ्गः कामदेव एव । यद्यप्यत्र दुरोदरे जये पराजये च भोगः परस्परालिङ्गनादिरूप समान एव तथापि यूनोर्मन जेतुमेव वाञ्छति । कामदेवेन मध्यस्थीभूय प्रवर्त्तिते आश्लेषादिपणे द्यूते जयपराजययोरन्तरं नास्ति भोगस्योभयसमनियतत्वात्तथापि युवानौ जेतुमिच्छत प्रत्येकमिति भाव ॥११५॥

देव्या इति । भूमेर्धराया देव्या मृगमद कस्तूरी एव श्यामतया मसी तया मण्डनम् अलङ्करणभूतम् पृथ्व्या मुखे कस्तूरीकृतलेखवत् प्रतीयमाना सिद्ध-सिन्धोर्गङ्गाया सहचरी सध्रीची इयं यमुना जयति । या यमुना तटैकाग्रवृत्तीन् एकाग्रमनसा तटवर्त्तिनो जनान् भ्रातु स्वसोदरस्य पितृपतेर्यमराजस्य हस्तात् आच्छिद्य बलादपहृत्य प्रेमोत्कर्षात् स्नेहातिशयादिव अस्ताबाधं निर्विघ्न पितुः चण्डभानो सूर्यस्य मण्डलं नयति प्रापयति । इयं हि यमुना पृथ्व्या मृगमदलेख-

---

यद्यपि उस द्यूतकी जीत तथा हार दोनो स्थितियोंमें भोग समान है तथापि युवकोंको जीतनेकी ही इच्छा होती है ॥ ११५ ॥

(विमानके वेगका अनुभव करके) देवि,

देवी पृथ्वीके लिए कस्तूरी लेप-भूषणकी तरह दीखने वाली, गङ्गाकी सङ्गिनी यह यमुना अपने तटपर रहनेवाले जनोंको प्रेमकी प्रचुरताके कारण अपने भाई यमराजके हाथोंसे बलपूर्वक छीनकर अपने पिताके मण्डल तक पहुँचा देती है जहाँ किसी प्रकारका कोई क्लेश नहीं होता है ॥ ११६ ॥

---

१. 'भोगस्तु यद्यपि जयेऽपजये च तुल्यो', 'भोगः स यद्यपि जये विजयेऽपि तुल्यो' ।
२ 'देवि' इति क्वचिन्नास्ति । ३ 'भास्करस्य' ।

लक्ष्मणः—(दूरमङ्गुल्या दर्शयन् ।)

त्रिपुरहरकिरीटक्रीडितै [1]क्रीडयद्भि-
भुंवनममृतभानोर्बालमित्त्रै· पयोभिः ।
सगरसुतचितायाः पावनी तोयराशे-
रियमियमघमग्रे जाह्नवी निह्नुते न· ॥ ११७ ॥

रामः—(सहर्षम् ।)

गौरीविभज्यमानार्धसंकीर्णहरमूर्धनि ।
अम्ब द्विगुणगम्भीरे भागीरथि नमोऽस्तु ते ॥ ११८ ॥

समा प्रतीयमाना स्वतटागतान् जनान्यमपाशाद् मोचयित्वा सूर्यमण्डल मोक्ष मार्गं प्रापयतीत्यतिशयवतीयमिति भाव ॥ ११६ ॥

त्रिपुरहरेति । त्रिपुरहरकिरीटक्रीडितैः शिवशिरोदेशविहितवासै· भुवनं विश्वं क्रीडयद्भि प्रसन्नता प्रापयद्भि अमृतमानोश्चन्द्रस्य बालमित्रै बालसखै पयोभिः पानीयै· सगरसुतचिताया· सगरसुताना कपिलकर्तृकदाहस्थानभूतस्य तोयराशेः सागरस्य पावनी पवित्रताकरी अग्रे इयम् जाह्नवी न अस्माकम् अघम् पाप निह्नुते अन्तर्दधाति । यानि पयासि शिवशिरस्यक्रीडन्त यानि च जगत्प्रसन्नमकुर्वत, यानि चन्द्रपादैस्सह बालसखित्वमभृषत, तैरेव स्वपयोभि सगराणा कपिलेन कृतस्य दाहस्य स्थानभूत सागर पुनन्ती इय जह्नुतनया गङ्गाऽस्माकमघमेकपद एव विनाशयतीत्यर्थो बोध्य , आदरातिशयकृते सम्भ्रमे इयमियमिति द्विरुक्ति ॥११७॥

गौरीति अम्ब, मात , भागीरथि गङ्गे, गौर्या विभज्यमानम् अर्धम् अर्धभाग· स्तेन सङ्कीर्णे स्वल्पीभूते हरस्य मूर्धनि अर्धनारीश्वरस्य शिरोऽर्धभागे द्विगुणगम्भीरे द्विगुणीभूतगाम्भीर्ये, (अविस्तृते प्रदेशे नद्य· सङ्कीर्णा· किन्तु गम्भीरा वहन्ती· त्याशयेनेद विशेषणम्) ते तुभ्य नम· ॥ ११८ ॥

लक्ष्मण—(अङ्गुलिसे दूर तक दिखाते हुए) महादेवके सिरपर खेलनेवाले तथा चन्द्रमाके बालमित्र जलोंसे सगरपुत्रोंकी चितास्वरूप सागरको पवित्र करनेवाली यह गङ्गा हमारे पापोंको दूर करे ॥ ११७ ॥

राम—(सहर्ष) पार्वती द्वारा आधे अङ्गके विभाजित कर लिये जानेपर सङ्कीर्ण हो गये महादेवके मस्तकपर द्विगुण-गम्भीर होकर बहनेवाली मातर्गङ्गे, तुमको नमस्कार करता हू ॥ ११८ ॥

---

१ 'प्रीणयद्भि' ।

(सीता प्रति ।) देवि, वन्दस्व ।

देवस्याम्बुजसम्भवस्य भवनादम्भोधिमागामुका[1]
सेयं मौलिविभूषणं भगवतो भर्गस्य भागीरथी ।
उद्यातानपहाय विग्रहमिह स्रोत·प्रतीपानपि
स्रोतस्तीव्रतरत्वरा गमयति द्राग्ब्रह्मलोकं जनान् ॥११९॥

सीता—(कृताञ्जलि ।) एसा णिअस्सोतसिङ्खलासदाणिदतिहुअणा-मन्दाइणि, वन्दिज्जसि ।

(सर्वे नमन्ति ।)

लक्ष्मण—(अन्यतो दर्शयन् ।)

देवस्येति । अम्बुजसम्भवस्य कमलयोनेर्देवस्य ब्रह्मण भवनात् गृहात् तत्क-मण्डलो अम्भोधिम् सागरम् आगामुका आगन्तुकामा भगवतो भर्गस्य शिवस्य मौलिविभूषणम् सेय भागीरथी विद्यते इति शेष । इह भागीरथ्या विग्रह कलेवरम् अपहाय त्यक्त्वा उद्यातान् ऊर्ध्वंगतान् स्रोत प्रतीपान् प्रवाहप्रतिकूलगामिन अपि जनान् स्रोतस्तीव्रतरत्वरा प्रवाहापेक्षयाऽप्यधिकेन वेगेन गमनशीला इय भागीरथी द्राग् झटिति ब्रह्मलोक गमयति । ब्रह्मकमण्डलो सागर गच्छन्त्यस्या भागीरथ्या ये जना शरीर त्यक्त्वा म्रियमाणान् जनानियं भागीरथी प्रतिकूल प्रवाहाभिमुख प्रवाहाभिमुखापेक्षयापि तीव्रतर धावित्वाऽतित्वरया ब्रह्मलोक प्राप यतीत्यहो अस्या माहात्म्यमिति भाव ॥ ११९ ॥

(सीताके प्रति) देवि, गङ्गामाताको प्रणाम करो ।

कमलयोनि ब्रह्माके घरसे समुद्र तक आनेवाली तथा महादेवके मस्तकको अलकृत करनेवाली यही है भगवती भागीरथी । इसके तटपर जो लोग शरीर त्याग करते है उन्हें यह प्रवाहके विरुद्ध दिशामें प्रवाहकी अपेक्षा तेजीसे चलकर शीघ्र ब्रह्मलोक पहुचा देती है ॥ ११९ ॥

सीता—(हाथ जोडकर) इस गङ्गाने अपने प्रवाहरूप कडियोंसे त्रिभुवनको बाँध रखा है, भागीरथि, आपको नमस्कार करती हू ।

(सभी प्रणाम करते हैं)

लक्ष्मण—(दूसरी ओर दिखलाते हुए)

---

१ 'आगामुकी' ।

धनाधिनाथप्रणयानुरोधादभग्नकैलासनिकेतनस्य ।
देवस्य कल्पान्तकपालपाणेर्वाराणसी नाम पुरी पुरस्तात् ॥१२०॥

रामः—(सहर्षमवलोक्य ।)

प्लवमानैरपारोऽयं जनै संसारसागरः ।
द्वीपे वाराणसीनाम्नि विश्रान्तैरिह तीर्यते ॥ १२१ ॥

अपि चैना नित्यमध्यास्ते भगवान्,

कण्ठच्छायनिपीतपन्नगफणारत्नौघमात्रस्थितौ
हारे निर्भयपार्वतीभुजलताबन्धोल्लसत्कन्धर. ।

धनाधिनाथेति । पुरस्तात् अग्रत धनाधिनाथस्य कुवेरस्य य प्रणय स्नेहस्तद नुरोधात् अभग्नम् अत्यक्तम् कैलासनिकेतनम् येन तथोक्तस्य कुबेरस्नेहानुरोधात् कैलासे निवसत कल्पान्ते प्रलये कपालपाणे कपाल करे धृत्वा भ्रमत देवस्य शम्भो वाराणसी नाम पुरी पुरस्तात् अग्रे दृश्यत इति शेष. ॥ उपजातिर्वृत्तम् ॥१२०॥

प्लवमानैरिति । अय ससार एव सागर. प्लवमानै सन्तरद्भिर्जनै. अपार तरीतुमयोग्य' किन्तु इह वाराणसीनाम्नि द्वीपे विश्रान्तै. सद्भि. तीर्यते । अय माशय—यथा कश्चित्सागर सकृदारम्भमात्रेण न तर्त्तुं शक्य प्रवाहस्य विस्तृत त्वात्, किन्तु मध्ये मध्ये द्वीपेषु विश्रम्य तर्त्तु शक्यते, तथैवाय ससारसागरोऽपि काशीनामके द्वीपे विश्रम्य तर्त्तु शक्यत इति ॥ १२१ ॥

कण्ठच्छायेति । कण्ठस्य च्छाया प्रतिबिम्बम् कण्ठच्छायम् तेन निपीत निश्शेषेण पीत. तिरोहित' पन्नगफणारत्नौघः सर्पफणामणिकान्तिचयः तन्मात्रेण अस्तकान्तिस्वरूपेण स्थिते हारे नागहारे निर्भयाया फणामणिनिह्नवेन वासुकेरसद्भावमुत्प्रेक्ष्य गतभीते पार्वत्या भुजलतया बन्धेन अशिथिलालिङ्गनेन उल्लसन्ती

धनाधिनाथ कुबेरके स्नेहानुरोधसे महादेवने कैलासरूप अपना पुराना वासस्थान नष्ट नही किया, परन्तु प्रलयकालमें कपालपाणि बननेवाले शिवजीका वासस्थानभूत वाराणसी ही है जो आगे दिखलाई पड रही हैं ॥ १२० ॥

राम—(हर्षसे देखकर) यह ससारसागर तैर करके पार करनेवालोंके लिए अपार है, इस वाराणसी नामक द्वीपमें विश्राम करनेपर ससारसागरका पार प्राप्त किया जा सकता है ॥ १२१ ॥

इस वाराणसीमें महादेव सदा रहा करते हैं ।

महादेवके गलेकी काली छायाके पडनेसे सर्पफणामणि प्रच्छादित• हो जाती है, पार्वती

तत्सर्वाङ्गविरामवामनतमैरेव स्वरैः सामगं
　　बिभ्रद्ब्रह्मशिरः शिवाय जगतामेणाङ्कचूडामणिः ॥१२२॥

([1]अन्यतो दर्शयन्, सीतां प्रति ।) देवि, दृश्यतामितः ।

नवोन्मीलन्मौर्वीकिणनिकरकार्कश्यसदय-
　　प्रवृत्तस्त्वत्पाणौ किमपि निबिडं पीडयति मे ।

शोभमाना कन्धरा यस्य स तथोक्तः । पूर्वं पार्वतीहरकण्ठे स्थितात्सर्पाद्बिभ्यती तं कण्ठग्रहेण नानन्दयति स्म, सम्प्रति कण्ठस्य नीलप्रभया अन्तर्हिते फणामणिदीप्तिचये सर्पस्यासद्भावमुत्प्रेक्ष्य पार्वती तस्य कण्ठं बाहुभ्यामाश्लिष्टवती येन तस्य कन्धरा उल्लासमन्वभूदित्यर्थः । तत् प्रसिद्धमतिप्रियं वा सर्वाङ्गविरामेण सकलाङ्गविनाशेन वामनतरैः खर्वतां गतैः ह्रस्वैः एव स्वरैः सामगम् सामवेदगायकं ब्रह्मशिरः ब्रह्मणः कपालं बिभ्रत् धारयन् एणाङ्कचूडामणिः मृगाङ्कशेखरः शिवः जगतां शिवाय जायतामिति शेषः ॥

शाश्वतरूपतया शिवोऽनेकेषां ब्रह्मणां विनाशं पश्यतीति स तत्कपालधारितयाऽत्र वर्णितः, तत्कपालं चाङ्गान्तरसङ्गरहितमिति मन्दस्वरेणैव साम गायतीत्युत्प्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १२२ ॥

नवोन्मीलदिति । यस्याः पुर्यां मिथिलायाम् नवोद्यन् सद्यः सञ्जायमानः मौर्वीकिणनिकरः प्रत्यञ्चावर्षणोत्पन्नव्रणार्बुदसमूहः, तत्कार्कश्यात् हेतोः सदयप्रवृत्तः त्वत्पाणिं सदयं ग्रहीतुं प्रवर्त्तमानः (अस्याः कोमलः करो मया नवोदितव्रणकिणकर्कशेन बलवद् गृह्यमाणो व्यथेतेति विभाव्य सदयमेव तव करं कलयितुं व्यापृतः) मे मम करः किमपि स्नेहातिरेकवशादनिर्वचनीयरूपेण निबिडं गाढं

का सर्पभय निवृत्त हो जाता है और वह निर्भय भावसे शिवका कण्ठालिङ्गन कर लेती है जिससे शिवकी ग्रीवा उल्लसित हो उठती है। प्रलयकालमें ब्रह्माका सारा शरीर समाप्त रहता है केवल कपाल रह जाता है अतएव वह कपाल मन्दस्वरसे ही सामगान कर पाता है उसी कपालको महादेव धारण करते हैं, ऐसे चन्द्रचूड शिव विश्वका कल्याण करें ॥१२२॥

(दूसरी ओर दिखलाते हुए) (सीताके प्रति) देवि, इधर देखो,

हमारे हाथमें ताजे बने प्रत्यञ्चावर्षणजन्य व्रणकिण थे, अतः हम चाहते थे कि तुम्हारे कोमल हाथको कष्ट न पहुचे अतः हमने कोमलरूपमें तुम्हारा हाथ पकडनेकी चेष्टा की थी,

---

१. 'अन्यच्च' ।

कृतार्थोऽयं यस्यां समजनि करः सैव पुरत
पुरी पूर्वेषां ते नयनमियमालानयति नः ॥ १२३ ॥

सीता—(सस्मितानुराग [1]साचीकृताक्षी राम पश्यन्ती पुरी प्रति ।) अम्ब मिहिले, वन्दिज्जसि । गुरुअणो वि वन्दण मे विण्णवेसि । [अम्ब मिथिले, वन्द्यसे । गुरुजनेऽपि वन्दन मे विज्ञापयिष्यसि ।]

रामः—(सुग्रीवविभीषणौ प्रति ।) [2]वयस्यौ, इय सा जानकी प्रजायमानाया भगवत्या भूमेररिष्टमन्दिर मिथिला ।

[3]**सुग्रीवविभीषणौ**—(सकौतुकस्मितम् ।) यत्र भगवत [4]पार्वतीजीवितेश्वरस्य [5]धनुर्धनुरन्तेवासिनावजगवभार्गवौ भञ्जतो भवत सहपांसुक्रीडादीर्घसखीय वीरलक्ष्मीः ।

त्वत्पाणौ पीडयति सति (सदयं प्रवृत्तस्य मम करस्य तव पाणिनैव गाढ ग्रहणे क्रियमाणे सति) कृतार्थं धन्य अजनि जात सैव ते तव पूर्वेषा पूर्वजानामिय पुरी न अस्माक नयनम् आलानयति बध्नाति आकर्षति ॥ १२३ ॥

प्रजायमानाया जनयन्त्या । अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र जनि । अरिष्टमन्दिरम् सूतिकागृहम् ।

पार्वतीजीवितेश्वरस्य हरस्य । धनुर्धनुरन्तेवासिनौ धनुश्चापं धनुरन्तेवासी चाप

परन्तु जब तुम्हारे हाथने हा हमारे सदयप्रवृत्त उस हाथको जोरोंसे थाम लिया तब हमारा हाथ तुम्हारे प्रेम-प्रकर्षका पता पाकर धन्य हो उठा, यह सारी घटना जिस नगरीमे हुई वही यह तुम्हारे पूर्वजोंकी मिथिला नगरी हमारी आँखोंको आकृष्ट कर रही है ॥ १२३ ॥

सीता—(मुस्कुराहट तथा प्रेमके साथ कुटिलदृष्टिसे रामकी ओर देखती हुई पुरीके प्रति) अम्ब मिथिले, वन्दना करती हू, कृपया मेरे गुरुजनोंसे भी मेरी वन्दना निवेदित कर देना ।

राम—(सुग्रीव और विभीषणके प्रति) मित्रो, जानकीको उत्पन्न करनेवाली पृथ्वी का सूतिकागृहस्वरूप मिथिला यही है ।

सुग्रीव और विभीषण—(कुतूहलके साथ हँसकर) यहींपर शिवजीके धनुष तथा धनुर्वेद विद्याके शिष्य परशुरामका भङ्ग करके आपने साथ साथ धूलिक्रीडा करनेवाली वीरलक्ष्मी प्राप्त की थी ।

---

१. 'कृताङ्गी' । २. 'वयस्यौ' इति क्वचिन्नास्ति । ३. 'तौ सकौतुकम्' ।
४ 'पार्वतीदयितस्य' । ५. 'धनुरन्तवासिनौ' ।

राम·—([1]सलज्जस्मितमन्यतो दर्शयन्सीता प्रति ।) देवि, इयं पुनस्ततोऽपि पुरस्ताच्चम्पा नाम गौडानां·विनयमधुरश्रृङ्गारविभ्रमरमणीया [2]मकरकेतनकुमारव्रतचर्यातपोवनमिव राजधानी । (अपवार्य च ।) इह हि

रोमाञ्चोच्छ्वसदङ्ग[3]सन्धिनिबिडैरालिङ्गनैर्यामिनीं
शेषीकृत्य विवृण्वते निजरहश्चातुर्यमेणीदृशः ।
यष्टिस्थे सपदि प्रदीपमुकुले दग्ध्वा दशां मल्लिका·
तैले प्रज्वलति स्तृणोति वसतीर्यन्नाभिदघ्नं तमः ॥ १२४ ॥

विद्याशिष्यश्च तौ अजगवभार्गवौ अजगवनामक धनु· भार्गव परशुरामश्च तौ । भञ्जत धनुर्भञ्जयत· परशुराम पराजयमानस्येति यथोपयोगमर्थ । सहपासुक्रीडादीर्घसखी बाल्यावस्थायामेव सङ्गता वीरता ।

विनयेति । विनयेन नम्रतया मधुर· मनोहर· श्रृङ्गारविभ्रम कामकलाविलास तेन रमणीया । मकरकेतनस्य कामदेवस्य कुमारव्रतचर्या ब्रह्मचर्यतपस्या तदर्थं तपोवनम् इव, सततसन्निहितजागरूकत्वात्कामदेवस्य तथोक्तम् ।

रोमाञ्चोच्छ्वसदिति । एणीदृशो मृगनयना· कामिन्य रोमाञ्चेन उच्छ्वसता परिणाहमागच्छताङ्गसन्धिना समस्ताङ्गेन निबिडै गाढै आलिङ्गनै यामिनी रजनी शेषीकृत्य किञ्चिन्मात्रावशिष्टा कृत्वा सपदि सम्प्रति प्रभातप्रायायां निशि यष्टिस्थे दीपाधारदण्डस्थिते प्रदीपमुकुले दीपाङ्कुरे दशां वर्त्तिं दग्ध्वा मल्लिकातैले मल्लिकाख्यसुगन्धिपुष्पनिर्मिततैले प्रज्वलति सति यत् यदा नाभिदघ्न नाभिप्रमाण तम स्तृणोतु व्याप्नोतु तदा निजरहश्चातुर्यम् स्वीय सुरतपाटव विवृण्वते प्रकटयन्ति । अत्रत्याः स्त्रिय· समस्तां निश दृढालिङ्गनैर्यापयित्वा अल्पशेषाया निशि दीपस्थ-

---

राम—(लज्जाकी हँसीके साथ दूसरी ओर दिखलाते हुए सीताके प्रति) देवि, मिथिलासे भी पूर्व दिशामें वर्त्तमान यह गौडदेशकी राजधानी चम्पापुरी है जो नम्रता तथा श्रृङ्गार विलाससे रमणीय है और जो कामदेवके ब्रह्मचर्यका तपोवन मानी जाती है ॥

(दूसरोंसे बचाकर सीतामात्रके प्रति)

इस चम्पापुरीमें रोमाञ्चसे उच्छ्वसित होनेवाले अङ्गोंसे प्रियतमोंको गाढ आलिङ्गन करके स्त्रियाँ रात्रिको स्वल्प शेष कर देती हैं, पीछे जब दीपदण्डपर स्थापित दीप बत्तीके निश्शेष दग्ध हो जानेसे मल्लिका तैलको जलाने लगता है जिससे प्रकाश दीप मध्यमें चला जाता है और नीचे अन्धकार व्याप्त हो जाता है तब अपना रतिकौशल प्रकट करती हैं ॥ १२४ ॥

---

१ 'सस्मितम्' । २ 'मकरकेतु–' । ३· 'अङ्गसङ्ग' ।

लक्ष्मणः—(अग्रे दर्शयन् ।) एते भगवत्यौ भूमिदेवानां मूलायतनमन्तर्वेदी [1]पूर्वेण कृष्णागुरुमलयजमयमङ्गरागमिवान्योन्यस्य कुर्वाणे कलिन्दकन्यामन्दाकिन्यौ सगच्छेते ।

हिमालयोत्सङ्गसदाधिवासतो [2]जातेव पाण्डुः प्रतिभाति जाह्नवी ।
निदाघभानोः पितुरङ्कलालनात्कृतेव [3]काली यमुना च दृश्यते ॥१२५॥

दशाया दग्धायां तत्तैले प्रज्वलति सति तद्दीपाधोदेशेऽन्धकारव्याप्तौ गृहस्थशयनीयतल्पस्यान्धकारावृततायां सुरते प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः, यावत् दशा ज्वलति तावत्समस्तगृहे प्रकाश इति ता लज्जन्ते ता च लज्जा गाढाश्लेषेण गोपयन्ति, यदा च तैलं ज्वलति तदा दीपाधोभागे तमो व्याप्तेरानुभविकतया ताः सुरतमारभन्त इत्यहो चातुर्यं तासामिति भावः ॥ १२४ ॥

भूमिदेवानाम् ब्राह्मणानाम् । मूलायतनम् आदिम वासस्थानम् । अन्तर्वेदीम् नामप्रदेशम् । पूर्वेण पूर्वस्या दिशि । कृष्णागुरु· कृष्णवर्णमगुरु, मलयज चन्दनम् । अङ्गरागम् अङ्गविलेपनम् । अन्योन्यस्य परस्परस्य । अयमाशय —प्रयागे यमुना गङ्गे सङ्गते, तत्रान्योन्यमिलिते इत्थं प्रतीयेते यथा ते परस्परम् अङ्गरागमिव कुर्वाते, तत्र यमुना गङ्गाया देहे कृष्णागुरुकृतमङ्गराग लिम्पति गङ्गा च यमुनाया वपुषि चन्दनाङ्गराग लिम्पति, अर्थात् यमुनापानीयसम्पर्केण गङ्गाऽशत· श्यामा प्रतीयते एवमेव गङ्गापानीयसपर्केण यमुनाशत· शुक्ला प्रतीयते इति ।

हिमालयेति । जाह्नवी गङ्गा हिमालयस्य उत्सङ्गे क्रोडे सदाधिवासत सततावस्थानात् पाण्डु शुभ्रा जाता (शीते स्थाने वसत शुभ्रता प्रसिद्धा) इव प्रतिभाति प्रतीयते । यमुना च पितु· स्वजनकस्य निदाघभानो सूर्यस्य अङ्कलालनात् क्रोडे लालनात् काली कृष्णवर्णा जाता प्रतिभासते इत्यन्वय ॥ १२५ ॥

लक्ष्मण—(आगेकी ओर दिखलाते हुए) यह दोनों ब्राह्मणोंके आदिम वासस्थान अन्तर्वेदी नामक स्थानसे पूर्वभागमें पृथ्वीको काले अगुरु तथा चन्दनका अङ्गराग सा लगाती हुई यमुना और गङ्गा एक दूसरेसे मिल रही है ॥

बराबर हिमालयकी गोदमें रहनेसे गङ्गा स्वच्छकान्ति हो गई मालूम पड़ती है, और अपने पिता सूर्यकी गोदमें दुलारी जानेके कारण यमुना काली हो गई हो ऐसा प्रतीत होता है ॥ १२५ ॥

---

१ 'पूर्वत·' । २· 'जडेव' । ३ 'कालीकृता वा' ।

(सर्वे विमानावतरणं नाटयन्ति ।)

(ततः प्रविशति पटाक्षेपेण वसिष्ठो भरतशत्रुघ्नौ च ।)

वसिष्ठः—

चक्रे लङ्केश्वरपरिभवच्छेदनिष्णातदोष्णा
यद्वत्सेन त्रिजगदभयं तन्न चित्रीयते नः ।
बालेनाजौ विगलितवतो वीर्यनिर्यासराशे-
र्यत्पिण्याकः स मुनिरमुना निर्मितो जामदग्न्यः ॥१३४॥

(राममवलोक्य सहर्षम् ।)

भल्लावलूनदशकन्धरकण्ठपीठ-
सीमासमाप्तभुजविक्रमकर्मकाण्डः ।

चक्र इति । लङ्केश्वरस्य रावणस्य परिभवे पराजये छेदे विनाशे च निष्णात-दोष्णा समर्थभुजेन वत्सेन रामेण यत् त्रिजगत् लोकत्रयम् अभयं गतसकलभयम् चक्रे कृतम् तत् रामकर्तृक रावणवधद्वारकं जगदभयम् न अस्मान् न चित्रीयते न विस्मापयति, यत् यस्मात् बालेन शिशुना रामेण अमुना आजौ युद्धे स प्रसिद्धो मुनिः परशुरामः विगलितवतः दूरपराहतस्य वीर्यनिर्यासराशेः वीर्यसारसमूहस्य पिण्याकः तिलकल्कः निर्मितः कृतः निर्वीर्यतां गमितः, येन रामेण बाल्यावस्थायामेव परशुरामो निर्वीर्यः कृतस्तस्य रावणविजयद्वारा जगदभयजननं नाश्चर्यं करमित्यर्थः ॥ १३४ ॥

भल्लावलूनेति । भल्लेन अस्त्रविशेषेण अवलूनं छिन्नं दशकन्धरस्य रावणस्य कण्ठपीठम् तस्य सीमायाम् अवसाने समाप्तः शेषतां गतः भुजविक्रमकर्मकाण्डः

(सभी विमानसे उतरते हैं)

एक ओरसे पर्दा हटाकर (वसिष्ठ और भरत-शत्रुघ्नका प्रवेश)

वसिष्ठ—हे राम, आपने लङ्केश्वरको जीतनेमें निपुण अपने भुजोंद्वारा संसारको अभयदान दिया इसमें मुझे आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि आपने बाल्यावस्थामें ही परशुराम-का वीर्यसार निकालकर उन्हें निस्सार सीठी बना दिया था। परशुरामको जीतनेवाला रावणको जीत ले तो क्या आश्चर्य ? ॥ १३४ ॥

(रामकी ओर देखकर हर्षसे) भल्लनामक अस्त्रसे खण्डित रावणके कण्ठ समुदायरूप-सीमापर जिसके पराक्रमप्रकाशनरूप कर्मकाण्डका अन्त हो जाता है, वही रामचन्द्र

दिष्ट्या जगद्विजयमाङ्गलिकैर्यशोभिः
सोऽयं पुनर्नयनवर्त्मनि रामचन्द्रः ॥ १३५ ॥

रामः—(ससम्भ्रममुपसृत्य वसिष्ठपादावुपगृह्य च ।)

रघुब्रह्मक्रियाचार्यं पुराणब्रह्मवादिनम् ।
ब्रह्मर्षिं ब्रह्मजन्मानमेष रामोऽभिवादये ॥ १३६ ॥

वसिष्ठ—(सादरमालिङ्गय ।) वत्स रामभद्र, का तुभ्यमाशीः ।

आदाय प्रतिपक्षकीर्तिनिवहान्ब्रह्माण्डमूषान्तरे
निर्विघ्नं धमता नितान्तमुदितैः स्वैरेव तेजोग्निभिः ।
तत्तादृक्पुटपाकशोधितमिव प्राप्तं गुणोत्कर्षिणा

बाहुपराक्रमप्रदर्शनकर्मकलापो यस्य तथोक्त भल्लनामकेनास्त्रेण रावणशिरस श्च्छेदन कृत्वा विजेतव्याभावात् समापितभुजवीर्यप्रकाशनात्मकक्रियाकलाप. जगद्विजयमाङ्गलिके विश्वविजयमङ्गलमयैर्यशोभि (उपलक्षित.) सोऽय रामचन्द्र. दिष्ट्या भाग्यवशात् पुन नयनवर्त्मनि वर्त्तत इति शेष ॥ १३५ ॥

रघुब्रह्मेति । रघूणा रघुवश्यानाम् ब्रह्मक्रियाया वैदिककर्मानुष्ठाने आचार्यम् गुरुम् , पुराणब्रह्मवादिनम् प्राचीन वेदविदं ज्ञानिनं च ब्रह्मजन्मानम् ब्रह्मपुत्रम् ब्रह्मर्षिम् वसिष्ठम् एष अह रामोऽभिवादये प्रणमामि ॥ १३६ ॥

आदायेति । ब्रह्माण्डमेव मूषा आवर्त्तनघटिका तस्या अभ्यन्तरे मध्ये प्रतिपक्षाणां शत्रूणाम् कीर्त्तिनिवहान् यशोराशीन् आदाय निधाय नितान्तम् अत्यर्थम् उदितैः स्फुटीभूतै. स्वैरेव तेजोभि· प्रतापै अग्निभि. निर्विघ्न विघ्नात्यन्ताभावेन धमता फूत्कुर्वता भवता रामेण गुणोत्कर्षशालिना स्वगुणविस्तारकेण भवता तत् तादृक् पुटपाकशोधितमिव मृत्तिकामयावरणपाकपरिशोधितमिव पिण्डस्थम् एकत्रीभूतम्

ससारके मङ्गलको बढानेवाला कीर्त्तियोंसे युक्त होकर सौभाग्यवश हमारी आँखोंके सामने हैं ॥ १३५ ॥

राम—(तेजीसे आकर और वसिष्ठके चरण छूकर)

रघुवशके ब्रह्मचर्योपदेशक, पुराने ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मर्षि तथा ब्रह्माके पुत्र वसिष्ठको मैं रामचन्द्र प्रणाम करता हू ॥ १३६ ॥

वसिष्ठ—(रामको आदरके साथ गले लगाकर) वत्स रामभद्र, आपको क्या आशीर्वाद दिया जाय ?

दुश्मनोंकी कीर्त्तियोंको ब्रह्माण्डरूप मूषायन्त्रमें भरकर अपने प्रतापरूप अग्निसे उसे

पिण्डस्थं च महत्तरं च भवता निःक्षारतारं यश ॥१३७॥

[1]अपि च—

त्रिजगदङ्गनलङ्घनजाङ्घिकैस्तव यशोभिरतीव पवित्रिता ।
प्रथमपार्थिवपुंगव कीर्तयो विबुधसिन्धुजलैरिव सिन्धवः ॥१३८॥

तथापीदमस्तु[2] ।

जगदालोकधौरेयौ सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुत्रौ गोत्रस्य गोप्तारौ जनय स्वभुजाविव ॥ १३९ ॥

(सीता मुनि वन्दते ।)

महत्तरम् विशाल नि क्षारम् निर्दोषम् तारम् उत्कट च यश प्राप्तम् । यथा कोऽपि वैद्य सुवर्णादिमूषाया न्यस्य समिद्धेनाग्निना धमन् असति पात्रादिभङ्ग विघ्ने गुणोत्कृष्ट पिण्डीभूत विशालगुणं क्षारत्वशून्यम तारं शुभ्रञ्च भस्म लभते तथैव भवान्यशोऽलब्धेति भाव । अभिधाश्रयव्यञ्जनया द्वितीयार्थप्रत्यय ॥ १३७ ॥

त्रिजगदिति । त्रिजगत् त्रिभुवनम् एव अङ्गनम् अजिरम् तस्य लङ्घने अतिक्रमणे जाङ्घिकै समर्थजङ्घाशालिभिर्द्रुतगामिभि तव रामस्य यशोभि· अतीव पवित्रिता प्रथमे पूर्वे ये पार्थिवपुङ्गवा राजश्रेष्ठास्तेषा कीर्त्तय विबुधसिन्धुजलै गङ्गापयोभि अतीव पवित्रिता सिन्धव सागरा इव दृश्यन्ते इति शेष, यथा भागीरथीजलै सागरस्थपयस· पवित्रता शोभा समेधते तथैव तव कीर्त्तिभिस्त्वत्पूर्वजाना राज्ञा कीर्त्तय पावनीकृता इत्याशय ॥ १३८ ॥

जगदिति । जगताम् आलोके उद्योतने धौरेयौ धुरन्धरौ सूर्याचन्द्रमसाविव स्वभुजाविव च गोत्रस्य कुलस्य गोप्तारौ रक्षितारौ पुत्रौ जनय लभस्व ॥ १३९ ॥

पकाकर आपने पिण्डीभूत तथा दोषशून्य विशाल यश प्राप्त कर लिया है जो पुटपाक शोधित है ॥ १३७ ॥

तीनों भुवनोंको लाँघनेमें समर्थ तुम्हारे यशसे तुम्हारे पूर्वजोंकी कीर्त्तियाँ और अधिक पवित्र हो गई है जैसे गङ्गाधाराके गिरनेसे सागरका जल और अधिक पवित्र हो जाता है ॥

फिर भी यह होवे—

ससारको आलोकित करनेका भार लेनेवाले सूर्य-चन्द्रमाके समान तथा वशकी रक्षा करनेवाले और आपके भुजोंके समान दो पुत्र आपको प्राप्त हों ॥ १३९ ॥

(सीता मुनिके चरणों को छूती है)

---

१ किं च', 'एतदस्तु' ।

वसिष्ठः—वत्से जनकवंशसुवासिनि, युवयोः साधारणीमेव [1]रामस्य वयमाशिषमवोचाम।

सीता—(सहर्षमात्मगतम्।) अम्मो, णिस्सावत्तअं मे अज्जउत्तस्स घरणित्तणं हुविस्सदि। [अम्मो, निःसापत्न्यं मे आर्यपुत्रस्य गृहिणीत्वं भविष्यति।]

लक्ष्मणः—सगरगोत्रगुरो मैत्रावरुणे, सौमित्रिरभिवादयते।

वसिष्ठः—वत्स लक्ष्मण, आशिषां विषयमतिक्रम्य वर्तसे।

वीरमिन्द्रजितं जित्वा दिष्ट्या वर्धयतो जगत्।
अभये दक्षिणीयस्ते गीर्वाणग्रामणीरपि॥ १४०॥

युवयोः साधारणीम् समानाम्, रामाय मया या पुत्रद्वयजननाशीः प्रदत्ता सा त्वत्साधारणी, तवापि मया सैवाशीः क्रियत इत्यर्थः।

निःसापत्नम्—सपत्नीसम्भावनावर्जितम्, रामाय वसिष्ठेन पुत्रद्वयजननाशीः प्रदत्ता, सा च मत्साधारणी, अतो रामेणान्यस्याः स्त्रियाः पुत्रौ न जननीयौ किन्तु मय्येवेति मया सपत्नीसम्भवकष्टं न लभ्यमिति तात्पर्यम्।

सगरगोत्रगुरो सगरवंशकुलपूज्य आचार्य। मैत्रावरुणे वसिष्ठे।

आशिषां विषयम् आशीर्वादवर्त्म, आशीर्वादः शुभाशंसनम्, यस्य किमपि लब्धव्यं भवति तस्मै तद्विषयक आशीर्वादः प्रदीयते यस्तु सर्वमेव लब्धव्यं लब्ध्वा वर्त्तेत तस्मै किमाशीर्वादेनाशंसनीयम्, तथा च त्वयापि सर्वशुभलाभस्य कृतत्वात्त्वद्विषये किमपि नास्त्याशंसनीयमित्याशयः।

वीरमिति। वीरम् इन्द्रजितं नाम रावणसुतं जित्वा समरे निहत्य दिष्ट्या भाग्यवशेन जगत् वर्धयतः वृद्धिं प्रापयतस्तव गीर्वाणग्रामणीः देवानामीशः शक्रोऽपि

वसिष्ठ—मैंने जो आशीर्वाद दिया है उसमें तुम्हारा भी समान भाग है।

सीता—(हर्षके साथ स्वगत) अहा! तब तो मैं आर्यपुत्रकी अकेली रानी रहूँगी।

लक्ष्मण—सगरवंशके गुरु मैत्रावरुणे, सौमित्रि लक्ष्मण प्रणाम करता है।

वसिष्ठ—वत्स लक्ष्मण, आशीर्वादके पर हो तुम, क्योंकि—

वीर इन्द्रजित्को मारकर जगतको वृद्धि प्रदान करनेवाले तुमने देवराज इन्द्रको भी अभयदान दिया है॥ १४०॥

१. 'रामचन्द्रस्य भगवत्याश्च',

(विभाव्य च ।)

बलिद्विषः पादनखांशुराजिभिः स्मरारिमौलीन्दुमरीचिवीचिभिः ।
हिमाद्रिनिस्यन्दरसैः पदे पदे विवर्धते वैबुधसैन्धवी रुचिः ॥ १२६ ॥

अपि च—

प्रयागः सर्वतीर्थेभ्यस्तीर्थमुच्चैस्तरामयम् ।
[1]संसाराब्धेः परं पारमिहस्थैरवलोक्यते ॥ १२७ ॥

रामः—(सादरम् ।) किमुच्यते ।

सत्यमेव प्रयागोऽयं मोक्षद्वारमुदीर्यते ।

बलिद्विष इति । बलिद्विषः वामनावतारस्य विष्णोः पादनखांशुभिः पादनखरकान्तिभिः, स्मरारेः शिवस्य मौलीन्दोः ललाटस्थितस्य चन्द्रस्य या मरीचिवीचयः किरणप्रवाहास्ताभिः, हिमाद्रेः हिमालयस्य निस्यन्दरसैः प्रस्रुतजलैः पदे पदे प्रतिस्थानं वैबुधसैन्धवी गङ्गासम्बन्धिनी रुचिः विवर्धते समेधते, प्रथमं विष्णोः पादप्रसूता, ततः शिवमौलिवासिनी ततश्च हिमाद्रिसञ्चारिणीयं गङ्गा विष्णुनखकान्तिभिः शिवशिरोभूषाचन्द्रद्युतिभिर्हिमालयस्रुतजलप्रवाहैश्च प्रतिपदमात्मनो द्युतिमपुष्णादित्याशयः ॥ १२६ ॥

प्रयाग इति । अयं प्रयागः सर्वतीर्थेभ्यः सर्वेभ्यः पुण्यक्षेत्रेभ्यः उच्चैस्तराम् प्रधानं तीर्थम्, इहस्थैरत्र प्रयागे स्थितैः जनैः संसाराब्धेः भवसागरस्य परम्पारम् अन्यत्तटम् अवलोक्यते । उच्चैः स्थाने स्थितस्य दूरदर्शनम् उचितमिति संसारपरपारदर्शकतयाऽस्य प्रयागस्योच्चैस्त्वमिति भावः ॥ १२७ ॥

सत्यमेवेति । अयम्प्रयागः सत्यमेव यथार्थभावेनैव मोक्षस्य निर्वाणस्य द्वारम्

(विचार करके) भगवान् विष्णुके चरणनखकान्तियोंसे, महादेवके शिरोभूषण चन्द्रमाकी किरणोंसे, और हिमालयके निष्यन्द रससे पग-पगपर गङ्गाकी कान्ति समृद्ध होती रहती है ॥ १२६ ॥

यह प्रयाग सभी तीर्थोंमें ऊंचा तीर्थ है, यहाँ रहनेवाले संसारसागरके उस पारको भी देख सकते हैं ॥ १२७ ॥

राम—(आदरके साथ) क्या कहा जाय,

सचमुच प्रयागको लोग मोक्षद्वार कहते हैं जिसके दोनों भागोंमें बहनेवाली गङ्गा यमुना

१. 'संसारस्य' ।

देव्यौ यस्याभितो गङ्गायमुने वहत' श्रियम् ॥ १२८ ॥

(सीता प्रति ।) देवि, प्रणम्यतामित ।

श्यामो नाम वट· सोऽयमेतस्याद्भुतकर्मणः ।
छायामप्यधि[1]वास्तव्यै परं ज्योतिर्निषेव्यते ॥ १२९ ॥

(सर्वे [2]प्रणमन्ति ।)

रामः—(विमानवेगनाटितकेन सहर्षम् ।)

यूपाङ्कुरप्रकरदन्तुरतीरलेखा-
संख्यायमानमनुसन्ततिसप्ततन्तुः ।

कारणं मार्गो वा उदीर्यते कथ्यते, यस्य प्रयागस्य अभित· उभयत· गङ्गायमुने नाम नद्यौ श्रिय शोभा वहत पुष्यत ॥ १२८ ॥

श्याम इति । स· प्रसिद्ध अय श्यामो नाम वट· वटवृक्ष· दृश्यते, एतस्य अद्भुतकर्मण आश्चर्यजनककर्मण वटस्य छायाम् अपि अधिवास्तव्यै अधिवसद्भि· जनै पर ज्योति· ब्रह्म निषेव्यते प्राप्यते । अन्येषा वटाना वृक्षाणां छायामधिवसद्भि तम निषेव्यतेऽस्य त्वाश्चर्यजनकव्यापारस्य वटस्य छायामपि श्रितवद्भि पर ज्योतिर्ब्रह्म प्राप्यत इत्यर्थ । छायाश्रयणे तेज प्राप्तिरिति विरोध , ब्रह्मपरकताया तु तत्परिहार ॥ १२९ ॥

यूपाङ्कुरेति । यूपा यज्ञीयपशुबन्धनदारुविशेषास्त एवाङ्कुरा प्ररोहा तेषां प्रक रेण समूहेन दन्तुरा उन्नतदन्ता नतोन्नता या तीरलेखा तटसीमान· ताभि सख्यायमाना एकद्वित्र्यादिगणनाविषयीक्रियमाणा मनुसन्ततीनाम् मनुवश्यराजानाम् सप्ततन्तव यज्ञा यत्र तादृशी स्वतीरसीमावर्त्तियूपगणनाद्वारा या मनु-

---

उसकी शोभा समृद्धिको बढाया करता है ॥ १२८ ॥

(सीताके प्रति) देवि, देखो, इधर प्रणाम करो—

यह वही आश्चर्यजनक श्याम वटवृक्ष है जिसकी छायामें भी रहनेवाले परम ज्योति ब्रह्मका साक्षात्कार कर पाते हैं ॥ १२९ ॥

(सभी प्रणाम करते है)

राम—(विमान वेगका अनुभव करके हर्षके साथ) यूपाङ्कुर समुदायकी गिनतीसे जहाँ मनुवशी राजगणके यज्ञोंकी गिनती की जा सकती है। वह इक्ष्वाकु राजगणकी प्रधान

---

१ 'अध्यधि-' । २. 'नमन्ति' ।

इक्ष्वाकुराजमहिषीपदपट्टलक्ष्मी-
देव्या भुवो भगवती सरयूरियं नः ॥ १३० ॥

इयं च भगवत्ययोध्या

[1]गगनगतास्मदुदीक्षणकुतूहलोत्तानपृथुलनिःस्यन्दैः ।
उन्नालस्थलकुवलयवनमिव जनलोचनैः क्रियते ॥ १३१ ॥

(सर्वे [2]नमस्यन्ति ।)

सुग्रीवविभीषणौ—(निर्वर्ण्य ।)

वृन्तैरिव क्रतुसहस्रभुवां फलाना-
मालोक्य यूपनिकरैर्मधुरामयोध्याम् ।

वंश्यनृपाणां यागान् गणयतीव तादृशी, देव्या भुवः पृथिव्या इक्ष्वाकुराजानां तद्वंश्यनृपाणाम् महिषीपदाय प्रधानराज्ञीपदाभिषेकोचित पट्ट पट्टवस्त्र तस्य लक्ष्मीरिव लक्ष्मीर्यस्यास्तथोक्ता भुवो राजमहिषीपदाभिषेकोचितपट्टवसनसादृश्यं धारयन्ती इयं नः अस्माकं सरयूरस्तीति शेषः ॥ १३० ॥

गगनेति । गगनगतानाम् विमानवर्त्तिनाम् अस्माकम् उदीक्षणे ऊर्ध्वनिरीक्षणे यत् कुतूहलम् तेन उत्तानानि उन्नमितानि पृथुलानि विशालानि निःस्पन्दानि निश्चलानि च नयनानि तैः जनलोचनैः अयोध्यावासिलोकनयनैः उन्नालानाम् उद्गतनालानां स्थलकुवलयानां स्थलवर्त्तिनीलकमलानां वनमिव क्रियते ऊर्ध्वमुखानि लोकनयनानि उन्नालस्थलकमलानीव प्रतीयन्ते, सर्वेऽप्युत्सुका अस्मान् पश्यन्तीति भावः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः, आर्याभेदो वृत्तम् ॥ १३१ ॥

वृन्तैरिवेति । क्रतुसहस्रभुवाम् सहस्रसंख्यकयज्ञोत्पन्नानाम् फलानां स्वर्गादीनाम् वृन्तैरिव यूपनिकरैः यूपसमूहैः मधुराम् रमणीयदर्शनाम् अयोध्याम्

रानी अयोध्याके पट्टवस्त्रकी शोभा धारण करनेवाली भगवती सरयू दीख रही है ॥ १३० ॥

यह है अयोध्या,

आकाशमे वर्त्तमान हम लोगोंको देखनेके लिए उत्कण्ठावश विशालतया निःस्पन्दन जननयनोंसे यह अयोध्या उन्नाल स्थलकमल वन सी बना दी गई है ॥ १३१ ॥

(सभी प्रणाम करते है)

सुग्रीव-विभीषण—(देखकर) हजारों यज्ञोंसे उत्पन्न फलोंकी वृन्तावलियोंकी तरह दीखनेवाले यूपोंसे रमणीय इस अयोध्याको देखकर तथा इस नगरीमें रहनेवाले नृपोंकी

---

१ 'गगनतलास्म' । २ 'प्रणमन्ति' ।

राज्ञामिह [1]प्रवसतां च विचिन्त्य सिद्धिं
देवः शचीसहचरोऽपि न रोचते नः ॥ १३२ ॥

रामः—(तौ प्रति ।) वयस्यौ,

ईदृशा [2] प्रागजायन्त राजानो यदिहान्वये ।
तद्वसिष्ठचरोरैन्द्राबार्हस्पत्यस्य वैभवम् ॥ १३३ ॥

(पुरोऽवलोक्य [3]सहर्षोल्लासम् ।) कथं स एवायं भगवान् [4]प्रकल्पितास्मदभिषेकसम्भारो भरतशत्रुघ्नाभ्यां [5]सह वसिष्ठो मां प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति । (पुष्पकं प्रति ।) विमानराज, [6]समवतीर्यतामस्यां [7]ककुत्स्थकुलोपकारिकायाम् ।

आलोक्य, इह प्रवसतां निवासं कुर्वताम् राज्ञां च सिद्धिम् विचिन्त्य नः अस्मभ्यम् शचीसहचरः शचीपतिर्देव इन्द्रोऽपि न रोचते, अत्रत्यराजसिद्धितुलनायां शक्रस्यापि सिद्धिरस्माभिर्लघ्वीव प्रतीयत इत्याशयः ॥ १३२ ॥

ईदृशा इति इह अस्मिन् अन्वये वंशे यत् ईदृशाः पूर्वोक्तगुणशालिनः राजानः अजायन्त जनिमलभन्त तद् ऐन्द्राबार्हस्पत्यस्य इन्द्रो बृहस्पतिश्च देवते यस्य तथोक्तस्य वसिष्ठचरोः वसिष्ठसम्पादितमन्त्रसंस्कृतपायसविशेषस्य वैभवम् प्रभावः अस्तीति शेषः, वसिष्ठस्य पुरोहिततया तत्कारितयज्ञद्वारिका एवास्मत्पूर्वजानां सिद्धिरासीदिति भावः ॥ १३३ ॥

कल्पितास्मदभिषेकसम्भारः सज्जीकृतास्मदभिषेकोपकरणः । प्रतीक्षमाणः प्रतिपालयन् । ककुत्स्थकुलोपकारिकायाम् ककुत्स्थवंशस्य राजगृहे 'राजसदनमुपकारिकोपकार्या' इत्यमरः ।

सिद्धियोंको विचारकर हमको इन्द्रपर भी श्रद्धाधिक्य नहीं रह जाता है ॥ १३२ ॥

राम—(उन दोनोंके प्रति) ऐसे माननीय राजागण जो इस वंशमें पहले उत्पन्न हो सके यह इन्द्रबृहस्पति देवताको उद्देश्य करके वसिष्ठ द्वारा संपादित यज्ञपाकका प्रभाव है ॥

(आगे देखकर हर्षसे उल्लसित होकर) क्यों, यहां वह भगवान् वसिष्ठ हमारे राज्याभिषेकका सारा प्रबन्ध करके भरत तथा शत्रुघ्नके साथ हमारी प्रतीक्षामें खडे हैं ? (पुष्पकके प्रति) विमानराज ककुत्स्थकुलकी राजधानी इस अयोध्यामें उतर जाइये ।

---

१ 'प्रभवताम्' । २ 'तादृशा' । ३ 'सहर्षम्' । ४ 'उपकल्पित-' । ५. 'सह वसिष्ठो' इति क्वचिन्नास्ति । ६ 'अवतार्यताम्' । ७. 'रघुकुल-' ।

तथापि यूयं सर्वेऽपि द्वौ द्वौ जनयतात्मजौ।
यैरादिराजवंशोऽयमष्टशाखः प्ररोहति ॥ १४१ ॥

रामः—(सदर्पं कृताञ्जलिः।) भगवन् परमनुगृहीतमिक्ष्वाकुकुलम्।

भरतः—(रामं प्रति।) आर्य, शून्यभवनप्रकोष्ठैकरक्षापदातिर्भरतः प्रणमति।

रामः—(सहर्षमालिङ्ग्य।) वत्स भरत,

आत्मानमिन्दुकरमेदुरचन्द्रकान्त-
स्तम्भोज्ज्वलं वितर मे हृदि निर्वृणोमि।
न भ्रातृसंगमसुखासिकया जहाति

अभये दक्षिणीय दक्षिणार्हं दत्ताभयदक्षिण। इन्द्रायापि त्वं मेघनादं हत्वाऽभयदक्षिणां दत्तवानसीति तवाशसनीयं किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ १४० ॥

तथापीति। तथापि जगदभयदानसम्पादनशक्तिमत्तयाऽऽशीर्विषयातिक्रमेऽपि यूयं सर्वे भ्रातरश्चत्वारः द्वौ द्वौ प्रत्येकं द्वौ आत्मजौ पुत्रौ जनयत उत्पादयत, यैः पुत्रैः अयम् आदिराजवंशः मनोः कुलम् अष्टशाखः अष्टधा भिन्नः सन् प्ररोहति वर्धेत ॥ १४१ ॥

शून्यभवेनेति। शून्यं भवद्भिरहितं यद् भवनं गृहम् तस्य प्रकोष्ठो बहिर्गृहम् तस्य एका केवला रक्षा तस्याः पदातिः पादचारी सैनिकः।

आत्मानमिति। इन्दोश्चन्द्रस्य किरणैः करैः मेदुरः स्निग्धो यश्चन्द्रकान्तस्तम्भः चन्द्रकान्तमणिनिर्मितो दण्डः तद्वत् उज्ज्वलम् आत्मानम् स्वदेहम् मे मम वक्षसि हृदि वक्षसि वितर अर्पय, (तेन) निर्वृणोमि शान्तिं लभे सुखीभवामि। चपला चञ्चला अपि लक्ष्मीः भ्रातृसङ्गमे या सुखासिका सुखावस्थानं तया हेतुना सकौ-

---

फिर भी तुम सभी दो दो पुत्र प्राप्त करो जिससे यह मनुका वंश आठ शाखाओंमें समृद्ध हो। १४१ ॥

राम—(सहर्ष हाथ जोडकर) आपने इक्ष्वाकु कुलपर बडी कृपा की।

भरत—(रामके प्रति) आर्य, सूने भवनका रखवाला यह पादचारी सैनिक भरत आपको प्रणाम करता है।

राम—(हर्षके साथ गले लगाकर) वत्स भरत,

चन्द्रकान्तमणिकी तरह सुन्दर स्तम्भोज्ज्वल अपना अङ्ग लाओ जिसे आलिङ्गित कर शान्ति प्राप्त करूं। भाईके आलिङ्गनमें बडा आनन्द है, इसीलिए चञ्चला हो कर के भा

विष्णोः सकौस्तुभमुरश्चपलापि लक्ष्मीः ॥ १४२ ॥

भरतः—([1]सीतां प्रति ।) [2]देवि, प्रणमामि ।

सीता—वच्छ भरद उण्हकरकिरणणिउरम्बचुम्बिअकमलखण्ड विअ चिरं मे णअणं आणन्देहि । [वत्स भरत, उष्णकरकिरणनिकुरम्बचुम्बितकमलखण्डमिव चिरं मे नयनमानन्दय ।]

(लक्ष्मणो भरतं वन्दते ।)

भरतः—

वत्स लक्ष्मण सोत्कण्ठं चिरात्परिरभस्व माम् ।
श्रद्धालुर्भ्रातुरङ्गानि चन्दनेष्वप्यरोचकी ॥ १४३ ॥

स्तुभम् कौस्तुभाख्यरत्नभूषितम् विष्णोः उरः वक्षःस्थलम् न जहाति न त्यजति । कौस्तुभस्य लक्ष्म्याश्चैकस्मात्समुद्रादुत्पन्नत्वेन लक्ष्म्या भ्राता कौस्तुभस्तत्सहवाससुखानुभवेनैव चपलापि लक्ष्मीर्विष्णोरुरोदेशं न जहाति, अत एव चन्द्रकान्तमनोहरशीतलं स्वमङ्गं मदुरस्यर्पय येन भ्रातुरङ्गानां सम्पर्केण निर्वृतिं लभेयेति भावः ॥ १४२ ॥

उष्णकरस्य सूर्यस्य किरणनिकुरम्बेन करसमूहेन चुम्बितम् कमलखण्डम् कमलवनमिव । यथा सूर्यकरस्पृष्टं कमलकुलमानन्दति तथा त्वद्दर्शनेन मदीयं नयनमानन्दं लभतां तथा यतस्व मत्समीपमुपेहीत्यर्थः ।

वत्सेति । हे वत्स लक्ष्मण, चिरात् बहोः कालात् सोत्कण्ठम् तदालिङ्गनधृतोत्कभावम् माम् भरतं परिरभस्व आलिङ्ग, भ्रातुरङ्गानि श्रद्धालुः सादरमादधानः

लक्ष्मी कौस्तुभमणिरूप अपने भाईके साथ रह पानेके लोभमें भगवान्की छातीको कभी नहीं छोड़ती है ॥ १४२ ॥

भरत—(सीताके प्रति) देवि, प्रणाम करता हूँ ।

सीता—वत्स भरत, सूर्यकिरणसे विकसित कमलकी तरह चिरकाल तक हमारी आँखोंको आनन्दित करते रहो ।

(लक्ष्मण भरतको प्रणाम करते हैं)

भरत—वत्स लक्ष्मण, मैं बहुत दिनोंसे तुम्हारे आलिङ्गनके लिये उत्सुक हूँ, आओ मुझसे लिपट जाओ । भाईके अङ्गोंपर श्रद्धा रखनेवाला चन्दनमें अरुचि धारण करता है ॥ १४३ ॥

---

१ 'सीतां नमति' । २ 'सीते, भरतस्त्वां नमति' ।

([1]निर्भरं परिरभ्य ।) हन्त रघुवंशयशस्तडागयूपदण्डेन लक्ष्मणबाहुना परिक्षिप्यमाणश्चिरेण शीतलीकृतोऽस्मि ।

इन्दोः कलाकलापेन पङ्क्तिक्रमनिवेशिना ।
[2]सर्वदुःखापनोदाय सोदर्याणां भुजाः कृताः ॥ १४४ ॥

शत्रुघ्नः—(रामं प्रति ।) आर्य, पादुकाभृत्यानुभृत्यः शत्रुघ्नः प्रणमति ।

रामः—(गाढमालिङ्ग्य ।) कथमावृत्त्या[3] लक्ष्मणमनुभवामि । (अपवार्य सीतायै दर्शयन् ।)

सप्रेमालिङ्गन् जनः चन्दनेषु अपि अरोचकी अनास्थो भवतीत्यर्थः, भ्रातुरालिङ्गने ज्ञायमानं सुखं चन्दनविलेपनसुखमप्यतिशय्य वर्त्तत इत्याशयः ॥ १४३ ॥

रघुवंशस्य यश एव तडागस्तत्र यूपदण्डेन तत्पवित्रतासूचकेन, रघुवंशस्य यशसि पवित्रतामुत्कर्षितवता । परिक्षिप्यमाणः आलिङ्ग्यमानः ।

इन्दोरिति । पङ्क्तिक्रमनिवेशिना श्रेणीक्रमपूर्वकं निधीयमानेन इन्दोश्चन्द्रस्य कलाकलापेन कलासमुदायेन कृताः रचिताः सोदर्याणां सोदराणां भ्रातॄणां भुजाः सर्वदुःखापनोदाय सकलकष्टवारणाय भवन्तीति शेषः, चन्द्रकलाभिरिव यथास्थानं निवेशिताभिः निर्मीयमाणाः सोदरभुजाः सकलमपि कष्टमपनुदन्तीति तात्पर्यम् ॥ १४४ ॥

पादुकाभृत्यानुभृत्यः पादुकायाः भृत्यो भरतो नाम तस्यानुभृत्यः सेवकस्यापि सेवकः शत्रुघ्नः ।

आवृत्त्या पुनरपि । शत्रुघ्नस्य लक्ष्मणानुजतया तत्समानरूपत्वेन लक्ष्मणरूपतया शत्रुघ्नदर्शनस्य आवृत्त्या लक्ष्मणदर्शनत्वमुक्तम् ॥

(गाढालिङ्गन करके)

अहा ! रघुवंश-कीर्त्ति तडागके यूपस्वरूप लक्ष्मणबाहुसे आलिङ्गित होकर शीतल हो गया हूं, ऐसा अवसर आज चिरकालपर प्राप्त हुआ है ।

चन्द्रमाकी कलाओंको सिलसिले वारसे सजाकर सारे दुःखोंको दूर करनेके लिये ही भाइयोंके भुज बनाये गये हैं ॥ १४४ ॥

शत्रुघ्न—(रामके प्रति) आर्य, आपकी पादुकाके भृत्य भरतका भृत्य मैं शत्रुघ्न प्रणाम करता हूं ।

राम—(जोरोंसे आलिङ्गन करके) क्यों, मैं फिरसे लक्ष्मणका अनुभव कर रहा हूं । (सीताको दिखलाते हुए)

---

१ 'निर्भरं च' । २ 'दुःखप्रणोदाय' । ३. 'अभ्यक्तया' ।

एतत्तदेव मुखमक्षतचन्द्रबिम्ब-
संवावदूकमवलोकय लक्ष्मणस्य ।
गीर्वाणवारणकरार्गलकर्कशौ मां
तावेव लक्ष्मणभुजौ नु परिष्वजाते ॥ १४५ ॥

(शत्रुघ्न सीता प्रणमति ।)

सीता—तेल्लोक्कसल्लुद्धरणगोरविदेहि चरिदेहि लक्खणसरिसो होहि । वच्छ सत्तुहण, अज्जाजणो कहिं । [त्रैलोक्यशल्योद्धरणगौरवितैश्चरितैर्लक्ष्मणसदृशो भव । वत्स शत्रुघ्न, श्वश्रूजन कुत्र ।]

शत्रुघ्नः—कृतमङ्गलोपचारो मध्यमाम्बाभवने भवती प्रतीक्षते ।

(उपसृत्य लक्ष्मण प्रणमति ।)

एतत्तदेवेति । अक्षतेन पूर्णमण्डलेन चन्द्रबिम्बेन सवावदूकम् मिलित तुल्यम् एतत् तदेव लक्ष्मणस्य मुखम् अवलोकय पश्य, (यादृश लक्ष्मणस्य मुखं तादृश मेवास्य शत्रुघ्नस्यापि मुखमिति पश्येत्यर्थं) गीर्वाणा. देवास्तेषा वारणस्य करिण ऐरावतस्य कर शुण्डादण्ड', अर्गल. कपाटप्रसरणप्रतिबन्धको लौहमय काष्ठमयो वा दण्डश्च तद्वत्कर्कशौ कठिनौ तावेव लक्ष्मणभुजौ परिष्वजाते आलिङ्गतो मामिति शेष, लक्ष्मणस्य मुखमिवास्य शत्रुघ्नस्य मुखं तस्य भुजाविवास्य भुजावपीति तात्पर्यम् ॥ १४५ ॥

त्रैलोक्यशल्योद्धरणगौरवितै. भुवनत्रितयमनोदुःखापनयनगौरवशालिभि, भुवनत्रयशल्य मेघनादं हतवान् लक्ष्मण इति प्रसिद्धै., चरितैर्लक्ष्मणसदृशो भव, यथा लक्ष्मणो लोकत्रयदु.खापनयनयशस्वी तथा त्वमपि लोकत्रयदु खापनयनयशस्वी भूया इत्यर्थ. ।

कृतमङ्गलोपचार विहितमाङ्गलिकानुष्ठानः । मध्यमाम्बाभवने कैकेयी गृहे ।

सम्पूर्ण चन्द्रमण्डलसे मिलता हुआ लक्ष्मणका ही मुख तो यह देख रही हो, ऐरावतके शुण्ड तथा अर्गलके समान कठोर लक्ष्मणके भुज ही तो मुझे आलिङ्गित कर रहे हैं ॥१४५॥

(शत्रुघ्न सीताको प्रणाम करता है)

सीता—त्रैलोक्यके दु खोंको दूर करनेमें समर्थ चरितसे लक्ष्मणके समान हो । वत्स शत्रुघ्न ! श्वश्रूजन कहाँ हैं ?

शत्रुघ्न—मङ्गलोपचार करके मझली माताके भवनमें आपकी राह देख रही हैं ।

(समीप जाकर लक्ष्मणको प्रणाम करते हैं)

लक्ष्मणः—(सहर्षमालिङ्गय) [1]वत्स, दिष्ट्या दीर्घायुषि त्वयि दीप्यमाने न[2] वयमेकाकिनमार्यभरतं परित्यज्य गताः।

रामः—(मुनिं प्रति ।) भगवन्, एतौ लङ्काकिष्किन्धयोरधिपती विभीषणसुग्रीवौ भगवन्तं प्रणमतः।

वसिष्ठः—विकर्तनपुलस्त्यकुलकीर्तितोरणमालावलम्बन[3]स्तम्भाविमौ चिरस्य भूयास्ताम्।

रामः—(भरतं प्रति ।) वत्स, वन्दस्व महात्मानावेतौ पौलस्त्यसावित्रौ।

(भरतशत्रुघ्नविभीषणसुग्रीवाः [4]मिथो यथोचितमाचरन्ति ।)

वसिष्ठः—(सहर्षम् ।) [5]दिष्ट्या चतुर्दशभिः परिवत्सरैः [6]पुनः समुदयमानं दशरथकुटुम्बमीक्षामहे । (सविमर्शस्मितम् ।)

विकर्त्तनकुलम् सूर्यवंशः, पुलस्त्यस्य कुलं च तयोः कीर्त्तितोरणमालाया यशःप्रशस्तिस्रजः, अवलम्बनस्तम्भौ आश्रयदण्डौ। सूर्यकुलस्य सुग्रीव इति बोध्यम्। पुलस्त्यकुलस्य विभीषण इति च।

समुदयमानम्–वृद्धिभाजनम्।

लक्ष्मण—(सहर्ष गले लगाकर) वत्स चिरंजीवो तुम्हारे साथ रहनेके कारण हमको कभी इस बातकी चिन्ता नहीं सता सकी कि हम भरतको अकेले छोड आये हैं।

राम—(वसिष्ठके प्रति) महाराज, ये लङ्का-किष्किन्धाके स्वामी विभीषण तथा सुग्रीव आपको प्रणाम करते हैं।

वसिष्ठ—सूर्यवंश तथा पुलस्त्यवंश कीर्त्तितोरणमालाके आधार बनकर आप दोनों चिरायु हों।

राम—(भरतके प्रति) वत्स, पुलस्त्यवंशावतंस विभीषण तथा सूर्यकुलदीपक सुग्रीवको नमस्कार करो।

(भरत शत्रुघ्न सुग्रीव विभीषण परस्परमें यथोचित आचार करते हैं)

वसिष्ठ—(सहर्ष) सौभाग्यवश चतुर्दश वर्षोंके बाद पुनः दशरथके परिवारको समृद्ध देख रहा हूँ। (विचार करके हँसते हुए)

---

१. 'वत्स' इति क्वचिन्नास्ति। २. 'न' इति क्वचिन्नास्ति।
३ 'स्तम्भौ स्व स्व भाविनौ'। ४. 'मिथो' इति क्वचिन्नास्ति।
५ 'दृष्ट्वा'। ६ 'पुनः पुनः समुदयमानम्'।

जेतारं दशकन्धरस्य जितवानेवार्जुनं भार्गव-
स्तं रामो यदि काकपक्षकधरस्तत्पूरितेयं कथा।
ऊर्ध्वं कल्पयतस्तु बालचरितात्तत्प्रक्रियागौरवा-
दन्येयं कविता तथापि जगतस्तोषाय वर्तिष्यते ॥१४६॥

(राम प्रति ।) वत्स, माङ्गलिकलग्नमतिक्रामति ।

तदिदं रघुसिंहानां सिंहासनमलङ्कुरु ।
राजन्वन्तः प्रतन्वन्तु मुदमुत्तरकोशला ॥ १४७ ॥

जेतारमिति । भार्गव परशुराम' दशकन्धरस्य रावणस्य जेतारम् अर्जुन कार्त्त-वीर्यम् जितवानेव, (तत्र कोऽपि सन्देहावसरो नैवास्ति) काकपक्षकधर शिखण्ड-कधारी शिशु रामः यदि त परशुराम जितवान् तत् तदा इय कथा रामस्य विजयवार्त्ता पूरिता समाप्ति प्रकर्ष वा गता। परशुरामे जिते रावणादिजयस्य सिद्धवत्प्रतीयमानतया रामस्य जयवार्त्ता परशुरामजयेनैव पूर्णतां गतेत्यर्थ । तथापि बालचरितात् तस्य रावणवधादे प्रक्रियाया प्रकरणस्य समुद्रलङ्घनादिना गौरवात् गुरुत्वात् ऊर्ध्वं कल्पयत पश्चात् रावणवधादिक रचयत अन्या अपरा इय कविता वर्णना जगस्तोषाय वर्त्तिष्यते स्थास्यति। बालचरितात्परमपि राम चरितमधीत्य तोष प्राप्स्यताम् लोकाना तृप्तय एव सकलोऽपि परशुरामजयोत्तर-कालिको व्यापारकलाप । विजयस्तु परशुरामजयेनैव प्रत्यायित इत्यर्थ. । 'बालाना तु शिखा प्रोक्ता काकपक्ष शिखण्डक.' इत्यमर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १४६ ॥

तदिदमिति । तत् इद रघुसिंहानाम् इद सिंहासनम् राज्यासनम् अलङ्कुरु स्वोप-वेशेन भूषित कुरुष्व। उत्तरकोशला कोशलाख्यजनपदविभागस्य उत्तरविभागा राजन्वन्त सुराजसम्पन्ना. सन्त. मुद प्रतन्वन्तु स्वमानन्द विस्तारयन्तु ॥ १४७ ॥

रावणको पराजित करने वाला कार्त्तवीर्यार्जुन उसके भी पराजेता परशुरामको बाल्या वस्थामें ही जब रामने जीत लिया उसी समय यह कथा पूरी हो गई, बालचरितके बाद कल्पना करके प्रक्रिया गौरव द्वारा प्रस्तुत यह रावणविजयकी कविता ससारको सन्तोष प्रदानके लिये होगी ॥ १४६ ॥

(रामके प्रति) वत्स माङ्गलिक लग्न बीता जा रहा है।

अब तुम रघुवंशियोंके इस सिंहासनको अलंकृत करो, तुम्हे सिंहासनासीन पाकर सुराजाके राज्यमें बसनेके कारण उत्तरकोसलके प्रजाजन आनन्द प्राप्त करें ॥ १४७ ॥

(रामस्तथा करोति । वसिष्ठ [1]ऐन्द्रेण महाभिषेकेण मन्त्रपूर्वकमभिषिञ्चति । अन्ये तूच्चावचमभिषेकं नाटयित्वा पञ्चाङ्गचुम्बितभूमयः प्रणमन्ति । नेपथ्ये [2]मङ्गलगीतिर्नान्दीवाद्यानि च ।)

वसिष्ठः—(सहर्षम् ।) वत्स रामभद्र, सम्प्रति

उदयदुदयद्धर्मस्कन्धे धुरं त्वयि बिभ्रति
क्व नु परिभवौ दृष्टादृष्टौ प्रजाः परिछिन्दते ।
अपि खलु यथा जीवात्मानः प्रभोः परमात्मनो
दिशि दिशि दिशामष्टौ नाथास्तवैव विभीषिकाः ॥१४८॥

(रामो लज्जते ।)

उदयदिति । उदयन् उदयन् प्रतिपलं वर्धमानः धर्मस्कन्धः यस्य तादृशे त्वयि रामचन्द्रे धुरं राज्यभारं बिभ्रति धारयति सति प्रजाः प्रकृतयः दृष्टः परराजसमुत्थितः अदृष्टः अनावृष्ट्यादि समुत्थितश्च तौ परिभवौ क्लेशौ क्व नु जानते त्वयि राजनि प्रजानां दृष्टादृष्टकष्टयोर्नाम्नोऽपि ज्ञानमपि न सम्भवतीत्यर्थः । प्रभोः निग्रहानुग्रहसमर्थस्य परमात्मन ईश्वरस्य जीवात्मानो यथा तथा दिशि दिशि प्रतिदिशम् अष्टौ नाथा दिक्पाला इन्द्रादयोऽपि तवैव विभीषिकाः भयप्रदर्शनानि । यथा परमात्मनः स्वांशभूता जीवाः केवलं मिथ्याप्रत्ययभिन्ना तथैवेन्द्रादयोऽपि न त्वद्भिन्नाः ते तु त्वयैव प्रजानां भयमुत्पाद्य ताः सत्पथेन सञ्चारयितुं विभीषिकारूपतया स्थापिता इत्यर्थः । 'अदृष्टं वह्नितोयादि दृष्टं स्वपरचक्रजम्' इत्यमरः ॥१४८॥

[राम सिंहासनपर बैठते हैं । वसिष्ठ ऐन्द्र महाभिषेकद्वारा मन्त्रपूर्वक उनका अभिषेक करते हैं । और लोग भी यथारुचि अभिषेक करके पृथ्वीपर पड़कर प्रणाम करते हैं । नेपथ्यमें मङ्गलगान होता है तथा बाजे बजते हैं)

वसिष्ठ—(सहर्ष) वत्स रामभद्र, सम्प्रति,

अनुक्षण धर्मके उदयमें संलग्न तुमने जब राज्यभार ले लिया है तब प्रजाओंको परचक्रजातभय तथा अनावृष्ट्यादि जातभयकी क्या चिन्ता रही । जिस प्रकार परमात्माके रूपान्तर जीवात्मा है उसी तरह सभी दिक्पाल तुम्हारे ही रूपान्तर हैं ॥ १४८ ॥

(राम लज्जित होते हैं)

१. 'ऐन्द्रेण महाभिषेकेण' इति क्वचिन्नास्ति ।
२. 'मङ्गलगीतिनान्दीमङ्गलवाद्यानि'; 'मङ्गलगीतिनान्द्यादि' ।

विभीषणः—(कृताञ्जलिर्जानुभ्यां प्रणिपत्य ।) देव,

लङ्का च पुष्पकमिदं च विमानमार्या-
यक्षेश्वरादपहृतं दशकन्धरेण ।
एकां भवानदित मह्यमथेदमन्य-
दाज्ञापय द्रुतमुपैतु पतिं निधीनाम् ॥ १४९ ॥

रामः—(वसिष्ठेनानुज्ञातः पुष्पकं प्रति ।) विमानराज, प्रथमस्वामिनं प्रथमपौलस्त्यमुपतिष्ठस्व ।

वसिष्ठः—(सहर्षप्रसादम् ।)—रामभद्र, किं ते भूयः प्रियम्[1] करोमि ।

रामः—भगवन्, किमतः परमपि प्रियमस्ति, [2]भगवत्प्रसादात्

ताताज्ञामधिमौलि मौक्तिकमणिं कृत्वा महापोत्रिणो

लङ्का चेति । दशकन्धरेण रावणेन आर्यात् पूजनीयात् ज्येष्ठभ्रातुः यक्षेश्वरात् कुबेरात् लङ्का नाम पुरी इदं पुष्पकं विमानं व्योमयानं च अपहृतम् बलादाच्छिद्य गृहीतम्, तयोर्लङ्कापुष्पकयोः एकां लङ्कां भवान् मह्यं रामाय अदित दत्तवान्, अन्यत् अवशिष्यमाणं चेदं पुष्पकम् द्रुतं शीघ्रं निधीनां पतिं वित्तेशं कुबेरम् उपैतु गच्छतु इति आज्ञापय, त्वदाज्ञया पुष्पकं कुबेरं पुनराप्नोतु इत्याशयः ॥ १४९ ॥

प्रथमस्वामिनम् आत्मनः प्रथमं पतिम् । प्रथमपौलस्त्यम् पुलस्त्यस्य प्रथमं ज्येष्ठं पौत्रम् । रावणस्य पिता विश्रवास्तस्य द्वौ पुत्रौ तयोः कुबेरो ज्येष्ठो रावणश्च कनिष्ठ इत्यर्थः ।

ताताज्ञामिति । तातस्य पितुराज्ञाम् अधिमौलि मस्तके मौक्तिकमणिं मुक्तामाल्य

विभीषण—(हाथ जोडकर और घुटने टेककर) देव,

रावणने यक्षेश्वर कुबेरसे लङ्का तथा यह पुष्पक विमान छीन लिया था, उनमें लङ्का तो आपने मुझे दे दी है, आप आज्ञा दें कि दूसरा यह विमान कुबेरके पास चला जाय ॥

राम—(वसिष्ठकी आज्ञासे पुष्पकके प्रति) विमानराज, आप अपने प्रथम स्वामी पौलस्त्योंमे ज्येष्ठ कुबेरके पास जाय ।

वसिष्ठ—(हर्षके साथ) रामभद्र, अब आपका और क्या प्रिय करूं ।

राम—भगवन्, इससे अधिक प्रिय क्या होगा ? आपके अनुग्रहसे—

मैंने पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करके भगवान वराहकी दंष्ट्रा स्वरूप विन्ध्याचल ही

१ 'उपकरोमि'। २ 'भवतः प्रसादात्'।

दंष्ट्राविन्ध्यविलासपत्त्रशबरी दृष्टा भृशं मेदिनी ।
सेतुर्दक्षिणपश्चिमौ जलनिधी सीमन्तयन्नर्पितः
[1]कल्पान्तं च कृतं च विश्वमदशग्रीवोपसर्गं जगत् ॥१५०॥

तथापीदमस्तु ।

समुन्मीलत्सूक्तस्तबकमकरन्दैः श्रवणयो-
रविश्रम्यद्धारा[2]सवनमुपचिन्वन्तु कवयः ।
न शब्दब्रह्मोत्थं परिमलमनाघ्राय च जनः
कवीनां गम्भीरे वचसि गुणदोषौ रचयतु ॥ १५१ ॥

कृत्वा मुक्तामाल्यमिव पितुरादेशं शिरसा निधाय, महापोत्रिण आदिवराहस्य दंष्ट्रा इव यो विन्ध्य पर्वत स एव विलासाय पत्त्रं कर्णभूषणं यस्यास्तादृशी या शबरी किराती सैव मेदिनी भृशं दृष्टा पितुराज्ञया कर्णनिहितपत्त्रा शबरीव विन्ध्य पर्वतरूपकर्णभूषणधरा इयं मही परित्यक्तेति भाव । दक्षिणपश्चिमौ समुद्रौ सीमन्तयन् द्विधाकुर्वन् सेतु अर्पितं सागराय दत्त, विश्वं समस्तं च जगत् कल्पान्त प्रलयकालपर्यन्तस्य कृते अदशग्रीवोपसर्गम् रावणरूपव्याधिविरहितं कृतम् ॥१५०॥

समुन्मीलदिति । कवय समुन्मीलन् विकासं गच्छन् य सूक्तस्तवक सदुक्तिगुच्छ तस्य मकरन्दैः पुष्परसैः श्रवणयो लोकाना कर्णयो अविश्रम्यत् विश्रमविराममनाप्नुवत् धारासवन धारास्नानम् उपचिन्वन्तु वर्धयन्तु । कवय सूक्तानि रचयन्तु, स्तवकोपमाना सूक्ताना मकरन्दैश्च लोकाना कर्णा अनवरतधारास्नानमिव लभन्ता तृप्ता भवन्त्वित्यर्थ. । जनः लोक शब्दब्रह्मोत्थ शब्दब्रह्मणो जायमान परिमलं सुगन्धमनाघ्राय अनास्वाद्य शब्दशास्त्ररहस्यमज्ञात्वा गम्भीरे कवीना

जिसका कर्णाभरण है ऐसी शबरीके रूपमें (अनुपभोग्य) पृथ्वीको छोड दिया, दक्षिण तथा पश्चिम सागरोंको जोडनेवाला सेतु बनवाया, और सृष्ट्यन्ततकके लिए जगतको रावण के उपद्रवोंसे मुक्ति दी ॥ १५० ॥

फिर भी यह हो—

विकसित होनेवाले सूक्तिस्तवकोंके रससे कविगण अनवरत धारास्नान प्राप्त करें, और शब्दब्रह्मके रहस्यको विना समझे लोग कवियोके गभीर वचनमें गुण दोषका निर्धारण न किया करें ॥ १५१ ॥

---

१. 'कल्पान्तेऽपि' ।　　२ 'स्नपन–' ।

अपि च—

देवस्यात्मभुवः कमण्डलुजलस्रोतांसि मन्दाकिनी-
गङ्गाभोगवतीमयानि पुनते यावत्त्रिलोकीमिमाम् ।
तावद्वीरयशोरसायनमधुस्यन्दः[1] कवीनामयं
जागर्तु श्रुतिशष्कुलीवलयितव्योमावगाही गुण ॥ १५२ ॥

(इति निष्क्रान्ता सर्वे ।)

इति नायकानन्दो[2] नाम सप्तमोऽङ्कः ।

इति महाकविश्रीमुरारिविरचितमनर्घराघव नाम नाटक समाप्तम् ।

वचसि काव्ये गुणदोषौ न रचयतु दुष्टमिद गुणवदिद चेति स्वीयं विचार न प्रकाशयत्वित्यर्थ ॥ १५१ ॥

देवस्येति । मन्दाकिनी वियद्गङ्गा गङ्गा मर्त्यलोकस्था, भोगवती पातालगङ्गा चेति तन्मयानि तत्स्वरूपाणि देवस्य आत्मभुवो ब्रह्मण कमण्डलुजलस्रोतासि कमण्डलुवर्त्तिजलधारा यावत् इमा त्रिलोकी भुवनत्रय पुनते पवित्रयन्ति, तावत् अयं वीराणा यश एव रसायन पुष्टिकरमहौषधिविशेष. तस्य मधुस्यन्द माधुरी-प्रवाह श्रुतिशष्कुल्या श्रोत्रविवरेण वलयित वेष्टितम् यत् व्योम आकाशम् तदव-गाही कवीना गुण शब्द जागर्त्तु तिष्ठति । यावद् मन्दाकिनी स्वर्गे वहति, गङ्गा भुवि वहति भोगवती च पाताले वहतीत्थ त्रिभुवनमेतानि ब्रह्मकमण्डलुजलस्रो-तासि पवित्रीकुर्वन्ति, तावद् वीराणा यशोवर्णनकृद् कवीनां रचनागुण. श्रवणा काशे वर्त्तताम् श्रूयतामित्यर्थ. । अत्र शुभाशसनरूपा प्रशस्ति. ।

और भी—

ब्रह्माके कमण्डलुका जलप्रवाहरूप मन्दाकिनी, गङ्गा तथा भोगवती जब तक तीनों लोकको पवित्र करती रहे तब तक यह वीरकीर्त्तिगाथारूप कर्णामृत प्रवाह लोगोंको कानरूप आकाशका गुण बना रहे ॥ १५२ ॥

(सबका प्रस्थान)

सप्तम अङ्क समाप्त ॥

---

१ 'स्यन्दा' । २ 'इति नायकपरमानन्दो नाम' ।

यो जातो धरणीसुरान्वयसरोहसात्प्रसर्पद्यशो-
ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखान्मधुरिपुध्यानैकबद्धाशयात् ।
मिश्राख्यान् 'मधुसूदना' 'ज्जयमणौ' सीमन्तिनीना मणौ
तस्य श्रीयुतरामचन्द्रसुधियो व्याख्याप्रसिध्यादियम् ॥ १ ॥
बाणक्षोणिधराक्षिसम्मित शरद्याशातिथौ माधगे
चन्द्रे पुष्यति चन्द्रसूनुदिवसे श्रीशारदानुग्रहात् ।
सम्राड्धर्मसमाजसस्कृतमहाविद्यालये पूर्णता
मानीतेयमुमामहेश्वरपदाम्भोजेषु विश्राम्यतु ॥ २ ॥
'विद्वासो वसुधातले परवच श्लाघासु वाचंयमा '
उक्त्वैतद्विमुखीभवामि नमनादालोचनावर्त्मन ।
ते हि स्वर्णपरीक्षणैकनिकषा निष्पक्षपातां दृशं
निक्षिप्यात्मगुणोचितादरभुवं कुर्युममेमां कृतिम् ॥ ३ ॥
छिद्रान्वेषणमात्रसज्जधिषणानप्यत्र दोषान् बहून्
ग्रन्थे दर्शयतो न मत्सरितया निन्दामि किन्त्वर्थये ।
निर्दोषेण यथा प्रशस्तरचना निर्माय काचित्कृति
लोकेभ्य समुपाहरन्तु भविता भूयो यशोऽनेन व ॥ ४ ॥
मान्यान् यानहमाद्रिये नतशिरास्ते ते सखायश्च मे
येषामाग्रहतो विदन्नपि निजा शक्ति प्रवृत्तोऽभवम् ।
व्याख्यानेऽत्र न तैरिय मम कृति कार्यान्यथादृक्पद
सर्वानिन्दितकीर्त्तिलाभसुभग भाग्य कुतोऽस्मादृशाम् ॥ ५ ॥

इति मुजफ्फरपुरमण्डलान्त पाति 'पकडी' ग्रामवासिना मुजफ्फरपुरस्थधर्मसमाज-
सस्कृतमहाविद्यालये साहित्याध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्याद्युपाधि-
प्रसाधिना मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्र 'शर्मणा' विरचितायामनर्घ-
राघवनाटकस्य प्रकाशाभिधायां व्याख्याया
सप्तमाङ्क 'प्रकाश '

विशेष-विवरण

(नोट्स)

अनर्घराघवप्रकाशपरिशिष्टम्

१—चकोरपारणपटुज्योतिष्मतो

नान्दी श्लोक होनेके लिए गङ्गा चन्द्र आदि शब्दका होना आवश्यक है, अत इसी पदसे चन्द्रकी सूचना समझी जानी चाहिये—लिखा है —'अत्र यद्यपि 'गङ्गा नागपति सोम सुधानन्दो जयाशिष । एभिर्नामपदै कार्यानान्दी कविभि-रङ्किता' इति भरतवचनादवश्योपादेय गङ्गादिपद न कण्ठत श्रूयते, तथापि चकोर-पारणपटुज्योति पदेन चन्द्रसङ्कीर्त्तनमेव । न च एभिर्नामपदैरित्यनेन तत्तत्पदे-नैवोपादान युक्तमिति वाच्यम् तस्योपलक्षणत्वात् 'जितमुडुपतिना' इत्यादि रत्नावली नान्द्या तथैव दर्शनात्' ॥

२—उदरमविशद्द्रष्टुम्

ब्रह्मा ससार बनाते है अत उनको ससारका विशदज्ञान आवश्यक है, कर्त्ता-को कैसा होना चाहिये इसके लिए उसके लक्षणपर ध्यान दे। 'उपादानगोचरा परोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्व हि कर्तृत्वम्' अत 'यथा पूर्वमकल्पयत्' इस श्रुतिके अनुसार करिष्यमाणसृष्टिका पूर्णज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रलयकालमे ब्रह्मा विष्णुके उदरमे पैठ जाते है। क्योंकि वहा सारा ससार एक ही जगह देखनेको मिल जाता है।

३—नान्द्यन्ते

रत्नकोपमे लिखा है —'प्रत्याहारगीतवाद्यादिद्वाविशत्यङ्गेष्वन्तर्गता पूर्वरङ्गस्य प्रधानाङ्गभूता नान्दी' सा चेय द्वादशपदाष्टपदा वा कार्या, 'सूत्रधार॰ पठेत्तत्र मध्यम स्वरमाश्रित । नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृतम्' इत्युक्ते । पद चात्रद्वि-विधमभिप्रेतम्, सुप्तिङन्तरूप श्लोकपादाख्यञ्च । तदुक्त नाट्यलोचनकृता—'सुप्तिङन्त पद चात्र श्लोकपादश्च वा पदम्' ततश्चात्र श्लोकपादाभिधपदग्रहणादष्ट-पदानान्दीबोध्या।

४—उपस्थानीया

उपपूर्वकस्थाधातुसे यहा कर्त्तामे अनीयर प्रत्यय हुआ है, 'भव्यगेयप्रवचनी-योपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा' पाणिनि सूत्र ३।४।६८।

५—सोदरोऽपि विमुञ्चति

रुचिपतिने इस शब्दके सम्बन्धमें लिखा है—ननु समानशब्दस्य-'विभाषो दरे' इति स भावे 'सोदराद्यः' इति यप्रत्यये सोदर्य इति स्यात्। अतएव 'समानो दर्यसोदर्यसगर्भ्यं सहजा समा' इत्यमरोऽपि। तत्कथ सोदर इति। उच्यते, समानमुदर यस्येति बहुव्रीहौ सोदर 'समानस्य' इति योगविभावाद् 'वोपसर्जनस्य' इति वा सभाव। अतएव 'सोदरोऽपि सहोदर' इति शब्दभेदे उक्तम्।

६—वान्तैः

यद्यपि वान्तशब्दसे जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लीलत्व दोष प्रतीत होता है परन्तु—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादिगौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरम्' इस उक्तिके अनुसार यहा उक्त्यर्थक होनेसे दुष्ट नही होता है। जैसे सुबन्धुने लिखा है—'अविदित-गुणमपि सत्कविभणिति कर्णेषु वमति मधुधाराम्'॥

७—अनर्घराघवम्

'अनर्घ पूज्यो राघवो रामो यत्र तादृशम्'। ऐसा विग्रह करना चाहिये। 'अमूल्ये दश्गतेऽनर्घस्तथा पूज्ये सुदुर्लभे' इति कोष। इस तरहके नामकरणकी शैली संस्कृतसाहित्यमे प्रचलित है, जैसे प्रसन्नराघव, उदात्तराघव आदि।

८—मद्वर्ग्यारसपाठगीति इत्यादिश्लोक

तुलनाके लिये पढिये रत्नावली नाटिकाका श्लोक—'श्रीहर्षो निपुण कवि परिषदप्येषागुणग्राहिणी लोके हारि च वत्सराज चरित नाट्ये च दक्षावयम्। वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्ते. पद किम्पुनर्मद्भाग्योपचयादय समुदित सर्वोगुणानागण'।

९—वसिष्ठस्यानुशासनम्

(क) वसु तेजस्तदस्यास्तीति वसुमान्, वसुमान् शब्दसे अतिशय अर्थमे इष्ठन् प्रत्यय करनेपर 'विन्मतो.' इत्यादि सूत्रसे मतुप् प्रत्यय तथा उकारका लोप, इस प्रकारकी सिद्धि धातुपारायणमें लिखित है। अतएव गदसिहने दन्त्यसकार-मध्यशब्दोंके परिगणनमे वसिष्ठशब्दको गिनाया है'—'प्रसृतासनानुवासनवसिष्ठ-रसविसोढविस्त्रब्धा.' आश्चर्यमञ्जरीकारने श्लेषके अनुरोधसे 'वशिष्ठ' इस तालव्य-घटितरूपको स्वीकार किया है।

(ख) यहा पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैसे भवभूतिने उत्तर रामचरितमे 'जामातृ यज्ञेन वय निरुद्धास्त्व बाल एवासि नवं च राज्यम्। युक्त प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः' इस तरह वसिष्ठके सन्देशका प्रतिपादन किया है जिससे नायकके अगले कार्यकलापका स्वरूप निर्धारित होता है, उसी तरह इस नाटकमें भी मुरारिने वसिष्ठके—'हुतमिष्टं च तप्तं च धर्म-

श्राय कुलस्य ते। गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिन' इस प्रकारके सन्देशसे ही विश्वामित्रके आनेपर दशरथके कार्यकलापका नियन्त्रण किया गया है मालूम पडता है कि भवभूतिकी अनुकृति की गई है।

१०—विश्वामित्रस्य प्रावेशिकी ध्रुवा

यह एक प्रसिद्ध महर्षि थे, इनका जन्म राजकुलमे हुआ था, इनके पिताका नाम गाधि था, विश्वामित्र राजकुलमे जन्म लेकर भी कठोर तपस्यासे महर्षि बन गये थे। प्रावेशिकी का अर्थ है प्रवेशसूचिका और ध्रुवा का अर्थ है गीति। भरतने लिखा है—'ध्रुवा तु गीति भेदोऽय वृन्दसामानिबध्यते'। सा च पञ्चधा—'प्रावेशिकी निष्क्रामणी परिक्रामण्यवस्थिति। उत्थापनी तु पञ्चम्या ध्रुवा नाटयार्थसिद्धये। तत्र प्रावेशिकी ज्ञेया प्रवेशे गानयोगत।'

११—त्रिशङ्कोरुपभोगाय नद्यौरपि न भूरपि

त्रिशङ्कु एक सूर्यवशी राजा थे, सशरीर स्वर्ग जानेकी इच्छासे इन्होंने अपने पुरोहित वसिष्ठको यज्ञ करानेके लिये कहा। वसिष्ठने अस्वीकार कर दिया। अनन्तर त्रिशङ्कु विश्वामित्रकी शरण गये। उन्होंने यज्ञ करवाया, परन्तु उस यज्ञमे देवगण नही आये। विश्वामित्रने दूसरा स्वर्ग बनाना चाहा। देवोंने बहुत कह सुनकर विश्वामित्रसे सन्धि कर ली, तदनुसार आजतक अधोमुख त्रिशङ्कु अन्तरिक्षमे लटक रहे है॥

१२—ब्राह्मणमुच्चकार

यहा ब्राह्मण शब्द जातिपरक है, 'ब्राह्मण इदम्' इस विग्रह द्वारा सामान्य सम्बन्धमात्रपरक नहीं है, अतएव 'ब्राह्मोऽजातौ' इस सूत्रके द्वारा टिलोप नही होता है, रुचिपतिने लिखा है—'ब्राह्मणमिति जातिपरम्, तेन ब्रह्मण इद ब्राह्मणमित्यत्राणिकृते ब्राह्मा जातौ इति टिलोपोन भवति। यद्यपि विशुद्धमातापितृयोनिजत्व ब्राह्मणत्वमिति सर्वतान्त्रिक सिद्ध तथापि क्षत्रियाजातस्य परशुरामस्य योजनगन्धाजातस्य च व्यासस्येव विश्वामित्रस्यापि ब्राह्मण्यमचिन्त्यतप प्रभावादेवेति'॥

१३—स्वस्ति भवते सपरिवाराय

परिवारेणसह वर्त्तत इति सपरिवारस्तस्मै सपरिवाराय। 'तेनसहेतितुल्ययोगे' इति समासे 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य स। ननु प्रकृत्याऽऽशिषि' इत्याशीर्विवक्षायां प्रकृतिभावप्राप्तया सहभाव एव स्यान्न सभाव इति चेदत्र केचित्—अत्राशीर्विवक्षायां अभावात् स्वस्तीत्यादिना प्रश्नस्यैव करणात् न प्रकृतिभाव प्रसक्ति। अन्येस्त्वाशीर्विवक्षैवात्र नतु प्रश्न• तेन सहपरिवारायेत्येव पाठ• साधीयान्,

दशरथकृताभिवादनानन्तर विश्वामित्रेणाशी· प्रदानस्यैवौचित्य प्राप्तत्वात्। इति रुचिपति पद्धति ॥

१४—शौवापद

शुन इव पदमस्येति श्वापदो व्याघ्र, 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घ, तत· 'तस्येदम्' इत्यणि 'द्वारादीना च' इति ऐचि शौपापदमिति रूपम्।

१५—गृहाङ्गनमात्रकुटुम्बिनः

अत्राङ्गनशब्दो णकारान्त इति केचित् पठन्ति, तदप्रामाणिकम्, न च पृषोदरादिपाठेन णत्वमिति वाच्यम्, पृषोदरादिपाठे प्रमाणाभावात्, तथावि धानुप्रासयमकादेरदर्शनात्। 'तवर्ग पञ्चमोपान्तमङ्गन केवल विदु' इति शब्द भेदप्रामाण्येन नानात्वेनैव तस्य स्वीकार्यत्वात्। 'अङ्गन प्राङ्गणे याने कामिन्या मङ्गनामता' इति मेदिन्यादिकोषे नानावर्ग एव तत्पाठाच्च। (रुचिपति·)

१६—यश स्तोमानुच्चैरुपचिनु

'यशस्तोमानुच्चैरुपचिनु चकोर प्रणयिनी रसज्ञा पाण्डित्यच्छिदुरशशिधाम-श्रमभरान्। अपि त्वत्तेजोभिस्तमसि शमिते रक्षतु दिशामसौ यात्रामैत्रीं नभसि नितरामम्बरमणि·' मुरारिके इस श्लोकको निम्नके साथ तुलना कीजिये —

'यश· पूर दूर वनु सुतनुनेत्रोत्पलवनी तमस्तन्द्राचण्डातपतपसहस्राणि शरदाम्। इय चास्ता युष्मच्छरशमितलङ्केश्वरशिर· श्रितोत्सङ्गानन्दत्सुर नर-भुजङ्गा त्रिजगती'॥ प्रसन्नराघव ४।४८

दोनों श्लोकों के छन्द, आशय, शैली सबकुछ एकसा है, जो अन्तर है वह प्रसङ्गको ठीक बनाये रखने की दृष्टिसे आवश्यक था। इससे सिद्ध है कि यह भावादि साम्य इच्छाकृत है॥

१७—त्रेताग्निराचामनि

अमरकोषमे लिखा है—'दक्षिणाग्निर्गार्हपत्या हवनीयौ त्रयोऽग्नय। अग्नि-त्रयमिद त्रेता'। यद्यपि त्रेता शब्दसे ही अग्नित्रयका बोध होता है अत· अग्नि पद की आवश्यकता नहीं थी, तथापि उसका उपादान स्फुटत्वार्थक है, जैसे करिकलभमें करिशब्दका। अथवा त्रेताशब्द युगादि परक भी है अत अग्निरूप त्रेता बोधनार्थ यहां अग्नि शब्द का भी प्रयोग किया गया है॥

१८—दिनकर कुलीनाः

'दिनकरस्य कुलम् तत्र भवा' इस विग्रहमें 'कुलात्ख' इस सूत्रसे खप्रत्यय खको ईन आदेश। रुचिपतिने लिखा है—'कुलात्खः' इति ख·। न च ग्रहण-वता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्तीति तदन्तत्वाभावात् कथ खप्रत्यय इति

वाच्यम् परिभाषाया ज्ञापकमूलत्वादनित्यत्वात् 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' इति न्यायात्। यद्वा दिनकरा इव कुलीना दिनकरकुलीना ॥

१६—मेध्यावत्सतरी विहस्यवटुभिः

'बछिया मारी जाती है' इस उक्तिमे यद्यपि अब अनौचित्य प्रतीत होता है परन्तु पूर्वकालमें गोमासकी भक्षणीयता प्रचलित थी, मधुपर्क प्रकरणमे 'नामांसो मधुपर्कः स्यात्' ऐसा लिखा है। ब्राह्मणग्रन्थोंके देखने से भी गोमासकी भक्ष्यता प्रतीत होती है, लिखा है 'पीवा चेत्तर्ह्यंसनाम्येवे'ति याज्ञवल्क्य। यह क्रम अनुचित था यह कहा जा सकता है परन्तु था अवश्य। भवभूतिके नाटकोंमें भी गोमारणकी बात आती है, देखिये महावीर चरित पृ० १०७ 'सज्ञप्यते वत्सतरी' ॥

२०—परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजूंषि

सूर्य यजुर्वेदको किरणोंके रूपमे परिणत कर रहे हैं, मध्याह्नकालमे सूर्यकी किरणे यजुर्वेद मय होती हैं, अतः मध्याह्नकाल हो रहा है यह अर्थ हुआ। पुराणमे लिखा है—'ऋङ्मय प्रातरादित्यो मध्याह्ने च यजुर्मय। सायसाममयश्चेति त्रयीमय उदाहृत'। इस ग्रन्थमे भी आगे लिखा है—एनत्त्रयीमयऽज्योतिरादित्याख्य निमज्जति' ॥

२१—वाचमेषामृषीणां हि शास्त्रमेवानुवर्त्तते

तुलनाके लिये भवभूतिके 'उत्तररामचरित' का पद्य देखियेः—'ऋषीणां पुनराद्याना वाचमर्थोऽनुधावति' ।१।१०

२२—'प्रत्यूहाय बभूवुरम्बुजभुवो देवस्य चाटूक्तय'

विश्वामित्र जब द्वितीय सृष्टि बनाने लगे थे तब ब्रह्मा आये, उनकी बडी स्तुति की, तब विश्वामित्रने द्वितीय सृष्टि करना बन्द कर दिया। उनका आना विश्वामित्रने विघ्न माना। तुलना के लिये देखिये माघ प्रथमसर्ग—'व्यतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहस. प्रसादमिच्छा सदृश पिनाकिन' ॥

२३—किष्किन्धा

किष्किन्धा बालि और सुग्रीवकी राजधानी थी। मद्रास प्रान्तके बिलारी जिलेमे हम्पीग्रामके समीप तुङ्ग भद्राके उत्तरी तट पर यह स्थान बताया जाता है ॥

२४—जानास्येव यथा पितुः परिभवम्।

महर्षि ऋचीकके पुत्र जमदग्नि वैदिक ऋषि थे। राजा प्रसेनजित्की कन्या रेणुका उनकी स्त्री थी। एक समय सेनासहित कार्त्तवीर्य जमदग्निके आश्रममें

आये। जमदग्निने कपिलाके प्रभावसे ससैन्य कार्त्तवीर्यका यथोचित स्वागतसत्कार किया। उस गौके गुणोंसे आकृष्ट होकर कार्त्तवीर्यने ऋषिसे गौ मागी। जमदग्निने अस्वीकार कर दिया। इसपर बहुतसी सेना लेकर कार्त्तवीर्यने जमदग्निके आश्रमपर आक्रमण कर दिया। जमदग्निने यथाशक्ति प्रतिरोध किया, परन्तु अन्तमे वह मारे गये। जमदग्निकी मृत्युके समय उनके पुत्र परशुराम आश्रममे नही थे, लौटनेपर रेणुकाने जमदग्निकी मृत्युका समाचार कहा, इसीपर परशुरामने प्रतिज्ञाकी कि कार्त्तवीर्यके साथ इस पृथ्वीको इक्कीस वार क्षत्रियशून्य बना दूगा। उन्होने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

२५—तदेहि, विमर्दक्षम प्रदेशमवतराव

यह पङ्क्ति भवभूतिके उत्तररामचरितमे वर्त्तमान निम्नोद्धृत पङ्क्तिसे मिलती है, तुलना कीजिये —

'तदितो विमर्दक्षमा भूमिमवतराव.' (पञ्चमाङ्कान्त)

२६—आत्मनासौ तृतीय

यहा 'आत्मनश्च पूरणे' इस पाणिनि सूत्रसे तृतीयाका अलुक् होता है। भवभूतिके वीरचरितमे भी इस तरहका प्रयोग आया है —

'स एवायमात्मनातृतीय कुशिकनन्दनो नून भजन्तमेवाभ्युपैति' (प्रथम अङ्क)

२७—आतिपातिके कर्मणि राज्ञा सद्य शुद्धि

अतिपात.। शत्रोराक्रमण तच्च कार्यमस्त्रग्रहण तत्र। विष्णुस्मृतौ 'न राज्ञा राज कर्मणि' इति दर्शनात्।

२८—तमद्दणा काणीचकार चरमो रघुराजपुत्र

चरमशब्द कनिष्ठवाचक है तब यहा रामके अर्थमे चरम शब्दका प्रयोग कैसे हुआ है इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'चरमो ज्येष्ठकनिष्ठयो' इस विश्वप्रकाश कोषके अनुसार ज्येष्ठार्थक चरम शब्दका प्रयोग है। कुछ लोग चरा मा लक्ष्मी यस्य स चरम. ऐसा विग्रह करके राम अर्थ निकालते है।

२९—जटायु

जटायु सूर्यसारथि अरुणके पुत्र थे। दशरथके साथ इनकी मैत्री थी। सीताहरणके समय जटायुने रावणको रोकनेकी चेष्टा की थी, उसी समय रावणके अस्त्रसे जटायुकी मृत्यु हुई। सीताकी खोजमे भटकते हुए रामलक्ष्मणने जटायुको देखा,

जटायुने सीताका समाचार रामसे कहकर अपने प्राण छोडे। रामने अपने पिताके मित्र उस जटायुकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी।

'दशरथदुरवाप प्रापनैवायमम्भ.'

३०—आचुचूषति

'चूष् पाने' धातुका चूषति रूप होता है, अत आचूषति होना चाहिये, सन्नन्त कर देने पर आचुचूषिषति हो जायगा। मेरी समझमे आशु चूषति पाठ सङ्गत तथा शुद्ध है।

३१—दनुराजकङ्कालकूट.

रामायणमे लिखा है—

'श्रिया मा मध्यम पुत्र दनु नाम्ना च दानवम्।
इन्द्रकोपादिद रूप प्राप्तवन्तमवेहि माम्॥
अह हि तपसोग्रेण पितामहमतोषयम्।
दीर्घमायु समे प्रादात्ततोऽह पूर्णमानस॥
· रणे शक्रमधर्षयम्।
तस्य बाहुप्रयुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा।
सक्थिनी मे शिरश्चैव शरीरे सन्निवेशितम्'॥

३२—वत्सेनैकषि

निकषाया अपत्य स्त्री नैकषेयी होना चाहिये, अण् कैसे हुआ? इस प्रश्नका उत्तर रुचिपतिने यह दिया है कि 'क्वचिदपवाद विषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते' इति स्त्रीभ्यो ढकं बाधित्वाऽण्। क्वचित् 'कैकसि' ऐसा पाठ है।

३३—जातं जातमवलम्बनम्

यह कथन भवभूतिकृत उत्तररामचरितके पञ्चमाङ्क प्रारम्भमे वर्त्तमान 'भो· सैनिका जातं जातमवलम्बनमस्माकम्' इस उक्तिसे अक्षरश मिलती है॥

३४—कर्णोत्तमयवाङ्कुरम्

तुलना कीजिये—'श्रवणपूरतमालदलाङ्कुर शशिकुरङ्गमुखे सखि निक्षिप।
किमपि तुन्दलित स्थगयत्यमु सखिमुख न विधो पुनरीक्ष्यते॥
(नैषधीयचरित)

३५—अपोशानकर्मणि

'अपोऽशान' इसतरहकी शिक्षा ब्रह्मचारियोंको दी जाती है, तदनुसार वह भोजनके पूर्व 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इस मन्त्रसे आचमन करते है इसीको अपोऽशानकर्म कहते है ।

३६—सगरसुतचितायाः पावनी

सगरके अश्वमेधमे छोडे गये अश्वको चुराकर इन्द्रने कपिलमुनिके आश्रममे बाध दिया। सगरके पुत्रोंने घोडेको मुनिके पास बन्धा देखकर मुनिका अपमान-कर दिया, मुनिके शापसे सगरके सभी पुत्र जल गये। पश्चात् भगीरथने तपस्या करके गङ्गाप्रवाह ला उनका उद्धार किया।

३७—लक्ष्मणभुजौ न परिष्वजाते

'परिष्वजाते' रूप अशुद्ध है, पाणिनिके अनुसार 'परिष्वजेते' रूप होगा।



नाटकीया विषयाः

स्वगतम्— 'अश्राव्य खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्'।
प्रकाशम्— 'सर्वश्राव्य प्रकाश स्यात्'
अपवार्य— 'तद् भवेदपवारितम्'।
रहस्य तु यदन्यस्य परावृत्यप्रकाश्यते।
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तराकथाम्' ॥
जनान्तिकम्— 'अन्योन्यामन्त्रण यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्'।
नेपथ्यम्— 'नटाना वेषपरिग्रहस्थानम्'
नाटकम्— 'वीरश्रृङ्गारयोरेक प्रधान यत्र वर्ण्यते
प्रख्यातनायकोपेत नाटक तदुदाहृतम्।
अङ्क— 'प्रत्यक्ष नेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वल ।
भवेदगूढशब्दार्थ क्षुद्रचूर्णक सयुत ।
नानेकदिननिर्वर्त्य कथया सम्प्रयोजित ।
आवश्यकाना कार्याणामविरोधाद्विनिर्मित ।
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तोभावरसोद्भवै ।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तित' ॥
नान्दी— 'आशीर्वचनसयुक्तास्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीना तस्मान्नान्दीति सज्ञिता॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशसिनी।
पदैर्युक्ताद्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत॥
सूत्रधार— 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्र धारयते यस्तु सूत्रधार. स उच्यते'॥
प्रस्तावना— 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिता सलाप यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यै स्वकार्योत्थैं प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथ ।
आमुख तत्तु विज्ञेय नाम्ना प्रस्तावनापि सा'॥
विष्कम्भक— वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदर्शक ।
सक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शित ॥
प्रवेशक— 'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजित ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेय. शेष विष्कम्भके यथा'॥

नायक — 'त्यागी कृती कुलीन सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता' ॥

प्रस्तावनाभेदा —
'उद्घात्यक कथोद्घात प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्त्तकावलगिते पञ्चप्रस्तावनाभिदा' ।

अत्र प्रयोगातिशयाख्या सा—
'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्य प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानक तु तत्' ॥

बीजम्— 'अल्पमात्र समुद्दिष्ट बहु वा यद्विसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजमित्यभिधीयते ।

बिन्दु — 'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्' ।

कार्यम्— 'अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धन' ।
समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति सा मतम्' ॥

सन्धि — 'अन्तरैकार्थसम्बन्ध सन्धिरेकान्वये सति' ।

पञ्चसन्धय — 'मुखं प्रतिमुख गर्भो विमर्श उपसहृति ।
इति पञ्चास्यभेदा स्यु'

मुखम्— 'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुख परिकीर्त्तितम् ।'

प्रतिमुखम्— 'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिन· ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत्' ।

गर्भ — 'फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चने ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहु·' ॥

विमर्श — 'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिक ।
शापाद्यै· सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृत' ।

निर्वहणम्— 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत्' ॥



अनर्घराघवगतानिच्छन्दांसि सलक्षणानि

१ अनुष्टुप्— 'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥

२ आर्या— 'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' ।

३ इन्द्रवज्रा— 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ।

४ उपेन्द्रवज्रा— 'जतजास्ततो गौ' ।

५ उपजाति — 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' ।

६ शालिनी— 'मात्तौ गौ चेच्छालिनीवेदलोकैः' ।

७ वंशस्थविलम्—'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' ।

८ पुष्पिताग्रा— 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा'

९ पृथ्वी— 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' ।

१० मन्दाक्रान्ता— 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ न तौ ताद्गुरू चेत्' ।

११ मालिनी— 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः

१२ वसन्ततिलका—
'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ।

१३ शार्दूलविक्रीडितम्—
'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' ।

१४ शिखरिणी— 'रसैरीशैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' ।

१५ हरिणी— 'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणीमता' ।

१६ स्रग्धरा— 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' ।

श्लोकानुक्रमणिका



	अङ्क	श्लोकाङ्क
अ		
अक्षेषु केतुदण्डे च	६	६०
अगस्त्याज्ञामद्य	६	३२
अग्रज वा दशग्रीव	६	१९
अङ्गिराश्च पुलस्त्यश्च	३	४८
अणुराअरोम	७	९
अद्य नैशाचरी	२	६६
अद्य प्रदक्षिण	३	११
अद्याय विबुधेन्द्र	७	५७
अद्योर्पातलमूल	७	७८
अधस्तात्सौधाना	७	१०९
अनन्यक्षुण्ण श्री	७	१०१
अनाकूतैरेव	२	५
अनुभवपुनरुक्ता	४	२३
अनेन रम्भोरु भवन्मुखेन	७	८१
अन्धकारीकृतव्योमा	६	६१
अपि कथमसौ	१	७
अप्रवृत्तिविषय	४	२८
अभिमुखपतयालु	७	१०७
अभेदेनोपास्ते	६	६
अमीते गम्भीर	७	२६
अय महाक्षत्रियगोत्रजन्मा	३	४७
अय मृदुमृणालिनी	४	४
अयमधिपतिर्भासा	४	४२
अयमनेन महोदधि	७	२८
अयमपि खरयोषित्	२	४१
अयमीदृश	१	४८
अरि षड्वर्ग	६	९
अल क्लिशित्वा	२	७
अलमिष्ट्वा मन्वान्मूर्खा	२	६१
अवनिमधिकविशा	४	३९
अविद्यावीजविध्वसा	२	३४
अविनयभुवामज्ञानाना	४	१२
असौ मनुष्यमात्रेण	६	१०
असौ सीरध्वजो	२	८७
अस्त्राणि प्लवगाधिपेन	६	८०
अस्मद्गोत्रमहत्तर	१	१८
अस्मदोर्मूलकूल	७	५०
अस्मद्बाहुवनान्दोल	६	४६
अस्मिन्माल्यवत	७	१०-
आ		
आकण्ठदष्ट	७	१४
आजन्मब्रह्मचारी	४	१८
आत्मानमिन्दुकर	७	१४२
आदाय प्रतिपन्न	७	१३७
आदेष्टा भगवान्	४	२९
आधत्ते दनुसूनु	७	४०
आनीतद्रोणशैलेन	७	१०
आभिरध्वरचर्याभि	२	३७
आरब्धे दयितामुख	७	८०
आर्द्रप्रसूतिरिय	२	२१
आर्द्रीकृतो	२	३६
आर्यपुत्रार्यपुत्रेति	५	८
आलवालवलयेषु	२	२५

अनर्घराघवगताः सूक्तयः

१—'यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति' ॥

२—'कष्टा वैधव्यथा कष्टो नित्यमुद्वहनक्रमः ।
श्रवणानामलङ्कारः कपोलस्य तु कुण्डलम्' ॥

३—'उक्षा रथो भूषणमस्थिमाला भस्माङ्गरागो गजचर्मवासः ।
एकालयस्थेऽपि धनाधिनाथे सख्यौ दशेयं त्रिपुरान्तकस्य' ॥

४—'पतिते व्यसने दैवाद्दारुणे दारुणात्मनि ।
संवर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महतां मनः' ॥

५—'यद्यस्ति वीर्यमस्त्येव तत्कर्म कथयिष्यति' ॥

६—'क्रौञ्चं विमुच्य पुत्रं च पितरं च हिमालयम् ।
प्रविश्य जलधिं पक्षौ रक्षताऽनेन किं कृतम्' ॥

शुभमस्तु



श्लोकानुक्रमणिका



	अङ्क	श्लोकाङ्क
अ		
अक्षेषु केतुदण्डे च	६	६०
अगस्त्याज्ञामद्य	६	३२
अग्रज वा दशग्रीव	६	१९
अङ्गिराश्च पुलस्त्यश्च	३	४८
अणुगाअरोम	७	९
अद्य नैशाचरी	२	६६
अद्य प्रदक्षिण	३	११
अद्याय विबुधेन्द्र	७	७७
अद्योर्पीतलमूल	७	७८
अधस्तात्सौधाना	७	१०९
अनन्यक्षुण्ण श्री	७	१०१
अनाकूतैरेव	२	५
अनुभवपुनरुक्ता	४	२३
अनेन रम्भोरु भवन्मुखेन	७	८१
अन्धकारीकृतव्योमा	६	६१
अपि कथमसौ	१	७
अप्रवृत्तिविषय	४	२८
अभिमुखपतयालु	७	१०७
अभेदेनोपान्ते	६	६
अमीते गम्भीर	७	२६
अय महाक्षत्रियगोत्रजन्मा	३	४७
अय मृदुमृणालिनी	४	४
अयमधिपतिर्भासा	८	४२
अयमनेन महोदधि	७	२८
अयमपि खरयोषित्	२	४१
अयमीदृश	१	४८

	अङ्क	श्लोकाङ्क
अरि षड्वर्गं	६	९
अल क्लिशित्वा	२	-७
अलमिष्ट्वा मखान्मूर्खा	२	६१
अवनिमधिकविशा	४	३९
अविद्याबीजविध्वसा	२	३४
अविनयभुवामज्ञानाना	४	१२
असौ मनुष्यमात्रेण	६	१०
असौ सीरध्वजो	२	८७
अस्त्राणि प्लवगाधिपेन	६	४०
अस्मद्गोत्रमहत्तर	१	१८
अस्मदोर्मूलकूल	५	५०
अस्मद्बाहुवनान्दोल	६	४६
अस्मिन्माल्यवत	७	१०-
आ		
आकण्ठदष्ट	७	१४
आजन्मब्रह्मचारी	४	१८
आत्मानमिन्दुकर	७	१४२
आदाय प्रतिपक्ष	७	१३७
आदेष्टा भगवान्	४	२९
आधत्ते दनुसूनु	७	४०
आनीतद्रोणशैलेन	७	१०
आभिरध्वरचर्याभि	२	३७
आरब्धे दयितामुख	७	८०
आर्द्रप्रसूतिरिय	२	२१
आर्द्रीकृतो	२	३६
आर्यपुत्रार्यपुत्रेति	५	८
आलवालवलयेषु	२	२५

आश्लेषचुम्बन	७	११५
आसन्नतप	७	७५
इ		
इतः पौरस्त्यायाम्	४	३
इत्थमेतन्महातीर्थं	२	१६
इद वयो मूर्तिरिय	३	२४
इद वो ज्यायाना	१	२०
इन्दुर्यद्युदयाद्रिमूर्ध्नि	२	७१
इन्दो कलाकलापेन	७	१४४
इन्दोरेककलाया	७	७४
इमौ तस्य विशापत्यु	३	८
इयमविरलश्वासा	५	२२
इयमात्मगुणेनैव	२	५६
इयमेभिरालवालै	२	२४
इह महिषविषाण	५	२०
इह युवतिवदन	७	११०
इह वनेषु स	२	४३
ई		
ईदृशा प्रागजायन्त	७	१३२
उ		
उक्ता रथो भूषण	२	७
उत्पादयन्कमपि	२	३२
उत्सव सोऽयमस्माक	५	५४
उदञ्चन्न्यञ्चद्	६	७२
उदयति कलमन्द्रै	७	७१
उदयदुदयद्धर्मस्कन्धे	७	१४८
उदेष्यत्पीयूषद्युति	७	९०
उद्दामभ्रमिवेग	७	१११
उद्दामद्युमणिद्युति	२	३०
उद्यम्य दृष्टनिज	७	६
उन्मीलन्ति मृणाल	२	७०
उन्मुक्ताभिर्दिवसमधुना	२	४९
उन्मुद्रयति हि	१	१९
ए		
एकद्विप्रभृतिक्रमेण	२	५
एकेनैव निवातकङ्कटभिदा	६	६८
एकैकानि शिरांसि	७	२
एकैके निवसन्ति ते	७	५८
एको वेषपरिग्रह	५	३९
एतत्तदेव मुखमत्त	७	१३५
एतस्मै समराङ्गग	१	३०
एतस्य कलामेका	७	६५
एतस्या हि तुषार	७	३६
एतस्या पुलिनोपकण्ठ	७	९९
एना पश्य पलादपत्तन	६	२४
एताभिस्तव	१	२३
एतासु पर्वतनितम्ब	७	५५
एन कल्पतरुद्भवै	६	३०
एष त्रैवर्ण्यमात्र	५	४०
एष वैहारिक	२	४०
एष स्त्रैणकपोल	४	१९
एहि विष्टरपादार्घ	४	६०
ऐ		
ऐक्ष्वाकेण पुरापि	४	५
क		
कश्चित्कान्तारभाजा	१	२५
कटुभिरपि	२	१३
कण्ठच्छायनिपीत	७	१२२
कन्या काचिदिहापि	४	५७
कन्यामयोनिजन्मान	३	४२
कमितुरभिसृत्वरीणा	७	१०८
कर्णोत्तसयवाङ्कुर	७	६३
कर्मण: श्रूयमाणस्य	२	३८
कल्पान्तकर्कश	२	३३

जगद्विलोभि	५	१०	तमृषि मनुष्य	१	१०
जटा धत्ते मूर्धा	४	२७	तमिस्रामूर्च्छालत्रिजग	७	१
जडम्बच्छस्वादु	२	२६	तमोभि पीयन्ते	२	१
जनयति त्वयि	१	२६	तरुणतमालकोमल	२	७२
जयति परिमुषित	७	५१	तर्कुटङ्कलिखितार्क	७	८५
जय्यतु जगत्कल्पो	७	१५	तर्षार्तिर्व्यतिलेलि	६	१२
जवादाराद्ध	१	३२	तस्मै वीराद्भुतारम्भ	१	६
जगत सोऽह दिनकरकुले	४	४९	तस्याज्ञयैव	१	१५
जाना पक्वपलाण्डु	७	२	तस्याखिलभीमस्य	६	६५
जाति मानय मानुषी	६	७	ताताज्ञामधिमौलि	७	१०
जानन्नेव दशाननो	५	२६	तापनैरेव तेजोभि	२	४७
जानास्येव यथा पितु	४	५४	तीर्वा भूतेशमौलि	५	२
जेतार दशकन्धरस्य	४	२६	तेजोमय तमोमय	२	५०
जेतार दशकन्धरस्य	७	१४६	तेनाङ्गुलीशत	३	४६
ज्यष्ठामूलीययात्रा	७	८३	तै सर्वज्ञीभवद्भि	७	७०
त			तैर्मेधाजननव्रत	२	२७
तच्चापमीशभुज	५	५५	तैस्त्रि सप्तभिरेव	४	५१
तत्कालारभटी	७	१०२	त्रयस्त्रिशत्कोटि	३	२
तत्तादृकतृण	२	१४	त्रासोत्कम्प	१	३२
तत्तादृक्फणिराज	७	४१	त्रिजगदङ्गनलङ्घन	७	१३८
तत्तादृगुज्ज्वल	१	१२	त्रिपुरहरकिरीट	७	११७
तत्तादृग्दशकण्ठ	५	१२	त्रिभुवनतमोलुण्टा	२	७७
तत्तादृश कथमुदेति	४	७	त्रिभुवन विजयश्रिय	३	५८
तथापि यूय सर्वेऽपि	७	१४१	त्रेताग्निकुण्डपूर च	२	५५
तथा पौरस्त्याया	२	७८	त्रैलोक्यत्राणशौण्ड	४	३७
तथा सेतुश्रद्धोत्कलित	७	२०	त्रैलोक्याभय	१	२८
तथैतेनोद्धृत्य	६	४१	त्रैविक्रम सफलदान	६	७०
तदात्वप्रोन्मीलन्	२	७	त्व गीर्वाणगणाय	७	६६
तदिद रघुसिहाना	७	१४७	त्व चेद्दीक्षिष्य	१	४६
तदेतदारोपय	३	५१	त्व तास्ता स्मृत	१	७३
तदेव स्थाणवीय	३	२७	त्व वेदवानसि वसिष्ठगुरो	४	४५
तन्मे वरद्वयमुरीकृत	४	६६	त्वदर्थीयक्रव्यात्कपि	७	५
तप कृशस्तैरङ्गै	२	१९	त्वद्भागधेयमपि	३	

त्वय्यर्घासनभाजि	१	२९

द

दग्ध्वा प्रदीप्तपावक	६	१
दत्तेन्द्राभय	१	२७
दर्पोऽस्य भरत	६	५७
दलयितत्रिभुता	२	७६
दलित कुमुदकोषो	७	६९
दवाग्रस्थो दूरादपथ	१	१९
दशमुखभुजदण्ड	७	८१
दशमुखवधनाट्य	६	४८
दशमुखशरपीडिता	६	३९
दशरथगृहे सम्भूत	२	६२
दातव्येयमवश्यमेव	३	४४
दिक्कूल कषकीर्ति	२	६९
दिक्पालद्विपदर्प	६	६६
दिग्दन्तावलदन्त	६	२६
दिङ्मण्डली	२	३
दिनकरकिरणोत्कर	१	१३
दिव्यास्त्रैर्भूर्भुव	६	७७
दीर्घं प्रजाभिरति	२	६०
दुन्दुभि नाम दैत्येन्द्र	५	२५
दुर्लङ्घ्यमीश्वर	३	२८
दृप्यत्पौलस्त्यकण्डू	५	३२
दृप्यद्दिक्पालदन्तावल	६	२८
दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिल	५	६
दृष्ट साक्षादसुर	१	३८
दृष्ट्वा राघवमेकराक्षस	६	२७
देव कौस्तुभकिञ्जल्क	२	१५
देव सत्वामसूत	५	४३
देवस्यात्मभुव	७	१५२
देवस्याम्बुजसम्भवस्य	७	११९
देवेन्द्रोपनिवेद्य	६	२३
देव्या भूमेर्मृगमद	७	११६
दो सन्दोहवशंवद	६	३
दो स्तम्भद्वयदर्प	४	१३
दोर्लीलादलितेन्दु	३	५७
द्वे तावत्करणे	७	८

ध

धनाधिनाथ प्रणयानु	७	१२०
धनुष्मन्तौ वत्सौ	४	६९
धातुश्चतुर्मुखी	१	११
ध्यानमयदृष्टिपात	१	४८
ध्यायत्यय गाधि	६	७३
ध्रुव पतितपङ्क्तिकन्धर	६	७०
ध्रुवमिह चतुरम्भो	७	९६

न

नक्त रत्नमयूखपाटल	७	९८
न द्वये न पूर्व	६	५८
नन्वेतदधिमौर्वीक	५	४७
नमन्नृपतिमण्डली	१	२३
नमस्तुभ्य देवासुर	७	११२
नयौ हि साङ्ग्रामिक	५	४८
नवोन्मीलन्मौर्वी	७	१२३
नानाविधानि शस्त्राणि	६	६२
नाराचै कृतवीर्य	४	३०
निर्जाकरणौघ	६	२
निजाय तस्मै गुरवे	३	१४
निपीते येनाब्धौ	७	८९
निर्मज्जच्चञ्चु	२	५४
निर्माय कार्मणमृचा	३	१६
निर्मुक्तशेष	१	३५
निर्वृत्तो बहु तावदध्वर	२	३९
निशाचराणा तमसा	२	८४
निष्प्रत्यूहमुपास्महे	१	१

निह्नतोन्नतनत	७	२७
नीतो दूर कनकहरिण	७	७
नीयन्ते वनदेवता	६	८३
नीललोहित	७	३१
नृत्यारम्भपरित्र	७	१०४
नृपस्ते पाल्योऽस्य मम	४	४३
नृपानप्रत्यक्षान्	४	७२
नेत्राणा मधुपर्क	७	६७
नैवाय भगवानुदञ्चति	२	७४
न्यञ्चन्न्यञ्च	६	२८

प

पतिते व्यसने	५	१५
पतन्ति रामभद्रेण	६	५९
परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या	२	२८
परैराहूताना विहितमपि	४	१८
पश्यैते पशु	२	१७
पाणिर्गृहीतो रघुपुगवेन	४	६७
पार्श्वे त्रयाणामेतेषा	३	२०
पितरि निजतुहिन	७	३५
पिताऽय रत्नोधास्तव	५	२२
पियूषाश्रयण	७	८३
पीत्वा भृशं	२	११
पुण्यलक्ष्मीकयो	३	३४
पुत्रार्थे जगदेक	२	२०
पुत्रीयता दशरथेन	५	१
पुर प्रालेयशैलोऽय	७	२९
पुरमथनधनुर्विमर्दं	५	४१
पुरा पुरा भेत्तुरिह	७	३०
पुरोजन्मा नाद्यप्रभृति	४	४६
पूरयितुमर्थिकामात्	१	४२
पूरयित्वेव	२	१८
पूर्णेऽपि कर्मणि	३	४
पूपा वसिष्ठ	२	६७
पौराणीभिरनेक	२	५९
पौलस्त्यन्यस्त	६	८४
पौलस्त्यस्य सुरासुरेन्द्र	६	११
पौलस्त्यावयवौघ	५	३१
पौलोमीकुचकुम्भ	२	७३
प्रकृष्टरुत्रभिप्राय	२	८६
प्रक्लृप्तकान्तार	५	३७
प्रक्षेप्तुमुदधौ लक्ष्मी	७	४२
प्रत्यक्षरस्तुत	१	५५
प्रत्यग्रज्वलितै•	२	१०
प्रत्यासन्नसुरेन्द्र	२	६
प्रज्ञातब्रह्मतत्त्वेऽपि	२	३५
प्रतिपरिसर भूयानघ	५	२१
प्रत्यासन्नतुषार	२	६८
प्रभाते पृच्छन्ती	४	६
प्रयाग सर्वतीर्थेभ्य	७	१२७
प्रहस्तधूम्राक्ष	६	१६
प्रागुच्चै शिरसै	४	४७
प्राची वासकसज्जिका	४	२
प्राचीनाचलचुम्बि	७	७१
प्राचीविभ्रमकर्णि	२	४
प्राणायामोपदेष्टा	७	६२
प्राणै सम	५	५३
प्रियवसतेरपयान्त्यो	४	५
प्रियाकर्तुं त्वस्मै	२	८
प्रियोपभोगतुल्येऽपि	७	६८
प्रीतिर्नाम	१	३
प्रीते विधातरि पुरा	४	९
प्लवमानैरपारोऽयं	७	१२१

ब

बलिद्विष पादनखांशु	७	१२६
बालस्वभावसुलभेन	४	३१

बालेन सम्भाव्यमिदं च	३	७०
बालेनापि विलन	६	५१
बालेयतण्डुलविलो	२	२०
बिभ्रती कैशिकी वृत्ति	७	१०२
बृहत्पात्रप्राप्त्या	७	८८
ब्रह्मज्योतिर्विवर्तस्य	१	५०
ब्रह्मशापपरिक्लिष्ट	५	५१

भ

भग्नोऽय कथमस्ति	५	१७
भयभ्रष्टप्रेयो	५	२९
भल्लावलन	७	१३५
भवति न तथा भानो.	३	२३
भवतु शरणदो वा	४	५६
भस्माङ्कुरेति	४	२४
भुजनिवहविहङ्गिका	६	१८
भुजविटपमर्देन	५	११
भुजार्गलितनर्मदा	४	१२
भूमात्र कियदेतदर्णवमय	४	३५
भूमे स्वर्णतया	७	५६
भूयस्तराणि	२	८१
भूयिष्ठानि सुखानि	६	८१
भृगुतिलक नमस्ते	८	४०
भिन्नैरावणगन्ध	६	७८
भोगीन्द्र प्रमदोत्तरङ्ग	७	७९

म

मघोनस्तद्घोर	३	४०
मदयति यदुत्पन्नो	२	८५
मद्वर्ग्या रसपाठ	१	८
मधुकैटभदानवेन्द्र	१	१४
मध्येकृत्य धन	१	३७
मध्ये व्योमक्रीडयित्वा	२	३१
मनोऽपि शङ्कमानाभि	३	६
मन्त्रसस्कारसपन्ना	२	४६
मन्दोद्धूतै शिरोभि	१	५६
मन्ये दर्पामयाविभ्या	५	३६
मरुत्वदम्भोलिक्षण	६	२९
महासेनो यस्य	४	३७
मानाध्मात स्वा	६	७२
मा भैष्ट कमठेन्द्रपन्नगपती	६	२०
मारीचमृगयाव्यग्रे	५	३०
माहेश्वरो दशग्रीव	३	४९
मीमासते किमार्योऽय	२	५८
मुनोन्कौशिक	३	९
मुनिरपि गुरुर्दिव्यास्त्राणा	४	१४
मुनिविनियोग	२	२२
मुने कलशजन्मनो	७	१६
मृगराजकरज	७	७३
मेरोमेर्दुरयन्ति	७	५४

य

य प्राक्प्रत्यगवागुदङ्घ्रि	७	६०
य श्रीकण्ठकिरीट	७	६१
य क्षत्रदेह	१	२२
यच्चेष्टा समनीकसीमनि	३	२८
यजूषि तैत्तिरीयाणि	३	१३
यज्ञोपप्लवशान्तये	४	११
यत्कन्यामभिलष्यता	६	५७
यत्तस्मिन्निहतेऽपि	६	१७
यत्पीयूषमयूख	२	८२
यत्र त्व ब्रह्ममीमासा	३	१२
यथा पूरापाति	७	१८
यथा यथा पर	७	२४
यदर्थमस्माभिरिह	४	५९
यदि क्षण	१	९
यदिन्दोरन्वेति	१	५८
यद्गोत्रस्य प्रथमपुरुष	३	२५

यद्दैवत त्रिपति	६	७५
यद्यत्कृत्त दशमुख	६	७६
यद्यस्ति वीर्यमस्त्येव	६	२१
यद्रावणो बहुभिरेष	६	६३
यद्विदन्नपि विदेह	३	२६
यन्नाव्यभ्रमिघूर्ण	७	५०
यन्माल्यग्रथनाव	६	४९
यश स्तोमानुच्चै	१	३६
यस्मिन्नर्जुनदो	४	२२
यस्मिन्नेकधनुष्मतो	३	५२
यस्य स्मृती प्रतीक्षन्ते	४	६१
यातोऽस्तमेप	२	४४
यान्ति न्याय	१	४
यूपाङ्कुरप्रकरदन्तुर	७	१२०
युवतिकुचभोग	७	९२
युवाभ्यामभिनिर्वृत्त	२	४१
ये चत्वारो दिनकर	३	२१
येन वीरेण गुहायां	५	४१
येन त्वा विनिहत्य	४	५२
येनाच्छिद्य समस्त	५	४६
ये मैत्रावरुणि	१	५१
येषा चापसमर्पित	२	३०
र		
रक्ष स्वयवरविडम्ब	६	३८
रक्षोनिपिष्टकपि	६	३७
रक्षोभिचारचरु	५	३
रक्षेविक्षोभवेगो	६	७३
रघुब्रह्मक्रियाचार्य	७	१३६
रजनिचरचमूरसू	२	६३
रत्नाकरो जनयिता	१	५९
रमयति मलयाचलो	७	९३
रम्यमेतदरम्य वा	२	४२
राजन्यरुधिराम्भोधि	४	१७
राजन्येभ्यो जन्म	४	४८
रुचिभिरभितष्टङ्को	२	८०
रुन्धन्नष्ट विधे	३	५३
रे काकुत्स्था कथ व	३	२५
रीदसीकूपमण्डूक	७	७५
रोमन्थप्रचलोष्ठ	७	६३
रोमाञ्चोच्छ्वसदङ्ग	७	१२३
ल		
लक्ष्मीरस्य हि याद	७	१२
लक्ष्म्या वालिनिवर्हण	५	५५
लङ्का च पुष्पकमिद	७	१०९०
लुम्पन्नदष्टजामातृ	९	१०
व		
वत्स लक्ष्मण सोत्कण्ठ	७	१४२
वधूटीमिक्ष्वाको	५	९
वन्दारु वृन्दारक	६	८२
वन्दीकृत्य जगद्विजित्वर	५	६३
वपुरपि विघूणोति	५	३८
वर तादृक्कर्माद्	३	५२
वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रैर्दधति	१	५२
वाणीभूतपुराणपूरुष	७	११४
वायव्यास्त्रव्यतिकर	२	६८
वारांश्रीनभिषुण्वते	२	२९
विशत्यापि भुजैरेष	६	६४
विशत्या युगपत्क्षमैरपि	६	४७
विकसितसंकुचित	२	१२
विदधति मुदमक्ष्णो	४	२७
विदेहकन्याकुचकुम्भ	६	६७
विद्याश्चतुर्दश चतुर्षु	६	४
विद्वानपावृत्तमिव	६	५५
विधानमानुश्रविकं	२	५६
विनयनिचुलितैर्भव	४	२६

विनेता वर्णानामथ	५	२४
विन्ध्यगिरिराज	५	१८
विपदा प्रतिकर्तारो	३	३७
विरमति महाकल्पे	१	२
विविधमणिमयूख	६	५४
विशिखौघविकीर्ण	६	४४
विश्व चाक्षुषमस्तमस्ति	२	५२
विश्वामित्रमखद्विषे	७	९७
विश्वामित्रवशीकृते	४	१०
विष्वक्तपोधन	२	२२
वीरमिन्द्रजितं जित्वा	७	१४०
वृथा सज्जनसम्बन्ध	३	६०
वृन्तैरिव क्रतुसहस्र	७	१३२
वेगादगाद्येव तव	७	११३
वैदेहीकरबन्ध	३	५७
व्यावर्तध्वमुपाध्व	६	१८
व्रतविहतिकरी	१	४९

श

शम्भुर्यद्गुणवल्लरो	४	२१
शम्भोराधारमचल	३	५०
शस्त्राशस्त्रिकथैव का	४	२०
शस्त्रीकृतस्तकवरो	६	४२
शस्त्रीकृतान्कपि	६	२३
शाम्भव चापमारोप्य	३	४५
शिवास्ते पन्थानो व्रज	४	६३
शक्तिकागर्भसम्बन्ध	७	९१
शैलप्रवेशात्प्रचली	७	१९
श्यामो नाम वट	७	१२९
श्रीकण्ठस्य कपर्द	७	५३
श्रुत्वा द[illegible]ी	६	१७
श्रुत्वा दु श्रवमद्भुत च	४	८
श्वासोर्मिप्रतिबन्ध	६	४५

स

सनद्धेन्द्रायुध	६	२२
सम्भोगानति	८	२७
सवृत्तोऽयं यदि	१	३१
स किं वाच्यो बाली	७	५९
सत्यमेव प्रयागोऽय	७	१२८
सद्य पीत्वा	७	२२
सन्तुष्टे तिसृणा पुरामपि	३	४१
सन्तो मनसि कृत्यैव	[illegible]	[illegible]
सप्त तालानथ भित्त्वा	५	५७
समन्तादुत्तालै	३	६१
समन्तादुन्मीलद्वहल	५	२८
समस्या वा साम्ना	३	[illegible]
समुन्मीलन्मूक्त	७	१५५
सम्प्रदातरि	७	३३
सर्वराजकदुर्धर्ष	४	१०
सविधमुपसरन्समूल	४	[illegible]
सहचरपिशाच	७	[illegible]
सहजधैर्यवशंवद	५	[illegible]
सह दशरथमद्योङ्कृत्य	४	[illegible]
सहस्राचरङ्ग	७	३५
सहैव सुग्रीव	७	
साकं शक्तिधरेण	४	[illegible]
साधारणो रघूणा	१	१२
सारम्भ सिरिवच्छ	७	७६
सिंहलद्वीपमम्भोधि	७	८७
सिद्धश्रोत्रपरम्परा	५	१४
सीतास्तनस्तवक	६	६९
सुग्रीवे यदि पक्षपात	५	३४
सुचरितमिदमैतिहासिकाना	४	६४
सुन्दासुरेन्द्रसुत	३	३६
सुराधीशक्रोधा	१	४७
सुरासुराणामसुभि	५	४२

सुविनिहितचन्द्रहास	६	७१
सेतूपक्रमसंभ्रमा	७	८४
सेतूद्योगे सपदि	७	२१
सोऽय कैलासशैल	७	४५
स्तोकोन्निद्रनिदाघ	४	१
स्त्रीषु प्रवीरजननी	४	३३
स्थानेषु शिष्य	२	९
स्फुरति पुरतो	२	६९
स्मरन्ति लोकार्थममी	३	१७
स्मरपरिभव	७	३२
स्मेरा दिश कुमुद	२	८३
स्याता नाम कपीन्द्र	३	३९
स्यादेव तोयममृत	७	१३
स्वच्छन्दैकस्तन	७	३८
स्वतनुरुचिभिदीर्घाह्नी	६	३५
स्वपाणिप्राग्भार	७	९४
स्वर्विदनप्रसरेण	५	४९
स्वपपुषि नखलक्ष्म	४	२३
स्वेदजलपिच्छिला	७	१०६
स्वेदार्द्रवामकुच	७	३९
ह		
हस्ते करिष्यति	३	८
हिमालयोत्सङ्ग	७	१२५
हुतमिष्ट च तप्त च	१	१७